ॐ

परमात्मने नमः

श्रीमद्‌भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेव प्रणीत

श्री समयसार गाथा : ४९

तथा

श्रीमद्‌अमृतचन्द्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।४९।।

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीहि अलिंग्ग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम्।।४९।।

...षड्‌द्रव्यात्मकलोकाज्ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्, कषायचक्राद्भावकाद्व्यक्तादन्यत्वात्, चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात्, क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात्, व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेऽपिव्यक्ता-स्पर्शत्वात्, स्वयमेव हि बहिरंतःस्फुटमनुभूयमानत्वेऽपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः।

टीका : (अब 'अव्यक्त' विशेषण को सिद्ध करते हैं :-) छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है उससे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है ।१। कषायोंका समूह जो भावकभाव व्यक्त है उससे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है।२। चित्सामान्यमें चैतन्यकी समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं इसलिये अव्यक्त है। ३। क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है इसलिये अव्यक्त है। ४। व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूपसे प्रतिभासित होनेपर भी वह केवल व्यक्तताको ही स्पर्श नहीं करता इसलिये अव्यक्त है। ५। स्वयं अपनेसे ही बाह्याभ्यंतर स्पष्ट अनुभवमें आ रहा है तथापि व्यक्तताके प्रति उदासीनरूपसे प्रकाशमान है इसलिये अव्यक्त है। ६। इसप्रकार छह हेतुओंसे अव्यक्तता सिद्ध की है।

जीव चेतनागुण, शब्द-रस-रूप-गंध-व्यक्तिविहीन है।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान उसका, ग्रहण नहिं है लिंगसे।।४९।।

`अव्यक्त' बोल : १

प्रवचन क्रमांक-१ (हिन्दीमें) : ता. १७-१-१९७८

यह (४९वीं) गाथा अनेक शास्त्रों में है। यह गाथा बहुत पुरानी है। यह गाथा, श्री कुंदकुंदाचार्य के शास्त्रों - श्री `प्रवचनसार' में है, `समयसार' में है, `पंचास्तिकाय' में है, `नियमसार' में है, `अष्टपाहुड़' में है तथा `धवला' में (भी) है। इसमें जो `अव्यक्त' बोल है, वह अति सूक्ष्म है।

यहाँ अपने को `अव्यक्त' लेना है।

पहले छह बोल चल चुके हैं। (`**षड्द्रव्यात्मकलोकाज्ज्ञेया-द्व्यक्तादन्यत्वात्**' - **छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है**)। `अव्यक्त' विशेषण को सिद्ध करते हैं :-

आत्मा को `अव्यक्त' कहते हैं। किस आत्मा को ? - जो शुद्ध, चिद्घन, आनंदकंद, ध्रुव (है) - उसे यहाँ `अव्यक्त' कहने में आया है। क्योंकि `**छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है....**' - थोड़ी सूक्ष्म बात है। अपने सिवा, छह द्रव्यस्वरूप लोक है। छह द्रव्य हैं। उनमें अनंत सिद्ध हैं, अनंत निगोद(के जीव) हैं, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, पुद्गल - ये सभी छह द्रव्य एक तरफ हैं, वे `ज्ञेय' हैं। (अपना) आत्मा `ज्ञायक' है। छह द्रव्य में अनंत सिद्ध भी आ गये; त्रिकालवर्ती अनंत पंचपरमेष्ठी भी आ गये; - ये सभी आत्मायें अंदर ज्ञायकस्वरूप चिद्घन हैं। (तथापि) `छह द्रव्य ज्ञेय हैं' - इस अपेक्षा से (वे) जानने लायक हैं, पर रूप जानने लायक हैं। पंचपरमेष्ठी भी पर रूप जानने लायक हैं। आहाहा ! जो अनंत सिद्ध हैं, वे भी `इस' आत्माकी अपेक्षा से परचीज़ हैं और ज्ञेय हैं। `ज्ञेय' अर्थात् आत्मा के `ज्ञायक' भाव में पर रूप जानने लायक हैं। आत्मा `ज्ञायक' है। त्रिकाली आनंदकंद प्रभु शुद्ध चैतन्यध्रुव वह ज्ञायक है, जाननेवाला है, और उसके जानने योग्य छह द्रव्य हैं। आहाहा ! छह द्रव्यमें देव-गुरु-शास्त्र मानने लायक हैं, वे भी (ज्ञायक में) नहीं आये। आहाहा ! सूक्ष्म बात है ! यह `अव्यक्त' बोल अति सूक्ष्म है। एक ओर भगवान आत्मा `ज्ञायक' है और दूसरी ओर छह द्रव्य `ज्ञेय' हैं।

श्री धर्मदासजी क्षुल्लक हुए हैं। उन्होंने (विक्रम संवत) १९४६ में `**सम्यग्ज्ञानदीपिका**' लिखी है, उसमें तो इस पहले बोलका (`अव्यक्त' का) ऐसा अर्थ लिया है कि, आत्मा ज्ञायक है और छह द्रव्य ज्ञेय हैं, तो छह द्रव्य से भिन्न (निज) आत्मा `सप्तम्' (द्रव्य) हो जाता है। सूक्ष्म बोल है। आहाहा ! `सप्तम्' ऐसा लिया है। ऐसा आया न...? कि : यह छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है, उससे तो भगवान आत्मा `भिन्न' है, आहाहा !

अनंत-अनंत ज्ञेयों में - अनंत आत्मायें, अनंत परमाणु, अनंत तीर्थंकर, अनंत केवली,

अनंत मुनि - ये सभी छह द्रव्यस्वरूप में जाते हैं और उन्हें `ज्ञेय' कहने में आता है, कुछ समझ में आया ? आत्मा `ज्ञायक' है, `वह' छह द्रव्य-ज्ञेय से भिन्न है, उस कारण से छह द्रव्य से भिन्न `वह' सप्तम् (द्रव्य) है। है तो वह छह द्रव्य में - आत्मा है तो छह द्रव्य में। मगर यहाँ एक ओर `आत्मा' और दूसरी ओर `छह द्रव्य' - ऐसा कहने में छः द्रव्य हैं, वे जानने लायक `ज्ञेय' हैं, तो भगवान आत्मा अंदर `ज्ञायक' है, (वह) पूर्ण - सभी को - स्व को तथा पर को जाननेवाला `ज्ञायक' है। `वह' सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा....हा !

सम्यग्दर्शन, स्वसंवेदन, शुद्धात्म-प्राप्ति, शुद्धात्म-आचारण-स्वरूपाचरण, सभी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के काल में साथ में हैं। आहाहा ! अभी तो (लोगों को) चौथे गुणस्थान का भी पता नहीं... ! पाँचवाँ और छठों की तो अलौकिक बातें हैं !!

प्रश्न :- `छह द्रव्यस्वरूप' ऐसा क्यों कहा ?

समाधान :- यहाँ कहते हैं कि, छह द्रव्यस्वरूप वस्तु है। अज्ञानी तो `एक ही आत्मा' कहते हैं और कोई तो कालद्रव्य को भी नहीं मानते, परंतु यहाँ तो छह द्रव्य में कालद्रव्य भी आ गया। अनंत आत्मायें और उनसे अनंतगुने परमाणु (यह पुद्गलद्रव्य जीव द्रव्य से अनंतगुना है); असंख्य कालाणु; एक धर्मास्ति; एक अधर्मास्ति और एक आकाश; - ये छह द्रव्य - इन छहद्रव्यस्वरूप, यह लोक है। धर्मास्ति और अधर्मास्ति; द्रव्य तो सर्वज्ञ भगवान ने ही जाने हैं। इसके (सर्वज्ञ अनुसारी आम्नाय के) अलावा अन्य किसी सम्प्रदाय में धर्मास्ति - अधर्मास्ति द्रव्य को जाना ही नहीं है, और उनमें है ही नहीं। (ऐसा यहाँ) सिद्ध किया कि : (लोक) छह द्रव्यस्वरूप है। काल है, आकाश है, धर्मास्ति है, अधर्मास्ति है, अनंत आत्मायें हैं (एक अंगुल के असंख्यातवें भाग (क्षेत्र) में निगोद जीव के असंख्य शरीर और एक-एक शरीर में अनंत आत्मायें हैं, ऐसे आत्माओं से पूरा लोक भरा हुआ है) और उनसे अनंतगुने परमाणु (जो पूरे लोक में) भरे हैं - ये सब `ज्ञेय' (हैं, जो) लोक में (गिने) जाते हैं। `**लोक्यंते इति लोकः**' जानने में आये, उस चीज़ को (ज्ञेय को) यहाँ लोक कहते हैं और लोक (लोकाकाश) के सिवा जो खाली भाग है, वह अलोक है। असंख्य योजन में यह लोक है, उसके पश्चात् चारों ओर खाली...खाली...खाली.... अनंत...अनंत...अनंत....अनंत (जो क्षेत्र है) कि जिसका कोई अंत नहीं है, उसको अलोकाकाश कहते हैं, वह भी छह द्रव्यस्वरूप में आ गया और वह (भी) ज्ञेय में आ गया और इन सभी को जाननेवाला जो ज्ञायक आत्मा है, वह भी इसमें आ गया, मगर यहाँ तो (ज्ञायक को) भिन्न बताना है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई !

श्री कुंदकुंदाचार्य के बाद, हज़ार वर्ष बाद श्री अमृतचंद्राचार्य हुए... अलौकिक बात ! ...महासंत, महामुनि भावलिंगी संत थे। अंतर में आनंद का स्वसंवेदन, उग्रतापूर्वक स्व-आनंद का वेदन, यह उनका भावलिंग - भावचिह्न था। यह भावलिंग तो साधुका चिह्न है। नग्नपना और पंचमहाव्रत ये तो द्रव्यलिंग हैं। कुछ समझ में आता है ?

परंतु यहाँ तो छह द्रव्यस्वरूप में द्रव्यलिंग भी आ गया। पंचमहाव्रत आदि के परिणाम

भी छह द्रव्यस्वरूप में आ गये। साधु के जो अट्ठाईस मूलगुण हैं, वे भी यहाँ छह द्रव्यस्वरूप में आ गये, 'आत्मा' में नहीं। आहाहा !

छह द्रव्यस्वरूप वह लोक ! अहो ! बहुत गंभीर !! ऐसी चीज़ कहीं है नहीं। दिगम्बर - संतों के सिवा 'यह बात' तीन काल में कहीं नहीं है। लोगों ने विचार नहीं किया; तथा निर्णय नहीं किया कि चीज़ कैसी होनी चाहिए ? तथा है तो वह कैसी है ?

यहाँ कहते हैं कि : भगवान आत्मा कैसा है ? कि: 'अव्यक्त' है। छह द्रव्यस्वरूप जो लोक है, वह 'ज्ञेय' है और आत्मा एक ओर अकेला 'ज्ञायक' है (जो अव्यक्त है) और ज्ञेय है वह 'व्यक्त' है। यह दूसरा विशेषण। सूक्ष्म बात है, भाई ! छह द्रव्यस्वरूप जो लोक है, वह (आत्मा से) बाह्य है, प्रगट है। (लोक को) 'ज्ञेय' कहा और 'व्यक्त' कहा - दो विशेषण कहें। 'छह द्रव्यस्वरूप लोक है, उसे सर्वज्ञ परमेश्वर ने ही देखा है। जिनेन्द्र के अलावा अन्य किसीने' 'छह द्रव्य' देखे नहीं हैं। आहाहा ! वह 'छह द्रव्यस्वरूप लोक' - अनंत आत्मायें आदि - पंचमहाव्रत के विकल्प आदि - द्रव्यलिंग - नग्नपना आदि - ये सभी छह द्रव्यस्वरूप लोक में - ज्ञेय में आ गये। ज्ञेय है, वह 'व्यक्त' है। ज्ञेय है, वह (आत्मा से) बाह्य है। व्यक्त अर्थात् बाह्य है। उससे भिन्न, भगवान (आत्मा) अंतर - अभ्यंतर है। आहाहा....हा ! सूक्ष्म बात है !

इसका तो अठारहवीं बार वांचन चल रहा है। एक शब्द का अर्थ करके पूरे 'समयसार' का वांचन सत्रह बार सभा में हो गया है। यहाँ यह (अव्यक्त की) बात तो बहुत सूक्ष्म है। आहाहा !

छह द्रव्यस्वरूप लोक जब 'ज्ञेय' है, तब भगवान आत्मा अकेला 'ज्ञायक' है ....बस ! राग-द्वेष-पुण्य-पाप ये सब तो 'परज्ञेय' में समाते हैं; (वैसे ही) व्यवहाररत्नत्रय, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, पंचमहाव्रत के परिणाम और विकल्पात्मक नवतत्त्व की - शास्त्र की श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान - ये सभी बाह्य 'ज्ञेय' में जाते हैं। - उससे भिन्न, आत्मा तो 'ज्ञायक' है और जब छह द्रव्यस्वरूप लोक और व्यवहार आदि के विकल्प व्यक्त हैं - बाह्य हैं - प्रसिद्ध हैं - प्रगट हैं; तो इस अपेक्षा से, भगवान आत्मा अव्यक्त है - अभ्यंतर है - भिन्न है। आहाहा...हा ! इतने-से शब्द में इतना सारा (सार) भरा है !! यूँ ही पढ़ डाले... ऊपर-ऊपर से पढ़कर मान ले कि 'समयसार' पढ़ लिया...! लेकिन बापू ! 'समयसार' तो कोई अलौकिक चीज़ है !!

यहाँ तो कहा : एक तरफ भगवान आत्मा 'व्यक्त'* वस्तु है तो दूसरी तरफ आत्मा एक 'अव्यक्त' सप्तम् वस्तु है। छह द्रव्य जब 'ज्ञेय' हैं तो उनसे भिन्न, भगवान आत्मा अव्यक्त - 'ज्ञायक' है।

---

* छह द्रव्य में है, इस अपेक्षा से

प्रश्न :- (आत्मा को) 'अव्यक्त' क्यों कहा ?

समाधान :- (आत्मा) बाहर में आया नहीं, पर्याय में भी आया नहीं; आहाहा...हा ! पर्याय को भी जाननेवाला है। आहाहा ! एक ओर ज्ञायकभाव भगवान और दूसरी ओर छह द्रव्य में सब कुछ समा गया। वास्तव में तो जिस स्वज्ञायकस्वभाव को 'अव्यक्त' कहते हैं, वह ज्ञायकभाव, जानने में तो पर्याय में आता है। छह द्रव्यस्वरूप 'ज्ञेय' और 'मैं ज्ञायक'। यह (आत्म) द्रव्य तो ज्ञायक है, पर वह जानने में तो अपनी पर्याय में आता है। पर्याय में (ऐसा) जानने में आता है कि - 'छह द्रव्यस्वरूप ज्ञेय' हैं और 'मैं ज्ञायक हूँ।' तथा छह द्रव्यस्वरूप लोक व्यक्त है, प्रगट है, बाह्य है। 'मैं' अभ्यंतर, पूर्ण, अखण्ड, आनंदघन हूँ। आहाहा ! 'अव्यक्त' का ऐसा यह एक अर्थ हैं। ऐसे छह अर्थ हैं। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

क्षुल्लक श्री धर्मदासजी ने तो 'सम्यग्ज्ञानदीपिका' में ऐसा लिया है कि : भगवान आत्मा छह द्रव्यस्वरूप होते हुए भी - (यद्यपि) छह द्रव्य से भिन्न तो कोई द्रव्य है नहीं, छह द्रव्य में (वह) आता है तो भी - अपना आत्मा 'व्यक्त' से भिन्न है, प्रगट से अभ्यंतर है, ज्ञेय से ज्ञायक है। इस कारण से छह द्रव्य से भिन्न कहने से आत्मा सप्तम (द्रव्य) हुआ, सातवीं चीज़ हुई; ऐसा कहने में आया है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

(जीव ने) इसे समझने की दरकार नहीं की। क्रियाकांड करो... यह करो... और वह करो...! (किन्तु) यहाँ पर तो क्रियाकांड को 'ज्ञेय' और 'व्यक्त' में डालते हैं।

आहाहा ! क्या कहें ? (यह) भगवान की वाणी... दिव्यध्वनि की वाणी है। श्री सीमंधर भगवान, सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ, जिनेश्वरदेव, महाविदेह में बिराजते हैं। जहाँ (स्वरूप में) एकाकार - सर्वज्ञ हुए, वहाँ एकाक्षरी ॐ ध्वनि (नाद) उठती है। उसमें सात सौ* प्रकार की भाषा, एक ॐकार में आ जाती है। आहाहा ! छद्मस्थ जैसी वाणी भगवान को नहीं होती। क्योंकि ऐसी भेदवाली वाणी तो जहाँ राग है वहाँ है। भगवान को राग नहीं है। '**मुख ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे।**' उनकी वाणी - ॐकार-ध्वनि सुनकर गणधर माने संतों के नायक संत-गणधर, चार ज्ञान - चौदह पूर्व के धारी संत हैं, वे अर्थ माने उस वाणी में क्या आया, उसका विचार करते हैं। '**रचि आगम उपदेश भविकजीव संशय निवारे।**' आहाहा ! उस वाणी में जो रचना हुई, उसे सुनकर भविकजीव संशय का निवारण करते हैं - भ्रमणा का नाश करते हैं। भ्रमणा माने मिथ्यात्व - मैं रागवाला हूँ, शरीरवाला हूँ, मैं एक समय की पर्यायस्वरूप हूँ, ऐसी जो बुद्धि है, वह मिथ्यात्व है। उन आगम को सुनकर भविकजीव - लायक प्राणी मिथ्यात्व का नाश करता है। उनकी (भगवान की) वाणी 'यह' है। गणधरदेव ने जो शास्त्र रचे वे आगम, वे आगम 'यह' हैं। यह जो (सोनगढ़ के परमागम मंदिर में) तीन लाख पचहत्तर हज़ार अक्षर (संगमरमर पर) उत्कीर्ण हैं, वह संतों की वाणी -

*अठारह महाभाषा और सात सौ लघुभाषा

भगवान की वाणी है।

यहाँ (आत्मा को) 'अव्यक्त' इसलिए कहा (कि वह) 'अभ्यंतर' है और यह (छह द्रव्यस्वरूप लोक) 'बाह्य' है। दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के (जो) विकल्प उठते हैं, (वे) राग हैं, वे (आत्मा से) बाह्य हैं। बाहर की दिशा की ओर के लक्ष्य से उसकी जो दशा होती है, अर्थात् पुण्य और पाप के भावों की जो बाहर की दिशा तरफ की दशा (पर्याय) उत्पन्न होती है, वह बाह्य - 'ज्ञेय' में जाती है और वह 'व्यक्त' में जाती है। आहाहा...हा ! कुछ समझ में आता है ?

प्रश्न :- भगवान कुंदकुंदाचार्य ने आत्मा को 'अव्यक्त' क्यों कहा ? 'विशेष्य है आत्मा' (ऐसा स्थापित करके) आत्मा को 'अव्यक्त' ऐसा विशेषण क्यों दिया ?

समाधान :- 'अव्यक्त' इस कारण से कहा कि : छहद्रव्यस्वरूप लोक जो 'ज्ञेय' है उससे (आत्मा) 'भिन्न' है; इस कारण से उसे 'अव्यक्त' विशेषण दिया है। आहाहा ! सम्यग्दर्शन का विषय - 'यह त्रिकाली ज्ञायकभाव है।' आहाहा !

जब ज्ञानप्रधानता से कहने में आता है, तब तो ज्ञान (ज्ञातृतत्त्व) और ज्ञेय (ज्ञेयतत्त्व) - दोनों की यथार्थ प्रतीति को सम्यग्दर्शन, 'प्रवचनसार' गाथा-२४२ में कहा है। किन्तु यहाँ यह आ गया। पर्याय में छह द्रव्य का ज्ञान आ गया और वह पर्याय अव्यक्त को प्रतीत करती है तो उसमें स्वद्रव्य भी आया और परद्रव्य भी आया। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म विषय है। 'ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है।'

'जीव' शब्द क्यों लिया है ? मूल पाठ है न... '**जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं**' क्योंकि वेदांत ऐसा कहता है कि : 'आत्मा है वह सर्वव्यापक है' तथा वे 'मन विशिष्ट सहित को जीव कहते हैं।' किन्तु ऐसा नहीं है। इस (मान्यता के निवारण) हेतु, यहाँ 'जीव' विशेषण लिया है। 'जीव' कहो या 'आत्मा' कहो - दोनों एक ही चीज़ है। 'आत्मा' अन्य चीज़ है और 'जीव' कोई अन्य चीज़ है, - (जैसा) वेदांत कहता है, वैसा नहीं है। इसलिए 'जीव' शब्द का प्रयोग किया है। कुछ समझ में आया ?

मूल शब्द (पाठ) में '**जीव**' है न, '**उससे जीव...**' ऐसा लिया है न ? पहला शब्द है '**अव्वत्तं**' (अव्यक्त) उसमें तो बहुत कुछ भरा पड़ा है !! यह कोई कथा नहीं... वार्ता नहीं। आहाहा ! भगवान आत्मा... 'जीव' है। छह द्रव्य जो व्यक्त हैं - ज्ञेय हैं, उससे यह जीव अन्य है। सभी के साथ एक होकर रहता है, ऐसा नहीं है। 'जीव तथा समस्त (ज्ञेय) का ज्ञान' ....तो सभी जीव - स्वयं तथा पर - ये दोनों एक होकर रहते हैं, ऐसा नहीं है। वेदान्त ऐसा कहता है कि 'मुक्त हो जाये तब तो सभी (जीव) एक हो जाते हैं न ?' - यह प्रश्न कल एक डॉक्टर ने किया था। (परंतु) भाई ! उनको (वेदांत को) (वस्तुस्थिति की) खबर नहीं है। (वह तो) निश्चयाभास है। उनको पर्याय की खबर नहीं है। 'अनंत आत्मा' है और (उन से) अनंतगुने 'परमाणु' हैं, इसकी तो उनको (वेदांत को) कोई खबर ही नहीं

है। आहाहा ! यहाँ तो 'धर्मास्तिकाय' है, जो जीव को तथा जड़ को गति करने में निमित्त है। जीव को तथा जड़ को गतिपूर्वक स्थिर होने में 'अधर्मास्ति' नामक एक अरूपी द्रव्य है, वह स्थिर रहने में निमित्त है। 'आकाश' है, (वह) सभी द्रव्यों को रहने में व्यवहार अवगाहन देनेवाला (द्रव्य) है। और 'कालद्रव्य' भी है, वह, इन छहों द्रव्यों में जो (प्रतिसमय) परिणमन, अपने-अपने में, स्वयं से होता है, उसमें निमित्त है।

अब यहाँ दिमाग में (विचार में) थोड़ी बात यह आ गई कि, जो छह द्रव्य हैं, उन छह द्रव्यों की एक समय की जो पर्याय है, वह पर्याय अपने षट्कारक से उत्पन्न होती है। - पूर्व पर्याय के कारण से नहीं; द्रव्य-गुण से नहीं; निमित्त से नहीं। समझ में आया कुछ ? छह द्रव्य में द्रव्य-गुण तो कायम (त्रिकाली - ध्रुव) है, परंतु पर्याय प्रतिसमय नई-नई उत्पन्न होती है। यह पर्याय लोक में - छह द्रव्य में है। उस पर्याय का ऐसा स्वरूप है कि : वह विकृत हो या अविकृत हो, परंतु वह वर्तमान में अपने कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण (-षट्कारकों) से उत्पन्न होती है। पूर्व के कारण से होती है और कारण का कार्य है न - ये सभी निमित्त के-व्यवहार के कथन हैं। आहाहा...हा !

व्यवहार से निश्चय होता है... निमित्त से उपादान में कार्य होता है... पूर्वपर्याय कारण और उत्तरपर्याय कार्य... ये सभी व्यवहार के वचन हैं। आहाहा !

एक-एक समय की पर्याय, चाहे तो केवलज्ञान हो... चाहे तो निगोद के जीव को अक्षर के अनंतवें अंशरूप ज्ञान हो... चाहे तो मिथ्यात्व हो... चाहे तो राग का कण हो - इन सभी पर्यायों का अस्तित्व जगत में - छह द्रव्य में हैं। 'छह द्रव्यस्वरूप लोक है' - ऐसा कहा न ?! तो उसमें पर्याय भी अपने में है। किन्तु ऐसा है कि : वह पर्याय अपने से - अपने में - अपने कारण से है। गुण और द्रव्य अपने में अपने कारण से हैं। आहाहा ! समझ में आता है कुछ ?

(कोई) बहुत लम्बी-लम्बी बात करते-करते कहे कि : अध्यात्म में ऐसा कहा है और आगम में ऐसा कहा है और न्याय से ऐसा कहना चाहिए (परंतु) वे सभी कथन की बातें हैं, बापू !

यह 'छह द्रव्यस्वरूप लोक है'... 'है' उसमें तो अनंत द्रव्य की पर्याय भी आ गई। 'यह पर्याय' किसी के कारण से है, ऐसा है ही नहीं। 'यह पर्याय' अहेतुक है - सत् है, उसका हेतु नहीं है। पाठ है न ?! '**छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है...**' 'है' माने सत् है। तो 'द्रव्य' सत् है; 'गुण' सत् है; 'पर्याय' सत् है। आहाहा ! तो 'द्रव्य' का भी कोई अन्य कारण नहीं है; 'गुणो का भी कोई अन्य कारण नहीं है; तथा विकारी या अविकारी 'पर्याय' का भी कोई अन्य कारण नहीं है। 'यह पर्याय' भी अपने कारण से, इस समय में निरावलंबन - द्रव्य-गुण के आलंबन बिना, तथा निमित्त के आलंबन की अपेक्षा बिना, स्वयं के षट्कारक से (उत्पन्न होती है)। (वैसे ही) अनंत द्रव्य में तीनों काल की

पर्यायोंमें से, प्रत्येक पर्याय स्वयं के षट्कारक से उत्पन्न होती है - यह लोक का स्वरूप है।

है...न ?! क्या कहा ? - `लोक' जो ज्ञेय है, व्यक्त है। `ज्ञेय है'...`है' तो कहा, और `व्यक्त' है। (यह) एक समय की बात है कि - एक समय में छह द्रव्य, गुण और पर्याय समस्त - पूरा लोक है। आहाहा ! वे ज्ञेय हैं और व्यक्त हैं, प्रगट हैं। - द्रव्य-गुण-पर्याय सब प्रगट हैं - बाह्य हैं, उनसे भिन्न, भगवान (आत्मा) अभ्यंतर है। इसलिये उसे `अव्यक्त' कहने में आया।

आहाहा ! ऐसी बात है... एक शब्द में (उसकी स्पष्टता करने में) ३५ मिनिट हुई। ऐसी यह चीज़ - वस्तु है !! आहाहा ! दिगम्बर संतों की वाणी... आहाहा ! इतनी गंभीर... इतनी गहन... इतनी मार्मिक !! कि, एक-एक शब्द में अनंत-अनंत आगम का रहस्य भरा है। श्रीमद् (राजचंद्रजी) कहते हैं : `ज्ञानी के वाक्य में, एक-एक वाक्य में (शब्द में) अनंत आगम निहित हैं।' आहाहा ! उसमें से जितना निकालें उतना निकलता है। ओहोहोहो...!

यहाँ कहा है न ? कि आत्मा में तो द्रव्य-गुण-पर्याय है। `है' एक बात। तो `है' वह अपने से है और वह `है' तो ज्ञेय है और `है' तो ज्ञेय का ज्ञायक आत्मा है, उसका कर्ता-हर्ता नहीं है। पर की पर्याय - शरीर के हलन-चलन या भोजन की क्रिया का कर्ता, ज्ञायक आत्मा नहीं है। आहाहा ! उसका तो वह जाननेवाला (है)। तो वह चीज़ तो ज्ञेय है, आहाहा ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भगवान ! यह तो थोड़ी सूक्ष्म बात, **पुस्तक छपनेवाली है न...? उसमें आ जाये।** आहाहा ! यहाँ तो एक (अव्यक्त) शब्द में कितना (भाव) भरा है !!

(कोई) छह द्रव्य को नहीं मानते, अन्य मतवाले धर्मास्ति-अधर्मास्तिकाय को नहीं मानते; ये भगवान सर्वज्ञदेव जिनेन्द्र ने ही देखे हैं और माने हैं। जैनदर्शन के सिवा, अन्य किसी दर्शनने छह द्रव्य को नहीं माने। श्वेतांबर कालद्रव्य को नहीं मानते। वे द्रव्य की पर्याय को कालद्रव्य कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि कालद्रव्य ज्ञेय है, भिन्न है और वह कालद्रव्य असंख्य है। और एक-एक द्रव्य में प्रत्येक द्रव्य-गुण की पर्याय भी स्वतंत्र है। आहाहा !

भगवान आत्मा (ज्ञायक) है। शरीर, वाणी, मन, पर की दया आदि तो `ज्ञेय' में जाते हैं। पर की दया का मैं पालन कर सकता हूँ, ऐसा यहाँ नहीं आया है, पर की हिंसा कर सकता हूँ, ऐसा भी नहीं आया। `पर' है, वह `ज्ञेय' है और पर है, वह `व्यक्त' है और `स्व' है वह `ज्ञायक' है और स्व है वह पर की अपेक्षा `अभ्यंतर' - `अव्यक्त' है, ऐसा आया। बात ऐसी सरस है !!

अरे ! भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा, जिन्होंने तीनकाल-तीनलोक को एक समय में जाने, उन्होंने `यह बात' जानी। और `यह' उनकी दिव्यध्वनि में आई। और भगवान कुंदकुंदाचार्य ने सीमंधर भगवान से साक्षात् सुनी, और वहाँ से आकर, ये शास्त्र `समयसार' `प्रवचनसार'

आदि रचे। बाद में टीकाकार अमृतचंद्राचार्य ने (उसका रहस्य) खोला। आहाहा ! यदि ये अमृतचंद्राचार्य नहीं होते, तो इतना स्पष्टीकरण बाहर में कहाँ से आता ?

जिज्ञासा :- लोक को जाननेवाली पर्याय, लोक में जाती है ?

समाधान :- वैसे पर्याय, निश्चयमें 'व्यक्त' गिनने में आती है। किन्तु जाननेवाली तो पर्याय है न... ! यह ऐसा है... और यह ऐसा है - ऐसा जानता है कौन ? - पर्याय। पर्याय में द्रव्य नहीं आता, द्रव्य का ज्ञान आता है। पर्याय में छह द्रव्य नहीं आते, किन्तु छह द्रव्यका ज्ञान आता है। निर्णय तो पर्याय करती है न...! पर्याय में पर्याय आ गई। पर्याय स्वयं को जानती है और पर को भी जानती है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

यहाँ तो भाषा क्या है ! 'छह द्रव्यस्वरूप लोक'। - जिनेन्द्र भगवानके सिवा कहाँ है यह बात ? और वह लोक स्वरूप 'ज्ञेय' है। जगत में अपने ज्ञायकस्वभाव की अपेक्षा, वह तो जानने लायक है। पर द्रव्य की पर्याय करने योग्य है, ऐसी यह वस्तु नहीं है और ऐसा आत्मा नहीं है। आहाहा !

मैं पर की दया का पालन कर सकता हूँ, 'ऐसी चीज़' (वस्तुस्थिति) पर में नहीं है; और 'ऐसी चीज़' आत्मा में नहीं है। आहाहा ! भाई ! ऐसा सूक्ष्म (मार्ग) है !! 'मैं कमाई कर सकता हूँ, 'मेरी बुद्धि ज्यादा है', बहुत पैसा लाता हूँ, मेरे पास पाँच करोड़-दस करोड़-पच्चीस करोड़ हो गये...' (यह तो) 'धूल' है - कुछ नहीं है। यहाँ तो कहते हैं - आहाहा ! वह तो ज्ञान में ज्ञेय है; और ज्ञान की अपेक्षा वह व्यक्त अर्थात् बाह्य है। तो उन्हें जाननेवाला ज्ञान, अभ्यंतर में है। आहाहा ! आत्मा जानने लायक है, तब उसका विशेषण 'अव्यक्त' कहा। आत्मा अव्यक्तरूप से जानने लायक है। आहाहा ! समझ में आया कुछ ?

चाहे जितना रौद्रध्यान हो, आर्तध्यान हो, हिंसा का भाव हो, दया का भाव हो - उन सब भावों को यहाँ तो लोक में - ज्ञेयरूप गिने गये हैं। वह पर्याय अपने से होती है; 'है' और 'होती है' इसमें अपने से (होती है - ऐसा) कहाँ आया ? यह तो ऐसा कहा न ?! कि : 'छह द्रव्यस्वरूप लोक है' और 'वह ज्ञेय है'। 'है' - ज्ञेय, इसमें मैं करूँ तो वह ज्ञेय है - ऐसा कहाँ आया ? सूक्ष्म बात है ! ऐसी (सूक्ष्म) बात (सोनगढ़ के सिवा) बाहर नहीं निकल सकती - यहाँ जैसी बात बाहर नहीं निकलती; बाहर (लोगों को) सूक्ष्म पड़ती है।

'है' - एक बात, 'ज्ञेय है' - दूसरी बात, 'व्यक्त' है - तीसरी बात। 'है' उसका जाननेवाला भी है और उसका 'ज्ञायक' है। और व्यक्त की अपेक्षा (वह) अभ्यंतर - अंदर है ! ऐसा 'अव्यक्त' का एक विशेषण आत्मा को लगाकर, कुंदकुंदाचार्यदेव ने जो भाव पाठ में भर दिये हैं, उनको अमृतचंद्राचार्य ने टीका करके खोल दिये हैं। समझ में आया ? जिस प्रकार गाय तथा भैंस के थन में जो दूध है, उसे स्त्री निकालती है उस प्रकार

पाठ में जो भाव भरे हैं, उन्हें तर्क करके (अमृतचंद्राचार्य ने) भाव खोल दिये हैं। आहाहा ! यदि थन में दूध है, तो कोई (बलवान) स्त्री निकाल लेती है, उसी भाँति पाठ में 'अव्यक्त' में ऐसे (गहरे) भाव भरे हैं ! तो अमृतचंद्राचार्य ने खोल दिये हैं।

एक बोल अव्यक्त का हुआ।

❁ ❁ ❁

'अव्यक्त' बोल १,२

प्रवचन क्रमांक-२ ता. १८-१-१९७८

'समयसार'की ४९वीं गाथा चल रही है। इसमें 'अव्यक्त' बोल है। 'अव्यक्त' सूक्ष्म है, परंतु यह मुख्य चीज़ है। आया है न...? - **'अब अव्यक्त विशेषण सिद्ध करते हैं।'** श्री कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि, यह आत्मा अव्यक्त है; वह ही अपादेय है। अंतर् - सम्यग्दृष्टि में यह 'अव्यक्त' जो शुद्धस्वरूप, एकरूप, अभेद है, वही 'जीव' है, वही 'आत्मा' है। वह आत्मा ही उपादेय - अंतर में आदर करने योग्य है। इसके सिवा कोई चीज़, सम्यग्दृष्टि के आदर करने लायक नहीं होती। आहाहा !

'अव्यक्त' विशेषण का अर्थ क्या किया ? पाठ में 'जीव' शब्द पड़ा है न ? इसलिये यह (अव्यक्त) विशेषण जीव का है। और उसमें **'जाण'** शब्द पड़ा है न...? **(अव्यक्तं...जानीहि...जीवम्) जाण अव्वत्तं जीवम्** - ऐसा लेना है।

भगवान कुंदकुंदाचार्य महासंत थे। (उनको) आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का उग्र - प्रचुर स्वसंवेदन था, जो कि मुनि का लक्षण है। वे मुनि भगवंत, यहाँ ऐसा कहते हैं कि, हम जीव को 'अव्यक्त' कहते हैं। भगवान ने (ऐसा) 'अव्यक्त' कहा है।

जीव को 'अव्यक्त' कहा। छह बोल पहले चले। [१*] यह जीव 'अव्यक्त' है (ऐसा) तू जान ! (पाठ में) आया न...? आहाहा ! यह धीरे से (धैर्य से) समझने की चीज़ है। भगवान ! यह तो अपूर्व बात है !! अनंतकाल में कभी भी प्रेम से सुना ही नहीं। सुना है, मगर रुचिपूर्वक नहीं सुना।

यहाँ भगवान आत्मा को 'जीव' कहा है। और उसे 'अव्यक्त' कहकर, उसीको जीव कहा है। 'अव्यक्त' कहकर उसीको उपादेय कहा। शुद्ध आत्मा अव्यक्त है। श्री जयसेनाचार्य की टीका में संस्कृत में थोड़ा ऐसा लिया है : "**अव्यक्तं सूक्ष्मं**" अव्यक्त का अर्थ सूक्ष्म

[१*] अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श, अशब्द और असंस्थान।

किया है। भाई ! अव्यक्त - सूक्ष्म प्रभु अंदर है। आहाहा !

पुण्य और पाप, दया-दान, व्यवहार रत्नत्रय का राग, देव-गुरु-शास्त्र, अनंत सिद्ध, अनंत (पंच) परमेष्ठी, अनंत निगोद के जीव - इन छ द्रव्यस्वरूप यह जगत है। ये ज्ञेय हैं, जानने लायक हैं। तो इसमें व्यवहार रत्नत्रय का राग भी आया, वह भी जाना हुआ, प्रयोजनवान है। (समयसार) बारहवीं गाथानुसार। परंतु यह भगवानआत्मा, छह द्रव्यस्वरूप से 'अव्यक्त' है। 'समयसार' ग्यारहवीं गाथा में भगवानआत्मा भूतार्थ है, सत्यार्थ है - जिसे यहाँ 'अव्यक्त' कहते हैं। प्रभु ! यह तो दुनिया से सूक्ष्म बात है। आहाहा !

त्रिकाली-शुद्ध-ध्रुव-चैतन्यतत्त्व, इसको भूतार्थ यानी सत्य है, ऐसा कहा। तो यह सत्य है, वही आश्रय करने लायक है। इस भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। अभी प्रथम सम्यग्दर्शन की चीज़ बहुत सूक्ष्म है। इस सम्यग्दर्शन के बिना, ज्ञान और चारित्र और व्रत, सब मिथ्या है; अंक बिना के शून्य हैं; प्रभु ! आहाहा ! ऐसी बात !! श्री कुंदकुंदाचार्य तो जीव को ऐसा कहते हैं कि : हे जीव ! तू अव्यक्त है, इसको तू जान !

एक मुमुक्षु ने कल प्रश्न किया था न...? कि पर्याय इसमें आती है कि नहीं ? (समाधान :) पर्याय तो जानने में आती है। जाने, वह पर्याय। परंतु जाने किसको ? - 'अव्यक्त' को। अव्यक्त किसे कहें ? तो ऐसा कहते हैं... देखो ! यह बात सुबह थोड़ी आयी थी। यह जीव जो है, वह शुद्ध चिद्घन, अनंत आनंद, अनंत ज्ञान, अनंत शांति, अनंत प्रभुता, अनंत ईश्वरता, अनंत स्वच्छता, अनंत कर्तृत्व-कर्म, अनंत साधन - ऐसे अनंत-अनंत गुण का एकरूप, ध्रुवस्वरूप, इसको यहाँ 'अव्यक्त' कहा - यह जीव। और इसके सिवा (सब) अजीव। (अजीव) अधिकार में व्यवहार रत्नत्रय के जो विकल्प हैं, उनको भी यहाँ तो अजीव कहा; उनको व्यक्त कहा; ज्ञेय कहा। उसे - 'व्यक्त' को जाननेवाला 'ज्ञायक' और 'व्यक्त' को जाननेवाला 'अव्यक्त' - वह भी ज्ञायक। आहाहा ! भगवान ! यह बात बहुत सूक्ष्म !!

जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतरागदेव की बात, तथा सभी शास्त्रों का सार - तात्पर्य तो वीतरागता है न... प्रभु ! तो वीतरागता कब हो ? कि जब अपनी पूर्व चीज़ जो शुद्ध ध्रुव है, उसका आश्रय ले; और पर का तथा पर्याय का आश्रय भी छोड़ दे; तब वीतरागता होती है। चारों अनुयोग में कहनेका तात्पर्य तो वीतरागता प्रगट करने का है। तो इसका यह अर्थ हुआ कि : प्रभु ! तू (जो) अव्यक्त है उसे जान ! तो तुझे वीतरागता उत्पन्न होगी। कुछ समझ में आया ?

तू अतीन्द्रिय आनंद तथा अतीन्द्रिय ज्ञान से तो लबालब भरा हुआ है, (पर) भगवान ! तुझे तेरी (मूल) चीज़ की खबर नहीं। आचार्यदेव को करुणा का विकल्प आया है। वे तो संत थे, वे तो (इस) विकल्प के भी जाननेवाले थे। यह टीका तो बन गई, यह भी उनके जानने में तो परज्ञेयरूप है। आहाहा ! ये (सूत्रकर्ता) कुंदकुंदाचार्य हो, या टीकाकार अमृतचंद्राचार्य हो - ये सभी एक ही जाति के हैं।

`समयसार' ५ वीं गाथा में ऐसा लिया है कि : भगवान महावीर परमात्मा (तथा) अनंत सर्वज्ञ परमात्मा (जो) हो गये, और (वर्तमान में) सीमंधर भगवान बिराजमान हैं, वे विज्ञानघन में निमग्न थे (और हैं)। वे अपनी जो विज्ञानघन वस्तु (उस, अव्यक्त) में निमग्न थे; यह पर्याय। आहाहा ! कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि : जिस तरह भगवान विज्ञानघन में निमग्न थे, (उस तरह) उनसे (तीर्थंकर से) लेकर गणधरदेव तथा हमारे गुरु पर्यंत (विज्ञानघन में) निमग्न - केवल मग्न नहीं, `नि' उपसर्ग है, `नि' विशेषतासूचक है, विशेष मग्न - थे। जो दिगंबर संप्रदाय है, वह जैनदर्शन है। इसमें ऐसी आचार्य परंपरा चली आ रही है तथा उसमें (विज्ञानघन में निमग्नपने की) परंपरा आचार्य से चली आ रही है। कुंदकुंदाचार्य कहते हैं कि : हमारे गुरु भी विज्ञानघन में निमग्न थे। आहाहा ! अरिहंत के साथ अपने गुरु तक की परंपरा जोड़ दी है ! यह तो वीतराग-पंथ - त्रिलोकनाथ की परंपरा का पंथ है। कुछ समझ में आया ? तो कोई कहते हैं कि अरे ! आप तो पंचम काल के (साधु) हैं न...! आप तो भगवान के पास गये थे, मगर आपके गुरु तो भगवान के पास गये नहीं थे? तो भी हम (कुंदकुंदाचार्य) ऐसा कह रहे हैं कि : स्वयं का भगवान जिसे यहाँ अव्यक्त शुद्ध आत्मा ध्रुव कहते हैं, उस विज्ञानघन में हमारे गुरु निमग्न थे।

(प्रश्न :) आप तो छद्मस्थ हैं न ? फिर भी आपने अपने गुरु की ऐसी सूक्ष्म दशा कैसे जान ली ? फिर कोई कहता है कि : भाई पर तो इस प्रकार जानने में नहीं आता? तो भगवान कुंदकुंदाचार्य कहते हैं : प्रभु ! एकबार सुन तो सही... सुन तो सही ! हमारे गुरु को तो हम जानते हैं। उनके गुरु..., उनके गुरु..., उनके गुरु..., उनके गुरु..., वे विज्ञानघन, चैतन्यपिंड आनंदकंद, अनाकुल आनंद और शांति, अकषाय स्वभाव का रसकंद आत्मा - उस में निमग्न - विशेष मग्न थे। आहाहा ! हमारे उन गुरुओं ने, हमारे ऊपर मेहरबानी की, हमारे ऊपर अनुग्रह - उपकार करके शुद्धात्मा का उपदेश हमको दिया है। आहाहा ! छः द्रव्यादि...! परंतु उन छः द्रव्य आदि के समस्त उपदेश में भी यह बताना है कि - शुद्ध आत्मा उपादेय है। (इसलिये) हमारे गुरु ने हमको इस शुद्धात्मा का उपदेश दिया। शुद्ध चैतन्यघन है, वहाँ दृष्टि करने से, हमारी वर्तमान पर्याय में शुद्ध आनंदकंद की दशा का भाव, हमारेमें से प्रगट हुआ। प्रचुर स्वसंवेदन - हमारा निजवैभव - प्रगट हुआ। ऐसा अमृतचंद्राचार्य कहते हैं ! - पर वे तो भगवान के पास गये नहीं थे न...? कि - भाई ! इस (निज) भगवान के पास गये थे। आहाहा ! कुछ समझ में आता है? बात सूक्ष्म है, प्रभु ! धर्म जैसी चीज़ को लोगों ने (साधारण तथा स्थूल) गिना। पर धर्म ऐसा नहीं है। जैनधर्म बहुत सूक्ष्म है। प्रभु ! वे हमारे गुरु तथा हम, विज्ञानघन - अकेला ज्ञान नहीं, विज्ञान; अकेली पर्याय नहीं, घन = विज्ञानघन - प्रभु आत्मदल, ज्ञान का घन, ज्ञान का पिंड - उसमें हमारे गुरु निमग्न थे। तो हमारे में हमारा वैभव प्रगट हुआ। हमारा वैभव भी अंदर प्रगट हुआ। इस स्वसंवेदन - आनंद की प्रचुर दशा, यह हमारा निज वैभव है।

आहाहा ! ये पंच महाव्रत का विकल्प उठता है न... नग्नपना (आदि) है न... वह हमारा निजवैभव नहीं है। मुनि को वस्त्र होता ही नहीं है, वस्त्रपात्र होता ही नहीं है। सच्चे मुनि, संत हैं वे (तो) अंतर में विज्ञानघन में निमग्न हैं। और बाहर में नग्नदशा और पंच महाव्रत के विकल्प आते हैं परंतु उसमें वे मग्न नहीं हैं। आहाहा ! ऐसा कहते हैं कि - पंचम काल के संत हमारे गुरु भी ऐसे थे !

यहाँ कहते हैं कि : यह जो जीव है वह `अव्यक्त' है। अर्थात् हमारी अपेक्षा से हमारा जीव है, इस अपेक्षा से छह द्रव्यस्वरूप लोक (है) वह `यह' जीव नहीं; इस अपेक्षा से छह द्रव्यस्वरूप लोक, अजीव है। आहाहा ! समझ में आया कुछ ? ऐसे तो प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षा से है, तथा पर की अपेक्षा से नहीं है। अपनी अपेक्षा से है तथा उसकी अपेक्षा से वह नहीं है। तो कहते हैं कि छह द्रव्यस्वरूप लोक, यह तो सिद्ध किया।

`छह द्रव्यस्वरूप लोक है' यह तो सर्वज्ञ ने कहा। सर्वज्ञ के सिवा ऐसी बात कहीं नहीं है। जिस में काल भी - असंख्य कालाणु हैं; एक धर्मास्ति है; एक अधर्मास्ति है; (तथा एक आकाश; अनंत जीव; तथा उनसे अनंतगुणे पुद्गल हैं;) - ऐसे छह द्रव्य तथा उसके अनंतगुण और अनंत पर्याय हैं - यह छह द्रव्यस्वरूप लोक - जो ज्ञेय है - उन सभी को, अजीव में डाल दिया - `ये' जीव नहीं। हे जीव ! तू ऐसा जान...कि, छह द्रव्यस्वरूप जो लोक जो कि ज्ञेय है - उससे तू भिन्न है ! और छह द्रव्यस्वरूप जो लोक है, वह व्यक्त है, बाह्य है, प्रगट है, अन्य है; और तू अंतर में सूक्ष्म है। आहाहा ! प्रभु ! तू तो अंतर में अव्यक्त - सूक्ष्म है न...? इसको हम `जीव' कहते हैं। और तुझ से कहते हैं कि : हे जीव ! तू `अव्यक्त' को जान ! `अव्यक्त को जान' तो `जान' यह तो पर्याय हुई। (पाठ में) प्रत्येक में `जाण' आया है न...? **`अरसम् जाण...अरूवम् जाण...अव्यक्तं जाण...अनिर्दिष्टम् जाण...'** आहाहा ! क्या उनकी शैली !!

`छह द्रव्यस्वरूप लोक है' (इसमें) अनंत सिद्ध हैं, अनंत पंचपरमेष्ठी हो गये, हैं और होंगे - वे सभी, तेरी चीज़ से भिन्न, ज्ञेय हैं। आहाहा ! और तेरी चीज़ जब `अव्यक्त' है, बाह्य में नहीं है; तो तेरी अपेक्षा वे सर्वज्ञ और पंचपरमेष्ठी आदि बाह्य और `व्यक्त' हैं, ज्ञेय हैं। उनसे तेरी चीज़ अन्य है। आहाहा ! एक शब्द में कितना भरा है !! उनसे जीव अन्य है। उनसे भगवान अंदर अन्य है - उसको (अव्यक्त को) उपादेय जान ! यह (अव्यक्त) सम्यक्दर्शन का विषय है। सम्यक्दर्शन, चतुर्थ गुणस्थान तक तो अभी समकित...! श्रावक (पंचमगुणस्थान) तो कहाँ रह गया, वह तो क्या दशा है ! और मुनि (भावलिंग) वह तो क्या दशा !! यह तो, अभी तो...??

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि: इन सब से `जीव' अन्य है और जीव से वे (सभी) अन्य हैं। तो व्यवहाररत्नत्रयका विकल्प आया, यह राग, देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धा, दया-दान का भाव-विकल्प; इन से भी, जीव ! तू भिन्न है। और तेरी जीव (नाम की) चीज़ से, वह

चीज़ भिन्न है। आहाहा ! ऐसी बात है, भगवान !!

फिर सोनगढ़ के नाम से ऐसा कहे कि, यह तो 'निश्चयाभास' है.... पर, भगवान ! 'निश्चय' कहो। यह तो तेरी चीज़ की तुझे खबर नहीं है, भगवान ! आहाहा ! 'व्यवहार से निश्चय होता है' यहाँ इसका भी निषेध किया है। और' 'निमित्त से उपादान में (कार्य) होता है,' इसका भी निषेध किया। निमित्त तथा व्यवहार तो 'ज्ञेय' एवं 'व्यक्त' है।

कुंदकुंदाचार्य प्रभु कहते हैं कि एकबार '**जाण ! अव्वत्तं जीवम् जाण।**' यह तो अभी एक बोल हुआ। कल भी पौन घंटा चला था...न ? अजीव का रह गया था। यह तो इसके साथ थोड़ा विचार आया। अव्यक्त का अर्थ 'सूक्ष्म' है। संस्कृत टीका में है। (जयसेनाचार्य ने) अव्यक्त का अर्थ ही सूक्ष्म किया है।

जिज्ञासा :- केवलज्ञान से भी सूक्ष्म है ?

समाधान :- केवलज्ञान पर्याय है, उस से सूक्ष्म त्रिकाली (द्रव्य) है। पर्याय को तो 'नियमसार' में एक नय से परद्रव्य कहा है।

'समयसार' की इस ४९ वीं गाथा में भगवान की वाणी अलौकिक है...प्रभु ! ऐसी वाणी !! जैन वीतराग के सिवा, दिगंबर धर्म के सिवा यह बात कहीं नहीं है। इसमें (दिगंबर में) जन्म लिया, उसे भी इसकी खबर नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि : (लोक जो है) वह ज्ञेय है। ज्ञेय का अर्थ व्यवहार। (तो) वह भी ज्ञेय में आ गया न...! देव-गुरु-शास्त्र भी 'ज्ञेय' में आ गये; मेरे पने में नहीं आये। 'पंचपरमेष्ठी मेरे इष्ट हैं' ऐसा यहाँ नहीं आया। पंचपरमेष्ठी भी 'इस आत्मा' से बाह्य चीज़, व्यक्त चीज़, 'ज्ञेय' हैं और वह 'व्यक्त' है, और जीव से वह 'अन्य' है। जीव अन्य है, इसलिए वह 'अव्यक्त' है, वही उपादेय है। छह द्रव्य तथा रागादि विकल्प से भिन्न, अंदर में भगवान पूर्ण शुद्ध अव्यक्त जो चीज़ है, वह अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय शांति...शांति...शांति से लबालब भरा हुआ शांत...शांत...शांत है।

'उपशम रस बरसे रे ! प्रभु तेरे नयन में...' 'उपशम रस बरसे रे ! प्रभु तेरे नयन में...' तेरी चीज़ में तो क्या कहना !! परंतु तेरे नयन में और तेरे शरीर में उपशम रस ढल गया है ! ऐसा उपशमरस अकषाय वीतरागमूर्ति प्रभु - इसे यहाँ 'अव्यक्त' कहते हैं। और यह (वीतरागमूर्ति) पर से भिन्न 'अव्यक्त' है। (अन्य है) इसलिये 'अव्यक्त' है। इसलिए 'उपादेय' है। इसलिए वही 'जीव' है, इसलिए वही ध्रुव है, इसलिए वही एक 'दृष्टि' का विषय - 'आदरने योग्य है।'

भगवान ! यह कोई कथा-वार्ता नहीं है। यह तो भगवत्स्वरूप परमात्मा, अपनी चीज़ क्या है - इसकी कथा कही। आहाहा ! भगवत्-कथा यह है। 'नियमसार' में है, अंतिम गाथा में 'भगवत्-कथा' - 'भगवत्स्वरूप।'

जिसने अपने अव्यक्त स्वरूप को उपादेय जाना - उसे यहाँ '**जाण**' कहा है। आदेश

किया है। मुनि आचार्य हैं न...? आचार्य आदेश करते हैं, प्रभु ! तू अव्यक्त जीव को जान ! वही उपादेय है और वही आत्मा है। और वही आत्मा अन्य से (छह द्रव्यस्वरूप लोक से) भिन्न है। उसको आदरणीय करने से तेरी पर्याय में - अवस्था में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और आनंद तुझे उत्पन्न होंगे। आहाहा ! इसका नाम धर्म की शुरूआत है। ऐसी बात है !! यह बात सामान्यरूप से कही थी, उसका अब विस्तार करके, इसके (अन्य) पांच बोल कहते हैं।

अब दूसरा बोल : **`कषायचक्रद्लवकाद्वयक्तादन्यत्वात्' - `कषायों का समूह जो भावकभाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिए अव्यक्त है।'** थोड़ा सा आज लेना है। `कषायों का समूह' ऐसे तो ये कषाय ज्ञेय में जाते हैं। कषाय व्यक्त में जाते हैं। क्या कहा ? - पहले जो कहा कि छहद्रव्यस्वरूप लोक ज्ञेय हैं, उसमें कषाय भी आ गया। और वह व्यक्त है, उसमें यह (कषाय) आ गया है। परंतु सामान्य प्राणी इसे स्पष्ट नहीं कर सकता, इस कारण से इस दूसरे बोल को स्पष्ट करते हैं :-

`कषायों का समूह' - सिर्फ अकेला `कषाय' नहीं लिया, `कषायों का समूह' (लिया)। चाहे तो वे दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के जो शुभभाव उत्पन्न होते हैं, इस असंख्य प्रकार के शुभ कषाय हैं और काम, क्रोध, हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, विषय-वासना आदि के जो पापभाव उत्पन्न होत हैं, ये असंख्य प्रकार के अशुभ कषाय हैं। - ये सब मिलकर `कषायों का समूह' है। `कषायों' एकवचन नहीं, बहुवचन है और `समूह' - चाहे वह क्रोध हो, मान हो, माया हो, लोभ हो, राग हो, द्वेष हो, प्रेम हो, अप्रेम हो, विषय-वासना हो, करुणा हो, कोमलता हो - ये सभी कषायों का `समूह' हैं।

`कषाय' क्यों कहा ? `कष्' माने संसार और `आय' माने लाभ। जिससे (संसार में) भटकने का लाभ मिले उसे `कषाय' कहते हैं। पाठ में **`कषाय'** शब्द पड़ा है न...? (कष+आय=कषाय=संसार+लाभ) जैसे `सामायिक' कहते हैं न...? (सम+आयिक=सामायिक) वीतरागमूर्ति आत्मा का अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ - इस में `सम' अर्थात् समता का - आनंद का और `आयिक' मतलब लाभ हुआ। `समता का लाभ' इसे सामायिक कहने में आता है। यह दुनिया करती है, बैठती है (यह नहीं) ऐसा तो अनंतबार किया। णमो अरिहंताणं... णमो सिद्धाणं... करके (आँखें) बंद करके सामायिक (माने) ! किन्तु यहाँ तो अव्यक्त शुद्ध उपादेय आत्मा का अनुभव होकर, आनंद के स्वाद में उग्रता से वीतरागता हो, इसका लाभ हो, उसका नाम `सामायिक' कहने में आता है।

यहाँ यह कहते हैं कि : **`कषायों का समूह जो भावकभाव'** - कर्म है, वह `भावक' है; और उसका विकारी कषाय-समूह, वह भावक का `भाव' है; वह `आत्मा' का नहीं। आहाहा ! सुनो ! भले ही दया का, दान का, व्रत का, भक्ति का भाव हो, परंतु प्रभु ! ऐसा कहते हैं कि वह तो भावक का भाव है, प्रभु !

'भावक' मोहकर्म है - ऐसा 'समयसार' गाथा - ३२, ३३ में भाव्यभावक (लिया) वहाँ आया है। (भावक जो कि मोहकर्म (है) उसके अनुसार प्रवृत्ति से अपना आत्मा भाव्यरूप होता है, मतलब कि) 'भावक' मोहकर्म, और उसका अनुसरण करके होनेवाला 'भाव्य' अर्थात् अपनी (आत्मा की) पर्याय-विकार। आहाहा ! ३२-३३ दोनों गाथा में आया है।

यहाँ तो आचार्य समुच्चय, बहुत संक्षेप में समेट लेते हैं कि, तेरी पर्याय में जो कुछ पुण्य और पाप के असंख्य प्रकार के भाव हैं, वे भावक का भाव्य और भावक का भाव है। 'भाव्य' का कारण लेने में, उसकी योग्यता वहाँ ३२-३३ गाथा में लेनी थी, यहाँ तो वह निकाल दिया। आहाहा ! क्या कहा यह ? - ३२-३३ गाथा में 'भाव्यभावक' कहा था, वहाँ ऐसा (लिया) कि भावक कर्म है और आत्मा की पर्याय में (जो) विकार होता है, वह भाव्य-योग्यता है। 'भाव्य' आत्मा की विकारी पर्याय है। उसमें कर्म निमित्त 'भावक' है। ऐसा बताया था और फिर उससे भी भिन्न बताया। (परंतु) यहाँ तो सीधा यह लिया कि वह भाव्य-योग्यता भी (आत्मा की) नहीं। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

('समयसार') गाथा - ३१ में 'संकरदोष' का निवारण (परिहार) किया कि : परवस्तु - रागादि मेरे हैं, इन्द्रिय का विषय मेरा है, भगवान मेरे हैं, भगवान की वाणी मेरी है - इन सब इन्द्रिय के विषयों को अपना माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा ! यह संकरदोष है, मतलब कि एक द्रव्य में (अन्य) दूसरे द्रव्य को मिलाना, वह संकर-खिचड़ी है। फिर गाथा - ३२में भाव्यभावक को जीत लिया है, (मगर उसका नाश हुआ नहीं है, सत्ता में हैं, इस प्रकार) वहाँ उपशम श्रेणी की बात कही है। फिर गाथा ३३ में भाव्यभावक का क्षय (अभाव) लिया है। (भावक मोहकर्म का क्षय होने से आत्मा के विभावरूप भाव्यभावक का भी अभाव होता है।) निश्चय में - दृष्टि में तो द्रव्यस्वभाव में विकारी पर्याय की योग्यता पर्याय में है, परंतु वास्तव में विकार करनेवाला द्रव्यस्वभाव नहीं। आहाहा ! इस कारण से वहाँ 'भावक' कर्म का 'भाव्य' अर्थात् पर्याय की योग्यता लेकर उससे भिन्न करना। यहाँ तो शुरू से ही ऐसा लिया कि, भावक का वह भाव है, (आत्मा का नहीं)। वहाँ 'भाव्य' तो पर्याय की योग्यता बताई कि पर्याय में (ऐसी) योग्यता (है)।

महाविदेहक्षेत्र में भगवान परमात्मा जिनेन्द्रदेव सीमंधर भगवान बिराजमान हैं। वे (सौ) इन्द्रों और गणधरों के समक्ष फरमाते हैं, उस वाणी का सार, कुंदकुंदाचार्य बताते हैं कि : 'कषायों का समूह' - एक ही नहीं, मगर समस्त विकल्प मात्र। अरे ! गुण-गुणी के भेद के जो विकल्प उठते हैं, वे भी कषायसमूह में जाते हैं। आहाहा ! और दया पालन का भाव, सत्य बोलने का भाव, ब्रह्मचर्य पालन का भाव - ये समस्त शुभराग भी कषायों के समूह में जाते हैं।

'कषायों का समूह जो भावकभाव' - भावक अर्थात् कर्म जो परचीज़ है वह भाव..क। इस भाव को करनेवाला कर्म है, वह भावकभाव है, ज्ञायकभाव नहीं। आहाहा ! भगवान !

तू ज्ञायकभाव है...प्रभु ! तो ज्ञायक का भाव तो ज्ञाता-दृष्टा होता है। कुछ समझ में आया ? ज्ञा..य..क का भाव, ज्ञा..य..क - ज्ञान करनेवाला। उसका भाव - ज्ञाता-दृष्टा - जानना - देखना - यह भाव उसका है। आहाहा ! भावक का भाव... यहाँ तो अत्यंत भिन्न दिखाना है न...? वह कषायों का समूह... प्रभु ! शुभ या अशुभ भाव... आहाहा ! भगवान का स्मरण करना, पंचपरमेष्ठी का स्मरण करना - यह भी, एक राग और कषाय है।

राग के दो प्रकार हैं - माया और लोभ। द्वेष के दो प्रकार हैं - क्रोध और मान। मोह के दो प्रकार हैं - एक दर्शनमोह, दूसरा चारित्रमोह। फिर चारित्रमोह के दो प्रकार, एक कषाय (वेदनीय) और दूसरा नोकषाय (वेदनीय) - इन सबको 'मोह'* कहकर, कषायों का समूह कहकर, पुण्य और पाप के समस्त भावों को कषायों का समूह 'भावकभाव' (कहा) है) कर्म-मोहकर्म को करानेवाला, यह 'भावकभाव' है।

'(समयसार)' १३वीं '**भूयत्थेणभिगदा।**' वाली गाथा में यह कहा है न...? (नव तत्त्व) एक जीव का कर्तव्य नहीं, अजीव साथ में है। वहाँ आत्मा में योग्यता (पर्याय की) ली है। परंतु करनेवाले को कर्म लिया है। '**आस्त्राव्य आस्त्रवक**' आस्त्राव्य - आनेवाली पर्याय, और आस्त्रावक - वह कर्म। कर्म का भाव, यह आस्त्रव है। (आस्त्रव होने योग्य तथा आस्त्रव करनेवाला - ये दोनों आस्त्रव हैं। ये तो निकल जाते हैं। यह उसकी (आत्मा की) चीज़ ही नहीं। आहाहा !

यहाँ तो 'अव्यक्त' द्रव्यस्वभाव का वर्णन है न...? अव्यक्त द्रव्यस्वभाव में तो यह (भाव्य भावक की) योग्यता भी नहीं है। आहाहा ! कषाय को 'भाव्य' और कर्म 'भावक' - दोनों का निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी यहाँ नहीं है। आहाहा ! इसका ऐसा अर्थ कि कर्म विकार कराते हैं। यहाँ तो कर्म और कर्म के (निमित्त) से होनेवाले विकार - इन सबको 'व्यक्त' कहकर 'पर' कहने में आया है और उससे भगवान (आत्मा) भिन्न है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

ऐसी बात है, भाई ! सुनना भी कठिन लगे, वह समझ में कब आये नाथ ! इसलिए तो (कुछ लोग) ऐसा कह देते हैं...कि वह सोनगढ़ का धर्म निश्चयाभास है, व्यवहार को नहीं मानते। (परंतु) अरे प्रभु ! सुन तो सही ! 'व्यवहार नहीं है' ऐसा कौन मानता है ? 'है' पर वह 'ज्ञेय' है। व्यवहार है, वह कषायभाव में आता है। आहाहा ! पहले बोल में वह (व्यवहार) ज्ञेय में आया और दूसरे बोल में कषाय में आया। कुछ समझ में आया ?

* मोहनीय के दो प्रकार हैं - दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं - मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति। चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं - कषाय (वेदनीय) और नोकषाय (वेदनीय)। कषाय (वेदनीय) के १६ भेद (-अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याखानावरण, संज्वलन के क्रोध-मान-माया-लोभ की चौकडी (४x४=१६) नोकषाय (वेदनीय) के ९ भेद (-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि), स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद)।

भाषा तो सीधी-सादी है।

(एक ओर) कषायों का समूह। दूसरी ओर भगवान एकरूप आत्मा। अव्यक्त, एकरूप, चिदानंद भगवान, ध्रुवस्वरूप परमात्मा - उसको जान ! ऐसा कहा न...? पर्याय जाने। जाने किसको ? - पूर्णानंद के नाथ को ! आहाहा ! कषाय को जाने, ऐसी भी व्यवहार से कहने में आता है। वास्तव में तो कषाय संबंधी जो ज्ञान होता है, वह अपने को, अपने कारण से, अपनी स्व-परप्रकाशक शक्ति से होता है। राग है तो राग का ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। राग का ज्ञान हुआ, वह तो अपने सामर्थ्य के कारण से हुआ है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

यहाँ तो राग, शुभभाव - दया, दान, व्रत आदि के और पंचमहाव्रत के जो परिणाम, वह आस्त्रव है, राग है, कषाय है। अरेरे...! यह बात किस तरह बैठे ? (लोग) - चिल्ला उठे न...! चिल्लाओ या न चिल्लाओ, प्रभु ! मार्ग तो यह है। और कोई शरण नहीं है। शरण तो अंदर भगवान आनंदस्वरूप (स्वयं ही) है। शरीर छूटने के समय में प्रभु ! तेरे चारों ओर रोग आ जायेंगे, या तो पक्षाघात हो जायेगा, या श्वास नहीं ले पायेगा। बापू ! उस समय शरण क्या ? (अन्य) कौन शरण है ? ये सब क्रिया (शरीर की)... प्रभु ! तेरे ज्ञान की ज्ञेय है। तेरे में नहीं, तेरी नहीं, और तेरे से हुई नहीं। आहाहा !

ऐसे कषायों का समूह, जो भावकभाव है, वह व्यक्त है, बाह्य है, प्रगट है, स्थूल है। इस `अव्यक्त' को `सूक्ष्म' कहना है न...? इसलिए तो यहाँ `स्थूल' (किया)। यहाँ `व्यक्त' कहना है न...? तो वहाँ `अव्यक्त'। `बाह्य' कहना है...? तो यहाँ `अभ्यंतर'। आहाहा ! यह तो सिद्धांत !! यह तो संतों की वाणी ! दिगंबर संतों की वाणी है। आहाहा ! (अन्यत्र) है कहीं ?

समकिती को भी भगवान की भक्ति के भाव आते हैं। पर वे उनको ज्ञेयरूप जानते हैं; जाननेलायक समझकर जानते हैं; `अपना हैं', इस प्रकार नहीं जानते। और कषायों का समूह `व्यक्त' है - उससे मैं भिन्न हूँ - ऐसा जानते हैं। वह कषाय का - भक्ति का जो भाव आया `वह मुझे आया, और मेरे साथ उसका संबंध है' - ऐसा नहीं मानते।

कषायों का समूह `व्यक्त' है, उससे जीव अन्य है। उससे जीव अन्य है, इसी कारण से (जीव) `अव्यक्त' है। विशेष कहेंगे....

❁ ❁ ❁

अव्यक्त बोल - २,३

प्रवचन क्रमांक-३ ता. १९-१-१९७८

'समयसार' गाथा - ४९ में (आत्मा को) 'अव्यक्त' का विशेषण है। 'अव्यक्त' अर्थात् आत्मा। जो ध्रुव, शुद्ध, चैतन्य, अतीन्द्रिय, अनंत ज्ञान का पिण्ड और अतीन्द्रिय आनंद का सागर, अतीन्द्रिय प्रभुता का ईश्वर - ऐसी अनंत शक्ति और एक-एक शक्ति में अनंत आनंद का रूप और एक-एक शक्ति में अन्य अनंत शक्तियों का रूप - ऐसी अनंत शक्तियों का एक रूप है - उसे यहाँ 'अव्यक्त' कहते हैं। आहाहा ! वह उपादेय है, वह आदरणीय है। 'इसके' सिवा, समस्त चीज़ (व्यक्त) ज्ञेय, ज्ञेयरूप है। यह अव्यक्त आत्मा, उपादेयरूप से ज्ञेय है। समझ में आता है ? थोड़ी सूक्ष्म बात तो है। पहला बोल तो चला विस्तार से। यहाँ दूसरे बोल में आया: '**कषायों का समूह**' (**जो भावकभाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है इसलिए अव्यक्त है**।)

वर्तमान में, यह बात बहुत चलती है कि : पहले चित्तशुद्धि हो, शुभराग हो और कषाय का मंदभाव हो, तो अकषायस्वरूप आत्मा का अनुभव - सम्यग्दर्शन होता है; ऐसा कहते हैं। तो यहाँ इसके सामने तर्क है : (चित्तशुद्धि आदि) यह कषायभाव का समूह 'भावकभाव' (है), यह तो भावक का भाव है। 'कर्म' एक दूसरी चीज़ है, (जो) 'भावक' है। (तथा) 'भाव' करनेवाले का भाव है। उस चित्तशुद्धि में जो राग की मंदता होती है, वह भी भावक का भाव है। वह 'कर्म' भावक है, उसका यह भाव है, यह द्रव्यस्वभाव नहीं है।

भाई ! समयसार - १३वीं गाथा में तो हमने वहाँ तक लिया न...? '**आस्त्राव्य और आस्त्रवक**।' वहाँ भी यह लिया। पर्याय में आस्त्रव होने लायक पर्याय को लिया है, तथा आस्त्रव करनेवाले कर्म लिये हैं। वहाँ सिर्फ व्यवहार से नव (पदार्थ) बताने हैं न...? उन से (नव पदार्थ से) रहित, 'भूतार्थ यानी चैतन्य का अवलंबन लेना' - यह बताने हेतु १३वीं गाथा में यों कहा है कि : 'पुण्यभाव' है। 'जीव की एक पर्याय' पुण्य होने लायक है, और पुण्य करनेवाला 'एक कर्म' है, क्योंकि 'वह द्रव्यस्वभाव नहीं है'। पर्याय में है, करनेवाली पर्याय भी तो क्षणिक है। तब वहाँ (उसे) आस्त्रव होने योग्य कहकर, आस्त्रव करनेवाला तो कर्म है, ऐसा कहा। आहाहा ! इस प्रकार बंध होने लायक अपनी पर्याय - यह बंध होने लायक - तथा बंधक यानी भावक कर्म। (ऐसा) वहाँ लिया है। (इसी तरह) वहाँ* सातों में घटाया है। और जीव-अजीव में, 'जीव' (ज्ञायकस्वरूप) है तथा जीव के विकार का हेतु 'अजीव' है, वहाँ ऐसा लिया है। जीवस्वरूप भगवान आत्मा तो शुद्ध आनंदकंद प्रभु चिद्घन - यही सम्यग्दर्शन का विषय है। उसकी पर्याय में जो ये (पुण्यादि) होते हैं, वे कर्म के निमित्त

* पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष

से (होते हैं, उन्हें वहाँ) भावक कहकर, अपनी पर्याय को भाव्य कहकर, दोनों का निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतलाकर, एक जीव में अन्य अजीव के निमित्त से उक्त सात भेद उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार नौ (पदार्थ) हो गये। एक ओर जीव और दूसरी ओर अजीव। दोनों के संयोग से सात तत्त्व उत्पन्न होते हैं। पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष - इन सातों में यों लिया है कि : बंध होने लायक आत्मा की पर्याय और बंध करनेवाला कर्म। क्योंकि द्रव्यस्वभाव में तो ये है नहीं। आहाहा ! तो वहाँ 'करनेवाला' कहा ऐसा क्यों ? - विकृतस्वभाव, आत्मा का स्वरूप नहीं है। इस कारण से वहाँ नवतत्त्व की शुरूआत करते हुए ऐसा लिया कि : विकार होने योग्य आत्मा की पर्याय और विकार करनेवाला कर्म - दोनों का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। (परंतु) एक में नौ उत्पन्न नहीं होते। एक में तो चिदानंद भगवान अकेला ही है। एक में दूसरी चीज़ का - भावक माने भावपना का - निमित्त होकर, सात तत्त्व की उत्पत्ति आत्मा की पर्याय में होती है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

यहाँ कहा कि '**कषायों का समूह जो भावकभाव**' वह तो भावक का भाव है। वहाँ (१३वीं गाथा में) तो पर्याय की योग्यता भी ली थी। कल कहा था न... कि गाथा - ३२,३३ में वहाँ भी पर्याय की योग्यता ली है। द्रव्यदृष्टि करवाने हेतु (कहा कि) पर्याय की योग्यता और निमित्त कर्त्ता अजीव, ये दोनों छोड़ने लायक हैं। एक चैतन्यस्वरूप आनंदकंद प्रभु - 'धर्मी' है। धर्म करना हो तो धर्मी ऐसा जो अव्यक्त, निज परमात्मस्वरूप, वही उपादेय है; वही आदरणीय है। आहाहा ! शर्तें बहुत ! यहाँ तो कहा कि : कषायों का समूह भले ही वह चित्तशुद्धि का शुभ - राग हो तो भी वह (साधन नहीं)।

प्रश्न : पूर्व (पर्याय) में अशुभभाव हो, उसे छोड़कर तो (सीधा) शुद्धभाव होता नहीं, तो अंत में तो शुभभाव होना चाहिए ? उसके (शुभभाव के) कारण (शुद्धभाव) होता है, अथवा उसे (शुभभाव को) छोड़कर (शुद्धभाव) होता है, तो इतनी अपेक्षा तो शुभभाव की आई न...?

(उत्तर) : तो कहते हैं कि : नहीं। वह (शुभभाव) आत्मा का भाव ही नहीं। सुबह तो आया था न...? कि वह तो विष है। आहाहा ! भगवान (आत्मा) अमृत का सरोवर - समुद्र ! इसके आगे, शुभभाव क्षणिक - विकृत - भावक का भाव, ज़हर है। आहाहा ! बहुत कठिन मार्ग है, भाई !

प्रथम चीज़ सम्यग्दर्शन - अनुभूति। प्रतीति की अपेक्षा से दर्शन कहते हैं। तथा वेदन और जानने की अपेक्षा से 'अनुभूति' कहते हैं। पर उस अनुभूति में 'भावक का भाव' नहीं आता। आहाहा ! यह शुभभाव भी भावक का भाव है; वह स्वयं का (आत्मा का) स्वभाव नहीं है। ऐसा कहा है न...? कि : वह (शुभभाव) भावक का भाव है; ज्ञायक का भाव नहीं ! तो यहाँ 'ज्ञायक' को 'अव्यक्त' कहते हैं। क्योंकि वह (शुभभाव) भावक का भाव 'ज्ञेय' है, 'व्यक्त' है, 'बाह्य' है। दूसरी अपेक्षा से कहे तो (पुण्य-पाप अधिकार में) 'शुभभाव' को स्थूल कहा है, भाई ! शुभभाव है, वह 'स्थूल' है। चाहे तो राग की मंदता के - दया,

दान, व्रत, भक्ति, पूजा के - भाव हों, परंतु वे तो स्थूलभाव (ही) हैं। और जो 'अव्यक्त भाव' है, वह उनसे (शुभभाव से) भिन्न, सूक्ष्म है। आहाहा ! धर्म का मार्ग अपूर्व है, भाई ! वह साधारण (प्रकार) से प्राप्त हो, ऐसी चीज़ नहीं है।

जिसके (आश्रय से) भव का अंत आ जाये ! ऐसी जो चीज़ ! - (उसमें) भव और भव का भाव नहीं है। भव और भव का भाव, ये विकारी भाव (हैं)। भगवान (आत्मा) भव और उसके भाव, इन सब से रहित है। आहाहा !

जो भावक का भाव है, वह 'व्यक्त' है। पहले (बोल) में इसे 'ज्ञेय' कहा था, और 'व्यक्त' कहा था। यहाँ सिर्फ 'व्यक्त' कहा। 'जानने लायक' है, ऐसा तो पहले (बोल) में रखा था, परंतु यहाँ 'व्यक्त' लेते हैं कि, वह शुभभाव जो आस्त्रव करने लायक और (द्रव्यकर्म) करनेवाला - ये सब 'व्यक्त' हैं, 'स्थूल' हैं, कुछ समझ में आया ? राग की मंदता का, चित्तशुद्धि का भाव - वह 'व्यक्त' है, स्थूल है, 'जीव' उससे अन्य है। वह (शुभभाव) स्थूल है, 'व्यक्त' है। तो 'जीव' उससे भिन्न - सूक्ष्म है, 'अव्यक्त' है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई !

अरे...! उसने (जीव ने) आत्मा की कभी दरकार नहीं की ! बाहर कहाँ सीखना-पढ़ना ? उपदेश देना; प्रसिद्धि पाना; लोग मुझे कुछ माने; इस तरह देखादेखी से बाहर की चीज़ में रुक गया ! मैं कुछ सीखा हुआ हूँ, मुझ में बुद्धि - ज्ञानादि हैं, कुशलता है। उसे भी भीतर ऐसी थोड़ी मिठास (लालसा) रह जाये कि, लोगों को ख्याल में आ जाये कि इसे कुछ ज्ञान है। ऐसी मिठास 'भावक का भाव' है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? और दूसरे (लोग) कम करें तो अपन ज्यादा करें। दूसरे थोड़ा दान दें तो अपन ज्यादा दें। दूसरे दो-चार मंदिर बनायें तो अपन दस-पंद्रह बनवायें - राग की मंदता में, ऐसी स्पर्धा चलती हों ! तो यह भी 'भावक का भाव' है। इसमें आत्मा का कुछ कल्याण नहीं है।

'कषायों का समूह' में ये सब ले लिया। सिर्फ पहले (बोल) में ज्ञेय बताकर व्यक्त कहा है। अब व्यक्त से अव्यक्त...बस ! इतना स्पष्ट करते हैं। ज्ञेय तो उसमें (व्यक्त में) बताया है। वास्तव में तो आत्मा 'ज्ञायक' है। राग की मंदता, वह 'परज्ञेय' है; वह 'स्वज्ञेय' नहीं। स्वज्ञेय तो ज्ञायक है। और दया, दान, व्रत, राग की मंदता के भाव, चाहे तो वह शास्त्र की पूजा हो, भगवान की पूजा हो, या मंदिर की पूजा हो - ये सारे शुभभाव 'व्यक्त' हैं; 'स्थूल' हैं। इससे भगवान आत्मा भिन्न है। आहाहा ! 'कषायों का समूह' इतने में सब कुछ आ गया !

थोड़ी-थोड़ी बातें लोग अब बाहर रखते हैं। (एक श्वेताम्बर साधु ने) अभी जैन पत्रिका में थोड़ा-सा कुछ रखा (लिखा) है। पर उसमें ज़रा गड़बड़ है। उसने रखा है कि, इस समय सारी क्रियाकांड की स्पर्धाएँ चलती हैं, उसमें आत्मा का कोई ज्ञान नहीं है - आत्मज्ञान

नहीं। श्वेतांबरों में बहुत चलता है न...! कि : यह उपधान(तप) करता है, और ऐसा करता है और इतने शिष्य बनायें (परंतु) इसमें कुछ माल नहीं, भाई ! परंतु फिर थोड़ा रखा कि : चित्तशुद्धि करनी... राग मंद हो तो फिर अनुभूति होती है।

यहाँ तो कहते हैं कि : अनंतबार चित्तशुद्धि की, नववीं ग्रैवेयक में गया। प्रभु ! तुने सुनी तक नहीं वैसी चित्तशुद्धि और शुक्ल लेश्या तो वर्तमान में नहीं है। आहाहा ! तथापि, वैसी शुक्ल लेश्या से (आत्मा की) प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि : प्रभु (आत्मा) तो अलेश्यी, अव्यक्त, शुद्ध, चैतन्यघन है। वह तो अपने स्वभाव से ही प्राप्त होता है। वह शुभराग और व्यवहार द्वारा प्राप्त नहीं होता।

**`कषायों का समूह जो भावकभाव व्यक्त है, उससे जीव अन्य है...'** यहाँ तो `जीव' कहना है न...? (भावकभाव) `व्यक्त' है। इसमें कह तो दिया कि : आत्मा से, भावकभाव व्यक्त अर्थात् बाह्य है। अब तो उस `बाह्य' से, भगवान आत्मा भीतर में `भिन्न' है। आहाहा !

कषाय का भाव, भावकभाव, अजीव, भावक और भाव-पर्याय, ये सभी `अजीव' हैं। आहाहा ! और भगवान (आत्मा) उनसे (अजीव से) भिन्न, अंदर में है। जिसे यहाँ भावक की - व्यक्त की अपेक्षा, `अव्यक्त' कहा है। है तो वह भीतर प्रगटरूप से। `अव्यक्त' का अर्थ यह है कि (वह) `व्यक्त' से बाह्य यानी भिन्न है, इस अपेक्षा से `अव्यक्त' है। अन्यथा वस्तु तो भीतर व्यक्त - प्रगट ही है। आहाहा !

(आत्मा) अतीन्द्रिय आनंदकंदप्रभु ! अनंत अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंद, अतीन्द्रिय अनंत स्वच्छता, प्रभुता, ऐसी एक-एक शक्ति में अनंत शक्ति का रूप और ऐसी अन्य अनंत शक्तियों के अनंतरूप - ऐसी अनंतरूप शक्ति का पिंड (ऐसा) प्रभु, वह शुभभाव अर्थात् भावक से सर्वथा भिन्न है। वह (प्रभु) अव्यक्त है। वही सम्यक्दृष्टि को - धर्मी को उपादेय है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? (श्रोता :) आप एक-दो बार कहो, इससे समझ में नहीं आता। (उत्तर :) लंबी-चौड़ी बात कहाँ है ? दो-तीन-चार बार तो आती है। भले बदल-बदलकर अलग भाषा में आये, परंतु भाव तो वही रहता है।

(समयसार) गाथा-३२,३३ में तो ऐसा कहा न...? कि : भावक है कर्म, और उसकी (आत्मा की) विकारी पर्याय है भाव्य। १३ वीं गाथा में भी ऐसा कहा कि : विकार करनेवाला - कर्म और विकार होने लायक जीव की पर्याय। तो एक अकेले जीव को नवतत्त्व उत्पन्न नहीं होते। दूसरे का संबंध हो तो दो होते हैं। `एक-एक होनेसे (शुद्ध) रहता है' और `दो होने से बिगड़ता है।' सिर्फ अकेले चैतन्यस्वरूप में तो कोई बिगाड़ है ही नहीं। यदि चैतन्यस्वरूप, अजीव और अचेतन, ऐसे कर्म का लक्ष अर्थात् संग करे, तो बिगाड़ उत्पन्न होता है। समझ में आया ?

यहाँ श्री अमृतचंद्राचार्य ने थोड़े शब्दों में बहुत समा दिया है ! ज्ञेय को `व्यक्त' कहकर, ज्ञायक को `अव्यक्त' कहा था, ऐसा वहाँ सामान्यरूप से कहा था। परंतु कोई

न समझ सके, अतः बाद में यहाँ खुला (स्पष्ट) कर दिया कि : जितने शुभ-अशुभ भाव हैं, वे भावक के भाव हैं, कर्म के भाव हैं, अजीव के भाव हैं; वे जीव के भाव नहीं। 'अजीव अधिकार' चलता है न...? आहाहा ! गज़ब बात है !! व्यवहार रत्नत्रय, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा और पंच महाव्रत के परिणाम - इन्हें अजीव में डाला है। आहाहा ! प्रभु ! ये अजीव में क्यों ? क्योंकि : भगवान (आत्मा) तो चैतन्य-आनंदस्वरूप है न...! तो चैतन्य व आनंद भगवान, व्यवहाररत्नत्रय में आया नहीं। यहाँ तो चैतन्य और आनंद, वह आत्मा। अतः (अपना) चैतन्य व आनंद जिसमें नहीं है (वह, अजीव)। चेतन में चेतन व आनंद है। तथा अजीव में आनंद व ज्ञान नहीं है, इस अपेक्षा से (शुभभाव को) अजीव कहकर, व्यक्त कहकर, भिन्न कहकर - इन से, भगवान (आत्मा) को भिन्न बताया है। कुछ समझ में आया ? आहाहा ! ऐसा उपदेश !!

अब मनुष्य को ऐसा लगे न...! उसमें (संप्रदाय में) धमाधम चले.. ऐसा का ऐसा... उपवास करो... उपवास करो, दान करो, मंदिर बनाओ, रथयात्रा निकालो, गजरथ निकालो... गजरथ निकालते हैं न...? आहाहा ! 'गजरथ' तो भगवान आत्मा है। निर्जरा अधिकार में आया है न...? 'विद्यारथमारूढ' आहाहा ! भगवान ! विद्या अर्थात् विद्यमान चीज़, त्रिकाली विद्यमान... विद्यमान चीज़ - उसमें आरूढ़ होना, यह 'गजरथ' है। राग में आरूढ़ होना, वह तो प्रभु ! पामरता है, दुःख है, वह अजीव है, वह व्यक्त है। व्यक्त अर्थात् बाह्य चीज़ है। उसमें अव्यक्त चैतन्य का अंश नहीं। तो इस अपेक्षा से (राग को) व्यक्त कहा, स्थूल कहा। उससे 'जीव' अन्य है, इसलिए 'अव्यक्त' है।

तीसरे बोल 'चित्सामान्य' में भी यही लेना (है)। क्या लेना (है) ? भावकभाव व्यक्त है, इससे अव्यक्त भिन्न है, ऐसा जान ! (पाठ में) '**जाण**' आया है न...? 'ऐसा जान !' भगवान कुंदकुंदाचार्य ऐसा आदेश करते हैं। आहाहा ! भावक का भाव - विकारीभाव भले ही शुभ हो...! अशुभ भाव की तो बात ही क्या करना ? - उससे भी भिन्न, अव्यक्त भगवान आत्मा है - उसको जान ! '**जाण**' ऐसा कहा न...? तू राग से अपने को लाभ मानता है (परंतु) प्रभु ! यह राग 'भावकभाव' है। उससे भिन्न भगवान जो अव्यक्त है, उसे जान ! आहाहा ! यहाँ तो भावक (भाव) - व्यवहार को जान, ऐसा भी नहीं लिया। यद्यपि पहले (बोल) में साधारण बात आ गयी थी। उस अजीव को जानना, ऐसा भी यहाँ नहीं लिया। पहले तो साधारण बात कह दी थी। यहाँ तो 'अव्यक्त को जान' ऐसा कहना है, भाई ! इस (भावक) भाव से भिन्न, इसे (अव्यक्त को) जान ! 'भाव को जान' यह बात ही यहाँ नहीं है। यह शुद्ध चैतन्य वस्तु जो भावक भाव से भिन्न है, उसे जान ! और इसको जानने में तेरी पर्याय में, उसका (भावकभाव का) भी ज्ञान होगा। तेरे सामर्थ्य द्वारा राग को (भावकभाव को) जानना नहीं है; परंतु तेरे सामर्थ्य से स्वयं का ज्ञान होने से राग संबंधी ज्ञान साथ में उत्पन्न होगा। कुछ समझ में आया ? अभी दो बोल हुए। अब तीसरा बोल :-

(''**चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात्**'' **- चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अंतर्भूत) हैं इसलिये अव्यक्त है।**)' अब 'चित्सामान्य' में क्या कहते हैं ? - 'चित्' यानी ज्ञान जो आत्मा (है वह) 'सामान्य' यानी त्रिकालस्वरूप, एकरूप, ध्रुव (है) - वह सूक्ष्म, अव्यक्त (है) (तथा) जितनी बाह्य पर्यायें हैं, वे व्यक्त (हैं), उस चित्सामान्य में चैतन्य की अनंत समस्त व्यक्तियाँ - एक वर्तमान पर्याय को छोड़कर - अन्तर्निमग्न हैं। यहाँ '**जाण**' लेना है न...? तो फिर 'जान' (अर्थात् जाननेवाली वर्तमान) पर्याय व्यक्त (बाह्य) रही।

फिर से, कि : चित्सामान्य में, ज्ञायकभाव जो भगवान त्रिकाल ! आहाहा ! वह सामान्य है, एकरूप है, ध्रुव है, अद्वैत है, नित्य है - ऐसा चित्सामान्य। 'चित्' अर्थात् ज्ञान ! 'सामान्य' में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ, चैतन्य की समस्त पर्यायें, प्रकट पर्यायें - चैतन्य की समस्त पर्यायें जो कि विशेष हैं - (जिसमें से भावक का भाव निकाल दिया था), भूतकाल में कोई (पर्याय) मलिन व निर्मल हुई, भविष्य में निर्मल होगी - वे समस्त व्यक्तियाँ, पर्यायें, प्रकट पर्यायें निमग्न अर्थात् अंतर्भूत हैं। क्या कहा ? कुछ समझ में आया ?

सामान्यस्वरूप जो एकरूप भगवान आत्मा - उसमें, निर्मल पर्याय भी अंतर्निमग्न है। भूत और भविष्य में अनंत पर्यायें हुई और होगी, कुछएक मलिन पर्यायों का अंत होकर निर्मल भी हुई और निर्मल होगी - वे सभी पर्यायें, सामान्य चेतन में निमग्न हैं, अंतर में निमग्न हैं; भिन्न नहीं हैं। कुछ समझ में आया ?

धर्म का ऐसा उपदेश !! इसमें अब क्या करना ? 'यह' करना। 'यह' प्रभु ! कि: भीतर में महान वस्तु पड़ी है (-विद्यमान है)। उसमें इस ओर (अंतर) में लीन हो ! इसके सन्मुख हो ! इसका आश्रय ले ! इस भगवान पूर्णानंद के नाथका शरण ले ! उत्तम में उत्तम कोई पदार्थ हो तो यह सामान्य चीज़ (निजात्मा) है, यह उत्तम पदार्थ सर्वोत्कृष्ट है और तेरा सामान्य आत्मा तीर्थंकर परमात्मा से भी सर्वोत्कृष्ट, उत्तम है। आहाहा...हा !

ऐसा उपदेश !! इसलिए लोगों को सोनगढ़ ऐसा लगता है कि...! तो फिर भाग्यशाली जीव सुनने के लायक हुए हैं न...! अन्यथा कठिन पड़े ऐसा है। आहाहा ! प्रभु ! एकबार सुन तो सही ! प्रभु ! ऐसे अवसर कब मिलें !

यहाँ कहते हैं कि : चित्सामान्य में - ध्रुव में - नित्य में - एकरूप त्रिकाली स्वभाव में - जितनी पर्यायें हो चुकी और होनेवाली हैं, वे सब - शक्तिरूप से अन्तर्निमग्न हैं। कुछ समझ में आया ? विकारी पर्याय अंदर (द्रव्य) में जाती है तब योग्यतारूप रहती है; विकार (द्रव्य में) नहीं जाता। विकारी पर्याय जो जाती है, वह विकारीभाव तो उदयभाव है और (उसकी) भावकभाव में खतावली कर दी। यहाँ तो उपशम व क्षयोपशम भाव की जो पर्याय है, वर्तमान पर्याय सिवा, भूत-भविष्य की जितनी निर्मल पर्यायें हैं, वे चित्सामान्य में अंतर में शक्तिरूप हैं, पर्यायरूप नहीं। क्योंकि उपशम और क्षयोपशम पर्याय अंतर में (द्रव्य में) जाकर पारिणामिकरूप हुई है। अंतर में उपशम व क्षयोपशम भाव नहीं रहता। आहाहा !

कुछ समझ में आया ?

ऐसा उपदेश !! अरे ! ऐसा मार्ग, बापू ! वीतराग मार्ग तो अलौकिक है, भाई ! और यह कोई दुनिया को दिखाने के लिये नहीं है। स्वयं के देखने (आराधन) हेतु है। आहाहा !

निजस्वरूप, चित्-ज्ञान, सामान्य-स्वरूप, उसमें जितनी पर्यायें - व्यक्तियाँ थी, व्यक्तियाँ होगी - वे सब, अंतर में अंतर्मग्न अर्थात् पारिणामिक भाव से हैं। सामान्य में अंतर्मग्न का ऐसा अर्थ नहीं है कि: अंतर (द्रव्य) में उपशमभाव-क्षयोपशमभाव है। एक वर्तमान पर्याय को छोड़कर। क्योंकि, वर्तमान पर्याय में '**जाण** !' ऐसा लिया न...? चित्सामान्य में समस्त व्यक्तियाँ अंतर्निमग्न हैं - हे शिष्य ! ऐसे जीव को तू जान !

आहाहा ! कितनी बात करते हैं ! पहली बात ऐसी है कि : विकल्प से तो पहले ऐसा निर्णय करना होगा कि 'मार्ग तो यह है।' बाद में इस विकल्प को तोड़कर (आत्मा का) अनुभव होता है। लेकिन अभी विकल्प द्वारा भी (यथार्थ) निर्णय का जिसका ठिकाना नहीं है ! पर्याय में - अवस्था में, राग के सविकल्प ज्ञान में, यथार्थ क्या है, ऐसा भी जिसकी (समझ में नहीं है कि) स्वरूप-तरफ झुकने से ही सम्यग्दर्शन होता है; पर्याय के लक्ष से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; तो विकल्प से और विकल्प के लक्ष से (सम्यग्दर्शन) हो - यह बात तो यहाँ है ही नहीं। यहाँ तो पर्याय का भी निषेध कर दिया है। तो इस प्रकार पहले निर्धार - निश्चय करना चाहिए। भले ही वह विकल्प से हो, पर पहले (यथार्थ) निर्णय - निर्धार होना चाहिए कि 'मार्ग तो यही है।'

जितनी व्यक्तियाँ - पर्यायें हैं - वे सभी अंतर्निमग्न हैं। पारिणामिकभाव स्वभाव भाव है। पर्याय के आश्रय की आवश्यकता नहीं। क्योंकि, वह (पर्याय) तो अंतर्निमग्न है तथा जो पर्याय निर्णय करती है, वह तो बाह्य है।

'**जाण**' कहा न...? '**जाण अव्वत्तं जीवम्...**' '**जीवम् अव्वत्तं जाण**' यह शब्द लिया है न...? आहाहा ! भगवंत तुझे जीव कहते हैं और जीव को भगवंत कहते हैं ! आहाहा ! भगवान तू जीव है न...! निर्मल पर्यायें भी (जिसमें) अंतर्निमग्न हैं, ऐसे जीव को तू वर्तमान में जान ! अनित्य से नित्य का निर्णय होता है। नित्य का निर्णय नित्य द्वारा नहीं होता, नित्य तो ध्रुव है। आहाहा ! सामान्य तो ध्रुव है। तथा सामान्य यानी ध्रुव में भूत-भविष्य की पर्यायें अंतर्मग्न हैं। वे (पर्यायें) ध्रुव में चली गई। तो वर्तमान में पर्याय है कि नहीं ? (वर्तमान पर्याय अंतर्मग्न नहीं है।)

आहाहा ! भाषा तो सादी (सरल) है, बापू ! (पर) भाव तो जो है सो है। यह कोई दुनिया को दिखाने के लिये नहीं है... कि, देखो...देखो ! हमें ऐसा ज्ञान है, हम में ऐसी प्रवीणता है। इसमें क्या...? दुनिया से रिपोर्ट (प्रमाणपत्र) लेना है ?

आहाहा ! तेरी चीज़ अंदर है। एक वर्तमान पर्याय के सिवा, भूत-भविष्य की समस्त

व्यक्तियाँ (पर्यायें) अंतर (द्रव्य) में निमग्न हैं। वर्तमान पर्याय के अलावा पूर्व की, जिस पर्याय में षट्द्रव्य का ज्ञान था...भाई ! वह पर्याय भी, अंतर्मग्न हो चुकी।

यहाँ साधक (धर्मात्मा) की बात है न...? साधक से कहते हैं कि : `जान' तेरी श्रुतज्ञान की जो वर्तमान पर्याय है (उससे) जान कि: तेरी भूत और भविष्य की पर्याय - भूत की पर्याय भी एक समय में श्रुतज्ञान द्वारा छः द्रव्य को जानने की ताकतवाली थी; वह पर्याय तो गई, अंतर्मग्न हो गई। वर्तमान के सिवा, श्रुतज्ञान की पूर्व पर्याय और (बाद की) केवलज्ञान की पर्याय सब आ गई, कि (कोई) बाकी रह गई ? (सब आ गई)। (अर्थात्) तेरी जो पर्याय होगी, उसमें भी छः द्रव्य को जानने की ताकत (होगी), वह पर्याय जानेगी और बाद में केवलज्ञान होगा, वह पर्याय भी स्वद्रव्य को तथा परद्रव्य को जानेगी ही। परंतु वह पर्याय - `सामान्य' में अंतर्मग्न है। कुछ समझ में आया ? अंतर्मग्न अर्थात् वर्तमान में पर्याय पर्यायरूप नहीं है, किन्तु ध्रुव में इसका (पर्याय का) परम पारिणामिक स्वभावभाव है। आहाहा ! ऐसी बात है !!

भगवान (आत्मा) तो शांति का सागर है। जो शांति उत्पन्न हुई थी और अभी जो शांति उत्पन्न होगी, वे सभी पर्यायें (द्रव्य में) अंतर्मग्न हैं, बाह्य में नहीं हैं, पर्यायरूप नहीं हैं, द्रव्यरूप हैं। पर्यायरूप से तो एक समय की वर्तमान पर्याय `जान' यह रह गई। यह अंतर्मग्न नहीं है। कुछ समझ में आया ? आहाहा ! इतना सूक्ष्म ! कैसा सूक्ष्म भाव !!

भगवान त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव, उनके ज्ञान की तो क्या बात !! ओहो..हो ! परमेश्वर के केवलज्ञान की पर्याय सादि-अनंत आयेगी, तो सादि-अनंत रहेगी, वह पर्याय भी वर्तमान में तो अंतर्मग्न है - ऐसा फरमाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि : अनंत-अनंत सिद्ध, केवली तथा छः द्रव्यों का ज्ञान, पर्याय में आ गया - इस संबंधी अपना ज्ञान, इस ज्ञान की पर्याय भी अंतर्मग्न हो गई है, वर्तमान (पर्याय) के अलावा।

जिज्ञासा :- अपने-अपने स्व-रूप सहित अंतर्मग्न है ?

समाधान :- स्व-रूप से पर्याय नहीं रही। पर्याय नहीं रही, वह सामान्य (द्रव्य) रूप हो गई।

जिज्ञासा :- केवलज्ञान कैसे (जाने) ?

समाधान :- केवलज्ञान भी सामान्यरूप से (जाने), पर्यायरूप से नहीं।

केवलज्ञान सादि-अनंत होगा, वह पर्याय भी अंदर (द्रव्य में) सामान्यरूप से रही है। केवलज्ञान तो क्षायिकभाव है और जो सामान्यभाव है वह तो ध्रुव - परम पारिणामिक भावरूप है। आहाहा ! गज़ब बात है, भाई !

जिज्ञासा :- केवलज्ञान में जो (पर्याय) भासित होती है, वह जैसी होनेवाली है वैसी ही भासित होती है ?

समाधान :- वे सब इसी (उक्त) प्रकार से ही है। वह पर्याय अंदर अव्यक्त (है) अंदर

निमग्न है। ऐसी चीज़ को अव्यक्त कहते हैं और यही उपादेय है। पर्याय में `**जाण**' कहने से (वर्तमान) पर्याय में यह (`अव्यक्त') उपादेय है, इस प्रकार। विशेष कहेंगे...

❁ ❁ ❁

`अव्यक्त' बोल - ३, ४

प्रवचन क्रमांक-४ ता. २०-१-१९७८

`समयसार' - ४९ गाथा। शीर्षक में क्या कहा, देखा ? ``**यद्येवं तर्हि किं लक्षणोऽसावेकष्टङ्कोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह -**'' शिष्य पूछता है। कहना क्या है ? किः शिष्य को आज गरज़ हुई है, उसे यह उत्तर देने में आता है। शिष्य पूछता है कि : अध्यवसान आदि भाव, जीव नहीं है। पहले कहा न... (ये) सब जीव नहीं हैं। अरे ! मार्गणास्थान भी जीव नहीं है। आहाहा ! `नियमसार' में तो ऐसा कहा किः जीव की पर्याय है, वह भी जीव नहीं है। आहाहा ! आत्मा में क्षायिकभाव हो, उपशमभाव हो, यह भी जीव नहीं है। शिष्य का प्रश्न यह है। पाठ ही यह है; ``**यद्येवं तर्हि किं लक्षणो**'' - अगर ये अध्यवसान आदि भाव जीव नहीं है तो एक टंकोत्कीर्ण परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ?' - ऐसा प्रश्न शिष्य का है, उसके उत्तर में `यह गाथा है' ऐसा अमृतचंद्राचार्यने खोला न...! श्री कुंदकुंदाचार्य ऐसा फरमाते हैं कि, `**जान** !' अर्थात् तू पर्याय में जान ! `अव्यक्त' को पर्याय में जान !

अपना `अव्यक्त' (का बोल) चलता है न...? आहाहा ! मुद्दे की बात है ! सूक्ष्म पड़े। पहले `अव्यक्त' में तो सब कह दिया था। पहले बोल में : छह द्रव्य(स्वरूप) लोक जो ज्ञेय - व्यक्त (है), इसमें सब आ गया था - व्यवहार-विकल्प आदि, ये सब, `ज्ञेय' और `व्यक्त' हैं; भगवान आत्मा (जो) पर्याय में उपादेय है, वह त्रिकाली `अव्यक्त' है। भाषा समझ में आती है ? जो वर्तमान निर्मल पर्याय है, उसमें यह आत्मा जो त्रिकाली शुद्ध चैतन्यघन है; वही उपादेय है। इसी के लिये सारे विशेषण लिये हैं। यह तो प्रथम बोल में कहा।

दूसरे बोल में `भावकभाव' कहा। तो उसमें से एक प्रश्न दिमाग में उठा था किः `भावकभाव' - कर्म `भावक' है और विकारी भाव `भाव्य' है - ऐसा (`समयसार' गाथा) ३२-३३ में आ गया। इस `भावक का भाव्य' इसे यहाँ `भावक का भाव' कहा। जब कि `प्रवचनसार' गाथा २४२ में `भावक का भाव' कहा, वहाँ `भावक' अर्थात् आत्मा ज्ञायक वस्तु। ज्ञायकभाव यानी `भावक'। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय हैं, वे उसके (भावक के) भाव्य। आहाहा ! भाई ! इसमें मुझे तो (इतना) कहना था किः `ज्ञेय और ज्ञान (ज्ञेयतत्त्व तथा ज्ञातृतत्त्व) दोनों

की प्रतीति - प्रतीति तो सब पर्याय है; परंतु ज्ञेय-ज्ञायक का जिस पर्याय में ज्ञान हुआ, वह भूत और भविष्य की पर्याय, अंदर द्रव्य में लीन हो गई है। (पर) वर्तमान में जो एक समय की पर्याय है, उसमें यह 'भावकभाव' (यानी कर्म 'भावक' तथा विकारी पर्याय 'भाव्य') 'व्यक्त' है; इससे 'अव्यक्त' भिन्न है।

जहाँ 'ज्ञानप्रधान' कथन आया - २४२ (गाथा 'प्रवचनसार' में) वहाँ (ज्ञान तथा ज्ञेय इन दोनों की प्रतीति (है); किन्तु प्रतीति तो पर्याय है। आहाहा ! तो वहाँ) 'भाव्यभावक' ऐसे लिया : 'भावक' भगवान ज्ञायकभाव त्रिकाली (है) आहाहा ! उसका आश्रय करने से जो दशा होती है - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - वह 'भाव्य' है। अर्थात् भावक का तो वह भाव्य है।

वर्तमान में यह तकरार बहुत चलती है। परंतु... आहाहा ! बापू ! भगवान ! तू वह (अव्यक्तस्वरूप) है प्रभु ! आहाहा ! भाई ! तुने यह बात सुनी नहीं है।

यहाँ तो प्रभु ! आत्मा भाव करनेवाला (भावक)। और भाव जिसमें (पर्याय में) हो, वह 'भाव्य'। तो भगवान आत्मा ज्ञायकभाव है, वह भाव करनेवाला और उसका भाव्य 'विकारी' भाव्य नहीं है। आहाहा...हा ! यहाँ विकारी - भावक के भाव से - भिन्न बताना है। और वहाँ ज्ञायकभाव का (भाव्य) ज्ञायकभाव (है), भगवान ! 'प्रवचनसार' २४२ गाथा दर्शन, ज्ञान, और चारित्र तीनों की ऐसी (बात) है। वहाँ ज्ञान और ज्ञेय की प्रतीति, ऐसा आया न...? और उसका (ज्ञातृतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व का) ज्ञान और रागादि से निवृत्ति (- चारित्र) - तीनों पर्याय 'भाव्य' है। किस की ? कि : 'भावक' - भगवान ज्ञायकभाव (है); और उस पर दृष्टि करने से, वर्तमान विकाररहित, निर्मल पर्याय प्रगट हो, वह भावक की 'भाव्य' है। आहाहा ! ऐसा तो मार्ग है !! पर अब...!

वहाँ ('प्रवचनसार') ज्ञान-प्रधान कथन में भी यह लिया है। भाई ! दर्शनप्रधान कथन में तो '**भूतार्थ आश्रित**' तथा यहाँ यह बात है। ('समयसार') ११ वीं गाथा में 'भूतार्थ' जो त्रिकाली भगवान (है); और आश्रय करनेवाली पर्याय है। '**भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो**' वह आश्रय करनेवाली (है) पर्याय। परंतु आश्रय किसका ? 'भूतार्थ' का। त्रिकाली..त्रिकाली...ध्रुव... ध्रुव... भगवान आत्मा (भूतार्थ है)। आहाहा ! ऐसी तो बात है, प्रभु !!

(पर) वे लोग तो ऐसा कहते हैं कि : (सोनगढ़ में) दया, दान, व्रत, भक्ति को उड़ा देते हैं। (उनको) साधन भी नहीं कहते। आहाहा ! अरे भाई ! किसी ज़गह (शास्त्र में) ऐसे निमित्त के शब्द आते हैं। (प्रवचनसार में) आता है न...? शरीर के साधनभूत ऐसा शब्द आता है। आहार आदि है न...? वह तो निमित्त के कथन (रूप) आता है भाई ! शरीर के साधनभूत आहार-पानी आता है न...? वहाँ एषणा समिति और... ऐसा लेना हो, तब भाषा ऐसी आती है। 'पुरुषार्थसिद्धि' में आता है 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' वह निमित्त को बताते हैं भाई ! परंतु निमित्त है, वह कर्ता नहीं है। यहाँ तो शुरू से ही कहते हैं। लेकिन अभी

जैनपत्रिका में एक पंडितजी का निर्णय आया है : 'सोनगढ़ निमित्त को मानता नहीं है' (परंतु) ऐसा नहीं है। निमित्त को मानते हैं, लेकिन निमित्त द्वारा (उपादान में कार्य) होता नहीं है, ऐसा मानते हैं।

यहाँ कहते हैं : भावक जो कर्म, उसकी भाव्य अवस्था, उससे रहित भगवान 'अव्यक्त' है। भावक का भाव यानी कषाय 'व्यक्त' है। 'व्यवहाररत्नत्रय' भावक का भाव है। ऐसा कहा न...? भाई ! वह (भावकभाव) तो 'व्यक्त' है। उससे भिन्न 'अव्यक्त' (आत्मा) है। तो इस 'अव्यक्त' को जान ! यह 'अव्यक्त' है, वह शुद्ध - उपादेय है। आहाहा ! यह 'अव्यक्त' जो शुद्ध है, वह पर्याय में उपादेय है - आदरणीय है।

तीसरे बोल में ऐसा कहा कि : '**चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अंतर्भूत) हैं इसलिये अव्यक्त है।**' तीसरा बोल कल चला था न...? 'सामान्य' अर्थात् त्रिकाली ध्रुव - इसमें, चैतन्य की समस्त प्रगट अवस्थायें निमग्न हैं। पर वह 'है' उसे तू (जान) '**अव्वत्तं जीवम् जाण**' - ऐसा कहा न...? ऐसे अव्यक्त को - जीव को तू जान ! यह '**जाण**' है, वह पर्याय है। इस पर्याय में इसे (जीव को) जान। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका में बहुत लिया है। 'हे शिष्य, यह जान !' '**जाण अलिंगग्गहणं**' '**निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानविषयत्वादलिंगग्रहणं**' - भगवान आत्मा स्वसंवेदनज्ञान का विषय है। स्वसंवेदनज्ञान है पर्याय। स्वसंवेदन ज्ञान का विषय है ! देखो ! '**स्वसंवेदनज्ञानविषयत्वादलिंगग्रहणं**' (यह गाथा '**अलिंगग्गहणं**') '**समचतुरस्त्रादिषट्संस्थानरहितं च यं पदार्थं तमेवं गुणविशिष्टं शुद्धजीवमुपादेयमिति हे शिष्य जानीहि।**' 'जान' का अर्थ किया है भाई ! 'हे शिष्य ! ऐसा जान।' अंदर है पूर्ण प्रभु भगवान ! (वहाँ) दृष्टि अंतर्मुख कर ! आहाहा ! बात तो ऐसी है !!

दृष्टि है पर्याय। जाननेवाली है पर्याय। पर पर्याय का विषय है 'ध्रुव'। पर्याय का विषय पर्याय नहीं है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? हे शिष्य तू जान ! - ऐसा लिया है। ऐसा है न...? '**अव्वत्तं जीवम् जाण**' - हे शिष्य ! तू अव्यक्त आत्मा जो कि सामान्य एकरूप चीज़ है, जिसमें सभी पर्यायें निमग्न हैं; किन्तु 'तू जान' - यह (वर्तमान) पर्याय अंतर में निमग्न नहीं है। आहाहा...हा ! कुछ समझ में आया ?

सुबह कहा था न...? चैतनस्वरूप भगवान, उसका चैतन्य - चेतनास्वरूप, चेतनस्वभाव, चेतनद्रव्य, उसका चेतनास्वरूप गुण, उसकी चेतनापरिणति - भावशुद्धपरिणति उसका विषय 'चेतन' को बना। आहाहा...हा ! सूक्ष्म बात है, भाई ! परंतु क्या हो ? अभी फेरफार हो गया है बहुत !

चैतन्य की समस्त व्यक्ति (पर्याय) मात्र - भविष्य की केवलज्ञान की अनंत पर्याय और भूतकी पर्याय - समस्त व्यक्तियाँ प्रगट, निमग्न और अंतर्भूत हैं। इसलिये वह (आत्मा)

अव्यक्त है। इस कारण से वह शुद्ध उपादेय है। त्रिकाली वस्तु जो नित्यानंद प्रभु ! आहाहा ! उसको पर्याय में ध्येय बनाकर उपादेय कर ! कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! (समयसार) ३२०-गाथा* में भी अंत में आया न...? ध्याता पुरुष किसका ध्यान करें ? कहते हैं कि : सकल निरावरण द्रव्य-वस्तु अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्म द्रव्य - वही मैं हूँ (इस प्रकार ध्यान करता है)। आहाहा ! यह 'अव्यक्त' कहो या 'यह' कहो (एक ही है)।

कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है भाई ! अभी तो सुनना भी मुश्किल पड़ जाये। जहाँ जायें वहाँ उपवास करो... उपवास... और.... यह करो - यह सुनने मिले। (परंतु) यह (बात) किसी भाग्यशाली को (सुनने मिले)। और वह भी इतने महीने, दो-दो महीने समय (निवृत्ति) ले करके...! यह मार्ग तो ऐसा है, बापू ! आहाहा !

मूल वस्तु अंदर चैतन्य, जिसमें बेहद - अपरिमित यानी एक-एक शक्ति का परिमित प्रमाण नहीं है - ऐसी तो अनंत शक्तियाँ, और अनंत शक्तियों का एकरूप अखंड (पिंड) वही मैं हूँ। परंतु (ध्यातापुरुष - धर्मी) ऐसी (भावना) नहीं भाता कि: 'खण्डज्ञानरूप मैं हूँ।' एक समय की पर्याय, वह 'खण्डज्ञान' है। आहाहा ! (श्रोता :) विषय करती है इसलिये 'खण्डज्ञान' ? (उत्तर) : विषय करता है 'खण्डज्ञान, पर 'खण्डज्ञान', खण्डज्ञान की भावना नहीं भाता। सम्यग्दर्शन ध्रुव का विषय करता है; परंतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन को ध्येय नहीं बनाता। आहाहा...हा ! भाई ! ऐसा विषय है !!

यहाँ ऐसा कहते हैं कि : '**चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अंतर्भूत) हैं...**' - ऐसा हे शिष्य ! तू जान। 'जान' है, वह तो वर्तमान पर्याय में आता है। कुछ समझ में आया ? यह वर्तमान पर्याय 'भाव्य' - ज्ञायक की भाव्य - वह रागरहित निर्मल पर्याय, भावश्रुतज्ञानरूपी ज्ञानपर्याय में - यह चीज़ जिसमें समस्त व्यक्तियाँ - प्रगटदशायें अंतर्लीन हैं - ऐसे सामान्य को जान ! ऐसी बात है !! भाई ! ऐसा 'स्वरूप' है। आहाहा ! मार्ग तो ऐसा है, भाई !

---

* इस ३२०-गाथा की टीका के अर्थ विषयक पूज्य गुरुदेव द्वारा दिया गया स्पष्टीकरण :- "**विवक्षिततैकदेशशुद्धनयाश्रितेवं भावना भाव्य**" जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय विवक्षित एक देश शुद्ध नयाश्रित यह भावना, जिसे कहना चाहा ऐसी आंशिक शुद्धिरूप यह परिणति, निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण क्षयोपशमिक ज्ञानरूप होने के कारण - 'पर यह तो क्षयोपशमिक ज्ञान है, अंश है' - जो कि एकदेश व्यक्तिरूप है, प्रगटरूप है, फिर भी ध्याता पुरुष ऐसी भावना भाता है कि 'जो सकल निरावरण" - (वह ही) यह 'अव्यक्त' चारों तरफ देखो तो वस्तु एक सिद्ध (होवे)। पूर्वापर विरोधरहित यह वाणी वीतराग की। एक ज़गह (कुछ) कहा हो और दूसरी ज़गह, उससे कुछ विरुद्ध - वह वाणी कोई (वीतराग की) है क्या ? (-नहीं।)

'**चित्सामान्य में**' आहाहा ! '**समस्त व्यक्तियाँ**' अर्थात् अरेरे...! अनंत केवलज्ञान, अनंत केवलदर्शन, अनंतवीर्य, अनंतप्रभुता की प्रगट पर्याय, अनंत शांति की - स्वच्छता की पर्याय अनंत अकार्यकारण (यानी पर का कारण नहीं और पर का कार्य नहीं, ऐसी) शक्ति की पर्याय, ये सभी पर्यायें, 'सामान्य चैतन्य' में निमग्न हैं। आहाहा...हा ! जिससे यह (चित्सामान्य) उपादेय है। इसलिये 'अव्यक्त' है, इसलिये यह 'उपादेय' है। हे शिष्य ! इस 'अव्यक्त' को उपादेय जान। आहाहा...हा ! किस कारण से उपादेय जान ? कि: समस्त व्यक्तियाँ - पर्यायें अंतर्मग्न हैं, इसलिये इस (वर्तमान) पर्याय में तू ऐसा जान कि यह एक अव्यक्त वस्तु है, वह उपादेय है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? ऐसी वस्तु है !!

मूल मार्ग का फेरफार बहुत हो गया। वे बेचारे ! स्वयं को दुःख हो, ऐसा तो करते नहीं हैं, भाव में तो ऐसा नहीं होता, परंतु भाव की खबर नहीं है। इसलिये उसमें - ऐसे (विपरीत) परिणाम में दुःख होगा... इसकी (उसे) खबर नहीं। और कोई प्राणी, मिथ्याश्रद्धा के कारण भविष्य में दुःखी हो - यह क्या ज्ञानी को ठीक लगेगा ? - ऐसा नहीं होता... बापू ! अरे ! यह दुःख है, भाई !

ये नरक और निगोद के दुःख ! कहा था न...? कि: नरक का एक क्षण का दुःख ! पहली नरक में दस हज़ार वर्ष की स्थिति के नारकी... आहाहा ! ऐसी दस हज़ार की स्थिति में अनंतबार पैदा हुआ। दस हज़ार और एक समय अनंतबार पैदा हुआ। (दस हज़ार और) दो समय अनंतबार पैदा हुआ, तीन समय...ऐसा करते... असंख्य समय... ऐसा करते मिनट... फिर मिनट के बाद एक-एक समय का असंख्य, इस तरह तैंतीस सागर तक के समयों में हरएक में अनंतबार पैदा हुआ, प्रभु ! आहाहा ! वह भी एक बार नहीं...भगवान ! काल अनंत गया है, प्रभु ! काल का आदि नहीं है, भाई ! तूने उसका लंबा विचार किया नहीं है। अनंत - अनंत काल नारकी एक-एक स्थिति में अनंतबार पैदा हुआ है... इस तरह तैंतीस सागर तक (की स्थिति में) पैदा हुआ। प्रभु ऐसा फरमाते हैं कि : उसके एक क्षण के दुःख...आहाहा ! करोड़ों जीभों से और करोड़ों भवों तक (बोलने पर) भी कहे नहीं जा सकते। प्रभु ! यह क्या कहते हैं ? करोड़ों-करोड़ों भवों तक और करोड़ों जीभों से एक क्षण के दुःख...भाई ! नारकी के...आहाहा ! (कहे नहीं जा सकते) भाई ! तू वहाँ अनंतबार एक-एक समय की स्थिति से उत्पन्न हुआ है, भाई ! भूल...गया ! इसलिये (ऐसा) कुछ था नहीं... ऐसा कैसे कहें, प्रभु ? आहाहा !

(मनुष्यभव में) जन्म लेने के पश्चात्... छह महीने - बारह महीने क्या था देह में ! माता ने कैसे नहलाया, स्तनपान कराया, कैसे सुलाया...खबर है ? नहीं है ख़बर, इसलिये नहीं था, ऐसा कौन कहे ? भाई ! इस प्रकार अनंतकाल के, ऐसे नरक आदि के दुःख...! - इसकी उसे ख़बर नहीं है...इसलिये नहीं थे, प्रभु ! ऐसा कौन कहे ? आहाहा ! भाई ! तूने ऐसे नरक और निगोद के दुःख सहन किये हैं। नरक के दुःख तो संयोग की अपेक्षा

से कहे हैं पर, इसकी तुलना में निगोद में तो अनंतगुने दुःख हैं। वहाँ तो उसकी पर्याय में शक्ति ही अल्प हो गई है। वहाँ आनंद का रूप ही बिलकुल उलटा हो गया है। आहाहा ! ऐसे निगोद के भव...प्रभु ! एक श्वास में अठारह बार किये, ऐसे एकबार नहीं... प्रभु ! अनंतबार मरा। आहाहा ! कैसे बापू ! तेरे को बाहर में हर्ष आता है, भाई ! कोई मान दे और सन्मान दे, वहाँ राज़ी-राज़ी और... प्रभु ! क्या है यह ? आहाहा ! तू तो ज्ञाता-दृष्टा है न...प्रभु ! इसमें यह मुझे ठीक रहेगा और यह मुझे खराब रहेगा...प्रभु ! यह कहाँ से ले आया तू ?

यहाँ तो कहते हैं कि: वर्तमान पर्याय (सिवा), भूत-भविष्य की पर्यायें अंदर में (चित्सामान्य में) समाविष्ट हैं (अंतर्भूत हैं), वे वहाँ कोई उदयभाव से या क्षयोपशमभाव से भी नहीं रही हैं। वे तो परमपारिणामिकभावरूप से - शक्तिरूप से रही हैं। आहाहा ! इसलिये वे 'अव्यक्त' हैं। इसी कारण से इसे (चित्सामान्य को) 'अव्यक्त' कहने में आता है। और 'वह अव्यक्त' ही उपादेय है। वह शुद्ध उपादेय, वह चीज़ आदरणीय है। बाहर से दृष्टि समेटकर, उस दृष्टि को वहाँ रखनी है। आहाहा...हा ! तीसरा बोल हुआ।

चौथा :- (**'क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात्' - क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है इसलिये अव्यक्त है।**) 'क्षणिक व्यक्ति मात्र नहीं है।' आहाहा ! लो...देखो ? अब बताया (कि) : एक समय की पर्याय मात्र, वह द्रव्य नहीं है। आहाहा...हा ! समझ में आया ? एक समय की प्रगट पर्याय चाहे तो मोक्षमार्ग की पर्याय हो, पर वह क्षणिक - नाशवान है। 'नियमसार' शुद्धभाव अधिकार में कहा न...? कि: केवलज्ञान आदि सभी पर्यायें नाशवान हैं। संवर-निर्जरा-मोक्ष-पुण्य-पाप-आस्त्रव-बंध - सभी पर्यायें नाशवान हैं। भगवान आत्मा अविनाशी, भगवान त्रिकाली वह स्वयं है। आहाहा...हा ! और वहाँ तो यहाँ तक कहा : निर्मल पर्याय वह परद्रव्य है। आहाहा...हा ! गज़ब बात है !! और उस परद्रव्य (- पर्याय) द्वारा स्वद्रव्य का लक्ष्य करने का है। जिसे (समयसार) - ११ वीं गाथा में '**भूयत्थमस्सिदो**' कहा है। वह आश्रय करनेवाली पर्याय है। पर्याय को वहाँ (नियमसार में) परद्रव्य कहा है। इसका कारण, जिस प्रकार परद्रव्य में से नई पर्याय नहीं आती है; उसी प्रकार स्वयं की पर्यायमें से नई पर्याय नहीं आती। अतः जितनी पर्यायें हैं, उन्हें यहाँ परद्रव्य कहने में आयी है। इस परद्रव्य (-पर्याय) से भगवान स्वद्रव्य भिन्न है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

भाई ! कभी सुना नहीं है। अरेरे...! जिंदगी ऐसे ही (व्यर्थ) चली जाए। आहाहा ! यहाँ परमात्मा जिनेन्द्रदेव ऐसा पुकारते हैं : भाई ! ये शरीर-वाणी-मन - ये तो परचीज़ हैं, वे तो जड़ - उनकी बात तो क्या करें ? वे तो स्वयं के कारण टिके हुए हैं और बदलते हैं। परंतु तेरी वर्तमान पर्याय - तेरी बदलती पर्याय, तेरे में है। (पर) तू वह क्षणिकमात्र नहीं है। तू एक समय की पर्यायमात्र नहीं है। आहाहा...हा ! ऐसी बात है, प्रभु !! **ये सब (प्रवचन) पुस्तक में प्रकाशित होने हैं न...?**

आहाहा ! यह भगवान शुद्ध चैतन्यघन अंदर में बिराजमान है, इसकी वर्तमान पर्याय - प्रगट अवस्था - जो विचारादि चलते हैं न... वह तो क्षणिक (है)। यहाँ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - वे भी क्षणिक पर्याय हैं। मिथ्याश्रद्धा - ज्ञान की तो बात ही क्या करनी ? - वह तो भ्रमणा का कारण - दुःख का कारण है। पर अंदर आत्मा भगवान शुद्ध चैतन्यघन प्रभु - उसकी प्रतीति, ज्ञान और रमणता भी क्षणिक व्यक्ति - क्षणिक पर्याय मात्र है। आहाहा ! उत्पन्न - ध्वंसी है। आहाहा..हा ! सूक्ष्म पड़े, प्रभु ! तू अंदर अलौकिक चीज़ है !! सर्वज्ञ की वाणी में भी तेरा स्वरूप पूरा आया नहीं, प्रभु ! ऐसा तू अंदर है !! अरे, तुझे तेरी कीमत नहीं है और दुनिया की कीमत आँकने बैठ जाता है।

यहाँ कहते हैं कि : आत्मद्रव्य जो वस्तु है; आनंदघन, अनंत आनंदका निधान प्रभु है, वह क्षणिकमात्र नहीं है। उसकी वर्तमान पर्याय (भले ही) निर्मल हो, मोक्षमार्ग की पर्याय हो, तो भी वह क्षणिक अर्थात् व्यक्ति - प्रगटता (है)। पर्याय द्वारा तो उसका (आत्मद्रव्य का) निर्णय करना है। अनित्य द्वारा नित्य का निर्णय करना है। पर्याय मात्र अनित्य है तथा वस्तु भगवान अंदर नित्य है। तो अनित्य द्वारा नित्य का निर्णय करना है। 'चिद्विलास' में आता है, भाई ! वह क्षणिकमात्र तू नहीं है। तेरी दृष्टि क्षणिकमात्र में नहीं रहनी चाहिए - ऐसा कहते हैं। आहाहा..हा ! दृष्टि निमित्त ऊपर तो नहीं; दया-दान के विकल्प जो पुण्य (भाव) है, उस पर तो दृष्टि नहीं; परंतु निर्मल पर्याय के ऊपर भी तेरी दृष्टि नहीं होनी चाहिए। आहाहा ! यह वस्तुस्थिति (है), बापू !

भगवान तीर्थंकरदेव त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्र प्रभु जिसे आत्मा कहते हैं; वह चीज़ कोई अलौकिक है। प्रभु ! आहाहा ! वह भगवंतस्वरूप अंदर में बिराजमान है। इसकी स्वीकृति एक क्षणिक पर्याय ने की, ऐसी जो क्षणिक मात्र (पर्याय) भी, वह (भगवान आत्मा) नहीं है। अरे...! केवलज्ञान की पर्याय भी क्षणिक पर्याय है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? मोक्षमार्ग की पर्याय तो क्षणिक है, अपूर्ण है, पूर्ण शुद्ध नहीं है किन्तु केवलज्ञान और सिद्धपर्याय तो पूर्ण शुद्ध है, फिर भी वह क्षणिक पर्याय है। भगवान (आत्मा) क्षणिक पर्यायमात्र नहीं है; अंदर ध्रुव चिदानंद भगवान है। आहाहा...हा !

अरेरे...! ऐसी बातें सुनने को न मिलें। प्रभु ! मनुष्यपना मिला और इस दुनिया में हा..हो...हा..हो... में जिंदगी चली जाती है ! आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु ! एक बार सुन तो सही ! इन्द्रों और गणधरों की सभा के बीच में त्रिलोकीनाथ प्रभु जिनेन्द्रदेव परमात्मा की 'यह' वाणी थी। महाविदेहक्षेत्र में सीमंधरभगवान बिराजमान हैं। भगवान की यह वाणी खिरती रहती है। वहाँ से 'यह बात' आई है। आहाहा ! भगवान कहते हैं कि : प्रभु ! एकबार सुन तो सही ! यह शरीर, वाणी, कर्म, देश और पर - ये चीज़ें तो, तेरे में हैं ही नहीं। और उनमें तू है ही नहीं। पर तेरी समूची - पूर्ण चीज़, एक पर्याय में आती नहीं है। आहाहा ! बहिन के ('बहिनश्री

के वचनामृत' - ३०६में) ये शब्द हैं न...! `**जागता जीव विद्यमान है, वह कहाँ जायगा? अवश्य प्राप्त होगा ही।**' आहाहा...हा ! `जागता जीव' - ज्ञायक-रस, जाननस्वभाव, `विद्यमान' अर्थात् ध्रुव है, वह कहाँ जायगा ? यहाँ कहते हैं कि वह (ध्रुव) पर्याय में आये ? राग में आये ? आहाहा ! यह प्रभु कहाँ आए ? कहाँ जाए ? यह तो ध्रुव भगवान अंदर नित्यानंद, अविनाशी प्रभु, आदि - अंत बिना की चीज़। अंतरात्मा, अविनाशी प्रभु ! - इसे यहाँ `क्षणिक मात्र नहीं है' ऐसा कहते हैं।

आहाहा ! कहाँ ले जाना (चाहते) हैं ? आहाहा ! निमित्त से हटा दिया। तेरे में निमित्त नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव, वह विकार है; वह भी तेरे में नहीं है, और निर्मल पर्याय है, वह भी तेरी ध्रुव चीज़में नहीं है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ? बात सूक्ष्म है। समझने में कठिन लगे, परंतु वस्तु तो ऐसी है ! इसके बिना जन्म-मरण का अंत नहीं आयेगा, भाई ! आहाहा ! एक मुमुक्षु कहता था कि : `इसे करने पर ही छुटकारा, बाकी सब तो व्यर्थ हैं।'

अंतर भगवान आत्मा में दो प्रकार हैं : एक, त्रिकाली ध्रुव, और दूसरा वर्तमान पर्याय। तीसरी चीज़ तो इसमें है ही नहीं। यह शरीर तो सब धूल-मिट्टी-जड़ है। पत्नी-बच्चें-कुटुंब, ये सब तो पर हैं। ये तो सभी अपने कारण से आये हैं और अपने कारण से रहते हैं, तेरे में नहीं हैं, और तेरे नहीं है। आहाहा ! अंदर हिंसा-झूठ-चोरी-विषयभोग-वासना, प्रभु ! ये तेरे नहीं हैं, और ये तेरे में नहीं हैं, आहाहा ! और अंदर दया-दान-व्रत-भक्ति-तप-पूजा-यात्रा-भगवान के नामस्मरण का भाव, ये भी पुण्यभाव हैं, प्रभु ! ये तेरी चीज़में नहीं हैं। आहाहा ! लेकिन यहाँ तो कहते हैं कि : प्रभु ! तेरी चीज़ में क्षणिक निर्मल पर्याय, यह भी तेरी चीज़ में नहीं है। आहाहा...हा ! कुछ समझ में आया ?

जहाँ भगवान पूर्णानंद प्रभु बिराजमान हैं, वहाँ जा...न ! क्षणिक पर्याय को, वहाँ ध्रुव में ले जा...न ! क्षणिक पर्याय पर नज़र मत कर ! आहाहा ! भाई ! ऐसी बातें हैं !! बहुत सूक्ष्म ! रुपयें सब इकट्ठे हों, करोड़ और... दो करोड़ और पाँच करोड़ और क्या धूल करोड़ ! वहाँ राज़ी-राज़ी हो जाए कि हम...! अरे मर गया...! सुन...तो! रुपये किस बात के ? बापू ! धूल है। आहाहा !

यहाँ तो भगवान तीर्थंकरदेव त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव, असंख्य (देवों के) अर्धलोक के स्वामी इन्द्र की उपस्थिति में ऐसा फरमाते थे : प्रभु ! तू कौन है ? कितना है ? कैसा है ? यह तेरी जो वर्तमान पर्याय चल रही है, उतना ही तू नहीं है। आहाहा ! (ध्रुव और वर्तमान पर्याय) - इनके बीच अत्यंत अभाव। आहाहा...हा ! कुछ समझ में आया ? क्षणिक-व्यक्ति - प्रगटता - आत्मा की पर्याय, जो पर्याय क्षणिक - प्रगट है।

यहाँ तो `निर्मल' प्रगट (पर्याय) लेनी है। `विकार' तो `भावकभाव' में आ गये। (दूसरे बोल में) इन्हें तो निकाल दिया। दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा आदि के विकल्प हैं, (वह) `राग'

है, वह तो तेरे स्वरूपमें नहीं है। प्रभु ! वह तो निकल जानेवाली चीज़ है, दुःखरूप है। आहाहा ! यहाँ तो अब 'क्षणिक निर्मल पर्यायमात्र भी आत्मा नहीं' ऐसा कहना है।

समझ में आया ? समझ में आये उतना समझना भाई ! मार्ग तो यह है ! सुखी होने का पंथ तो यह है ! बाकी (सब पंथ) तो दुःखी होने के...! वे सारे अरबपति और करोड़पति, हैरान-हैरान होकर, बेचारे ! मरकर कहाँ के कहाँ चले जायेंगे - ढोर (पशु) और नरक में। ये रुपयेवाले भी मरकर जायेंगे। रुपये, रुपयों के जगह में रहेंगे। आहाहा !

तू एक क्षण की पर्याय जितना नहीं है, प्रभु ! तो तू पर का तो कहाँ से हो गया ? (नियमसार) शुद्धभाव अधिकार में (कहा है कि:) एक क्षणिक वर्तमान दशा - केवलज्ञान आदि, संवर-निर्जरा की धर्म-पर्याय, जो आत्मा के अवलंबन से उत्पन्न हुई, वह भी क्षणिक है। उसकी अवधि एक समयमात्र की है। आहाहा ! आत्मा त्रिकाली आनंद का नाथ प्रभु - उसके अवलंबन से, सम्यग्दर्शन आदि उत्पन्न होते हैं। उसकी अवधि एक समय की है। दूसरे समय पर दूसरा है। केवलज्ञान भी एक समय में एक है, दूसरे समय में केवलज्ञान आता है (वह) दूसरा; ऐसा, पर (फिर) दूसरा। आहाहा...हा ! ऐसी बात है !!

आत्मा '**क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है इसलिये अव्यक्त है।**' इस कारण से 'अव्यक्त' है, कारण (आत्मा) एक समय की निर्मल पर्याय मात्र नहीं है। क्योंकि (वर्तमान) पर्याय 'व्यक्त' है। निर्मल पर्याय भी 'व्यक्त है। आहाहा ! इतना तू नहीं है। इससे (व्यक्त से) भिन्न, अंदर नित्यानंद प्रभु है; वह सम्यग्दर्शन का विषय है। वही (अव्यक्त) उपादेय है। वह आदरणीय होकर, उसमें से आत्मा के कल्याण की दशा उत्पन्न होती है, पर वह दशा भी क्षणिक है। विशेष कहेंगे....

❁ ❁ ❁

'अव्यक्त' बोल - ५

प्रवचन क्रमांक-५ ता. २२-१-१९७८

'समयसार' - ४९ गाथा चल रही है। इसमें 'अव्यक्त' पाँचवाँ बोल : ('**व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेऽपि व्यक्तास्पर्शत्वात् - व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूपसे प्रतिभासित होनेपर भी वह केवल व्यक्तताको स्पर्श नहीं करता इसलिये अव्यक्त है।**')

पहले बोल में तो ऐसा लिया था कि: एक ओर भगवान आत्मा और दूसरी ओर छह द्रव्य। अपनी पर्याय में छह द्रव्य का ज्ञान होता है, पर उन छह द्रव्यों तथा उनकी

पर्याय से भिन्न (अपना) भगवान आत्मा सप्तम (द्रव्य) है - ऐसा, हे शिष्य ! तू जान ! ऐसा कहा न...? आहाहा !

दूसरे बोल में ऐसा कहा कि : कषायों का समूह अर्थात् जितने कषायों के भाव हैं। यहाँ तो स्पष्ट बात है - दया, दान, व्रत, भक्ति आदि सब `कषायों का समूह' है, वह व्यक्त है, प्रगट है; इनसे भिन्न, भगवान (आत्मा) अव्यक्त है, `यह' (भगवान आत्मा) व्यवहार रत्नत्रय से भी भिन्न है, `यह' आदरणीय है।

तीसरा बोल - चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ (पर्यायें) निमग्न (अंतर्भूत) हैं। ज्ञायकस्वरूप चिदानंद प्रभु, जो कि सम्यग्दर्शन का ध्येय है; उस `चित्सामान्य' में भूत और भविष्य की सभी पर्यायें अंतर्लीन हैं। - ऐसा हे शिष्य ! तू वर्तमान पर्याय में जान !

चौथा बोल : क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है; इसलिये अव्यक्त है। सिद्ध तो `अव्यक्त' को करना है। `अव्यक्त' अर्थात् जो त्रिकाली वस्तु है, वही आदरणीय है। बाकी सब जानने लायक हैं। तो कहते हैं कि: क्षणिकव्यक्ति जो कि पर्याय है - निर्मल हों...! - यह क्षणिकव्यक्तिमात्र भी (आत्मा) नहीं है, इसलिये `अव्यक्त' है।

अब पाँचवाँ बोल : प्रगट और अप्रगट एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी - (यानी पर्याय में, पर्याय का तथा द्रव्य का ज्ञान एक समय में एक साथ होता है। ज्ञान तो एक समय में दोनों का होता है।) - वह `व्यक्तता' को स्पर्श नहीं करता (यानी कि) पर्याय को द्रव्य स्पर्श नहीं करता। कुछ समझ में आया ? बहुत कठिन !

(समयसार) तीसरी गाथा में तो ऐसा कहा कि : प्रत्येक पदार्थ अपने अनंत धर्मों का चुम्बन करता है। परंतु यह तो पर से भिन्न किया - इतनी बात। कुछ समझ में आया? प्रत्येक पदार्थ अपने गुण व पर्याय का चुम्बन करता है - स्पर्श करता है - छूता है। परद्रव्य का कभी भी स्पर्श नहीं करता। यह तो परद्रव्य से भिन्न करने के लिये (कहा)।

यहाँ तो अब, पर्याय और द्रव्य - दोनों को भिन्न करने की बात है। आहाहा..हा..! कुछ समझ में आता है ? तो कहते हैं कि : क्षणिकव्यक्तिमात्र (है) वह पर्याय है - निर्मल; (पर) इतना ही (बड़ा) यह (आत्मा) नहीं है; इसलिये यह `अव्यक्त' है, जो क्षणिक पर्याय से भिन्न है।

इस बोल में तो ऐसा आया कि : `व्यक्त' - प्रगट निर्मल पर्यायें; और `अव्यक्त' - द्रव्य; दोनों का एकमेक मिश्रितरूप से ज्ञान होने पर भी (-ज्ञान तो दोनों का एक समय में होता है, फिर भी) व्यक्तता को (`अव्यक्त') स्पर्श नहीं करता... बस ! इतना लेना है - पर्याय को द्रव्य स्पर्श नहीं करता। आहाहा !

वहाँ (तीसरी गाथा में) कहा कि : सभी द्रव्य अपने सभी गुण-पर्यायका चुम्बन करते हैं। भाई ! वहाँ तो सिर्फ परद्रव्य से भिन्न करने की बात ली है। यहाँ तो कहते हैं कि : अपना द्रव्य जो त्रिकाली है, वह ध्रुव है, वह व्यक्त पर्याय को स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं

है। आहाहा...हा ! कुछ समझ में आता है ?

यह किस अपेक्षा से ? किस नय का वाक्य है ? - यह जानना चाहिए। एकाकी पकड़ ले कि, उस जगह तो चुंबन कहा और यहाँ चुंबन का मना किया। पर किस चुंबन का मना किया ? परद्रव्य के चुंबन की ना तो सभी में समाविष्ट ही है। तीनकाल - तीनलोक में कोई पदार्थ किसी (अन्य) पदार्थ को स्पर्शता नहीं है। समझ में आया ?

पर यहाँ तो इससे विशेष अंदर में लेना है, 'अव्यक्त' को सिद्ध करना है न...? 'अव्यक्त' को, हे शिष्य ! तू जान ! तेरी पर्याय में 'अव्यक्त' को तू जान। यह 'अव्यक्त' द्रव्य कैसा है ? कि जो पर्याय को स्पर्श नहीं करता, (ऐसा है)। आहाहा..हा..हा.. ! यह तो वस्तु की स्थिति है !! समझ में आया ?

यह आत्मा जो है वह, शरीर-कर्म-वाणी-मन-देव-गुरु-शास्त्र - इन परचीज़ों को तो कभी भी स्पर्श ही नहीं करता। क्योंकि पर में तथा स्व में अत्यंत अभाव है, एक बात। अब यहाँ पर्याय को भी द्रव्य स्पर्श नहीं करता। पर्याय, द्रव्य तथा पर्याय दोनों को जानती है। कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात, भाई ! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म !!

भगवानआत्मा द्रव्य, त्रिकाली वस्तु आनंदकंद प्रभु ! अपनी एक समय की निर्मल पर्याय, जो कि मोक्षमार्ग की पर्याय है; (मलिन पर्याय का निषेध तो कषाय में गया) उसको स्पर्श नहीं करता, उसको छूता नहीं - ऐसा कहकर, 'अव्यक्त' सिद्ध करना है। 'अव्यक्त' जो द्रव्य है, वह पर्याय को स्पर्श नहीं करता। इस कारण से वह (द्रव्य) उस (पर्याय से) भिन्न, 'अव्यक्त' है। आहाहा ! 'व्यक्त' से 'अव्यक्त' भिन्न है। आहाहा...हा ! कुछ समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म बात है, बापू !

धर्म की प्रथम सीढ़ी - मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी - ऐसे सम्यग्दर्शन को प्रगट करना हो, तो सम्यग्दर्शन का विषय 'अव्यक्त' है, ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? यह सम्यग्दर्शन है पर्याय और पर्याय में प्रतीति होती है। यह तो 'चिद्विलास' में कहा न...! कि अनित्य, नित्य का निर्णय करता है। फिर भी नित्य, अनित्य का स्पर्श नहीं करता। आहाहा !

देह, मन, वाणी, कर्म, देव, गुरु, शास्त्र, स्त्री, कुटुंब, परिवार, देश - काठियावाड़ या दक्षिण या अमुक देश हमारा है - ये कोई तेरे हैं ही नहीं। ये तो (कोई) तेरी चीज़ में हैं ही नहीं और तेरे भी नहीं हैं। परंतु 'ये' मेरे हैं, ऐसी ममता के परिणाम भी तेरी चीज़ में नहीं हैं। ये तो नहीं हैं; मगर तेरी चीज़ का जहाँ भान हुआ कि, तेरी चीज़ 'यह ज्ञानानंद - सहजानंदस्वरूप प्रभु है' - ऐसा ज्ञान (जहाँ) पर्याय में हुआ, वहाँ पर्याय का भी ज्ञान हुआ और (तेरी चीज़) 'अव्यक्त' का भी ज्ञान हुआ; फिर भी, 'अव्यक्त' 'व्यक्त' को स्पर्श नहीं करता। आहाहा...हा ! कुछ समझ में आया ?

भगवान नित्यानंद प्रभु एकरूप त्रिकाल रहता है, यह द्रव्य, किसी भी पर्याय को -

वह (भले) ही निर्मल केवलज्ञान की पर्याय हो, तो भी - स्पर्श नहीं करता। केवलज्ञान की पर्याय में केवलज्ञान को जाने, केवलज्ञान द्रव्य-गुण को जानता है; फिर भी, वह केवलज्ञान की पर्याय एक समय की है और भगवानआत्मा नित्यानंद प्रभु अविनाशी है। आहाहा...! तो अविनाशी भगवान, विनाशी - पर्याय को स्पर्श नहीं करता। दूसरी तरह से कहें तो, अविनाशी का 'निर्णय,' अविनाशी का 'ज्ञान' और अविनाशी में 'स्थिरता' - इन तीनों को 'द्रव्य' स्पर्श नहीं करता। कुछ समझ में आया ?

अब इन व्यापार - धंधों से...फुर्सत न मिले...! तो इसमें क्या करें ? आहाहा ! अरे ! यह अवसर जन्म-मरण में चला जाता है। आहाहा...हा ! मनुष्यत्व के एक-एक समय की कीमत - श्रीमद् तो ऐसा कहते हैं कि - 'कौस्तुभमणि की कीमत के बराबर है।' उसकी तो कीमत करता है, पर इसकी (आत्मा की) कीमत (करता) नहीं ! यह समय किस लिये है ? कि : आत्मा के अनुभव के लिये है। कुछ समझ में आया ?

कहते हैं कि : अलिंगग्रहण' के १९वें बोल में ऐसा कहा कि : 'अर्थावबोधरूप विशेष पर्याय' भले अर्थावबोध भाषा ली है। ('अर्थावबोध') अवबोध तो ज्ञान है। तो पदार्थ का ज्ञान, ऐसी जो विशेष पर्याय इसकी (आत्मा की) है; किन्तु भाषा ऐसी है। इसका अर्थ ऐसा है कि, सब अर्थ की पर्याय, 'अर्थावबोध' है। 'अवबोध' (माने) ज्ञान ही लिया है। ज्ञानप्रधान बात है। किन्तु जो 'अर्थ' यानी भगवान आत्मा की जो अनंती पर्याय, ये अनंती पर्याय विशेषरूप हैं, उसको सामान्यद्रव्य स्पर्श नहीं करता। ऐसी बातें !! अब...!

यहाँ कहते हैं कि : 'व्यक्तता' माने प्रगट निर्मल पर्यायें तथा 'अव्यक्त' माने द्रव्य। दोनों का एकरूप (मिश्रितरूप से) प्रतिभास, यानी पर्याय में दोनों का ज्ञान होने पर भी 'अव्यक्त' द्रव्य 'व्यक्तता' को स्पर्श नहीं करता, इतना लेना। कुछ समझ में आया ? यदि एक समय का (-व्यक्तता को) स्पर्श - यानी एकमेक करे तो दो चीज़ (-व्यक्त और अव्यक्त) रहती नहीं है। आहाहा !

('समयसार') ३२० वीं गाथा की जयसेनचार्य की टीका में ऐसा कहा : धर्मी जीव, वर्तमान ज्ञान की पर्याय जो निर्मल है - उसका ध्यान नहीं करते। आहाहा..हा ! त्रिकाल निरावरण अखंड ज्ञायक एकरूप स्वरूप - उसका ध्यान करते हैं। ध्यान है पर्याय। पर पर्याय का ध्येय-ध्यान का ध्येय - 'ध्रुव' है। यह 'ध्रुव' ध्यान का ध्येय होने पर भी, ज्ञान की पर्याय में, इस 'ध्रुव' का ज्ञान आता है; 'ध्रुव' नहीं आता। आता है न...? 'प्रतिभासित' । ऐसा ज्ञान होने पर भी - द्रव्य तथा पर्याय (दोनों) का ज्ञान होने पर भी - द्रव्य पर्याय को स्पर्श नहीं करता। आहाहा...हा ! क्या कहते हैं !! केवलज्ञानपर्याय को (द्रव्य) स्पर्श नहीं करता। आहाहा !

यहाँ तो साधकजीव के लिये बात है न...? इन्हें (केवली को) कहाँ है ? 'जाण' यह तो साधकजीव के लिये बात है न...? 'नय' साधकजीव को होता है। भगवान को 'नय'

नहीं होते। उन्हें तो पूर्ण केवलज्ञान हो गया। पर यहाँ नीचे जो श्रुतज्ञानी हैं, उनको दो नय पड़ते हैं। एक पर्यायनय और एक द्रव्यनय। पर्यायनय में - पर्याय में अथवा पर्यायनय में द्रव्य एवं अपनी पर्याय का ज्ञान होने पर भी, पर्याय को पर्यायवान (-द्रव्य) स्पर्श नहीं करता। आहाहा !

ऐसा सूक्ष्म है !! ऐसी सूक्ष्म बात, कभी (मुमुक्षु-मुमुक्षु के बीच भी) आई न होगी। व्यापार में या चाहे तो वकील हो तो भी कभी कहाँ से आये ? सारे संसार के पचड़े होते हैं।

भगवानआत्मा नित्यप्रभु 'अनित्य पर्याय' को स्पर्श नहीं करता। गज़ब बात है इसकी !! (यह) पर्याय को स्पर्श नहीं करता। पर को स्पर्श नहीं करता ! आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

इसके सामने 'अलिंगग्रहण का' २०वाँ बोल लेना है, किः प्रत्यभिज्ञान का कारण - 'यह' है, वह 'यह' है। भूतकाल में था, वही 'यह' है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान का कारण - जो द्रव्यसामान्य, उसको आत्मा स्पर्श नहीं करता - सामान्य को आत्मा स्पर्श नहीं करता।

यहाँ तो 'व्यक्तता' को सामान्य स्पर्श नहीं करता। पर्याय को द्रव्य स्पर्श नहीं करता। ऐसा कहा। कुछ समझ में आता है ?

वहाँ कहा कि : भगवान आत्मा त्रिकाली भगवान जो कल था, वह 'यह' है...'यह' है...'यह' है...'यह' है, ऐसा जो त्रिकाली ध्रुव, सामान्यस्वरूप ध्रुव - यह द्रव्य, स्वयं को स्पर्श नहीं करता। और यहाँ कहते हैं : त्रिकाली, पर्याय को स्पर्श नहीं करता ! आहाहा !

कुछ समझमें आया ? यह तो सब समझना पड़े ऐसा है। हल्दी की एक गाँठ रख ले और पंसारी बन जाये ऐसा नहीं है। थोड़ा-बहुत (धारणा में) पकड़ा और माने कि (यथार्थ) आ गया...! आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भगवान !

वहाँ तो ऐसा कहा कि, भगवान द्रव्य-वस्तु है, वह तो वेदन में नहीं आता। हमारे लिये तो वेदन में आती है, वह पर्याय ही हमारी वस्तु है। 'अलिंगग्रहण' - २०वें बोल में ऐसा लिया किः प्रत्यभिज्ञान का कारण (प्रत्यभिज्ञान अर्थात् कल था वही आज है, वही चीज़ त्रिकाल है) ऐसी है ध्रुव चीज़, ऐसा जो द्रव्यसामान्य-वस्तु-त्रिकाल, वह स्वयं को स्पर्श नहीं करता। यहाँ पर्याय को (द्रव्य) स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहा। और वहाँ द्रव्य (वेदन-पर्याय को) स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहा। क्योंकि हमें तो अपनी पर्याय में जो आनंद का वेदन आया, यह मेरी 'वेदन-पर्याय' ही मैं हूँ। मेरे वेदन में आई, यह पर्याय मैं हूँ। भाई ! कुछ समझ में आया ? अंदर गोदाम में माल तो चाहे जितना पड़ा हो, परंतु खाने में आये, उतनी ही चीज़ मैं हूँ। आहाहा ! अब, बनियों को ये सब समझना है !

यह तो परम सत्य !! सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव, परमात्मा, परमेश्वर । - उनकी सीधी वाणी है ! गणधर और इन्द्रों के बीच यह वाणी थी। इस वाणी को कुंदकुंद आचार्य

यहाँ लाये। आहाहा ! जगत के भाग्य ! 'समयसार प्राभृत' बनाकर भेंट दिया। आहाहा ! भाई ! जयसेन आचार्य की संस्कृत टीका में आता हैं न...! आहाहा..हा ! भेंट दी। प्रभु ! आत्मा तुमको भेंट दिया ! आहाहा..हा ! तेरी त्रिकाली चीज़ प्रभु ! तुझे भेंट दे रहे हैं। इसकी दृष्टि कर ! तो तुझे भेंट मिल गई। आहाहा..हा ! 'यह समयसार है।' समझ में आया ?

एक ओर ('समयसार') तीसरी गाथा में ऐसा कहते हैं कि : (द्रव्य) अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को स्पर्श (-चुंबन) करता है। और ('अलिंगग्रहण') २०वें बोल में ऐसा कहा कि : द्रव्य (वेदन में आनेवाली पर्याय को - मुझ को) स्पर्श नहीं करता। यहाँ ऐसा कहा कि: द्रव्य पर्याय को स्पर्श नहीं करता। ऐसा कहकर यह कहते हैं कि : 'व्यक्त' को ('अव्यक्त') स्पर्श नहीं करता। द्रव्य को तो द्रव्य स्पर्श करता है। परंतु द्रव्य पर्याय (व्यक्त) को स्पर्श नहीं करता। द्रव्य ('अव्यक्त') तो है, लेकिन यह तो स्वयं अपने में है। 'अव्यक्त' है।

पहले बोल में कहा था न... 'सप्तम द्रव्य' हो जाता है ! क्षुल्लक धर्मदासजी (रचित) '**स्वात्मानुभवमनन**' में भी यह एक बोल निकल आया : छह द्रव्य से भिन्न, आत्मा सप्तम (द्रव्य) हो जाता है। आहाहा ! अपने आनंदस्वरूप के वेदन में, पर से भिन्न होकर, आत्मा अकेला रहता है।

इसमें भी फिर दो प्रकार कहे : आनंद की पर्याय को, द्रव्य स्पर्श नहीं करता। और द्रव्य को (वेदनरूप पर्याय) स्पर्श नहीं करती। आहाहा ! समझ में आ सके, उतना समझना !

आजकल तो रात्रि (तत्त्व) चर्चा बंद हो गई है। डॉक्टर ने कहा है न...? (पर) यहाँ तो कुछ पता ही नहीं लगता कि: घंटाभर बोले या पौन घंटे तक बोले ! डॉक्टर ने कहा कि, अभी बंद रखो।

(यहाँ) क्या कहते हैं समझ में आया ? 'व्यक्तता' इसे ('अव्यक्त' को) स्पर्श नहीं करती। तब इसका अर्थ (यह) हुआ कि, द्रव्य (अव्यक्त) को (अव्यक्त द्रव्य) स्पर्श करता है। इसलिये 'अव्यक्त' है। 'यह' है। इसको 'है' - 'है' वह (स्वयं को) स्पर्श करता है।

वहाँ ('अलिंगग्रहण' में) ऐसा कहा कि : हमें तो द्रव्यसामान्य जो वस्तु है, उसका तो हमको वेदन नहीं है। वेदन तो हमें अपनी पर्याय में - आनंद का, ज्ञान की शांति का (है) अथवा ज्ञान का आनंद, दर्शन का आनंद, चारित्र का आनंद - ऐसे अनंतगुणों का आनंद है, जो अपरिमित-अक्षय-अमेय है। (उसका है।)

अक्षय-अमेय कहा है न... 'चारित्र पाहुड' में। चारित्रदशा को अक्षय-अमेय (कहा)। दशा को...हं ! गुण एवं द्रव्य तो (अक्षय-अमेय) है ही। आहाहा..हा ! अक्षय-अमेय ऐसी (ध्रुव) चीज़ है। क्षय न हो और मर्यादा रहित - ऐसी चीज़, जो भगवान (आत्मा) है, उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जो पर्याय हुई वह भी अक्षय-अमेय है ! आहाहा ! उसका क्षय

नहीं होता, नाश नहीं होता। वह तो कायम रहनेवाली चीज़ (-पर्याय) है !

यहाँ उस कायम रहनेवाली चीज़ - पर्याय को, एक समयकी गिनी गई है; उसको द्रव्य स्पर्श नहीं करता - ऐसा कहते हैं। आहाहा ! वज़न तो द्रव्य पर है। 'अव्यक्त को जानो !' - ऐसा कहते हैं...न! भले ही दोनों को (-व्यक्त एवं अव्यक्त को) जानकर; मगर जानना (तो) है 'अव्यक्त'। क्योंकि 'व्यक्त' को स्पर्श नहीं करता - ऐसी वस्तु ('अव्यक्त') - उसको जान ! आहाहा ! जानती तो है व्यक्त। प्रगट पर्याय निर्मल और अप्रगट द्रव्य - दोनों को जानने पर भी - हे शिष्य ! द्रव्य, पर्याय को स्पर्श नहीं करता, ऐसे 'अव्यक्त' को तू जान ! ऐसा आया न...? परंतु 'जान' - इसमें तो (वर्तमान) पर्याय आई। 'जाण' शब्द (पाठ में) पड़ा है न...? आहाहा ! '**दिगंबर संतों की वाणी तो तीर्थंकर परमात्मा के घर की वाणी है** !!' आहाहा...हा !

वहाँ कहा किः हमारे (लिये) तो वेदन में आता है सो 'आत्मा'। जो सामान्य त्रिकाली द्रव्य है, वह ध्रुव है। ध्रुव का अनुभव (होता) नहीं। (फिर भी) ऐसा भी कहने में आया है किः 'ध्रुव का अनुभव' - इसका अर्थ क्या ? किः राग तरफ का जो अनुभव था, उसको छोड़कर, ध्रुव तरफ का अनुभव किया, तो 'ध्रुव का अनुभव' ऐसा कहने में आता है। परंतु ध्रुव चीज़ है, वह वेदन में नहीं आती। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

'ज्ञायक का आविर्भाव हुआ' ऐसा पाठ तो आता है न...? (परंतु) 'वस्तु है वह तो है ही।' इसमें - वस्तु में आविर्भाव और तिरोभाव ऐसा तो है ही नहीं। 'वस्तु तो त्रिकाल है।' किन्तु जब भान हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ - अहो..हो..हो ! यह तो आनंद का कंद प्रभु, पूर्ण, अतीन्द्रिय आनंद - रसकंद !! आहाहा..हा ! ऐसा भान हुआ तो, यह ज्ञायकभाव जो (पहले) खयाल में नहीं आया था, वह खयाल में आया। और 'ज्ञायकभाव' का आविर्भाव हुआ' 'ज्ञायकभाव प्रगट हुआ'। (तो क्या) ज्ञायकभाव 'प्रगट' होता है ? 'प्रगट' तो पर्याय होती है। समझ में आया ? (पर) भाषा ऐसी है : 'ज्ञायकभाव प्रगट हुआ।' जब तक (जीव ने) राग की एकता मानी है, चाहे एक समय की पर्याय में भी, तब तक (वह) मूढ़ है; तब तक द्रव्य को जानता नहीं है। द्रव्य को जानता नहीं है इसलिये 'द्रव्य का तिरोभाव' ऐसा कहा। पर्यायबुद्धि से द्रव्य आच्छादित हो गया है। आहाहा..हा !

ऐसी बात !! (लेकिन) लोगों ने सब बाहर तक सीमित करके रख दिया ! यह व्रत करो और उपवास करो और यह करो और वह करो...! आहाहा !

यहाँ परमात्मा कहते हैं कि : 'व्यक्त' को द्रव्य स्पर्श नहीं करता। '(अलिंगग्रहण') २०वें बोल में कहा किः द्रव्य, द्रव्य को (-वेदनरूप पर्याय को) स्पर्श नहीं करता। ('समयसार') तीसरी गाथा में कहा किः (द्रव्य) अपने द्रव्य-गुण-पर्याय - तीनों को स्पर्श करता है। आहाहा ! किस जगह किस नय से (कथन है ? इसका निर्धार करना चाहिए।) आहाहा ! वहाँ (तीसरी गाथा में) तो परद्रव्य से भिन्न सिद्ध करना है और ('अलिंगग्रहण') बोल १८, १९, २० में

तो पर्याय और द्रव्य - दोनों को भिन्न सिद्ध करना है। और यहाँ भी (इन) दोनों को भिन्न सिद्ध करना है।

मार्ग तो यह है। प्रभु ! तू आज कबूल कर, कल कबूल कर, बाद में (चाहे जब) कबूल कर; पर 'यह' कबूल करने पर ही तेरा छुटकारा है। छुटकारा (इसमें) है। आहाहा ! (बात) बहुत संक्षिप्त... परंतु अत्यंत गंभीर चीज़ है। आहाहा ! दिगंबर मुनिराज, यानी परमात्मा के पद्चिह्नों पर चलनेवाले... आहाहा..हा ! एकाध भव में मुक्ति लेनेवाले, केवलज्ञान लेनेवाले...! 'णमो सिद्धाणं' में शामिल हो जायेंगे। आहाहा ! इन संतों की वाणी !! करुणा के कारण निकली है।

कहते हैं कि : व्यक्त - अव्यक्त के एकमेक मिश्रित (ज्ञान में) अर्थात् पर्याय में द्रव्य का एवं पर्यायका ज्ञान एक समय में मिश्रित (रूप से) है। फिर भी एक समय में (-पर्याय में) ध्रुव आता नहीं है, पर उसका ज्ञान (होता) है। आहाहा ! पर्याय में ध्रुव नहीं आता, किन्तु पर्याय में ध्रुव का ज्ञान है।

'समयसार' १७-१८ गाथा में कहा न...? कि : प्रत्येक प्राणी को अपनी पर्याय में, द्रव्य ही जानने में आता है। क्या कहते हैं ? अपनी पर्याय, जो व्यक्त-प्रकट ज्ञान-पर्याय है; - ज्ञान का स्वरूप तो स्व-पर प्रकाशक है - इस ज्ञान की पर्याय, भले ही अज्ञानीकी हो परन्तु इस पर्याय का स्वरूप तो स्व-पर प्रकाशक है - तो इस पर्याय में ज्ञेय - 'ज्ञायक आत्मा' - जानने में आता ही है। आहाहा..हा ! 'ज्ञायक' पर्याय में नहीं आता, किन्तु पर्याय में ज्ञेय का ज्ञान होता ही है। ज्ञान की पर्याय में 'ज्ञायक' का ज्ञान होने पर भी अज्ञानी की दृष्टि, राग-निमित्त-पर्याय के ऊपर है; (इसलिये) 'पर का ज्ञान करता हूँ' ऐसी भ्रमणा करता है।

जिज्ञासा :- होता तो है स्वयं का ज्ञान, इसको भ्रमणा कह देते हो !

समाधान :- पर माने अज्ञान होता है। (ज्ञायक का ज्ञान यानी लक्ष नहीं करता)। सत्रह आने - अठारह आने की बात यह ! तुम्हारे व्यापार में सत्रह-अठारह आने होते हैं न...? लोग भी बात करते हैं, भाई ! कितने.. है... बात करते-करते यह सत्रह आने की बात तुम्हारी है, ऐसा कहते हैं। इस प्रकार, एक समय की ज्ञान की अवस्था में, यह भगवान आत्मा सभी को (ज्ञान में आ रहा है) !

जिज्ञासा : स्व एवं पर को जाने उसमें कौन रह गया ?

समाधान :- बाकी कौन ? उस पर्याय का स्वरूप ही ऐसा है। 'स्वपर प्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रम भारी; ज्ञेय शक्ति (दशा) दुविधा परगासी, निज रूपा पर रूपा भासी।' तो ज्ञेय - 'स्वपरप्रकाशक' - पर्याय में जानने में आता ही है। आहाहा ! जिस पर्याय में (ज्ञायक) जानने में आता है, उस तरफ, (अज्ञानी की दृष्टि - दृष्टि की स्थिति - नहीं है। और वह दृष्टि, वर्तमान पर्याय एवं राग पर होने के कारण, जानने में

(ज्ञायक) आ रहा होने पर भी (ज्ञायक को) नहीं जानता - ऐसा मानता है। ऐसी बात सूक्ष्म है, भगवान ! तीन लोक का नाथ बिराजमान है। देखो न...! आहाहा ! यहाँ तो यह बात है, बापू !

यहाँ यह तो कहा : पर्याय में मिश्रितज्ञान तो होता है। कहा कि नहीं ? कि : पर्याय में द्रव्य का ज्ञान और पर्याय का ज्ञान तो होता है फिर भी, द्रव्य पर्याय को स्पर्श नहीं करता। जिसमें निज का ज्ञान (होता) है, उस ज्ञान की पर्याय को, द्रव्य स्पर्श नहीं करता। आहाहा..हा ! गज़ब बात है न...!! 'यह तो थोड़ा लिखा, ज्यादा करके जानना' ऐसी बात है !

एक समय में, जिसका लक्षण 'स्व-पर प्रकाशक' (है) वह लक्षण कहाँ जाए ? आहाहा ! बहिन में ('बहिनश्री के वचनामृत' में) भी आया न...! 'कहाँ जायेगा ?' 'जागता जीव विद्यमान है।' - ध्रुव है - ('वह कहाँ जायेगा ? अवश्य प्राप्त होगा ही।')

यहाँ कहते हैं कि: जागती पर्याय में जागते जीव का ज्ञान होता है न...? तथापि, अनादि से अपनी दृष्टि को तू पर के ऊपर रखकर पर्यायमूढ हो गया है - पर्याय में द्रव्य जानने में आता होने पर भी पर्यायमूढ़ हो गया है। आहाहा...हा ! ऐसी बात है, बापू ! 'यह' वस्तु तो ऐसी है !!

यह यहाँ कहते हैं : इसलिये (आत्मा) 'अव्यक्त' है। सिद्ध तो 'अव्यक्त' करना है... हं ! 'व्यक्त' एवं 'अव्यक्त' का ज्ञान बता करके सिद्ध तो 'अव्यक्त' करना है।

यह 'अव्यक्त' है - इसे उपादेय लेना है। '(अव्यक्त) उपादेय है।' पर्याय उपादेय करनेवाली है - जिसे, द्रव्य स्पर्श नहीं करता; जिसे, द्रव्य नहीं छूता। इस पर्याय में, 'यह' ('अव्यक्त' को) उपादेय मानने का है। आहाहा..हा !

समझ में आये ऐसा है...हं ! भाषा तो सीधी सादी है। इसमें कोई शास्त्र की पढ़ाई की ज्यादा जरूरत नहीं है। यह तो अंतर की रुचि के पोषाण की बात है। यह पाँचवाँ बोल हुआ।

❁ ❁ ❁

'अव्यक्त' बोल - ६

प्रवचन क्रमांक-६ ता. २३-१-१९७८

'समयसार' गाथा - ४९। 'अव्यक्त' के छह बोल। पर्याय से भिन्न जो चीज़ है, उसे 'अव्यक्त' कहने में आता है। वह शुद्ध है; वही आदरणीय और उपादेय है। इसका विस्तार,

इस 'अव्यक्त' के छह बोल में कहा है।

पाँच बोल तो चल गये। सूक्ष्म बात है, भाई ! धर्म ऐसी चीज़ है !! स्वयं की पर्याय में - ज्ञान की पर्याय में - पर्याय का और द्रव्य का ज्ञान एक साथ होने पर भी, 'व्यक्त' को वह ('अव्यक्त') द्रव्य स्पर्श नहीं करता। आहाहा ! पर्याय को वह द्रव्य छूता नहीं है। इस चीज़ को 'अव्यक्त' कहते हैं। भगवानआत्मा नित्यानंद प्रभु, जो वस्तुस्वरूप त्रिकाल है; उसे यहाँ 'अव्यक्त' कहने में आता है। शब्द चाहे जितने हो, लेकिन बताना है 'अव्यक्त'; (वह) जानने में आता है पर्याय में। निर्मल पर्याय - अवस्था में... हं ! आहाहा ! निर्मल पर्याय 'व्यक्त' है, 'बाह्य' है; उसको द्रव्य, जो त्रिकाल है, वह स्पर्श नहीं करता। फिर भी व्यक्त में - पर्याय में, उस (अव्यक्त) द्रव्य का ज्ञान और उसका अनुभव आये बिना नहीं रहता। आहाहा !

(इस) अनुभव को द्रव्य का - ध्रुव का अनुभव भी कहने में आता है। कारण कि : ध्रुव तो ध्रुव है। अनुभव तो पर्याय में होता है। लेकिन पर्याय पर की ओर के लक्ष के कारण अनादि से राग का अनुभव कर रही है; वह (बहिर्लक्षी) पर्याय अंतर्मुख - लक्ष करे तो 'ध्रुव का अनुभव करती है' ऐसा कहने में आता है। वह भी है तो पर्याय !

कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! मार्ग अति सुंदर ! आहाहा ! अंतर की बात - सम्यग्दर्शन क्या है और सम्यग्दर्शन का विषय क्या है ? जो चीज़ है, उसकी (यथार्थ बात) कभी भी सुनी नहीं है ! कभी भी की नहीं है ! बाहर में माथापच्ची (की)... भाई ! यह जिंदगी कमाने में चली जाए पाप में। अकेला पाप... पैसा और बीबी-बच्चे-कुटुंब... आहाहा ! इसके बजाय, कदाचित् बाहर से निवृत्ति लेकर, दया-दान-भक्ति-व्रत में (समय) दे तो भी वह पुण्य है, परंतु वह कोई आत्मा का धर्म नहीं ! आहाहा ! धर्म अलौकिक चीज़ है, भाई !

एक समय में - सेकंड के असंख्यवें भाग में, आत्मा की व्यक्तपर्याय में पूर्णानंद का नाथ चैतन्यभगवत्स्वरूप भगवान (-अव्यक्त) का ज्ञान आता है और पर्याय का भी ज्ञान होता है। इसका ज्ञान होने पर भी 'यह चीज़' ज्ञान की पर्याय में नहीं आती और 'यह चीज़' ज्ञान की पर्याय का स्पर्श (भी) नहीं करती। आहाहा...हा ! अब यह बात सुने कहाँ ?

जिज्ञासा : यदि पर्याय को 'अव्यक्त' कहें तो नुकसान क्या ?

समाधान : दो प्रकार नहीं रहते। न्यायग्रंथ 'आप्तमीमांसा' में ऐसा आया है : धर्मी और धर्म - दो भिन्न चीज़ हैं। 'धर्मी' द्रव्य और 'धर्म' पर्याय - ये दो चीज़ भिन्न हैं, एक नहीं। आहाहा ! यह बहुत बार 'आत्मधर्म' में आ चुका है।

यहाँ तो कहते हैं कि : एक बार सुन तो सही प्रभु ! तेरी चीज़ जो भीतर है, वह बाहर से - शरीर-मन-वाणी से तो भिन्न है; इनसे तो वह जानने में भी नहीं आती। जिसकी क़ीमत करनी है, वह अमूल्य चीज़ (शुद्धात्मा) वह दया-दान-व्रत-भक्ति के भाव से

भी जानने में नहीं आती। यह तो राग से भिन्न होकर अपनी पर्याय में स्व-परप्रकाशक ताकत होने से ज्ञेय - 'वस्तु' - जानने में आती है। स्वभाव तो ऐसा है; लेकिन (अज्ञानी की) दृष्टि उस (ज्ञायक वस्तु) तरफ नहीं होने से, और (उसकी) दृष्टि पर्याय पर व राग पर होने से - ज्ञान की एक समय की पर्याय में, पूरे ज्ञायक का ही ज्ञान होने पर भी - (ज्ञायक का ज्ञान-वेदन नहीं होता।)

यह तो 'आबालगोपाल सभी को' (है, ऐसा) लिया है न...! इस पर से थोड़ा यह विचार आया : 'आबालगोपाल' यानी कौन ? इसमें (क्या) क्षयोपशमवाले मनुष्य ही गिने हैं ? (नहीं) सभी को गिना है, इसमें एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय, नारकी, पशु - सभी भगवत्स्वरूप ही हैं। आहाहा !

यहाँ अतीन्द्रिय अनंतगुण का पिंड प्रभु, भगवत् - भगवानस्वरूप, परमात्मस्वरूप शक्तिरूप से भगवान (आत्मा) है। आहाहा ! इसको 'अव्यक्त' कहते हैं।

इस 'अव्यक्त' के पाँच बोल तो चल चुके। (अब) छठा बोल है : '(**स्वयमेव हि बहिरन्तः स्फुटमनुभूयमानत्वेऽपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः।' -'स्वयं अपने से ही बाह्याभ्यंतर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है इसलिये अव्यक्त है।**)'

'**स्वयं अपने से ही बाह्य-अभ्यंतर**' - भाई ! प्रकाशशक्ति है न... बारहवीं...! ('स्वयं' प्रकाशमान विशद (-स्पष्ट) ऐसी स्वसंवदेनमयी (-स्वानुभवमयी) प्रकाशशक्ति।') इसमें भी यह लिया है : स्वयं अपने से स्वसंवेदन होता है, इसका ऐसा गुण है। आत्मा में ज्ञान-आनंद ऐसी अनंत शक्तियाँ - गुण हैं; इनमें ऐसा एक 'प्रकाश' नाम का गुण है। ४७ शक्तियोंमें से बारहवाँ (है)। तो इस शक्ति-गुण का ऐसा स्वभाव है कि अपना प्रत्यक्ष स्वसंवेदन अपने से होता है। 'स्वयं प्रकाशमान विशद' - यहाँ '**विशद**' शब्द लिया है, और अपने यहाँ (इस बोल में) '**स्फुट**' शब्द है। दोनों का अर्थ एक ही है। विशद कहो, स्फुट कहो या प्रत्यक्ष कहो। आहाहा ! भगवान आत्मा अंतर में स्वयं ऐसी चीज़ है, कि जिसमें कोई राग और निमित्त की अपेक्षा नहीं है। व्रत और तप और भक्ति और पूजा के भाव - सब राग हैं, विकल्प हैं; इनके द्वारा आत्मा जानने में नहीं आता। '**स्वयम्**' शब्द पड़ा है न...? स्वयं - अपना अंतरस्वभाव शुद्ध चैतन्य है। आहाहा ! स्वयं प्रकाशमान विशद है। देखा ? (प्रकाशशक्ति में) 'विशद का अर्थ स्पष्ट।' (और) यहाँ (इस बोल में) कहा : '**बाह्य-अभ्यंतर स्पष्ट**' मूल तो स्पष्ट कहो, या प्रत्यक्ष कहो, वास्तव में तो एक बात है। आहाहा..हा !

भगवान आत्मा ऐसी चीज़ है, जो कि धर्म की प्रथम श्रेणि (सीढ़ी) में - सम्यग्दर्शन के काल में - मति और श्रुतज्ञान (अनुभव) प्रत्यक्ष हो जाते हैं। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई !

मार्ग इस समय कुछ (विपरीत) चल रहा है, एक तो देखो संसार (के काम में)

से फुरसत नहीं... पाप... और पाप...! इसमें भी करोड़पति लोगों को तो और झंझट; व्यापार और धंधा में... आहाहा ! कहीं धूल में भी सुख नहीं है, बापू ! तुझे। यहाँ तो दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम - ये भी दुःख है... राग है।

प्रभु तो अतीन्द्रिय आनंदमूर्ति प्रभु अंदर है। वह स्वयं प्रकाशमान है। विशद यानी स्पष्ट, ऐसी स्वसंवेदनमयी, स्वानुभवमयी प्रकाशशक्ति है। आत्मा में प्रकाशशक्ति नामका गुण है। जिस प्रकार ज्ञान...ज्ञान...ज्ञान...ज्ञान...ज्ञान... जानना...जानना...जानना गुण है; उस प्रकार प्रकाश... प्रकाश...प्रकाश...प्रकाश...प्रकाश गुण त्रिकाल है। इस गुण का स्वभाव क्या ? कि : स्वसंवेदन - अपने से वेदन होता है। इसे कोई दया-दान-व्रत-व्यवहार की अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा ! धर्म की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान - इसमें आत्मा का स्वसंवेदन होता है। स्वसंवेदन - स्व = स्वसे + सम = प्रत्यक्ष+वेदन - स्वयं अपने से प्रत्यक्षवेदन, ऐसा प्रकाश नामका गुण इसमें (आत्मा में) है। आहाहा ! इस गुण की प्रतीति कब होती है ? कि : जब अकेले गुण की प्रतीति नहीं; परंतु अकेले द्रव्य की प्रतीति करे तब। आहाहा !

यह 'अव्यक्त' (का बोल) चल रहा है न...? अव्यक्त कहो, सामान्य कहो, द्रव्य कहो, नित्य कहो, एकरूप कहो, अभेद कहो - इसकी प्रतीति कब होती है ? कि : इस अनंत-अनंत शक्ति के पिण्ड की तरफ - 'अव्यक्त' तरफ - उपादेयता आये तब। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में उसकी प्रतीति आती है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

ऐसी बात सूक्ष्म पड़े; इसलिये फिर सोनगढ़ के नामसे लोग बेचारे बातें भी करे... विरोध भी करे। क्योंकि बाहर (संप्रदाय में) तो चलता है कि : तुम व्रत करो और तपस्या करो, भक्ति करो, पूजा करो, मंदिर बनवाओ (तो) धर्म होगा। (परंतु) यहाँ कहते हैं कि : इनमें नाममात्र का धर्म नहीं है। राग की मंदता कर रहे हो तो पुण्य है। पर इस पुण्य से आत्मा अनुभव में आये यह बात आत्मा में है ही नहीं। समझ में आया ? है न...? 'स्वयं प्रकाशमान विशद।' विशद का अर्थ स्पष्ट और स्पष्ट का अर्थ प्रत्यक्ष है, ऐसी स्वसंवेदनमयी - स्वयं अनुभव से जानने में आती है ऐसी - शक्तियाँ अंदर पड़ी हैं। आहाहा ! पर इस शक्ति को प्रतीति में ले, तब शक्ति की प्रतीति करी (ऐसा) कहने में आये न...? (बाकी) भरोसा - विश्वास अंदर नहीं है। और भरोसा तो है वर्तमान एक समय की पर्याय का और ज़ोर है दया-दान-राग पर। ज़ोर - वह तो पर्यायबुद्धि - मिथ्याबुद्धि - मिथ्यादृष्टि है। आहाहा !

यहाँ '**स्वयं**' कहा; ४९ (गाथा) में ऐसा कहा; और १७-१८ गाथा में भी कहा। कल कहा था न...? कि ज्ञान की पर्याय का 'स्व-पर प्रकाशक' गुण होने से, अपनी पर्याय में स्वयं आत्मा ही जानने में आता है। आहाहा ! ऐसा होने के बावजूद भी (अज्ञानी) बंध अर्थात् राग के वश होकर, पर्याय में 'ज्ञायक' जानने में आता है (फिर भी) इसे नहीं जानता। कुछ समझ में आता है ? ऐसी बात है। भाई ! मार्ग अत्यंत भिन्न ! अभी तो (यह) धर्म

की शुरूआत की पहले की बात है ! बाद में चारित्र और केवलज्ञान - ये तो कोई अलौकिक चीज़ है !! आहाहा...हा !

यहाँ तो प्रथम प्रकाशशक्ति की प्रतीति कब होती है ? कि जब उसे समूचे आत्मा की प्रतीति होती है तब। तो समूचे आत्मा में - अनंतगुण के पिण्ड में - एक प्रकाशगुण है, वह स्वसंवेदन से ही जानने में आता है। इसे (अनंतगुण के पिण्ड को) यहाँ 'अव्यक्त' कहते हैं। जो जानने में आता है, वह 'अव्यक्त' है। जानने में आया, वह पर्याय में आया। कुछ समझ में आया ? पर्याय में जानने में आया कौन ? कि : 'अव्यक्त' अव्यक्त यानी वस्तु।

यहाँ पर ऐसा कहते हैं '**स्वयं अपने से ही**'... है न...? संस्कृत पाठ में तो इतना है : '**स्वयमेव हि**' - स्वयं + एव + हि = '**स्वयमेव हि**' = स्वयं ही = खुद ही। 'स्वयं' कौन ? कि : 'खुद ही।' स्वयं की जो निर्मल पर्याय, अंदर में सम्यग्दर्शन - ज्ञानमय होती है, तो उस समय स्वयं (-खुद) अपने से ही बाह्य-अभ्यतंर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है। देखो ! 'अनुभव में आ रहा है।' 'बाह्य' यानी व्यक्त - पर्याय। अभ्यंतर यानी अव्यक्त - द्रव्य।

समझ में आ सके उतना समझो, भाई ! यह तो अलौकिक मार्ग है ! जैनदर्शन कोई अलौकिक चीज़ है ! जैनदर्शन माने वस्तु का स्वरूप। वस्तु का स्वरूप (यानी जैनदर्शन)। यह कोई संप्रदाय नहीं है। यह तो जैसी चीज़ है, वैसी ही जानी, वैसी ही कहने में आयी है !

तो कहते हैं कि '**स्वयं अपने से ही...**' तो कोई ऐसा कहे कि : इसमें तो एकांत हो गया... 'अपने से ही...कथंचित् पर से और कथंचित् अपने से तो अनेकांत हो।' (-ऐसा) नहीं ! पाठ ही यह है : '**स्वयमेव हि**' 'कथंचित् पर से और कथंचित् अपने से' ऐसा है ही नहीं। आहाहा ! '**स्वयमेव हि**' - निर्मलानंद प्रभु, अतीन्द्रिय आनंदका कंद - नाथ; (तथा इसकी) अतीन्द्रिय आनंद की और मतिश्रुतज्ञान की पर्याय; - यह स्वयं ही, अपने से (है)।

(**'बहिरन्तः'**) - '**बाह्य-अभ्यंतर**' - पर्याय और द्रव्य। 'बाह्य' माने पर्याय। बाह्य माने बाह्य चीज़ नहीं लेना। यहाँ बात बाह्य चीज़ की नहीं है। कुछ समझ में आया ? 'बाह्य' यानी यह (निर्मल) पर्याय, बाह्य है।

शुद्धभाव अधिकार में 'नियमसार' ३८ वीं गाथा में आया है न...! '**जीवादि बहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।**' (यहाँ) तो जीव को भी हेय कहा; क्योंकि यह पर्याय की बात है। जीव की जो (निर्मल) पर्याय वह 'बाह्य', उसको यहाँ हेय कहा। आहाहा ! रागादि तो हेय है ही।

आहाहा..हा ! यह बात कहीं सुने नहीं; (कोई) सुनाये नहीं। जिंदगी वैसी की वैसी - पशु की (जिंदगी की) तरह चली जाती है ! भले ही आदमी के (पास) दो-पाँच करोड़

रुपया हो - धूल हो; पर जब तक आत्मा क्या चीज़ है, यह समझे नहीं तब तक, पशुतुल्य अवतार है !

जिज्ञासा : व्यवहार जीव को हेय कहा ?

समाधान : 'पर्याय' वह व्यवहार जीव (है), अभूतार्थ (है)। 'द्रव्य' भूतार्थ (है)।

यहाँ भूतार्थ को 'अव्यक्त' कहा और पर्याय - अभूतार्थ को 'व्यक्त' कहा। कुछ समझ में आया ? यह सब सुन करके... यह तो सब जैसे नया-नया लगे...! ऐसा कोई वीतरागमार्ग होगा ?

यहाँ कहते हैं - 'बाह्य-अभ्यंतर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है।' (और 'समयसार') १७-१८ वीं गाथा में तो ऐसा कहा कि : जो वस्तु त्रिकाली ध्रुव है, इसे अपनी पर्याय में जानना, यह पर्याय का स्वभाव है। तो (स्व-पर प्रकाशक) पर्याय के स्वभाव में - 'द्रव्य' .- जानने में तो आता ही है; पर उसका (अज्ञानी का) लक्ष 'इस (द्रव्य)' पर नहीं है। (वह) लक्ष रखता है 'वर्तमान अवस्था' पर, इसलिये (वह) पर्यायमूढ़ (है)। वर्तमान अवस्था जो 'व्यक्त' है, वह 'बाह्य' है - उसमें, जिसकी रुचि जम गई है, वह पर्यायमूढ़ जीव मिथ्यादृष्टि है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

'ऐसा धर्म' किस प्रकार का होगा...? भाई ! हम सबने तो सुना है कि : पोषा (प्रोषधव्रत) करना, सामायकि करना... प्रतिक्रमण करना...चोवियार (चौविहार) करना... छ काय (जीवों की) दया करना... और ऐसा था। अरे भाई ! ये तो सारी राग की बातें हैं। - वह तत्त्व, सम्यग्दर्शन और धर्म नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं : 'स्वयं अपने से ही बाह्य-अभ्यंतर' - द्रव्य और पर्याय, दोनों प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहे हैं।

प्रश्न : द्रव्य अनुभव में आ रहा है ?! द्रव्य तो ध्रुव है, इसका अनुभव पर्याय में आता नहीं।

समाधान :- आता नहीं है यानी (पर्याय में) ध्रुव नहीं आता। परंतु जैसी 'ध्रुव' चीज़ है, वैसा अनुभव पर्याय में आता है। पर्याय का अनुभव (पर्याय में) अनादि से है; वह पर्याय जब इस (ध्रुव) तरफ ढली तो, 'ध्रुव का अनुभव' ऐसा कहने में आता है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है भाई !

भगवानआत्मा एक समय की पर्याय में बाह्य-अभ्यंतर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है। आहाहा ! 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' - दोनों अनुभव में आ रहे हैं।

जिज्ञासा : यहाँ 'बाह्य' में निर्मल पर्याय लेनी है ?

समाधान : यहाँ निर्मलपर्याय ही है। मलिन की बात यहाँ है ही नहीं; वह तो 'कषाय से भिन्न है' ये - दूसरे बोल में - आ गई।

आहाहा ! 'चिद्‌विलास' में तो ऐसा लिया है कि : पर्याय जो है वह चाहे मलिन

हो या निर्मल, (-वह अपने षट्कारक से परिणमन करती है)। यहाँ तो निर्मल की बात है। तो निर्मल पर्याय का कर्ता-कर्म-कारण-संप्रदान-अपादान-अधिकरण (ये) पर्याय के, पर्याय में है। निर्मलपर्याय की 'कर्ता' निर्मलपर्याय। निर्मलपर्याय का 'कार्य' निर्मलपर्याय। निर्मलपर्याय का 'साधन' निर्मलपर्याय। निर्मलपर्याय का दान दिया यह 'संप्रदान', निर्मलपर्याय अपने से उत्पन्न हुई यह 'अपादान'। पर्याय में से पर्याय उत्पन्न हुई और पर्याय के आधार से पर्याय उत्पन्न हुई (यह 'अधिकरण'।) कुछ समझ में आया ? (तथा) 'प्रवचनसार' गाथा-१०१ में (ऐसा कहा कि:) 'उत्पाद उत्पाद से और व्यय व्यय से (है)। आहाहा..हा..हा !

भिन्न-भिन्न जगह शास्त्र में तो अहो..हो..हो...! गज़ब बातें की हैं !! एक-एक शास्त्र, एक-एक गाथा - दिगंबर हों ! अलौकिक बातें हैं !! यह बात (अन्यत्र) कहीं भी नहीं है।

यहाँ कहते हैं : भगवान आत्मा 'बाह्य-अभ्यंतर प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है।' 'व्यक्त' एवं 'अव्यक्त' - दोनों का अनुभव है !

'समता, रमता, ऊरधता' - 'नाटक समयसार' के शब्द 'श्रीमद् (राजचंद्र ग्रंथ में २६ वाँ वर्ष, पत्रांक - ४३८) में आते हैं। उसमें 'रम्य' लिया है। रम्यता जिसमें है, जिसके कारण आत्मा प्रगट - प्रभास (- दीप्ति-प्रभायुक्त) दिखायी देता है। 'पशु, पक्षी, मनुष्यादि की देह में, वृक्षादि में जो कुछ रमणीयता दिखायी देती है, अथवा जिसके द्वारा वे सब प्रगट (-स्फुट) स्फूर्तिवाले मालूम होते हैं, प्रगट सुंदरता समेत लगते हैं, वह रमता, रमणीयता है लक्षण जिसका, वह जीव नामका पदार्थ है।'

यहाँ कहते हैं : आत्मा अंतर में 'स्व' (-'अव्यक्त') और 'पर' (-'व्यक्त') का, (दोनों का अनुभव करता है)। पर्याय को 'पर' भी कही है; 'परद्रव्य' भी कही है; 'नाशवान' भी कही है; 'व्यक्त' भी कही है; 'एक समय' की स्थितिवाली - 'मुद्दतवाली' भी कही है।

('प्रवचनसार') गाथा - १०७ में है न...! 'सत् द्रव्य', 'सत् पर्याय', 'सत् गुण' - सत्त्वका विस्तार है ! आहाहा ! द्रव्य जो वस्तु है - अनंत शक्ति का पिण्ड - यह 'सत्' है। गुण है यह भी 'सत्' है। तथा पर्याय भी 'सत्' है। 'समयसार' बंध अधिकार में तो लिया है कि : तीनों अहेतुक हैं। कोई किसीका हेतु नहीं है। आहाहा ! पर का तो हेतु (आत्मा) नहीं है; लेकिन गुण-द्रव्य का पर्याय में हेतु नहीं है।

आहाहा..हा ! ऐसी बात !! अब समझे कहाँ ! चौरासी के अवतार करके... ऐसे ही ऐसे... भटक-भटककर मर गया है ! यहाँ मनुष्य में इतना बड़ा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, हीरे के पलंग पर सोता था। सोलह हज़ार देव तो सेवा करे ! मरकर तुरंत सातवें नरक में गया। आहाहा ! यह देह छूटते ही नीचे सातवें नरक में ! अभी तो थोड़े वर्ष बीते हैं, पच्चासी हज़ार। असंख्य अरब वर्ष का तो एक पल्योपम, ऐसे दस क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपमका एक सागरोपम ऐसे तैंतीस सागर की स्थिति में गया है ! इस समय नरक में पड़ा है।

इन बनियों में भी ये सारे पैसेवालोंमें से भी बहुत सारे तो जायेंगे पशु (योनि) में।

जिसे सम्यग्दर्शन - धर्म नहीं है; सम्यग्दर्शन की खबर नहीं है; न दिन में चार-पाँच घण्टें सत्समागम में पुण्य बांधने के लिये हैं; - ऐसे बहुत सारे तो पशु (योनि) में जायेंगे। पुण्य बांधे तो स्वर्ग में जाए, मनुष्य में जाए। (लेकिन) जिसे धर्म का संस्कार नहीं है, और जो कोई सत्समागम-वांचन-श्रवण-सत्शास्त्रों का परिचय प्रतिदिन दोचार घंटें तक करता नहीं है, उसे तो पुण्य भी नहीं है।

मुश्किल से फुरसत पाकर किसी दिन एकाध घंटा (सुनने) जाए, तो सिर पर (चौकी पर) बैठा हो... कहे.. जी हा...! इसका एक घंटा लूट लेता है कुगुरु। श्रीमद् ऐसा कहते हैं। पूरा दिन पाप में गुज़ारे और निवृत्त होकर जाए, वहाँ एक घंटा सुनने जाये, तो वह कुगुरु लूट लेता है - व्रत करो... उपवास करो... तुम्हारा कल्याण होगा ! - लूट ले... मिथ्यात्व में ! कुछ समझ में आता है ?

यहाँ कहते हैं : 'स्पष्ट अनुभव में आ रहा है।' - पर्याय एवं द्रव्य स्पष्ट अनुभव में आ रहे हैं। आहाहा ! अनुभव में...हं ! आहाहा ! एक परलक्षी पर्याय का अनुभव तो अनंतकाल से है। लेकिन यहाँ पर्याय जब द्रव्य की ओर झुकी तो द्रव्य का भी अनुभव है और पर्याय का भी अनुभव है, ऐसा कहने में आया है। आहाहा ! समझ में आया ?

'स्पष्ट अनुभव में आ रहा है तथापि' (पाठ) है न...? '**स्वयमेव हि बहिरन्तः स्फुटमनुभूयमानत्वेऽपि,**' '**व्यक्तोपेक्षणेन**', व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से, '**प्रद्योतमान**' - प्रकाशमान है। आहाहा..हा ! पर्याय निर्मल और त्रिकाली निर्मल भगवान - इसका अनुभव होने पर भी, पर्याय से उदासीन है। एक समय की पर्याय में टिकनेवाले 'द्रव्य' पर दृष्टि जाती है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

पर्याय क्या और द्रव्य क्या ? 'द्रव्य' माने ये पैसे होंगे...? पैसे को द्रव्य कहती है दुनिया। पैसेवालों को होशियार कहे ! बुद्धि तो देखने योग्य हो, फिर भी होशियार कहे ! और वे बेचारे गरीब आदमी, बुद्धिवाले हो मगर पैसे न हो; और मुश्किल से दो-पाँच हज़ार रुपये हो और कमाकर खा रहा हो तो (वह) साधारण आदमी (लोग कहेंगे कि) उसके पास बुद्धि कहाँ है ? ऐसे भी बहुत देखे हैं - बुद्धि के बारदान, (बुद्धि से) बोरी जैसे खाली हो। (फिर भी) महीने में पाँच-पाँच लाख पैदा करते हो ! और बड़े अक्कलमंद हो, (फिर भी) महीने में दो हज़ार पैदा करना हो (तो, उसको) पसीना छूट जाए ! वहाँ बाहर में (धन संपत्ति) पुरुषार्थ से मिले, ऐसा कहाँ है ?

जिज्ञासा : घर में बैठे-बैठे कोई पैसे देने आता नहीं है न...?

समाधान : परंतु पैसे देना-लेना कर सकता है कौन ? पैसे तो अपने कारण से आने हो तो आये और अपने कारण से न आये तो न आये। रज़कण को कोई दे सके और ले सके, ऐसा तीनकाल - तीनलोक में नहीं है। आता है न...? कि : 'दाने-दाने पर खानेवाले का नाम है।' 'नाम' माने क्या ? कहते हैं कि: जो रज़कण आनेवाले हैं वे

आयेंगे ही। तेरे प्रयत्न से आयेंगे ? - (ऐसा तो नहीं है।) खाना-दाल, भात, रोटी और मैसूब (मिठाई) - जो रज़कण आनेवाले होंगे, वे आयेंगे; और जो नहीं आनेवाले होंगे, वे नहीं आयेंगे। तेरे प्रयत्न से अच्छा आये और उसके प्रयत्न से ख़राब आये ऐसी कोई चीज़ नहीं है। आहाहा..हा ! कुछ समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि : (स्पष्ट अनुभव में आ रहा) 'होने पर भी व्यक्तता के प्रति' वहाँ जो 'बाह्य' कहा था न...? उसे यहाँ 'व्यक्त' लेना। बाह्य यानी व्यक्तता के प्रति, 'उदासीनरूप से प्रकाशमान (-प्रद्योतमान) है।' वहाँ कायम रहना है, ऐसा नहीं... उदास है। पर्याय से भी उदास है। आहाहा..हा..हा.. ! धर्मी की दृष्टि, उदास... पर्याय से हटकर, जहाँ त्रिकाली ज्ञायक आनंदकंद प्रभु (है) वहाँ रहती है। उद्+आसन = इसका (दृष्टि का) आसन द्रव्य पर है - आसन द्रव्य में लगाया है। इसका आसन बाहर महल - मकान में तो नहीं है; (परंतु) इसका आसन पर्याय में भी नहीं है।

यहाँ कहते हैं : यह (धर्मी) मकान में रहता है, ऐसा भी नहीं। शरीर में आत्मा रहता है, ऐसा भी नहीं। और धर्मी राग में रहता है, ऐसा भी नहीं। धर्मी निर्मलपर्याय में रहे, ऐसा भी नहीं। आहाहा..हा ! उदासीन है न...! पर्याय से उदासीन। वहाँ कायम नहीं टिकना है। और इस द्रव्यस्वभाव की ओर दृष्टि का ज़ोर है न...!

आहाहा ! गज़ब बात है !! ऐसी बात सुनने को मिलना भी मुश्किल है, बापू ! भाई ! बाकी सब को धूल तो बहुत मिलती है। सुना है न...! अमरिका में करोड़पति और अरबपति इतने पड़े हैं ! सब बेचारे दुःखी होकर, अब धर्म खोज़ने जाते हैं, परंतु धर्म मिलता नहीं है। वहाँ परदेश में कहाँ पता है कि 'धर्म किसको कहें ?' स्वदेश में रहें लोगों को भी धर्म का पता नहीं, तो वहाँ (विदेश में) धर्म कहाँ है ?

यहाँ तो कहते हैं : ऐसा (स्पष्ट अनुभव में आ रहा) होने पर भी 'व्यक्त' अर्थात् 'पर्याय' प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है। आहाहा ! पर्याय में रहना है ऐसा नहीं; इसमें आसन नहीं लगाया है। आहाहा ! उद्+आसन = उग्रता से आसन लगाना। (धर्मी की) दृष्टि द्रव्य में पड़ी है। वस्तु तो नित्यानंद प्रभु, ध्रुव (है) वहाँ पर दृष्टि का आसन है। पर्याय में दृष्टि रहे, ऐसा नहीं है। आहाहा ! पर्याय आती है; और (द्रव्य-पर्याय) दोनों का अनुभव भी है; दोनों का ज्ञान भी है; पर इससे (धर्मी) उदासीन हैं। गज़ब बात कही है न...!! शुद्ध चैतन्य ध्रुव पर ही आसन लगाया है। दृष्टि का विषय जो ध्रुव है, वहीं पर दृष्टि पड़ी है। दृष्टि कभी भी ध्रुव पर से हटती नहीं है। आहाहा...हा..हा !

कहते हैं कि : इस आत्मा ने - अपनी निर्मलपर्याय और त्रिकाली द्रव्य दोनों का ज्ञान व अनुभव होने पर भी, व्यक्त-बाह्य-पर्याय (जो है) वहाँ आसन नहीं लगाया है। दृष्टि का आसन तो 'अव्यक्त' पर है। यहाँ पर 'अव्यक्त' कहना है न...! व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है। इस कारण से इसको (आत्मा को) 'अव्यक्त' कहते हैं। आहाहा ! भाषा

कठिन ! भाव कठिन !

इस प्रकार छह हेतुओं से (अव्यक्तता सिद्ध की।) छह हेतु - छह प्रकार कहे न...? पहले यह कहाः छह द्रव्य से भिन्न आत्मा सप्तम (द्रव्य) है, इसको 'अव्यक्त' कहते हैं। दूसरे में ऐसा कहा : कषायों के भाव जितने प्रगट हैं - दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के (भाव) - इनसे भगवान आत्मा भिन्न है। तीसरे में कहा : चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न हैं। आहाहा ! भगवान ध्रुवस्वरूप - इसमें भूत और भविष्य की सभी पर्यायें निमग्न हैं; वर्तमान पर्याय जाननेवाली है, यह प्रगट है। पूर्वपर्याय और भविष्यपर्याय निमग्न है; यह जानना (वर्तमान) पर्याय में आता है, (यह प्रगट - बाह्य है); शेष सभी पर्यायें अंदर (द्रव्य) में हैं। (चौथे में : क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है, इसलिये अव्यक्त है)। पाँचवाँ : व्यक्त और अव्यक्त एकमेक मिश्रित प्रतिभासित होने पर भी वह व्यक्तता को स्पर्श नहीं करता, व्यक्त को स्पर्श नहीं करता। छठा बोल यह : बाह्य-अभ्यंतर प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है तथापि व्यक्त-बाह्य-पर्याय प्रति उदासीन है। धर्मी की दृष्टि का ज़ोर पर्याय पर नहीं है; दृष्टि का ज़ोर द्रव्य पर है। इसने आसन लगाया है द्रव्य में। - इस प्रकार छह हेतुओं से 'अव्यक्त' को सिद्ध किया है।

इसे 'अव्यक्त' कहो या उपादेय शुद्ध आत्मा कहो - यह आदरणीय है। पर्याय हेय है। जो (वर्तमान) पर्याय इसे (- अव्यक्त को) आदरणीय मानती है, वह पर्याय भी हेय है। आहाहा...हा ! पर्याय इसका - त्रिकाल ज्ञायकभाव का - आदर करती है - इसे सम्यग्दर्शन और धर्म की दशा कहने में आती है। समाप्त हुआ।

❁ ❁ ❁

ॐ

परमात्माने नमः।

श्री समयसार

श्री जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका में गाथा : ३०६ से ३०८
[श्री अमृतचंद्राचार्यकृत 'आत्मख्याति' टीका में गाथा : २८३ से २८५]

आत्म-भावना

अथ निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्यानरहितानां जीवानां योऽसौ बंधो भणितः स च हेयस्याशेषस्य नारकादिदुःखस्य कारणात्वाद्धेयः। तस्य बंधस्य विनाशार्थं विशेष भावनामाह -

''सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं निरंजननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दरूप सुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन संवेद्यो गम्यः प्राप्यः, भरितावस्थोऽहं, राग-द्वेष-मोह-क्रोध-मान-माया-लोक्ष-पञ्चेन्द्रियविषयव्यापार, मनोवचनकायव्यापार-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-ख्याति-पूजा-लाभ-दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितः शून्योऽहं, जगत्त्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवाः इति निरंतर भावना कर्त्तव्या।''

हिन्दी भाषांतर : ''मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंदरूप एक स्वभाव हूँ, निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ, निज निरंजन शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठानरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानंदरूप सुखानुभूतिमात्र लक्षण द्वारा स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा संवेद्य, गम्य, प्राप्य-भरितावस्थ हूँ। राग-द्वेष-मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ-पंचेन्द्रिय विषयव्यापार, मनवचनकायव्यापार-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-ख्याति-पूजा-लाभ दृष्ट श्रुतअनुभूत भोग-आकांक्षारूप निदान - माया-मिथ्या - तीन शल्य आदि सर्व विभावपरिणाम रहित हूँ, शून्य हूँ। शुद्ध निश्चय से मैं ऐसा हूँ। तथा तीन लोक और तीन काल में सभी जीव ऐसे हैं। - ऐसा मन, वचन, काय से तथा कृत, कारित, अनुमोदन से निरंतर भावना कर्त्तव्य है।''

`आत्म-भावना'

प्रवचन क्रमांक-१ ता - २४-१-१९७८

इस `समयसार' को पढ़कर क्या करना ? पूरा `समयसार' पढ़कर - जानकर करना क्या ? `समयसार' बंध अधिकार में ``**बंधस्य विनाशार्थं**'' - बंध के नाश के लिये `यह आत्म भावना' करना, ऐसा है। पुनश्च `सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' के अंत में है कि `समयप्राभृत' को जानकर `यह' करना। और `परमात्मप्रकाश' में आखिर में है कि `परमात्मप्रकाश' जानकर भी `यह भावना' करनी। - ऐसे तीन ज़गह है। (और) इससे मिलता-झुलता थोड़ा चौथी ज़गह (`समयसार') गाथा - ४१३ में है; परंतु (वहाँ) थोड़ा शब्दों में फर्क है। सार में भी सारभूत `यह' वस्तु है।

पाठ में तो ऐसा है : (``**सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं**'') सहज शुद्ध ज्ञान और आनंद जिसका एकरूप स्वभाव है, ऐसा हूँ। `ऐसा हूँ' इसमें से `मैं हूँ'...न ! `मैं' - `**ऽहं**' पाठ में अंतिम शब्द है। `**अहं**' माने `मैं हूँ' ऐसा उसमें से निकाला। यानी त्रिकाल स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान, स्वाभाविक शुद्ध आनंद, जिसका एकरूप स्वभाव है, ऐसा... मैं हूँ। आहाहा ! `समयसार' या `परमात्मप्रकाश' शास्त्र पढ़कर करना तो... `यह' ऐसा आत्म-भावना के लिये `यह' - `स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान (हूँ)।' समझने में ज़रा कठिन पड़े ऐसा है।

स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान; पर्याय नहीं, त्रिकाली स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान - पवित्र ज्ञान हूँ। पाठ में `शुद्ध ज्ञानानंद है' उसका अर्थ किया `ज्ञान और आनंद'। ``**सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं**' - सहज ज्ञान और आनंदरूपी स्वभाव वह `मैं हूँ' ऐसी आत्मभावना करनी। आहाहा ! श्रीमद् में (पत्रांक - ४७४ में) भी ये शब्द आते हैं : `आत्मभावना भाते-भाते जीव केवलज्ञान लेता है।' परंतु भावना `यह', कुछ समझ में आया ?

शुभभाव को नपुंसक कहा है न...? इसका विरोध बहुत हुआ है। लेकिन उसको तो - शुभ भाव को तो - नपुंसक ही कहा है। आहाहा ! यह कठिन पड़ता है जगत को...! `वीर्य (पुरुषार्थ)' तो इसमें है कि : मैं ज्ञान और आनंदस्वभावी... यह जिसका `एक' स्वभाव... कि जिसमें (कोई) भेद नहीं। राग तो नहीं, परंतु पर्याय का भेद भी नहीं। - `सहज ज्ञान, सहज आनंद जिसका एक स्वभाव है, वह मैं हूँ।' `मैं' भले ही पहले लिया, पर `ऐसा मैं हूँ' इस प्रकार लेना। भाषा समझ में आती है ? करना तो `यह' (आत्म-भावना) है।

चारों अनुयोग में `सार' रूप तो `वीतरागता' है। अन्य (लोग) इस प्रकार तकरार करते हैं न...? कि : चरणानुयोग में ऐसा कहा है और वैसा कहा है। चारों अनुयोग का सार तो वीतरागता है। और वीतरागता तो तब प्रगट हो कि : `सहज ज्ञानानंद मैं हूँ' ऐसी दृष्टि करे तो प्रगटे ! उसका अर्थ यह हुआ कि : `स्व का आश्रय करना।' आहाहा ! कैसा `स्व' हूँ ? - स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान और आनंद। स्वाभाविक और शुद्ध। कैसा है `शुद्ध ज्ञानानंद' ? -

स्वाभाविक है; कृत्रिम नहीं। नई पर्याय (कृत्रिम) उत्पन्न करना, ऐसा नहीं है। आहाहा ! लोगों को कठिन पड़ता है।

वैसे तो व्यवहार को व्यभिचार कहा है, नपुंसक कहा है; यह बात लोगों को कठिन पड़ती है। परंतु वह (व्यवहार) तो हेय है। 'समयसार' के प्रवचन में इसकी बात बहुत सारे बोल द्वारा कही गई है। 'समयसार' में व्यवहार को अभिसारिका, वेश्यासमान, व्यभिचार इत्यादि बहुत बोल लिये हैं। वे बहुत साल पहले 'आत्मधर्म' में आ गये हैं।

यहाँ तो यह चीज़ क्या ? इसका जोड़ (टोटल) यह है : जिसकी पर्याय बुद्धि छूटकर, त्रिकाली शुद्ध ज्ञान, सहज शुद्ध ज्ञान, स्वाभाविक शुद्ध-पवित्र ज्ञान और आनंद वह मैं हूँ। इसमें कहीं व्यवहार का कर्ता हूँ या रागवाला हूँ या पर्यायवाला हूँ, ऐसा भी यहाँ लिया नहीं है। आहाहा ! धर्मी 'यह' (ऐसी) भावना करे !

('समयसार') ३२० - गाथा में आ गया है न...? कि : ध्यानेवाला - ध्याता क्या ध्यान करता है, (किसका) ध्यान करे ? कि: सर्वथा निरावरण अखंड ज्ञान; उसका ध्यान करे ! वर्तमान ध्यान करनेवाली पर्याय का ध्यान न करे। क्योंकि वर्तमान पर्याय है वह खंडखंड है और यह (ज्ञान) अखंड है।

भाई ! बहुत सूक्ष्म है। '**यह तो ज़रा (ये) सब (पुस्तक में) इकट्ठा डालनेवाले हैं न...? इसलिये थोड़ा-सा आया है। यह (स्पष्टीकरण) सबसे ऊँचा है।**'

आहाहा ! यहाँ कहते हैं कि : यह आनंद जिसका एक स्वभाव है - ऐसा आत्मा - वह मैं हूँ। स्वाभाविक शुद्ध ज्ञानानंद जिसका एक स्वभाव है ऐसा 'मैं' हूँ। 'मैं' पहले लिया वह मैं 'यह' हूँ। आहाहा ! यह बात कोई भाषा या विकल्प की नहीं है। 'ऐसा मैं हूँ' ऐसा विकल्प भी नहीं। वस्तु का स्वरूप 'यह' है। कुछ समझ में आया ?

चरणानुयोग सीखकर या अन्य कुछ सीखकर, कोई विरोध करता है कि : ये (सोनगढ़वाले) लोग शुभभाव को नपुंसक कहते हैं। ऐसा कहते हैं और वैसा कहते हैं। परंतु चरणानुयोग में तो उसको (-व्यवहार को) आदरणीय कहा है। एक विद्वान ने विरोध में बहुत लिखा है। (लेकिन) भाई ! तुझे मालूम नहीं है बापू !

यहाँ कहते हैं : '**एकस्वभावोऽहं**' - मैं एकस्वभावी हूँ। जिसमें 'परिपूर्ण गुण' और 'परिपूर्ण स्वभाव' ऐसा भी भेद नहीं। अनेकपना या ऐसे (गुण-गुणी के) भेद नहीं। - ऐसी यह तो परिपूर्ण गुण से भरी हुई (अभेद) चीज़ है। - ऐसे (स्व) भाव की भावना (भाना)। भावना (यानी) विकल्प या चिंत्वन नहीं। भावना (यानी) ऐसे (स्व)भाव में एकाग्र होना। ऐसे भाव में 'मैं यह हूँ' (ऐसी एकाग्रता हुई), फिर ऐसी (स्व-भावाकार) तो पर्याय हुई। यह (विषय) 'परमात्मप्रकाश' में आखिर में है। कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! देखो... इसमें कितने शब्दों का प्रयोग किया ! 'स्वाभाविक' - कृत्रिम नहीं, बनाया हुआ नहीं, नाश होता नहीं, एक समय की पर्याय तक सीमित नहीं - 'स्वाभाविक'।

वह भी `शुद्ध'। जो चीज़ स्वाभाविक है वह शुद्ध ही होती है। यह (वर्तमान) पर्याय में जो अशुद्धता है वह तो व्यवहारनय का विषय है। `समयसार' में कहा है : यह (व्यवहार) हेय है। इसके (स्वभाव के) सिवा सब हेय हैं। यह (स्वभाव) ही उपादेय है। आहाहा ! ऐसा अवसर कब मिले !! अरे सुनना है... यह भी मुश्किल लगता है !

`स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान, स्वाभाविक शुद्ध आनंद ऐसा जिसका एक स्वभाव है, वह आत्मा।' आहाहा ! `ज्ञानानंद' दोनों इकट्ठे हैं। यह तो यहाँ अलग करके समझाया है। सहज ज्ञानानंद जिसका एकरूप स्वभाव...वह मैं हूँ। `**सहजज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं**' ऐसा पाठ है। परन्तु भिन्न करके समझाया है कि : स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान और आनंद ऐसी - एकस्वभावी वस्तु (मैं हूँ)। इसकी पर्याय में जो वीतरागता आती है, वह `वीतरागता' अखंड-अभेद-एकस्वभाव के लक्ष से आती है। वह सम्यग्दर्शन भी वीतरागता है। (इसमें) `सराग' और `वीतराग' ऐसे जो भेद किये हैं, वे तो चारित्रदोष की अपेक्षा से है। वरना समकित तो सराग-वीतराग है ही नहीं। वह (समकित) तो निर्विकल्प-सहज-ज्ञानानंद-शुद्ध `मैं' एकस्वभावी हूँ' ऐसी अंतर में - वर्तमान ज्ञान की पर्याय में यह पूर्ण (स्वभाव) ज्ञेय होकर, ज्ञानरूप होकर - प्रतीति करना, यह है।

आहाहा ! ऐसा मार्ग है !! (फिर भी) कोई बेचारा मज़ाक करे कि: (सोनगढ़) अध्यात्म की ऐसी बातें करें और वैसी बातें करें ! (पर) अरे भगवान ! बापू ! प्रभु ! अध्यात्म यानी कि : `तू पूर्णस्वरूप,' यह `अध्यात्म'। आत्मा के आश्रय से कथन, वह `वाणी'। और आत्मा के आश्रय से भाव, वह `धर्म'। ऐसा `मैं' हूँ। (परंतु) भगवान है न... अन्य ऐसे परमात्मा है, उनके साथ कुछ संबंध नहीं है। एक बोल हुआ।

दूसरा बोल : `**निर्विकल्पोऽहं**' - `मैं निर्विकल्प हूँ'। विकल्प अर्थात् भेद, जिसमें नहीं है, (ऐसा) अभेद - निर्विकल्पस्वरूप हूँ। `एकस्वभाव हूँ' इसमें (यह) आ गया था लेकिन इसको विशेष स्पष्ट किया है। आहाहा ! भाई ! यह सूक्ष्म बात है। अन्यत्र कहीं सुनने मिले ऐसी नहीं है। भगवानआत्मा निर्विकल्प - विकल्प से रहित यानी भेद से रहित (है)। ऐसी `निर्विकल्प-अभेद वस्तु (मैं) हूँ'। - ऐसी दृष्टि होना - अंतर में परिणमन होना - इसे यहाँ सम्यक्दर्शन और आत्मा की भावना कहने में आता है। कुछ समझ में आया ?

पाठ तो इतना है : `**निर्विकल्पोऽहं**' - निर्विकल्प `मैं' हूँ। अस्ति से कहते हैं `मैं अभेद हूँ' पर्याय का भेद भी, इस स्वरूप-एकता में - मेरे में नहीं है, ऐसा `मैं' हूँ।

आगे लेंगे : तीनों लोक में - तीनों काल में सभी जीव ऐसे हैं। आहाहा ! `**जगत्त्रये**' - ऊर्ध्व, मध्य और अधो; `**कालत्रयेपि**' - भूत, वर्तमान और भविष्य; `**सर्वे जीवाः**' - अभव्य आदि सभी जीव; ऐसे भाव (-स्वभाव)वाले हैं। समझ में आता है ? कठिन पड़े आदमी को...(परंतु) क्या करें इसमें ?

कल बात आई थी न...? कि : दृष्टि तो ध्रुव पर, और अनुभव दोनों का (-द्रव्य

और पर्याय का) होने पर भी, मेरी दृष्टि का ध्येय तो मात्र सामान्य पर ही है। पर्याय और द्रव्य - दोनों का ज्ञान होने पर भी, दृष्टि का ज़ोर ध्रुव पर है। अगर ध्रुव पर से दृष्टि हटे तो, वह वस्तु (-ध्रुव) दृष्टि में रह न सके। धर्मी की दृष्टि के ध्येय की ध्रुवता में एक पल या एक समय का भी कभी अंतराल नहीं पड़ता। आहाहा ! शरीर-वाणी-मन-पैसा-लक्ष्मी तो जाने कहाँ रह गये ! परंतु एक समय की पर्याय, - भावना करनेवाला भाव अर्थात् 'भावना' है पर्याय, लेकिन वह पर्याय, - वह 'मैं' नहीं; मैं तो 'यह' (-ध्रुव) हूँ ! आहाहा...हा !

'समयसार' गाथा-३२० में ऐसा आता है न...! 'मैं तो अखंड ज्ञायकभाव हूँ।' पर्याय ('मेरी') भावना करती है। परंतु वह पर्याय ऐसा कहती है कि : मैं तो 'यह' (-अखंड ज्ञायकभाव) हूँ; खंडज्ञान नहीं हूँ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वह है तो पर्याय; पर वह पर्याय ऐसा मानती है कि : मैं तो 'यह' अखंड हूँ। पर्याय ऐसा जानती है कि : मैं तो 'यह' हूँ। पर्याय ऐसा न जाने कि: मैं यह (-पर्याय) हूँ। आहाहा ! 'आत्मा' जो निर्विकल्प और एकस्वभावी है, उस पर से, धर्मी की अंतर्मुख दृष्टि एक सेकंड - समय मात्र के लिये भी हटती नहीं है।

("ध्रुव-धाम के ध्येय के ध्यान की धधकती धूनी धगश (लगनी) और धैर्य से धधकाना (जलाना) ऐसे धर्म के धारक धर्मी धन्य हैं!") ये तेरह बोल अभी रखें थे न...? धधकती धूनी धगश और धैर्य से धधकाना - यह है तो पर्याय; पर वह (पर्याय) ऐसा कहती है कि: मैं 'यह' (-ध्रुव) हूँ ! आहाहा ! किस दिन ऐसे वचन सुने...? अरेरे...! बाकी तो सारी जिंदगी निरर्थक है।

पाठ में तो '**निर्विकल्पोऽहं**' शब्द है। उसका अर्थ किया 'मैं निर्विकल्प हूँ', 'अभेद हूँ'। '**निर्विकल्पोऽहं**' जिसमें विकल्प का भेद नहीं है, इस प्रकार नास्तिसे भी बात नहीं की। अस्ति से बात की। '**निर्विकल्पोऽहं**' विकल्प-भेद नहीं है यह तो नास्ति से (हुआ)। परंतु पर्यायदृष्टि का विषय लेकर (यह) बात नहीं ली। कुछ समझ में आया ?

('**उदासीनोऽहं**') - 'मैं उदासीन हूँ।' कल आया था न...! 'समयसार' (गाथा-४९ अव्यक्त के) छठे बोल में कि : 'व्यक्त प्रति उदासीन हूँ।'

आहाहा ! ऐसी चीज़ (आत्मा) को समझने के लिये, बापू ! उसे बहुत सारे आग्रह छोड़ने पडेंगे। ये शास्त्र हम जानते हैं...! - ये सारे अभिमान उसे छोड़ने चाहिये। आहाहा ! शास्त्र जाने हैं न... (आत्मा नहीं)।

यहाँ पाठ तो ऐसा है : '**उदासीनोऽहं**' उसका अर्थ किया : 'मैं उदासीन हूँ'। मैं भगवानआत्मा उदासीन हूँ। मेरा आसन ध्रुव में है। आहाहा ! मेरी बैठक ध्रुव में है। पर से तो 'मैं' उदास हूँ, परंतु पर्याय से भी 'मैं' उदास हूँ।

आहाहा..हा ! ऐसा मार्ग वीतराग का !! (जीवों को) सुनने न मिले, प्रभु ! क्या करें ? अरे ! उसके दुःख के अनंत दिन गये (- बीत गये) हैं, भाई ! उसके दुःख तो

उसने झेलें; लेकिन दु:ख देखनेवाले की आँखोंमें से भी अश्रु की धारा चली है, ऐसे दु:ख सहन किये...फिर भी वह यहाँ भूल गया ! मिथ्यात्व के कारण से ये (अनंत दु:ख) हैं। मिथ्यात्व समान पाप नहीं है। मिथ्यात्व समान आस्त्रव नहीं है। मिथ्यात्व समान कोई अधर्म नहीं है। उसको (-मिथ्यात्व को) तोड़ने की यह बात है। -

(`**उदासीनोऽहं**') उद् + आसीन। `मेरी' बैठक तो ध्रुव पर है। कहते हैं : `मैं' पर्याय से उदास हूँ। `मेरी' बैठक पर्याय में नहीं है। (जैसे) लोक में लोग इस प्रकार नहीं बोलते हैं कि : भाई ! हम फलाँ-फलाँ अच्छे-अच्छे लोगों की बैठक में रहते हैं। हम बड़े-बड़े लोगों की बैठक में रहते हैं। हम साधारण आदमियों के बीच नहीं रहते। (वैसे) यहाँ कहते हैं कि : अंदर पूर्णानंद का नाथ प्रभु है, वहाँ `मेरी' बैठक है। मेरा अस्तित्व उतना, वह है। वरना `मैं' तो पर्याय से भी उदासीन हूँ।

सारे शास्त्र पढ़कर `बंध का नाश करने हेतु' करना तो `यह' (-आत्मभावना) है ! कुछ समझ में आया ? औरों को समझाना आये या न आये, उसमें कोई विशेषता नहीं है।

आहाहा ! मैं उदासीन हूँ। `**निर्विकल्पोऽहं**' `**उदासीनोऽहं**' ऐसा संस्कृत शब्द है। पर उसका अर्थ इस प्रकार होता है न...! कि : `मैं निज निरंजन शुद्ध आत्मा हूँ।' आहाहा ! (`निरंजननिजशुद्धात्म') मैं निज निरंजन - मेरा जो बिना अंजन का, बिना मैल का (स्वरूप) - (ऐसा) शुद्ध आत्मा हूँ। मेरे नाथ को आवरण नहीं है।

बहिनश्री का सूत्र है न...! (जिस प्रकार कंचन को ज़ंग नहीं लगता, अग्नि को दीमक नहीं लगती, उस प्रकार ज्ञायकस्वभाव में आवरण, कमी या अशुद्धि नहीं आती।') सुवर्ण को ज़ंग नहीं होता, अग्नि को दीमक नहीं होती। दीमक महीन सफेद होती है; वह ज्यादा धूप में तुरंत मर जाती है। पचहत्तर की साल में पाळियाद (गाँव) में यह आँखों के सामने देखा है। सब देखा हुआ है। जिस प्रकार अग्नि में दीमक नहीं होती, उस प्रकार भगवान आत्मा के शुद्ध स्वरूप में - शुद्ध स्वरूप को आवरण नहीं होता। शुद्ध स्वरूप में अशुद्धता नहीं होती। शुद्ध स्वरूप में कमी नहीं होती। यह बोल (-३८०) `बहिनश्री के वचनामृत' में है।

यहाँ कहते हैं : `मैं' तो निरंजन हूँ। `मेरे' में अंजन-मैल है ही नहीं। यह तो आनंदघन प्रभु है। `मैं निज निरंजन हूँ।' अरे...! (लोगों को यह) कैसे बैठे...! (यह बात) कहीं सुनी भी नहीं (होगी)।

वैसे तो `मैं निज निरंजन शुद्धात्मा का सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक जो निर्विकल्प समाधि; उससे उत्पन्न वीतराग सहजानंदरूप सुख की अनुभूतिमात्र जिसका लक्षण है, ऐसे स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा स्वसंवेद्य-गम्य-प्राप्य हूँ' - इस प्रकार लेना है।

परंतु यहाँ `मैं' पहले लेकर `ऐसा हूँ' आहाहा ! `मैं निरंजन हूँ,' अंजन-मैल है, वह

तो पर्याय को / राग को - निमित्त-नैमित्तक संबंध है। (- ऐसा कहते हैं।) वस्तु को - भगवान आत्मा के स्वभाव को कोई अंजन-मैल है ही नहीं। ऐसा वस्तु का जो स्वभाव (है) वह बिना अंजन का, बिना मैल का, बिना कमी का, बिना आवरण का है।

ऐसा जो 'निज निरंजन शुद्ध आत्मा का सम्यक्श्रद्धान' - ऐसे शुद्ध आत्मा की सम्यक् श्रद्धा। देखो, भाषा तो देखो ! देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा और पर्याय की श्रद्धा - इसकी बात तो (यहाँ) की नहीं।

(परंतु) वे (कुछ लोग) ऐसा कहते हैं कि: 'देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करो तो कल्याण होवे।' लेकिन वे देव-गुरु-शास्त्र तो परद्रव्य हैं। परद्रव्य की भक्ति तो राग है। '(ज्ञानी की) आज्ञा का आराधन करो !' तो आज्ञा तो 'यह' है। ऐसा श्रीमद् में आता है, लोग ऐसा कहते हैं। परंतु देखो ! 'ज्ञानी की आज्ञा का आराधन करना, यानी आज्ञा को मानना।' परंतु (आज्ञा) मानना, माने क्या ? कि: वह आज्ञा माने उनकी (ज्ञानी की)। तो ज्ञानी की आज्ञा यह है कि : 'तू ऐसा (शुद्ध आत्मा) है ! - इसकी श्रद्धा कर, अनुभव कर !' और 'मुझे मानना भी छोड़ दे ! और स्वयं की पर्याय जितना (अपने को) मानना छोड़ दे!' -ऐसी ज्ञानी की आज्ञा है। कुछ समझ में आया ?

(निज) निरंजन शुद्ध आत्मा, उसका सम्यक् श्रद्धान, उसकी सच्ची श्रद्धा। देखा ! जैसा (आत्म-)स्वरूप है, वैसी श्रद्धा। जैसा त्रिकाली उदासीन और शुद्ध चैतन्यघन (आत्मा है, वैसा) उसका श्रद्धान। आहाहा ! इसमें देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा या छह द्रव्य की श्रद्धा या पर्याय की श्रद्धा - ऐसी तो कोई बात नहीं ली। नास्ति की ये बातें तो इस में है नहीं। पर की श्रद्धा इत्यादि बातें नहीं लेकर, इस बात को समझना : निज निरंजन निराकार शुद्ध भगवानआत्मा - उसकी श्रद्धा को, (श्रद्धान कहें)।

निज निरंजन शुद्ध आत्मा का ज्ञान, इसका नाम ज्ञान। शास्त्र पढ़ना, यह ज्ञान कोई ज्ञान नहीं है। 'निज निरंजन' यह (भी) अपना। भगवान का ज्ञान, यह भी नहीं। तीर्थंकर और उनका ज्ञान, यह (भी) नहीं। वे तो परद्रव्य हैं। आहाहा ! कठिन लगे... (लेकिन) क्या करें ? भाई ! मार्ग तो ऐसा है। तू स्वयं भगवान (गुण-) भंडार है न...! आहाहा ! इस निज निरंजन शुद्ध आत्मा का सम्यक्ज्ञान। देखा ! ज्ञान इसे कहें।

एक पंडित ने ऐसा लिखा है कि : 'ऐसा जो आत्मा का अनुभव (है) यह जिनशासन है, इसके बिना बारह अंग व्यर्थ हैं।' (परंतु) 'बारह अंग का ज्ञान व्यर्थ है' ऐसा नहीं है। बारह अंग का ज्ञान तो समकिती को ही होता है। 'व्यर्थ है' ऐसा शब्द वहाँ नहीं होना चाहिए। जैनशासन इसको (-स्वानुभव को) कहना, यानी : जो शुद्ध आत्मा परिपूर्ण भगवान निज निरंजन शुद्ध, उसका ज्ञान 'समयसार' १५वीं गाथा ज्ञान की है, वहाँ ज्ञान की व्याख्या है; और १४वीं गाथा सम्यग्दर्शन की है। इस निज निरंजन शुद्ध आत्मा का अबद्धस्पृष्ट (स्वरूप) है, इसका ज्ञान जिसको है, उसे बारह अंग का ज्ञान हो, चाहे न हो; परंतु जिसे

बारह अंग का ज्ञान है, उसे सम्यग्ज्ञान होता ही है। `बारह अंग का ज्ञान व्यर्थ है' ऐसा नहीं होना चाहिये। क्या कहा...कुछ समझ में आया ? इसके (सम्यग्ज्ञान के) बिना, ग्यारह अंग का ज्ञान आदि या नौ पूर्व की लब्धि आदि (हो तो भी) वह व्यर्थ है, यह ठीक है। लेकिन जिसे निज आत्मा का ज्ञान है, उसे ही बारह अंग का ज्ञान होता है। `समयसार कलश टीका' में आता है न...! कि : (`इस ज़गह एक अन्य संशय भी होता है कि, कोई मानेगा कि द्वादशांगज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है। उसका समाधान इस प्रकार है कि `द्वादशांगज्ञान भी विकल्प है। इसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है। इसलिये शुद्धानुभूति होने पर शास्त्र पढ़ने की कोई अटक (बंधन) नहीं है') भाई ! बारह अंग का ज्ञान कोई अपूर्व लब्धि नहीं है। पर इससे ऐसा नहीं है कि बारह अंग का ज्ञान मिथ्यादृष्टि को भी होता है। `कलशटीका' में ऐसा कहा है कि : बारह अंग का ज्ञान कोई अपूर्व नहीं है। क्योंकि बारह अंग के ज्ञान में भी अनुभूति का कथन किया है। बारह अंग के भी `सारभूत' आत्मा का अनुभव है।

यहाँ कहते हैं कि : इस निज निरंजन शुद्ध आत्मा का सम्यक् (आचरण ही) अनुष्ठान (है)। चरणानुयोग अनुसार जो व्रतादि के विकल्प, उसको यहाँ अनुष्ठान गिना ही नहीं है। अनुष्ठान माने चारित्र। लेकिन आचरण कौन-सा ? कि : निज निरंजन शुद्ध आत्मा का सम्यक् आचरण। इस त्रिकाली आनंदकंद के नाथ में रमणता - यह सम्यक् आचरण - इसको चारित्र कहें। कुछ समझ में आया ?

(श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान) तीनों की व्याख्या हो गई। निज निरंजन शुद्ध आत्मा - इसका सम्यक् श्रद्धान; इसका सम्यक्ज्ञान; इसका सम्यक् आचरण। सम्यक् आचरण माने चारित्र। महाव्रतादि के विकल्प, यह कोई आत्मा का चारित्र नहीं है।

आहाहा ! क्या बात कहें ? परंतु मार्ग तो ऐसा है ! प्रभु ! अरे ! जन्म-मरण के अंत के अवसर (आ गये) ! अब भी अगर `यह बात' न बैठे... तो भाई ! बापू ! तुझे कब बैठेगी ? यह (मनुष्य) भव तो भव के अंत के खातिर (मिला) भव है। भव का अंत लाने के लिये यह भव है; इसमें तुझे भव का अंत (लाने) की बात न बैठे तो यह भव हुआ न हुआ (मिला न मिला, दोनों समान) है। आहाहा ! जानवर को (सुनने) नहीं मिला और तुझे मिला। पर (अगर `यह बात' दिमाग में बैठे नहीं तो) दोनों का (समान) निरर्थक हैं।

आहाहा ! निज निरंजन, मलिनता रहित, अंजन-मैल रहित, आवरण रहित, कमी और अशुद्धता रहित `निज शुद्ध आत्मा', इसका सम्यक् आचरण, इसका यह अनुष्ठान, इसे चारित्र कहें।

पुस्तक (शास्त्र) सामने रखा है न...! ये तो आचार्य के शब्द हैं। दिगंबर संतों के शब्द हैं। (फिर भी) वे लोग (शास्त्रमें से) एतराज करें !... क्या हो, भगवान ! एतराज तो

उन्हें (अपने) आत्मा से है; किसी (अन्य) के साथ एतराज क्या ?

'समाधिशतक' में कहा है : 'हालाँकि हम आत्मा हैं' ऐसा जो कोई (अज्ञ) हमको जानता नहीं है, वे हमारे अरि (-दुश्मन) और मित्र किस प्रकार हो सकते हैं ? और 'हम आत्मा हैं' ऐसा जो (प्रबुद्ध) जानता है, ऐसा जिसको मालूम पड़ता है, वह भी हमारा बैरी और दुश्मन किस प्रकार हो सकता है ? मित्र किस प्रकार हो सकता है ? आहाहा ! कुछ समझ में आया ? क्या कहा यह ? कि : हम जो आत्मा हैं, जिस प्रकार हैं, उस प्रकार हमने जाना है, इस तरीके से अन्य आत्मा (हमको) जाननेवाला नहीं है; तो फिर वह हमारा बैरी और मित्र किस प्रकार हो सकता है ? और हम आत्मा हैं, जिस प्रकार हमने जाना है, उस प्रकार अगर वह (हमारे) आत्मा को जानता है; तो वह भी (हमारा) बैरी या मित्र किस प्रकार हो सकता है ? कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! 'करुणा ऊपजे (उत्पन्न होती है) देखकर !' देखो न...! श्रीमद् में ('आत्मसिद्ध' गाथा : ३-४ में) तो ऐसा आता है : 'कोई क्रियाजड़ हो रहे, शुष्कज्ञानमें कोई; माने मारग (मार्ग) मोक्ष का, करुणा उपजे देखकर।' 'बाह्य क्रिया में रचे-पचे, अंतर्भेद (जागृति) नहीं कुछ, ज्ञानमार्ग का निषेध करें, वे हैं क्रियाजड़ यहाँ।' कोई केवल क्रिया को माने; (कोई) केवल (क्षयोपशम) ज्ञान के विकास को (ज्ञान) माने, परंतु ज्ञानतत्त्व के ज्ञान को न माने, उसका निषेध करे; तो श्रीमद् कहते हैं कि : 'वह (जीव) तो करुणा के पात्र है।' भाई ! इसके (तत्त्वज्ञान के विरोध के भाव के) फल बहुत सख्त हैं, भाई ! कोई जीव दुःखी हो - ऐसा (अभिप्राय) ज्ञानी को हो सकता है ? (नहीं ही होता)। अरे ! ऐसे (निषेध के) भाव, ये विपरीत हैं। इसके फल तो प्रभु ! सुने भी न जाये ऐसे दुःख हैं। ऐसे जीवों के प्रति विरोध कैसे हो सकता है ? इनको (दुश्मनरूप) कैसे मान सकते हैं ? ऐसे (विरोध के भाव से प्राप्त) दुःखों को भुगतना उसे महँगा पड़ेगा, भाई ! कुछ समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं : 'निज निरंजन शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक' इन तीनों को निश्चयरत्नत्रय शब्द (से) कहा है। किन तीनों को ? - निज निरंजन शुद्ध आत्मा की सम्यक् श्रद्धा, निज निरंजन शुद्ध आत्मा का ज्ञान और उसका (शुद्धात्म का) चारित्र - यह निश्चयरत्नत्रयात्मक। यहाँ इन तीनों सहित लिया है न...! ये तीन हुए।

वह 'निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि' निर्विकल्प समाधि अर्थात् शांति उत्पन्न (होना)। शुद्ध आत्मा की सम्यक् श्रद्धा, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् आचरण - इससे निर्विकल्प समाधि, बिना राग की शांति - यह समाधि (उत्पन्न) हुई। रत्नत्रय का परिणमन, यह समाधि है। यह समाधि, आधि-व्याधि-उपाधि से रहित है। उपाधि अर्थात् जिसमें संयोग नहीं है; व्याधि अर्थात् शरीर में (जो) रोग है, वह वहाँ (समाधि में) नहीं है; आधि अर्थात् मन के संकल्प-विकल्प हैं, वे वहाँ नहीं हैं। संयोग नहीं है, रोग नहीं है और संकल्प-विकल्प नहीं है।

आधि-व्याधि-उपाधि से रहित - ऐसी 'यह' समाधि है; साधुबाबा जो लगाते हैं, वह 'यह' समाधि नहीं है।

ऐसी जो 'निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानंदरूप सुखानुभूति मात्र।' आहाहा ! निश्चयरत्नत्रय ऐसे होते हैं ! ऐसा कहते हैं। (इनसे) उत्पन्न वीतराग सहजानंदरूप सुख - जिसमें राग रहित, स्वाभाविक आनंदरूप सुख - उसका अनुभव, यह निश्चयरत्नत्रय का स्वरूप है। ये तीनों वीतराग पर्याय हैं। और सहजानंदरूप (सुखानुभूति भी) पर्याय है। स्वाभाविक आनंद - सुख की अनुभूति मात्र जिसका 'लक्षण' है, (ऐसे लक्षण द्वारा) 'स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा' - स्व = अपना + वेदन, आनंद के वेदन द्वारा, वीतरागी सहजानंद के सुख के वेदन द्वारा - 'स्वसंवेद्य' - अपने द्वारा वेदन में आने योग्य - 'गम्य' हूँ। ऐसी निर्विकल्प समाधि से ('मैं निज निरंजन शुद्ध आत्मा') गम्य हूँ। ' आहाहा ! विशेष कहेंगे...

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-२ ता - २५-१-१९७८

'आत्मा' त्रिकाली जैसा स्वरूप है, वैसा अनुभव में लेना, उसका नाम '(आत्म-) भावना' है। यह मोक्ष का मार्ग है और जन्म-मरण के अंत का 'यह' उपाय है।

कैसा है 'आत्मा' ? वहाँ (पाठ में) समझाया है, भाई ! 'स्वसंवेद्य' है। स्वयं से वेदन में आने योग्य एवं (जानने में आने) योग्य है। यानी किसी निमित्त से - गुरु से या देव-शास्त्र से - वह जानने में आने योग्य नहीं है। अपने स्वसंवेदन से वह गम्य है। निर्विकल्प, उदास, त्रिकाली शुद्ध चेतनरत्न - उसकी एकाग्रता, उसका स्वसंवेदन, उसका वेदन - अनुभव ! स्वयं अपने से प्रत्यक्ष हो सकता है।

ये जो सारे व्यवहार के, वर्तन (आचरण) के बहुत लेख शास्त्र में आते हैं न...? ये सब निमित्त का ज्ञान कराने की बात है। बाकी स्वयं जैसा है, वैसा देखनेवाले को देखे ! 'देखनेवाला' - इसको न देखे; और पर को जानकर वहाँ (पर में) खड़ा (रुका) हुआ है; यह वस्तु का स्वरूप नहीं है। अपना ज्ञान और आनंद (रूप) त्रिकाली स्वभाव - यह स्व, अपने से अनुभव में आने योग्य और इसके (अनुभव के) द्वारा वह गम्य वस्तु है। ऐसी बात है !!

बाह्यव्रत और तप और जप और क्रिया और शास्त्राभ्यास, ये तो अनंत बार किये। परंतु इस स्वसंवेदन द्वारा 'आत्मा' को जानने का (यथार्थ प्रयत्न) अनुभव किसी भी दिन किया नहीं। इसके बिना, इसके परिभ्रमण का अंत नहीं आया। जैन साधु का द्रव्यलिंग अनंत बार धारण किया, फिर भी (आत्मा) राग से और निमित्त से जानने में आये, ऐसी

पर(आश्रित) बुद्धि के शल्य के कारण, वह चार गति में भटका !

यह (आत्मा) स्वसंवेद्य है और प्राप्त होने योग्य है। पाठ में दूसरा शब्द '**प्राप्यः**' है न...! वह शुद्ध चैतन्य आनंदकंद द्रव्यस्वभाव, जो परिपूर्ण आनंद और परिपूर्ण ज्ञान और परिपूर्ण शांति से भरा हुआ। यह भगवान; स्वसंवेदन से प्राप्त होने योग्य है। स्वसंवेदन से गम्य है। आहाहा ! इसको '**गम्यः**' कहा। यानी इससे (स्वसंवेदन द्वारा) यह (आत्मा) जानने में आता है। और '**प्राप्यः**' इसकी प्राप्ति स्वसंवेदन से है। स्वसंवेदन गम्य है इसलिये स्वसंवेदन से यह प्राप्य है। कुछ समझ में आया ?

(जीव) पहले निर्धार - निर्णय तो करे कि मार्ग 'यह' है ! बाकी तो अनंत बार द्रव्यलिंग - मुनिपना धारण किया, अनंतबार ग्यारह अंग और नौ पूर्व के शास्त्रों का अभ्यास किया है। बाहर की बात - पाप की बात - तो क्या करनी ? (जीव ने) ऐसे पुण्य के परिणाम भी अनंत बार किये हैं। परंतु स्वसंवेदन ज्ञान में 'आत्मा' को (कभी) लिया नहीं।

पर के आश्रय से, तीन काल में यह (आत्मा) प्राप्त हो सके ऐसा नहीं है, वह तो स्वआश्रय से, वर्तमान ज्ञान की पर्याय को स्वयं अंदर मोड़कर, जो स्व-स्वयं का वेदन होता है, इसके द्वारा 'यह आत्मा है', ऐसा जानने में आता है। और इसके द्वारा '**प्राप्यः**' - आत्मा प्राप्त होता है, यानी पर्याय में आत्मा की प्राप्ति होती है। अनादि से पर्याय में जो पर्याय की और राग की प्राप्ति है, वह पर्याय 'आत्मा' में अंतर्मुख होकर स्वसंवेदन करे, तो जो (आत्मा) वस्तु है वह प्राप्त होवे। आहाहा ! ऐसी बात (वस्तुस्थिति) है !!

('**भरितावस्थोऽहं**') मैं मूलतः तो ऐसा शक्तियों से और स्वभाव से सभर दशावाला - अवस्थ यानी शक्तिवाला हूँ। आहाहा ! भरितावस्थ यानी परिपूर्ण स्वरूप। इस प्रकार इस सभर अवस्थावाले की व्याख्या : 'परिपूर्ण स्वरूप मैं हूँ।' राग नहीं है, निमित्त नहीं है, अपूर्णता भी 'मेरे' में नहीं है। 'मेरे' में राग की विपरीतता तो नहीं है, किन्तु अपूर्णता भी नहीं है - ऐसा 'मैं' परिपूर्ण हूँ। पाठ में तो इतना आया कि '**भरितावस्थोऽहं**' - मैं परिपूर्ण स्वरूप हूँ।

'**राग-द्वेष-मोह**' - 'राग' में व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प भी आ गया। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा तथा परद्रव्य प्रति के झुकाव की दशारूप जो राग, उससे तो 'मैं' रहित हूँ। जिससे रहित हूँ, उसके द्वारा वह कैसे पाया जा सके ?

'**द्वेष**' यानी प्रतिकूलता (प्रति अरुचि)। प्रतिकूल-अनुकूल जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। वह तो ज्ञान में 'परज्ञेय' के रूप में जानने में आने योग्य वस्तु है। वह तो व्यवहार है। (वास्तव में तो) 'ज्ञान' स्वयं ही स्वयं को जाननेवाला ! स्वयं जाननेवाला तथा जानने में आने योग्य भी स्वयं ही है ! आहाहा !

जिज्ञासा : अन्य कोई नहीं है ?

समाधान : कोई नहीं है। जाननेवाला वह स्वयं, जानने में आने योग्य स्वयं, स्वयं स्वयं को जाननेवाला। आहाहा ! ऐसा मैं हूँ। ऐसा अनुभव होने पर, उसको सम्यक्‌दर्शन

और ज्ञान और शांति होते हैं। बाकी तो अशांति...अशांति और अशांति है। चौरासी के अवतार में तो दुःखी-दुःखी हो रहा है।

'**मोह**' यानी पर प्रति के झुकाववाली दशा, सावधानी। उस सावधानी से रहित हूँ।

'**क्रोध-मान-माया-लोभ**' - यह विस्तार किया। द्वेष की व्याख्या '**क्रोध-मान**'। राग की व्याख्या '**माया-लोभ**'। - इससे भी 'मैं' रहित हूँ।

आहाहा ! इसे कहाँ तक जाना है ? अंदर में - ऐसी चीज़ (आत्मा) में - पहुँचना है न... बापू ! इस ध्रुव-धाम में इसको विश्रांति लेनी है। इसके बिना, भव का अंत आ जावे - ऐसा है नहीं...भाई ! अनंत-अनंत अवतार चौरासी के किये। एक-एक योनि में अनंतबार जन्म लिया। अनंतबार आचार्य नाम धारण किया। अनंतबार दीक्षायें अंगीकार की। '**सब शास्त्रन के नय धार हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये; वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु** (अभी) **न पर्यो** (नहीं आया)' (-'श्रीमद् राजचंद्र' पत्रांक - २६५)। कहते हैं कि : इस चीज़ (आत्मप्राप्ति) के लिये किसी विकल्प की भी उसे जरूरत नहीं है।

'**पंचेन्द्रियविषयव्यापार**' - इन्द्रियों से भगवान को देखना और भगवान की वाणी सुननी - विषयों के इन व्यापार से भी 'मैं' तो रहित हूँ। आहाहा !

जिज्ञासा : मिथ्यात्व मंद तो होता है न ?

समाधान : (मिथ्यात्व) मंद होता है, ऐसी कोई बात नहीं है। वह तो कर्म का मंद और तीव्रपना है। वह कोई वस्तु नहीं है। मिथ्यात्व का ऐसा मंदपना और अनंतानुबंधी का मंदपना तो अभव्य को भी होता है। वह कोई चीज़ नहीं है। मिथ्यात्व को टालने और (आत्म) अनुभव करने के लिये तो 'यह' (आत्म-भावना) एक ही उपाय है।

पांचो इन्द्रियों के विषय-व्यापार, उससे 'मैं' रहित हूँ। आहाहा ! ('समयसार') गाथा - ३१ में आ गया है न...! इन्द्रिय किसको कहें ? जितेन्द्रिय में इन्द्रिय किसको कहें ? ये जड़ इन्द्रियाँ हैं पाँच। (स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण) और भावेन्द्रिय हैं (जो) एक-एक विषय को जानने का क्षयोपशम का अंश (हैं वे)। और इन्द्रियों द्वारा जानने में आने योग्य चीज़ों को भी इन्द्रिय कहा है। आहाहा ! गज़ब बात है !! भाई ! लोगों को कठिन लगे (कि) स्त्री, कुटुंब, परिवार भी इन्द्रिय; और देव, गुरु और शास्त्र भी इन्द्रिय ! आहाहा ! (स्वयं) 'भगवान' तो (द्रव्य और भाव इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के विषय) - इन तीनों इन्द्रिय से अधिक, भिन्न-जुदा-परिपूर्ण है।

जिज्ञासा : सिद्ध हो जाय तब की (यह) बात है न...?

समाधान : यहाँ अभी की बात है। यह (आत्मा) है ही ऐसा ! ऐसा ही है। जैसा है वैसा जानने में आये, अनुभव में आये तो फिर सिद्ध होवे न...? इसके बिना सिद्ध कहाँ से हो जाये ? यह (आत्मा) तो अभी क्या...तीनों काल में ऐसा (परिपूर्ण) है।

आखिर में (पाठ में) आयेगा : तीनों लोक में, तीनों काल में सभी जीव ऐसे (परिपूर्ण)

ही हैं। भाई ! तीनों काल में ऐसा है। तीनों लोक में ऐसा है और सभी जीव इसी तरह हैं। - ऐसा उसको स्वयं को जानने में आने पर, सभी जीव, भगवान पूर्णानंद के नाथ, स्वसंवेदनगम्य हैं। ऐसे ही ये सारे ही जीव हैं। भले अभवी (जीव) इसे (आत्मा को) स्वसंवेदनगम्य न कर सके, परंतु वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है।

आहाहा ! पाँचों इन्द्रिय के विषय में तो भगवान की वाणी भी है। लोगों का यह कठिन पड़ता है कि उसको - भगवान को और वाणी को और पर को - आप लोग (सोनगढ़वाले) इन्द्रिय कहते हो ! (परंतु) बापू ! भगवान (ऐसा) कहते हैं। भाई ! ('समयसार') ३१वीं गाथा में स्वयं भगवान ऐसा कहते हैं : मैं और मेरी वाणी (भगवान की वाणी ऐसा निमित्त से कहा) - इनको तो हम इन्द्रिय कहते हैं। और तू है अन-इन्द्रिय। तो इन्द्रिय द्वारा अन-इन्द्रिय कैसे पाया जा सके ? - ऐसा होना संभव नहीं है।

आहाहा ! यह एकदम सार-मक्खन है। आत्मा के अंतरअनुभव और ज्ञान के बिना ऐसे तो अनंतबार द्रव्यलिंग धारण किये; क्रिया-कांड किये, परंतु इससे क्या ? - यह (तो) संसार है।

आहाहा ! ऐसा जो (परिपूर्ण) आत्मा, वह पंचेन्द्रिय के विषय के व्यापार से रहित है। (भगवान की) वाणी कानों से सुनना और भगवान के रूप को आँखों से देखना - ऐसे इन्द्रिय के विषय के व्यापार से प्रभु (आत्मा) रहित है। आहाहा ! ऐसी बात है !! (जीवों को) फुरसत न मिले; और खुद की क्या चीज़ है, यह सुनने मिले नहीं, समझने को मिले नहीं; अरे ! कहाँ जाये...?

यह भगवान (आत्मा) तो अंदर परिपूर्ण परमात्मा है। भाई ! तुझे इस परिपूर्णता की प्रतीति की खबर नहीं है। प्रतीति यानी देव-गुरु-शास्त्र (की श्रद्धा ऐसा नहीं, वे) तो इन्द्रिय के विषय हैं। वे इन्द्रिय हैं। आत्मा उनसे भी पार है।

('**मनोवचनकायव्यापार**') मन-वचन-काया के व्यापार से पार है। आहाहा ! भगवान अंदर शुद्ध आनंदकंद प्रभु...! जिसके स्वभाव का आश्रय लेते ही (पर्याय में) अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आए, (इसे प्रतीति कहें)। यह भगवान स्वयं तो मन, वचन और काया से भिन्न है। वह वाणी से मिल सके ऐसा नहीं है, देह से मिल सके ऐसा नहीं है, परंतु मन के भावों से भी मिल सके ऐसा वह नहीं है। अंतःकरण मन है, वह तो अंदर जड़ है, वह तो पर में गया। परंतु भावेन्द्रिय - भावमन संकल्प-विकल्प (है); 'प्रभु' तो इससे भी रहित है; अंदर भिन्न है। इसका नाम 'आत्मा की भावना' कहने में आता है।

('**भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म**') 'भावकर्म' : पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, ये सब भावकर्म। लोगों को कठिन लगे ! भावकर्म यानी विकल्प की जो वृत्ति उठती है, वह। चाहे तो भगवान के स्मरण की, शास्त्रवाचन की, शास्त्र कहने की (हो) - ये सारी वृत्तियाँ हैं, वह भावकर्म है। भावकर्म यानी विकारी परिणाम। उससे 'प्रभु (आत्मा)' भिन्न है। 'द्रव्यकर्म' :

जड़कर्म जो (ज्ञानावरणीय आदि) आठ हैं; उससे तो 'प्रभु' अंदर भिन्न है। वस्तु है, अस्ति है, हाज़िर है, मौजूदगी रखती है, ऐसा जो 'आत्मतत्त्व'; यह उन जड़कर्म (-द्रव्यकर्म) से भिन्न है। भावकर्म से भिन्न है, यह पहले लिया। (अब कहते हैं कि) नोकर्म से भिन्न है। नोकर्म से (यानी) शरीर-वाणी-मन आदि अथवा अन्य बाह्य निमित्त - इन सब से, वह '(प्रभु)' भिन्न है।

'(**ख्याति-पूजा-लाभ**)' मेरी प्रसिद्धि हो, मेरी पूजा हो, - ऐसी ख्याति - पूजा के लाभ की आकांक्षा से ('प्रभु') रहित है। आहाहा ! कोई मुझे कुछ गिनती में ले, कोई मेरी ख्याति - प्रसिद्धि बाहर लोगों में करे, - ऐसी आकांक्षा से भी 'प्रभु' तो रहित है। आहाहा ! इसको यहाँ 'आत्मा' कहने में आता है। लोग ख्याति-पूजा-बहुमान करें, मुझे पूज्यरूप में स्वीकार करें, - ऐसी आकांक्षा से 'प्रभु' रहित है।

('**दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादि**') '**दृष्ट**' - जो भोग देखने में आते हैं; '**श्रुत**' - जो भोग सुने हुए हैं; और '**अनुभूत**' - जो भोग अनुभव किये हुए (हैं); (-इन की आकांक्षा से 'प्रभु' रहित है।) जो भोग देखने में आते हैं यानी ये बाहर के साधन, जो देखने में आते हैं वे। सुने हुए भोग यानी (लोगों को कहते हुए) सुना हो कि अमरिका में अरबपति ऐसे हैं, और फलाँ है और ४८-४८ मंजिल के मकान हैं और उसमें रहते हैं और... ऐसी सारी बातें सुनी हुई हो, ये। अनुभव किये हुए यानी ऐसे विषय-भोगों का अनुभव किया हो, वे। ऐसे देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए भोगों की '**आकांक्षारूप निदान**' इनकी जो इच्छारूपी निदान - हेतु से तो 'प्रभु' रहित है। आहाहा ! ऐसे 'आत्मा' का अंदर अनुभव करना इसका नाम 'धर्म' है। इसका नाम 'जैनधर्म' है। यहाँ तीन '**शल्य**' लेने हैं न...? '**भोगाकांक्षारूपनिदान**'; '**माया**' यानी कपट-कुटिलता; और '**मिथ्या**' यानी भीतर ही भीतर राग से कुछ भी लाभ हो, व्यवहार से निश्चय - आत्मा पाया जा सके, यह मिथ्याशल्य; - ऐसे तीनों शल्य से 'प्रभु' रहित है। यानी किसी भी सूक्ष्मवृत्ति का 'निदान', ऊँड़ी-ऊँड़ी (गहराई में पड़ी) 'माया' और ऊँड़े-ऊँड़े 'मिथ्यात्व' का - विपरीत मान्यता का सूक्ष्म भाव; जिसके असंख्य प्रकार हैं; ऐसे तीन शल्य से 'प्रभु' रहित है।

('**सर्वविभावपरिणामरहितः शून्योऽहं**') '**सर्वविभाव**' इसमें कहाँ कुछ बाकी छोड़ा ? 'बहिनश्री के वचनामृत' (बोल - ३१९) में है कि: 'विभाव से अलग हटकर चैतन्य तत्त्व को ग्रहण कर।' 'विभाव से रहित हो जाओ।' आहाहा ! यह एक शब्द पर्याप्त है ! 'विभाव' अर्थात् पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत-भक्ति के परिणाम, यह 'विभाव' है; यह 'स्व-भाव' नहीं है। ('मैं') ऐसे समस्त विभावपरिणाम रहित, शून्य हूँ। अभाव दिखाना है न...! आहाहा ! 'सर्वविभावपरिणामरहित, शून्य हूँ।' फिर व्रत और... तप और... भक्ति और... पूजा, आदि के जो विकल्प हैं, वे भी विभाव हैं। भाई ! 'प्रभु' में विभाव नहीं है। वह तो अध्यास से विभाव को अपना माना है। परंतु 'वस्तु' में नहीं है। (जीव) अध्यास का अभ्यस्त होने की वज़ह

से 'जैसे यह सूक्ष्म विकल्प का विभाव, मेरा (स्व-भाव) है,' ऐसा उसने शल्य में - मिथ्यात्व में माना है। लेकिन (कोई भी) विभाव 'वस्तु' में नहीं है। कुछ समझ में आया ?

ऐसा भगवानआत्मा चैतन्यदीप - सूर्य कि जिसके चेतन के प्रकाश में ये 'विभाव भाव' अंधकारस्वरूप हैं, अजीव हैं। आहाहा ! ये जो विभावभाव हैं, वे अजीव हैं; ये जीव नहीं हैं। ये अंधकाररूप हैं। ये जानते नहीं है। जानते नहीं हैं, वे जाननेवाले से अलग हैं। कुछ समझ में आया ?

इन 'विभाव' को तो व्यभिचारी कहा है ! 'स्व-स्वभाव' ज्ञान और आनंद से परिपूर्ण प्रभु है ! इसमें विभाव के भाव को संयोगीभाव - व्यभिचारभाव कहा है। अरे ! शास्त्र में बुद्धि जाती है, उसको व्यभिचारिणी कहा है। लोगों को कठिन पड़ता है ! (और चिल्लाते हैं कि) एकांत है...एकांत है। (परंतु) बापू ! यह तो सम्यक् एकांत है। श्रीमद् में (पत्रांक ७०२ में) आता है : 'अनेकांतिक मार्ग भी सम्यक् एकांत ऐसे निजपद की प्राप्ति करवाने के अलावा अन्य किसी हेतु से उपकारी नहीं है।' (परंतु) लोग अनेकांत... अनेकांत के (नाम से) ऐसा कहते हैं कि : स्वभाव से लाभ हो और विभाव से भी लाभ हो, तो अनेकांत कहा जाए। एवं अपने उपादान से भी काम हो और निमित्त से भी अंदर (आत्मा में) काम हो, इसको अनेकांत कहते हैं। (लेकिन) यह अनेकांत नहीं है। यह तो एकांतिक मिथ्यात्वभाव है। यह विभावभाव है। कुछ समझ में आया ?

(यहाँ कहते हैं :) 'सर्व विभावपरिणाम रहित हूँ, शून्य हूँ।' ऐसे (सर्व विभाव) परिणाम से तो 'मैं' रहित हूँ ! अब (जब) विभावपरिणाम से रहित हूँ (तब) विभावपरिणाम करते-करते इसको (जीव को) स्वभाव (कैसे) प्राप्त हो ?

बहुत कठिन काम, भाई ! इसको (पूर्व) आग्रह छोड़ना मुश्किल पड़ता है। (तीव्र) आग्रह तो अभवी ने भी छोड़ा था। तीव्र छोड़ा, मंद रह गया था - यह कोई बात नहीं है।

यहाँ तो विभाव नाम का अंश भी जिसके स्वभाव में नहीं है ऐसा यह 'भगवान आत्मा' स्वयं, स्वयं के अंदर के आनंद और ज्ञान की निर्मल पर्याय द्वारा प्राप्त हो सकता है। वहाँ 'इस प्रकार' मिल सकता है, ऐसा कहते हैं। बाकी तो किसी प्रकार से ('आत्मा') मिल नहीं सकता। (चाहे तो) करोड़ोंका - अरबों का दान दें; या करोड़ो के - अरबों के मंदिर बनवायें; या ग्यारह अंग, नौ पूर्व तक शास्त्र पठन करें, फिर भी आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

आहाहा ! श्रीमद् ने कहा है न..! 'यमनियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो; वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।' 'सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये; वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु (अभी) न पर्यो। अब क्यौं न विचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधनसें ?' -

२४ साल की उम्र में श्रीमद् ('श्रीमद् राजचंद्र) - पत्रांक - २६५ में) कहते हैं। आहाहा !' 'अब क्यों न विचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधनसें ? बिन सद्गुरु कोय न भेद लहे,...' आहाहा ! ज्ञानी में ज़रा-सा, निमित्तपना स्थापित किया है। लेकिन ज्ञानी उसको 'यह' समझाते हैं। उसकी आज्ञा का आराधन का अर्थ : वे (ज्ञानी) आज्ञा ऐसी करते हैं कि 'वस्तु का (स्वभाव का) आश्रय ले !' और 'वस्तु' में विभाव का अंश नहीं है, उसको प्राप्त कर।' ज्ञानी की आज्ञा का आराधन 'इसको' कहने में आता है। आज्ञा तो वाणी है; परंतु इसका कहने का भाव - सर्व ज्ञानियों का, तीर्थंकरों का केवलियों का कहने का आशय - 'वीतराग भाव' है। और 'वीतराग भाव' प्रगट होने के लिए 'स्वद्रव्य का आश्रय' है। आहाहा ! चाहे जो करें...चाहे जहाँ फिरे... (परंतु करना तो 'यह' है)।

यहाँ कहते हैं : चेतन भगवान विभावपरिणाम से शून्य है। (कहाँ ?) कि : ('**जगत्त्रये**') तीनों लोक में। नर्क में सातवीं नर्क के जीव हैं, किन्तु वे (जीव) ऐसे हैं। जीव 'इसे' कहें। अरे ! निगोद के ऐसे अनंत जीव हैं...प्रभु जो अभी तक त्रसपना प्राप्त नहीं कर पाये हैं और अभी अनंतकाल - भविष्य में त्रसपना पायेंगे भी नहीं, ऐसे जीव हैं। परंतु हैं तो वे (जीव) अंदर भगवानस्वरूप ही । पर्याय में फर्क है। लेकिन वह 'पर्याय' अंदर (- द्रव्यस्वभाव) में नहीं है। वास्तव में तो इस 'पर्याय को' द्रव्य स्पर्शता तक - छूता तक नहीं है। ऐसा जो भगवान पूर्ण आनंद, पूर्ण ज्ञान (स्वभावी) वह तीन लोक में है, ऐसा कहते हैं।

प्रश्न : अधोलोक में ऐसे जीव हैं परंतु ऊर्ध्वलोक में, ऐसे (निगोद के) जीव होते हैं ? क्योंकि वहाँ तो सिद्ध भगवान बिराजमान हैं !

समाधान : सिद्ध (भगवान) बिराजते हैं वहाँ (भी) निगोद के अनंत जीव हैं। जहाँ सिद्ध भगवान इस (आत्मा के) आनंद के अनुभव में बिराजमान हैं, वहाँ उनके क्षेत्र में अनंता निगोद के जीव हैं।

सिद्ध भगवान आनंद का वेदन करते हैं। (परंतु) उनके क्षेत्र में (आकाश अपेक्षा से) स्थित निगोद के जीव दुःख का वेदन करते हैं। फिर भी ये जीव हैं वे तो तीनों लोक में, ऐसे शुद्ध (स्वरूपी) हैं। पर्याय में भले वेदन अल्प-ज्यादा-विशेष - किसी भी प्रकार का हो।

आहाहा ! ('**सर्वे जीवाः**') ऐसा कहकर 'एक जीव है' इस बात का (-मान्यता का) उत्थापन किया। एवं ('**जगत्त्रये**') (कहकर) 'तीन लोक में (जीव) नहीं है, किन्तु अमुक जगह में ही (जीव) हैं' इसका (-ऐसे मत का) भी उत्थापन किया।

(यहाँ) कहा न...! ऊर्ध्व, मध्य और अधो - तीनों लोक में (अनंत जीव हैं)। नर्क सात हैं। इसके नीचे निगोद है। पूरे लोक में ऐसे (निगोद के) जीव अनंतानंत हैं। तीनों लोक में एक अंगुल के असंख्यात वें भाग (क्षेत्र) में जीवों की संख्या अनंतानंत है। निगोद में जीव की पर्याय भले निम्न - अक्षर के अनंत वें भाग की हो जाए, किन्तु तीनों लोक

में, ये सारे जीव तो ऐसे (परिपूर्ण 'प्रभु') ही हैं।

('**कालत्रयेपि**') तीनों काल में ये (जीव) तो अंदर ऐसे ही 'प्रभु' हैं। वर्तमान काल में अथवा होंगे तब, ऐसा नहीं। पंचम आरा (काल) का अंतभाग इतना आकरा (कर्रा) और छठा आरा तो ऐसा है न...! चाहे जो आरा हो और चाहे जो काल हो... परंतु तीन लोक-तीन काल में भगवानस्वरूपी 'आत्मा' जैसा कहा वैसा शुद्ध चैतन्यघन है। आहाहा ! यह भगवानआत्मा अंदर है, वह तो ऐसा है ! वह भगवत्स्वरूप है। पर्याय में चाहे जितने (परिवर्तन) हो; किन्तु 'प्रभु' स्वयं स्वरूपमें से तीनों काल में (कभी) हिलता (चलित होता) नहीं है। आहाहा ! ऐसा यह आतमदरबार है ! कुछ समझ में आया ?

('**शुद्धनिश्चयेन**') तीनों लोक में - तीनों काल में किस दृष्टि से ('आत्मा' ऐसा भगवत्स्वरूपी है ?) -पर्यायदृष्टि से नहीं। शुद्ध निश्चयनय से (ऐसा है)।

'समयसार' में '**भूतार्थं आश्रितः**' समकित कहा है न...! यह '(आत्मा)' भूतार्थ है, यह शुद्ध निश्चयनयका विषय है, ऐसा कहो; अथवा (इसे) शुद्ध नय कहो। ११वीं गाथा में ऐसा कहा : '**भूयत्थमस्सिदो खलु**' '**भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।**' जो त्रिकाल आनंदकंद प्रभु, अनंत गुणका पिण्ड, स्वभाव की मूर्ति - यह भूतार्थ है। और यही शुद्धनिश्चय है, यही भूतार्थ है। भूत अर्थात् साक्षात् पदार्थ है, साक्षात् (चीज़ है, अस्ति-हाज़िर है - इसे यहाँ शुद्ध नय कहा है। यहाँ तीसरे पद में थोड़ा नय का और नय-विषय का भेद किया। पहले पद में ऐसा कहा : '**व्यवहारोऽभूयत्थो**' पर्याय मात्र अभूतार्थ है। त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि कराने हेतु, सम्यक्त्व का प्रयोजन सिद्ध होने हेतु, त्रिकाली चीज़ है, वह मुख्य और निश्चय है; और पर्याय मात्र को गौण करके, नहीं है और अभूतार्थ है, ऐसा कहने में आया है। फिर कहा: '**भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' भूतार्थ त्रिकाल है, त्रिकाल चीज़ है, वही सत्य है। पर्याय असत्य है, ऐसा कहा। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? फिर कहा : '**भूयत्थमस्सिदो**' उस त्रिकाली का आश्रय ले; ऐसा जो (आत्मा) कहा, इसका आश्रय ले; तो सम्यग्दर्शन होवे।

भाई ! ऐसा बहुत सूक्ष्म है। अरे...रे ! (जीव) इस दुनिया में कहाँ पूछकर कहाँ की कहाँ जिंदगी गुज़ार देते हैं ! और मनुष्य का आयुष्य पूरा होने पर... कहाँ के कहाँ चले जाते हैं ! आहाहा ! जहाँ जाना है वहाँ (- आत्मा में) जाते नहीं ! (तो) फिर नहीं जाना है वहाँ जायेंगे। नरक और निगोद के भव कर-करके, बापू ! (दुःखी दुःखी हो जायेगा।)

प्रभु ! यहाँ तो कहते हैं कि : तीनों काल में - तीनों लोक में शुद्ध निश्चयनय से सभी जीव ऐसे प्रभु हैं। कथन सिर्फ निश्चयनय का नहीं किया, क्योंकि अशुद्ध निश्चयनय से रागादि हैं; अशुद्ध निश्चयनय से जीव में हैं। - ऐसा भी (शास्त्र में) कहने में आता है। जीव में पुण्य-पाप-संसार है, यह अशुद्ध नय (की अपेक्षा) से हैं। निश्चय की अपेक्षा से अशुद्धनय है वह व्यवहारनय होता है और व्यवहारनय यानी पर्यायनय होता है। (इस अशुद्ध निश्चयनय,

व्यवहारनय और पर्यायनय) - तीनों को निकाल देना। शुद्ध निश्चयनय से केवल ज्ञानरस और आनंदरस, ध्रुव - त्रिकाल है, जिसे जाननेवाला `शुद्ध नय' (ऐसा) जाने कि : इस शुद्ध निश्चयनय से `मैं ऐसा हूँ।' आहाहा ! शुद्ध निश्चयनय से `मैं ऐसा हूँ' - इसका नाम `सम्यक्‌दर्शन' और इसका नाम `आत्म-भावना'। आत्मा की `यह' भावना। `ऐसा हूँ' ऐसी दृष्टि और अनुभव वह (`आत्म-)भावना'। आहाहा ! आत्मा की चीज़ ऐसी है !

`मैं' ऐसा हूँ, तथा `सभी' जीव ऐसे हैं। सब भगवंतस्वरूप हैं। सभी जीव ऐसे परमात्मस्वरूपी हैं। चाहे तो निगोद के जीव की पर्याय अक्षर के अनंत वें भाग की (निम्न) हो, परंतु वस्तुस्वरूप से तो ऐसी चीज़ है। आहाहा ! ऐसे `आत्मा' का अनुभव करना - इसका नाम सम्यग्दर्शन और (जानना) सम्यग्ज्ञान। और इसमें जमना, इसका नाम सम्यक्‌चारित्र। बाकी तो सब बातें हैं।

(`**सर्वे जीवाः**') सभी जीव `ऐसे' हैं, परंतु ऐसे किस प्रकार से ? यह अब कहते हैं : सभी जीव `ऐसे' हैं, ऐसा (`**मनोवचनकायैः**') मन-वचन-काया से मानना। मन से भी ऐसा जानना, वाणी से भी ऐसा जानना और काया से भी यही कि ऐसे (परमात्मस्वरूपी) ही सारे जीव हैं।

(`**कृतकारितानुमतैश्च**') कृत-कारित-अनुमोदन से भी ऐसा ही कि सभी जीव शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, उदासीन... स्वसंवेदनगम्य और प्राप्य - प्राप्त होने योग्य हैं। ये समस्त जीव ऐसे (परमात्मस्वरूपी) हैं; करने में भी ऐसा, कराने में भी ऐसा, और अनुमोदन करने में भी ऐसा। व्यवहार करना, व्यवहार कराना और व्यवहार का अनुमोदन करना, यह बात छोड़ दी। कुछ समझ में आया ?

(`**इति निरंतर भावना कर्तव्याः**') ऐसी भावना निरंतर.... फिर किसी दिन एक क्षण इसका विचार किया, ऐसा नहीं।... निरंतर - अंतराल पड़े बिना - ऐसे भगवान त्रिकाली स्वभाव की भावना कर्तव्य है। निरंतर `यह' भावना कर्त्तव्य है - करने लायक है।

आहाहा ! व्यवहार करने लायक है और व्यवहार साधन से निश्चय होता है न..? बापू ! ये सब तो कथन हैं। वे तो व्यवहार का ज्ञान कराने हेतु (कथन) हैं। बाकी कर्त्तव्य तो `यह' (-`आत्म-भावना') है।

व्यवहार करने योग्य है और... व्यवहार से निश्चय होता है न...! ऐसा ज़ोर (वज़न) तू जो देता है न... उसमें तो इस परिपूर्ण परमात्मा का तू अनादर करता है !

आहाहा ! क्योंकि निरंतर (`यह' आत्म-)भावना कर्त्तव्य है। अंतराल न पड़े, इस प्रकार (निरंतर) इसकी भावना - एकाग्रता करने योग्य है ! (सभी बात का) जोड़ `यह' है।

- दो व्याख्यान हुए इसके।

❁ ❁ ❁

``श्रीमद् राजचंद्र''

`बोधवचन'

[स्वद्रव्य अन्य द्रव्य के बोल]

क्रमांक : १०८ से ११७

(१७ वें साल के पूर्व)

१०८ स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें।

१०९ स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हों।

११० स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्र हों।

१११ स्वद्रव्य के धारक शीघ्र हों।

११२ स्वद्रव्य के रमक शीघ्र हों।

११३ स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्र हों।

११४ स्वद्रव्य की रक्षकता पर ध्यान रखें (दें)।

११५ परद्रव्य की धारकता शीघ्र छोड़ें।

११६ परद्रव्य की रमणता शीघ्र छोड़ें।

११७ परद्रव्य की ग्राहकता शीघ्र छोड़ें।

स्वद्रव्य अन्य द्रव्य के बोल

प्रवचन क्रमांक-१ ता - २६-१-१९७८

श्रीमद् के १७ वें साल पूर्व के - शरीर की उम्र १७ वर्ष, उससे पहले (के) - ये शब्द हैं। ('बोधवचन' १०८ से ११७ तक) दस बोल हैं। प्रथम आवृत्ति में नहीं थे, दूसरी आवृत्तिमें प्रकाशित हुए हैं।

'**स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें।**' पहला शब्द यह है। स्वद्रव्य - भगवानआत्मा; द्रव्य इसे कहें। अकेला स्वभाव त्रिकाली, आनंद आदि स्वभाव का पिण्ड, वह द्रव्य। आहाहा ! यहाँ तो '**स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें** !' बस ! राग आदि परद्रव्य हैं, ऐसा यहाँ कहना है। व्यवहार रत्नत्रय का राग है, यह भी परद्रव्य है, इसे भिन्न देखें। स्वद्रव्य तो चैतन्यघन पूर्ण आनंदस्वरूप ध्रुव। इससे रागादि सब परद्रव्य हैं, पुद्गल हैं; ऐसा कहा है न...! कुछ समझ में आया ?

श्रीमद् राजचंद्र ने छोटी उम्र में - १७ साल की उम्र के पूर्व - 'यह' लिखा है। आत्मज्ञान - आनंद का अनुभव तो बाद में २४वें वर्ष में (विक्रम संवत - १९४७ में) हुआ। इसके पूर्व 'यह' लिखा है ! पूर्व का जातिस्मरण (ज्ञान) बहुत था - पूर्व के अनेक भवों का ज्ञान था तो थोड़े शब्दो में ऐसा लिखा : '**स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें।**' सूक्ष्म बात है, प्रभु ! स्वद्रव्य अर्थात् आनंद और ज्ञान आदि अनंत शक्तियों का पिण्ड।

आकाश के प्रदेश अनंत हैं, उससे अनंतगुने गुण एक द्रव्य में हैं। आकाश है - लोक और अलोक, सब आकाश के प्रदेश (कि जिसका) अंत नहीं है। अनंत...अनंत...अनंत... जिसके प्रदेश हैं। (एक परमाणु जितना (क्षेत्र) घेरे, उसको प्रदेश कहें, तो ऐसे अनंत प्रदेश आकाश के हैं।) उनसे अनंतगुने गुण एक आत्मा में हैं। (तथा) इतने ही अनंतगुने गुण एक परमाणु में हैं। परमाणु में जड़ (गुण) हैं और भगवानआत्मा में चैतन्य-आनंद है, ऐसे अनंत गुण इसमें हैं। तो कहते हैं कि : अनंत गुण का पिण्ड ही द्रव्य - वस्तु (स्वद्रव्य) है, उसे अन्य द्रव्य से (भिन्न देखें)।

'समयसार' अजीव अधिकार में तो ऐसा लिया है कि : राग आदि जो व्यवहार-विकल्प उठते हैं, वे भी अजीव हैं, वे पुद्गल के परिणाम हैं। 'इन्हें पुद्गल के परिणाम कैसे कहा ?' ऐसा प्रश्न (एक विद्वान ने) किया था। (समाधान :) अंतर चीज़ भगवान आनंदकंद प्रभु सच्चिदानंदस्वरूप है, इसमें से राग जो है, वह निकल जाता है। सिद्ध भगवान में राग नहीं है। क्योंकि उसका (आत्मा का वह) स्वभाव नहीं था। अपने स्वभाव

में राग है ही नहीं। इस अपेक्षा से भगवान परमात्मा ने कहा है। - यह बात इन्हें (श्रीमद्‌जी को) पूर्व भव के जातिस्मरण में आई थी। इसलिये यह पहला बोल इस प्रकार लिया। भगवंत ! यह सब ज़रा शांति की बात है, प्रभु !

स्वद्रव्य अनंतगुण का पिण्ड ! जिसमें व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प भी परद्रव्य कहने में आता है; ऐसी बात है !! ऐसा स्वद्रव्य, अन्य द्रव्य भिन्न-भिन्न देखें। आहाहा !

यह शरीर तो जड़ है, धूल-मिट्टी है। अंदर कर्म जो हैं वे अजीव, धूल-मिट्टी हैं। लेकिन पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव को भी परमार्थ से तो भगवान ने अन्य द्रव्य में गिने हैं। क्योंकि सम्यक्‌दृष्टि की दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर जमी है। सम्यग्दर्शन पर्याय है, किन्तु उसका जो विषय है वह ध्रुव है। वह तो अनंत गुण का पिण्ड वस्तु-द्रव्य है। आहाहा ! उसको यहाँ स्वद्रव्य कहने में आया है। सूक्ष्म बात, भगवान ! उस अन्य द्रव्य और स्वद्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें।

प्रश्न : ऐसा कब देखने में आता है ?

समाधान : निमित्त की दृष्टि छोड़कर; राग का विकल्प जो शुभ-अशुभ है, उसकी दृष्टि छोड़कर; एक समय की पर्याय का अंश है, उसकी दृष्टि भी छोड़कर; सम्यक् एकांतरूप आनंदकंद प्रभु, अनंत-अनंत गुण - अपरिमित शक्ति का भंडार भगवान, उसे स्वद्रव्य देखें। तथा राग आदि विकल्प को परद्रव्य देखें। वह अपनी चीज़ में नहीं है।

भगवान कुंदकुंदाचार्य के 'समयासर' की यह पुकार है कि अपनी चीज़ में पुण्य और पाप, शुभ व अशुभ राग नहीं है, इन्हें तो परद्रव्य में गिने गये हैं। क्योंकि जिस प्रकार परद्रव्य भिन्न हो जाता है, उस प्रकार वह राग भी अनुभव में भिन्न हो जाता है। आहाहा...हा !

सम्यग्दर्शन के अनुभव में भगवानआत्मा, स्वद्रव्य चैतन्यचमत्कार वस्तु (है)। दुनिया के चमत्कार तो सब व्यर्थ हैं। यह चेतनवस्तु इतने छोटे क्षेत्र में रहती है। अरे ! निगोद के जीव प्याज़ और लहसुन (में) अंगुल के असंख्य वें भाग में असंख्य शरीर हैं, एक-एक शरीर में अनंत जीव हैं। अंगुल के असंख्यात वें भाग में, वे (निगोद जीव) यहाँ सब ज़गह भरे हैं। भगवान ! एक-एक कण में, इसी क्षण में यहाँ पर अनंत निगोद हैं। उस एक-एक निगोद (के शरीर में) अनंत जीव हैं; और एक-एक जीव वर्तमान रागादि की पर्याय से भिन्न है। आहाहा ! तो अपने द्रव्य को भी ऐसा देखें तथा परद्रव्य को भी ऐसा देखें।

प्रभु अंतरात्मा आनंदस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन, उसकी दृष्टि में स्वद्रव्य और परद्रव्य भिन्न-भिन्न देखने में आते हैं। राग को व्यवहार कहने में आता है। व्यवहार रत्नत्रय का

विकल्प है वह राग है, उसको भी यहाँ तो परद्रव्य गिनने में आया है। 'समयसार' के अजीव अधिकार में, कर्ता-कर्म अधिकार में - सब में 'राग' को तो परद्रव्य में - पुद्गल के परिणाम में गिनने में आया है। आहाहा !

धर्म की - मोक्षमहल की पहली सीढ़ी... ऐसा 'छह ढाला' में आता है : 'मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चारित्रा।' - ऐसा सम्यग्दर्शन - अनुभव - आत्मा के आनंद का अनुभव - इस सम्यग्दर्शन का विषय है 'द्रव्य'। सम्यग्दर्शन है 'पर्याय'। सम्यग्दर्शन कोई गुण नहीं है। गुण तो त्रिकाल है और द्रव्य भी त्रिकाल है। त्रिकाली का अंतर में अनुभव होना, अंतर में अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आना, उसमें प्रतीति होनी - उसका नाम सम्यग्दर्शन है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसके लिये प्रथम यह परिभाषा है : '**स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें।**'

आहाहा ! भगवान ! 'समयसार' की ७२वीं गाथा है; वहाँ तो आचार्यदेव 'भगवान' कहकर बुलाते हैं। ७२ वीं गाथा में पहले तो ऐसा लिया है कि : प्रभु ! एक बार सुन तो सही। प्रभु ! ये जो शुभ-अशुभ भाव है वे तो अशुचि हैं, मैल हैं और मैलरूप अनुभव में आते हैं। पहला बोल अमृतचंद्र आचार्य की संस्कृत टीका में है। पुण्य व पाप, शुभ व अशुभ भाव अशुचि है, मैल है, अजीव है, पुद्गल - परिणाम है। और भगवानआत्मा निर्मलानंद प्रभु ज्ञानरस - आनंदरस - अविकारी शांतरस का कंद प्रभु है। आहाहा ! उसको 'भगवान' कहकर बुलाया है। दूसरे बोल में कहा कि शुभ-अशुभ भाव तो जड़ है। क्योंकि उसमें ज्ञान व आनंद का अंश नहीं है। शुभ और अशुभ भाव में ज्ञान-चेतन की किरणें नहीं हैं, अतीन्द्रिय आनंद का अंश नहीं है, इस वज़ह से पुण्य व पाप भाव को, शुभ-अशुभ भाव को जड़ कहा है। प्रभु (भगवानआत्मा) विज्ञानघन है, आनंद का कंद है। आहाहा ! वह कहा था न...? जिस प्रकार शकरकंद है उसका ऊपर का छिलका है, उसको न देखें तो अंदर जो कंद है; उसका पूरा दल शक्कर की मिठास का पिण्ड है और जो छिलका है वह भिन्न है; उसी प्रकार भगवानआत्मा पुण्य व पाप के (भाव से भिन्न है)। प्रभु ! बात तो सूक्ष्म है, क्या करें ? शुभ व अशुभ भाव जड़ हैं। यह (शरीर) तो जड़ है ही। वह तो धूल-मिट्टी है। प्रभु ! यहाँ तो 'भगवान' कहकर ही बुलाते हैं। आहाहा !

बच्चे की माँ पालना झुलाते-झुलाते उसके बख़ान करती है - प्रशंसा करती है तो वह, अव्यक्तरूप से (बच्चे को) ठीक लगता है और सो जाता है। यहाँ संत-महामुनि 'भगवान' कहकर इसे जगाते हैं। अरे ! जाग रे जाग, नाथ ! तू तो चैतन्य व आनंद की ऋद्धि का भंडार ! प्रभु ! तू राग में क्यों अटक गया ? राग तो जड़ है और

अचेतन है न...? - उसमें तो आत्मा की शांति और आनंद का अंश नहीं, इस कारण से शुभ-अशुभ भाव दोनों को जड़ कहा। भगवानआत्मा को चैतन्यमूर्ति कहा - वह स्वद्रव्य यह (है)। कुछ समझ में आता है ?

('समयसार') ७२ गाथा में, तीसरे बोल में ऐसा लिया कि : शुभ व अशुभ भाव दुःख है। राग है वह दुःख है, प्रभु ! आत्मा तो अतीन्द्रिय आनंद की मूर्ति प्रभु है। उस अतीन्द्रिय आनंद की मूर्ति से राग विरुद्ध है; इस कारण से दुःख है, और इससे भिन्न, भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का कंद है ! आहाहा !

परंतु यह 'दृष्टि' भाषा द्वारा समझ में आये कैसे ? - अंतर में - दृष्टि में राग से भिन्न होकर, भगवान (आत्मा) को स्वद्रव्य जानकर अनुभव करें; और राग को परद्रव्य जानकर (भिन्न) जाने। सम्यग्दृष्टि राग को परद्रव्यरूप जानते हैं। - इस प्रकार (स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य) भिन्न-भिन्न देखें। ऐसा अर्थ 'इस' शब्द का है। 'स्वद्रव्य' शरीर प्रमाण होने पर भी शरीर से भिन्न और पूरे आत्म-प्रदेश में कर्मवर्गणा - रजकण है, तो भी उससे भिन्न (है)। तथा राग भी समूचे आत्मा की पर्याय में है, उससे भी भिन्न 'चेतनद्रव्य' है। इस चेतनद्रव्य की अंतर्दृष्टि करना। आहाहा ! यह अनंतकाल में किया नहीं; इसके सिवा, बहुत कुछ किया। स्वर्ग भी अनंतबार मिला। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि अनंतकाल में एक बार मनुष्य-भव मिले - ऐसे मनुष्य-भव अनंत किये। उससे असंख्यगुने नारकी के अनंत भव किये। आहाहा ! वे नरक के दुःख...प्रभु ! क्या कहते हैं - एक क्षण में तूने जो दुःख सहे भगवान, उसको करोड़ जीभ द्वारा करोड़ भव में भी कहे नहीं जा सकते; ऐसे दुःख तूने सहन किये हैं। प्रभु ! ऐसे भव भी मनुष्य-संख्या के मुकाबले असंख्यगुने अनंत किये। और उससे असंख्यगुने अनंत भव स्वर्ग के किये। तो स्वर्ग में क्या कोई पाप करके जा सकता है ? मिथ्यादृष्टि होकर, पुण्य करके, अनंतबार स्वर्ग में गया। ऐसा अनंतबार हुआ। लेकिन सम्यग्दर्शन नहीं पाया। वह दृष्टि (प्राप्त नहीं की)। अंदर वस्तु क्या है ? स्वद्रव्य क्या है ? (-उसका यथार्थ निश्चय किया नहीं)। और परद्रव्य का भेदज्ञान कभी किया नहीं।

परमात्मा ऐसा कहते हैं : '**भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।**' प्रभु भगवान तो महाविदेह में बिराजमान हैं। वहाँ दो हज़ार वर्ष पूर्व, संवत ४९ में कुंदकुंदाचार्य गये थे। वहाँ से लौटकर 'यह' संदेश लाये। ('समयसार') पाँचवीं गाथा में कहा (है) कि : प्रचुर स्वसंवेदन जिसकी मुहरछाप है; वह मेरे मुनिपना का - भावलिंग का वैभव है, अनुभव की मुहरछाप क्या ? कि : अतीन्द्रिय आनंद उसकी मुहरछाप है। कुंदकुंदाचार्य ऐसा कहते हैं कि : मेरे अंतर आनंद का वेदन जो प्रचुर है, उसके बल पर मैं कहता हूँ कि :

स्वद्रव्य - अन्य द्रव्य भिन्न-भिन्न है, ऐसा जो है, वैसा ही प्रभु तू देख न...! एक बार वहाँ नज़र तो कर ! आहाहा ! भगवान आनंद का नाथ अंदर बिराजमान है। अतीन्द्रिय आनंद का रसकंद है। - इस स्वद्रव्य से; परद्रव्य - रागादि, व्यवहार रत्नत्रय, विकल्प आदि मन, वाणी, देह, कर्म इन परद्रव्य को - भिन्न देखें। इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ? सूक्ष्म बात है, प्रभु ! यहाँ तो हम सभी आत्मा को अंदर में प्रभुरूप देखते हैं। (संसारी जीव को) इसकी खबर नहीं है। एक बोल हुआ।

दूसरा बोल : '**स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हों।**' अपना स्वरूप चिदानंद आनंदकंद प्रभु, जो विकल्प अर्थात् राग से भिन्न ऐसा जो स्वद्रव्य है, उसके रक्षक हों । आहाहा ! (यह) स्वदया। भगवानआत्मा - स्वद्रव्य के रक्षक (हो जाओ)। पर के रक्षक तो हो सकते ही नहीं, क्योंकि परद्रव्य तो स्वतंत्र - भिन्न है। उसकी दया के भाव आवें, मगर वह राग है।

आहाहा ! 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय' में राग को हिंसा कहा है। पर की दया का तो पालन नहीं कर सकते; क्योंकि उसका आयुष्य न हो तो मरण और आयुष्य हो तो मरण नहीं होता। अपने कारण से वह है। तेरे कारण से दया से ऐसा हो जाये, ऐसा तो है नहीं।

यहाँ कहते हैं कि : तेरा रक्षक तू है। सूक्ष्म तो है प्रभु ! यह भाषा सूक्ष्म है। बहुत सूक्ष्म है। अरूपी भगवान अंदर देहदेवल में, भिन्न भगवान, जिनस्वरूपी वीतरागमूर्ति, अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप, अनंत-अनंत ईश्वरी शक्ति से पूरा भरा पड़ा है।

'समयसार' में आखिर में ४७ शक्तियाँ हैं न...? ऐसी तो अनंत हैं। परंतु नाम ४७ दिये हैं। (उसमें) एक सातवीं प्रभुत्वशक्ति है। जीवत्वशक्ति, चिति, दशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, सर्वदर्शित्व, सर्वज्ञत्व इत्यादि ४७ शक्ति हैं। इस प्रभुत्वशक्ति का अर्थ : तेरे में ईश्वरशक्ति पूर्ण पड़ी है। अन्य कोई तेरा ईश्वर नहीं है। कुछ समझ में आता है ?

स्वद्रव्य के रक्षक अर्थात् रक्षा (करनेवाला)। रक्षा का अर्थ : जैसी पूर्णानंदरूपी वस्तु है; ऐसी अंदर में प्रतीति और ज्ञान की वर्तमान पर्याय में वह ज्ञेय ! जो वस्तु है, वह पर्याय में नहीं आती किन्तु पर्याय में वह जानने में आवें (तो) इसे जीवद्रव्य की रक्षा की, ऐसा कहने में आया है। आहाहा !

दूसरा बोल है न...! '**स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हों।**' अरे आज ही हो जाओ ! ऐसा कहते हैं। 'प्रवचनसार' में अंतिम श्लोक है उसमें अमृतचंद्राचार्यदेव (ऐसा कहते हैं कि :)

`आज'। प्रभु ! तुमको जिसकी रुचि होवे, उसके लिये वायदे नहीं होते। प्रभु ! यह तो तेरी चीज़ अंदर है न नाथ ! वह पूर्ण आनंदस्वरूप है। भगवान ! तेरे में विद्यमान है। प्रत्यक्ष चीज़ है अंदर, उसकी त्वरा से रक्षा कर। रक्षा अर्थात् `है' ऐसा अनुभव कर। जितना (बड़ा) है, उतना न मानकर, `मैं एक पर्याय जितना हूँ', राग जितना हूँ' ऐसा मानना, यह जीव की हिंसा है। हिंसा का अर्थ : जैसी जीवनज्योति चैतन्यमूर्ति भगवान है, `उसका अस्वीकार करना' यही उसकी हिंसा है। और `जैसा है ऐसा अनुभव में - दर्शन में - ज्ञान में लेना' इसका नाम रक्षा है।

आहाहा ! कुछ समझ में आता है ? सूक्ष्म बात है, प्रभु ! जिस सँड़सी से सर्प पकड़ने में आवें, उससे क्या मोती पकड़ सकते हैं ? `पुण्य-पाप अधिकार' में तो शुभ-अशुभभाव को स्थूल कहा है। स्थूल परिणाम से भगवानआत्मा जानने में नहीं आता। शुद्ध उपयोग से वह जानने में आता है। पुण्य व पाप के भाव अशुद्ध उपयोग है।

भगवान ! तेरी रक्षा करनी हो, स्वयं का रक्षक होना हो तो शीघ्र अर्थात् उग्र (पुरुषार्थी) हो जा ! कल करुँगा... परसों करुँगा, ऐसा नहीं; प्रभु ! कब आँखें बंद हो जायेगी और देह को छोड़कर चला जायेगा ! यहाँ कहते हैं : `**स्वद्रव्य के रक्षक (शीघ्र हों)।**'

यहाँ तो `घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन; मति-मदिरा के पानसौं, मतवाला समुझै न।' (मतवाले का) अभिप्राय झूठा है। यह अंदर जिनस्वरूपी वस्तु, प्रभु बिराजमान है। यदि शक्तिरूप में जिनस्वरूपी वस्तु न हो तो प्रगटरूप दशा आयेगी कहाँ से ? जो वीतराग, सर्वज्ञ होते हैं, वे आत्मा में जो सर्वज्ञ नामका गुण है, शक्ति है उसके आश्रय से - ध्यान से सर्वज्ञ होते हैं। वीतरागस्वरूप ही - जिनस्वरूप ही - घटघट अंतर (में) है। आहाहा ! अमृतचंद्र आचार्य के कलशोंमें से `समयसार नाटक' (पं. बनारसीदासजी ने) बनाया है। `घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन।' किन्तु `मत-मदिरा के पानसै' - स्वयं के (विपरीत) अभिप्राय की शराब पीया हुआ - `मतवाला समुझै न।' अपने अभिप्राय के जोश में (वे) मतवाले, इस चीज़ (स्वद्रव्य) को जान नहीं सकते। अंतर में अनुभव नहीं कर सकते। उसका (स्वद्रव्य का तू) अनुभव कर ! समझ में कुछ आता है ?

`**स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हों।**' शीघ्र करो... जल्दी करो। इसमें देर क्या ? प्रभु ! जिसकी रुचि है उसके वायदे क्या ? `प्रवचनसार' के अंतिम कलश में `आज' शब्द पड़ा है। आज करो... आज ही करो। यहाँ `शीघ्र' शब्द लिया है। आज ही उसकी विद्यमानता परिणत हो जाओ। `अद्य' शब्द है। दूसरे श्लोक में भी है : इस चित्स्वरूप भगवान आत्मा

का आज ही आत्यंतिक रूप से अनुभव करो, आज ही अनुभव करो।

दिगंबर संतों की वाणी तो देखो ! (अन्यत्र ऐसी बात) कहीं नहीं है। दृष्टि विपरीत होने पर श्वेतांबर मत तो, भगवान (महावीर) के पश्चात्, ६०० साल बाद निकला है। और यह (दिगंबरमत) तो सनातन सत्य है। महाविदेह में साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्र देव सनातन बिराजते हैं। (वहाँ) समवसरण में इन्द्र जाते हैं, सिंह-बाघ (भी) जाते हैं।

यहाँ अमृतचंद्राचार्य, (`प्रवचनसार' में) ऐसा कहते हैं कि : `आज' प्रभु। `**शीघ्र**' का यह अर्थ है : इस आत्मा की रक्षा - दया - स्वदया शीघ्र करो। स्वदया अर्थात् अहिंसा। राग जो उत्पन्न होता है, वह हिंसा है। और अविकारी - अहिंसक - वीतराग पर्याय उत्पन्न हो, उसे भगवान ने `अहिंसा परमो धर्मः' कहा है। यह अहिंसा तो पर्याय है।

प्रश्न : यह पर्याय आई कहाँ से, क्या बाहर से आती है ?

समाधान : छोटी पीपर में चौंसठ पहरी चरपराहट भरी है। कद में छोटी और रंग में काली (है) परंतु अंदर चौंसठ यानी चौंसठ पैसे, यानी सोलह आना, यानी (पूरा) रुपया यानी पूर्ण चरपराहट भरी है और अंदर हरा रंग भरा है। ये चौंसठ पहर घोंटने से बाहर आते हैं। बाहर कहाँ से आई ? अंदर `है' इसमें से आई। घोंटनेसे आई हो तो लकड़ी और कोयले को घोंटने से (न) निकले ! परंतु हो नहीं तो कहाँ से निकले ? इस प्रकार इस स्वद्रव्य में पूर्ण आनंद व पूर्ण ज्ञान भरा है, इसमें यह रक्षा करो। इसकी रक्षा करके लीन हो जा तो तुझे शीघ्रता से केवलज्ञान - परमात्मदशा प्राप्त होगी। आहाहा ! तू तो परमात्मरूप ही है। अगर परमात्मस्वरूप न हो तो परमात्मा पर्याय में एन्लार्ज (प्रगट) कहाँ से होगा ? जिस पर्याय में परमात्मा होता है, वह क्या बाहर से आती है ? - शक्तिमें से व्यक्ति होती है।

यह शक्तिरूप जो स्वद्रव्य भगवान पूर्ण है, उसकी रक्षा करने में शीघ्रता करो। एकदम करो, शीघ्रता से करो; प्रभु ! प्रमाद न करो ! पर में अपनत्व की मान्यता छोड़ दे। तेरी चीज़ अंदर भगवान रूप में बिराजमान है, नाथ ! सब प्रभु हैं न...! शरीर को तथा इसे (राग को) न देखे तो अंदर आत्मा प्रभु ही है ! शकरकंद के छिलके को मत देखो, तो वह शकरकंद शक्कर का कंद - शक्कर का पिण्ड ही है। इस प्रकार शरीर, वाणी, मन, पुण्य-पाप के भाव न देखो तो अंदर में शीघ्रता से रक्षा करने पर वीतरागदशा उत्पन्न होती है। यह वीतरागदशा अंतर के स्वभावमें से आती है। आहाहा ! बात सूक्ष्म है, प्रभु ! क्या करें ? मार्ग तो `यह'। - `एक होय त्रण काल मां परमारथ नो पंथ'। (एक ही होता है तीनों काल में परमार्थ का मार्ग)

आहाहा ! तीन लोक के नाथ जिनेन्द्रदेव, वीतराग सर्वज्ञ अनंत तीर्थंकर हुए। तीनों काल में, तीनों काल के जाननेवाले का विरह नहीं होता। क्या कहा ? - तीनों काल में, तीनों काल के जाननेवाले का कभी विरह नहीं होता। सर्वज्ञ (तीर्थंकर) अनादि से हैं। एक (मोक्ष) जाए तो दूसरे देखें। सर्वज्ञ तो अभी (विद्यमान) हैं, अनादि से थे, अनंतकाल रहेंगे। तीनकाल - तीनलोक को जाननेवाले भगवान का विरह जगत में नहीं होता। विरह होता ही नहीं। महाविदेह में तो सर्वज्ञ हमेशा रहते हैं।

आहाहा ! उन भगवान की वाणी में ऐसा आया है। दिव्यध्वनि, वह ऐसी (छद्मस्थ जैसी) वाणी नहीं होती ! भगवान की ॐ ध्वनि - कंठ हिले नहीं, होठ हिले नहीं, पूरे शरीरमें से - ॐकार (नाद उठे)। 'मुख ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रुचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।' - (यह) 'बनारसीविलास' में बनारसीदास का वचन है। भगवान की वाणीमें से आगम की रचना हुई। आगम द्वारा भविकजीव - लायक प्राणी - मिथ्यात्व को - संशय को निवारे।

इसके सिवा तो दूसरी वाणी ही कहीं नहीं है। ऐसा मार्ग ही कहीं (अन्यत्र) नहीं है। वेदांत में तो बात की (कि) आत्मा ऐसा और वैसा... (सर्व) व्यापक है। श्वेतांबर में भी बहुत गड़बड़ है। सर्वज्ञ एक समय ज्ञान (द्वारा) जाने और (दूसरे) एक समय दर्शन (द्वारा) जाने (-देखे), ऐसा कहते हैं - यह बात झूठी है। भगवान को शरीर में रोग होता है और स्त्री (पर्याय में भी) भगवान होते हैं (मल्लिनाथ)। - ये सारी बातें झूठी हैं।

यहाँ तो परमात्मा अंदर स्व-रूप में बिराजमान (है), उसका शीघ्र रक्षक हो जा न...! यह तेरे करने लायक है, नाथ ! यह चीज़ (स्वद्रव्य) है न...प्रभु ! आहाहा ! '**स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हों।**' '**शीघ्र**' में बहुत ज़ोर है।

यह आत्मा जितना बाहर में प्रयत्न करता है, राग में प्रयत्न करता है, उससे अनंतगुना प्रयत्न स्व प्रत्ययी झुकाव में (होने योग्य) है कि जहाँ प्रभु के चरण पड़े हैं। ध्रुव...ध्रुव.. विद्यमान है। प्रत्येक समय की पर्याय ऊपर-ऊपर है और 'ध्रुव' पर्याय के समीप में, अंदर पूरा विद्यमान है। वह अनादि - अनंत जो वस्तु है उसको यहाँ 'स्वद्रव्य' कहते हैं। इसके रक्षक शीघ्र हो जाओ। दो बोल हुए।

तीसरा बोल : '**स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्र हों।**' आहाहा ! क्या कहते हैं ? तू आत्मा भगवान है न... नाथ ! प्रभु ! 'पूर्ण इदम्' ऐसे प्रभु में शीघ्र व्यापक हो जाओ। राग में - पुण्य-पाप में व्यापक हो रहा है। पर में तो कभी व्यापक हो ही नहीं सकता। जड़ में तो उसका अत्यंत अभाव है। एक अँगुली में दूसरी अँगुली का अभाव है, तभी तो वह अँगुली (भिन्न) रह सकती है। इसी प्रकार स्वद्रव्य में परद्रव्य का अभाव हो तो (ही) स्वद्रव्य

अपने में रह सकता है।

यहाँ कहते हैं कि : स्वद्रव्य में व्यापक हो जाओ। प्रभु ! तू अनादि से पुण्य व पाप के भाव में व्यापक है। तूने ऐसा अनंतबार किया। पुण्य किये तो स्वर्ग आदि मिले। पाप किये तो नरक मिला। परंतु यह शुद्धोपयोग अर्थात् स्वद्रव्य में व्याप्त होना - (व्यापक होना) - प्रसरना (- यह कभी किया नहीं)। आहाहा ! चैतन्यमूर्ति भगवान पूर्णानंद में प्रसर जा न... प्रभु ! तेरा पुण्य व पाप के विकार में प्रसरना, वह तो अनादि काल का संसार है। समझ में आता है कुछ ? तो अब स्वद्रव्य का व्यापक, व्यापक भी शीघ्रता से हो जा। जल्दी से। जल्दी कर...! समय मात्र का प्रमाद छोड़ दे, नाथ !

तेरी शक्ति अंदर में (पूर्ण है)। 'नाथ' किसे कहें ? कि : अपना जितना स्वरूप है, उसकी रक्षा करे; और पर्याय में अपूर्णता है, वहाँ पूर्णता की प्राप्ति करे; उसका नाम 'नाथ'। योगक्षेम का कर्ता - करनेवाले को 'नाथ' कहते हैं। जो पर्याय अंदर स्वरक्षा से उत्पन्न हुई - स्वव्यापकता से हुई, उतनी तो रखें। यह भी अभी पूर्ण ज्ञान व वीतराग हुआ नहीं है। इससे भी व्यापक होकर (अंदर) स्थिर हो जाए, उसे क्षेम कहने में आता है; उसे 'नाथ' कहने में आता है।

प्रभु ! तू नाथ है न...! तेरे में स्वस्वामित्वमयी संबंधशक्ति अंदर पड़ी है न...! तेरा पर के साथ संबंध है ही नहीं, प्रभु ! यह तो तूने मान रखा है। यह मान्यता तो अनादि से - अनंत काल से है।

यहाँ तो कहते हैं : '**स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्र हों।**' व्यापक अर्थात् प्रसरना। जिस प्रकार पानी है उसमें तरंग उठती हैं; उस प्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में एकाग्र होकर व्यापक होने से आनंद और ज्ञान की तरंगें उठती हैं, उसी पर्याय को व्यापक कहने में आता है।

आहाहा ! राग और पुण्य-पाप का व्यापक तो प्रभु ! अनंतबार हुआ, नाथ ! तेरे जन्म-मरण का अंत आया नहीं, नाथ ! यहाँ तो जन्म-मरण के अंत की बात है। प्रभु, तो फरमाते हैं : जल्दी कर न... प्रभु ! पूर्णानंद के नाथ में व्याप्त हो जा न...! उस में प्रसर जा न...! उसमें व्याप्त हो जा न...! तुझे अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आयेगा और तुझे शांति मिलेगी। ऐसा इस 'स्वद्रव्य के व्यापक' कहने का अर्थ है। विशेष कहेंगे...

❋ ❋ ❋

स्वद्रव्य अन्य द्रव्य के बोल

प्रवचन क्रमांक-२ ता - २७-१-१९७८

पहला सिद्धांत तो यह है कि : एक द्रव्य से अन्य द्रव्य का कुछ भी संबंध नहीं है। एक द्रव्य तथा दूसरे द्रव्य को बिल्कुल भिन्न-भिन्न देखो। इसका अर्थ क्या हुआ? कि : इस आत्मद्रव्य को तथा देव-गुरु-शास्त्र को भी भिन्न-भिन्न देखो, ऐसा हुआ न...? देव-गुरु-शास्त्र-त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर(देव), उनकी वाणी, शास्त्र रचनेवाले गुरु - ये पर द्रव्य हैं। तो (यहाँ) कहते हैं : '**स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें।**' - इसमें क्या कहा ? एक ही बात है। (भले) निमित्त हों, (परंतु) वे (निमित्त) क्या करते हैं, पर में कुछ कर सकते हैं ? चमत्कार तो यहाँ इसका है : स्वद्रव्य को अन्य द्रव्य से भिन्न देखें !

अब एक न्याय से यह लेते हैं कि ज़मीन को छूकरके पाँव चलता है क्या ? कि : नहीं। पाँव जमीन को छूता नहीं। एक द्रव्य को अन्य द्रव्य से भिन्न-भिन्न देखो। भाई ! ऐसी बात है !!

'**स्वद्रव्य और अन्य को द्रव्य भिन्न-भिन्न देखें।**' इसका क्या अर्थ हुआ ? - एक परमाणु को भी अन्य परमाणु से भिन्न देखो। यहाँ तो स्वद्रव्य की बात ली है। स्वद्रव्य माने वस्तु। 'वस्तु' किसे कहें ? कि : पूर्ण आनंदकंद अनंत गुण का पिण्ड वह 'स्वद्रव्य। राग और विकल्प ये यहाँ स्वद्रव्य नहीं हैं। ऐसी चमत्कारी वस्तु है।

अब चमत्कार (बाहर में) कहाँ देखने जैसा है ? इसे बाहर में ये पैसे मिले - धूल मिली; आशीर्वाद मिले और बाँझ को बेटा हो गया। ऐसा हुआ, - ये सब सर्वथा झूठी गप हैं !

आहाहा ! एक द्रव्य - स्वद्रव्य - अनंत गुणों का पिण्ड, शुद्ध चैतन्यघन, आनंदकंद जो सम्यग्दर्शन का विषय - ऐसा '**स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें।**' इसमें कितना समा दिया है !! एक स्वद्रव्य और अन्य (पर) द्रव्य। (भले ही देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति के भाव (हो), परंतु (वे) परद्रव्य में जाते हैं ! कुछ समझ में आता है? आहाहा ! है न...पुस्तक ? इसमें जो लिखा है वह 'यह'।

कहा न...? कि : जिसकी राग में रुचि है उसको (स्वद्रव्य) तिरोभूत है। आत्मा - ज्ञायक तो अनादि-अनंत है। लेकिन इसकी दृष्टि की अपेक्षा से (वह) तिरोभूत है, (हालाँकी द्रव्य) वह तो है सो है। वह कोई तिरोभूत या आविर्भूत नहीं होता। किन्तु जहाँ दृष्टि द्रव्य पर हुई, (वहाँ वह आविर्भूत हुआ, ऐसा कहने में आता है)। वह (तीसरा बोल) 'व्यापक'

में आयेगा। कुछ समझ में आता है ? आहाहा ! ऐसी बात है !! भगवान वीतरागस्वरूप ही ऐसा है।

किसी के कारण किसी को पैसे मिल जाये, किसी की कृपा से पुत्र हो जाये और किसी से यह हो जाए - सब गप्पेबाजी की बातें हैं।

श्रोता : आपकी कृपा से अनेक (लोग) पैसेवाले हुए हैं !

समाधान : वे सब अपनी पर्याय होने के काल में हुए हैं। डॉकटर कहते हैं कि (मेरे) खून में कुछ (खराबी) है; तो वह क्यों ठीक नहीं होती ? यहाँ तो यह महासिद्धांत एक चमत्कार है। यह चीज़ (-हाथ में जो लकड़ी की पट्टी) है, वह (इस) अँगुली द्वारा ऊँची हुई नहीं है और इस अँगुली ने इसे (पट्टी को) छूआ नहीं है। - यह चमत्कार नहीं है ? इस द्रव्य में तथा इस (दूसरे) द्रव्य में (परस्पर) अत्यंत अभाव है। इस अँगुली ने इसको छूआ नहीं। एवं यह (पट्टी) पुस्तक के ऊपर रही नहीं है; इससे (पट्टी से) पन्ना यों (स्थिर) रहा है; ऐसा (भी) नहीं है। आहाहा ! यह कैसी बात !!

जमीन को छूकर पाँव चलता है, ऐसा कहना यह भी व्यवहार का - अभूतार्थनय का कथन है। आहाहा ! भगवानआत्मा स्वद्रव्य और शरीर परद्रव्य; जमीन परद्रव्य; इनको भिन्न-भिन्न देखो। इसके कारण इसमें हुआ - ऐसा मत देखो। आहाहा ! कठिन कार्य है, बापू ! यह चमत्कार है। बाकी सब चमत्कार की बातें करें : इससे ऐसा हुआ और इसमें से ऐसा हुआ। (सब बेकार) !

यहाँ तो कहते हैं कि : स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य। अन्य द्रव्य में - भगवान आ गये, सिद्ध आ गये, पंच परमेष्ठी आ गये। आहाहा ! `श्रीमद् १७ साल (की वय से) पहले ऐसा कहते हैं। कुछ समझ में आता है ?

आहाहा ! यह चमत्कार है न...! कि : एक द्रव्य में जो पर्याय होती है उस पर्याय को द्रव्य का भी आश्रय नहीं ! आश्रय कहने में आता है वह तो लक्ष करती है इसलिये। किन्तु लक्ष करती है, वह स्वतंत्र स्वयं लक्ष करती है या चीज़ है इसलिये लक्ष करती है ? क्या कहना है, वह समझ में आया ? वर्तमान पर्याय स्व-भगवानआत्मा - प्रति लक्ष करती है, इसलिये ऐसा बोलने में आया कि इसके (आत्मा के) आश्रय से (समकित) होता है। परंतु लक्ष किया है किसने ? वह द्रव्य है, इसलिये उसकी पर्याय ने लक्ष किया ? - इस पर्याय की स्वतंत्रता ऐसी है कि लक्ष करने की योग्यता पर्याय में थी, इसलिये (लक्ष) हुआ है। उस पर्याय को जहाँ द्रव्य का भी आश्रय नहीं है अर्थात् द्रव्य के कर्ता-कर्म षट्कारक के कारण - उसके कारण - पर्याय का षट्कारक (रूप) परिणमन नहीं है। (वहाँ) अब इसे (स्वद्रव्य को) परद्रव्य की पर्याय का - परद्रव्य का कारण मानना -

यह नितांत मिथ्यात्व - भ्रम है। कुछ समझ में आता है ?

यहाँ तो ऐसी स्पष्ट बात है। (लोगों को यह) बात दूभर लगे, पर क्या (करें)? वस्तु ऐसी है। वस्तु की मर्यादा ही इस प्रकार है। एक द्रव्य में दूसरा द्रव्य संक्रमित हुए बिना कर क्या सके ? (इसमें) आया न...! कर्ता-कर्म (षट्कारक)। आहाहा ! यह कपड़ा इस ठवनि पर व्यवस्थित बिछाया हुआ है, वह इस ठवनि के कारण टिका हुआ नहीं है; वहाँ पर उस समय की वह पर्याय, कर्ता-कर्म-साधन (षट्कारक)से उस क्षेत्र में (उस प्रकार से) स्वयं के द्वारा हुई है। आहाहा ! यह चमत्कार नहीं है क्या ? किसने यह (पुस्तक) तैयार की ? - किसीने (की-) करवाई नहीं है, वह उसके कारण हुई है। (कोई) कल कह रहा था (कि) ये सब आपने करवाया !! (परंतु) कहा : भाई ! कौन कराये? हमने तो कभी कहा नहीं कि स्वाध्यायमंदिर बनाओ, मंदिर बनाओ, मंदिर बनाओ या यह बनाओ; और (यदि) कहे इसलिये बनता है क्या ? और बनवानेवाला वहाँ खड़ा होता है इसलिये बनता है ? (- ऐसा नहीं है) ऐसी बातें हैं !

'**स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें।**' प्रभु ! तेरी प्रभुता इसमें है। तेरा माहात्म्य इसमें है। स्वद्रव्य को अन्य द्रव्य के साथ कोई संबंध (है ही नहीं)।

'समयसार' श्लोक - २०१ में भी कहा है '**सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः**' तो इसका क्या अर्थ हुआ ? कि : भाई ! यह लकड़ी है, वह नीचे (जमीन के) कारण रही है ? - ऐसा नहीं है; इसका (जमीन से) संबंध ही नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक का संबंध - यानी कि संबंध नहीं। कुछ समझ में आया ?

'**स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को (भिन्न-भिन्न देखें)।**' (श्रीमद्जी ने) १७ साली की आयु से पहले 'यह' कहा है ! आत्मा को कहाँ उम्र लागू होती है ? और श्रीमद्जी का क्षयोपशम तो - उस समय तो - मेरे हिसाब से तो - उनके बराबर क्षयोपशम किसीका था नहीं। वह एक ही पुरुष था। भले उनकी ज़रा श्वेतांबर व दिगंबर की भिन्नता में तनिक (सार्वजानिकरूप में स्पष्टता की कमी / क्षति किसीको दिखाई दे) परंतु उनका ज़ोर तो स्वभाव पर था न...! इसलिये ज्यादा बाहर में (प्रसिद्धि में) नहीं आये और उस समय ऐसा प्रसंग भी नहीं था। बाकी इनके जैसा क्षयोपशम किसी पुरुष का था ही नहीं। भले अन्य अभिमानी लोग (भ्रम से) माने; परंतु १७ वें वर्ष में तो 'यह' कह रहे हैं ! अभी तो पैदा होकर ज़रा बड़े ही हुए हैं। बालक हैं... शरीर हं...!

आहाहा ! 'एक ही सिद्धांत' इसका यथार्थ निश्चय रखें (कि) एक द्रव्य का अन्य द्रव्य कुछ कर सकें ऐसा तीन काल में बनता नहीं। आहाहा ! '**स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न - भिन्न देखें।**' - (श्रीमद्जी ने) यह पहला महाभेदज्ञान करवाया है।

(श्रीमद्‌जी का) क्षयोपशम बहुत था और `**एकावतारी हो गये हैं, इसमें दो राय नहीं है।**' एक भव करके मोक्ष जायेंगे, ऐसी शक्ति - ताकत लेकर गये हैं। दुनिया उन्हें पक्ष से देखें न देखें - यह दूसरी बात है; वस्तुस्थिति ऐसी है। इसका फिर प्रमाण क्या? - ऐसा (प्रमाण) कोई माँगता है। ....अरे भगवान ! बापू !

आहाहा ! यहाँ कहते हैं कि `**स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें।**' (आगे कहा) `**स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हों।**' अब शब्द बदला है। `**स्वद्रव्य के रक्षक**' यानी स्वद्रव्य की रक्षा हेतु तत्पर हो जाओ। रक्षक शीघ्र हो जाओ। वह (स्वद्रव्य) ज्ञान और सहजानंद प्रभु है, उसकी रक्षा हेतु शीघ्रता करो। है न...! `**शीघ्र हों**' - जल्दी करो... जल्दी करो। ऐसे `(शीघ्र) हों'... `जल्दी करो' इसका अर्थ हुआ : `**स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हों।**' - जल्दी से उसकी रक्षा करो। कुछ समझ में आता है?

`**स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हों।**' स्वद्रव्य की रक्षा हेतु जल्दी करो। आहाहा ! आनंदकंदप्रभु ध्रुवस्वरूप जो (स्वद्रव्य), उसमें यह राग तो नहीं आता, किन्तु वास्तव में तो पर्याय (भी इसमें नहीं आती)। `ऐसा करो' यह निश्चय तो पर्याय करती है। `**स्वद्रव्य और अन्य द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखें।**' `**देखें**' यह तो पर्याय है। `पर्याय' ऐसा देखती है कि, यह स्वद्रव्य `यह' है, और ये परद्रव्य मेरे में नहीं हैं - ऐसा `निर्णय' पर्याय करती है पर्याय में। `निर्णय' कोई द्रव्य-गुण में नहीं होता। द्रव्य-गुण तो ध्रुव-नित्य है, `यह' स्वद्रव्य है। परंतु उसको परद्रव्य से `भिन्न देखें' वह है पर्याय। वह द्रव्य से दूसरी (-अन्य - भिन्न) पर्याय - अन्य दशा। आहाहा ! जिसे - पर्याय को `नियमसार' में परद्रव्य कहा है। लेकिन वह परद्रव्य (-पर्याय) स्वद्रव्य का निर्णय करती है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है?

शब्द थोड़े किन्तु इन में सिद्धांत तो बड़े भरे हैं !! `स्वद्रव्य के रक्षक' - वस्तु भगवान पूर्ण आनंद - शुद्ध चेतन आनंद `वह' स्वद्रव्य, उसकी रक्षा करनेवाले (हों)। वहाँ पुरुषार्थ से कहा है : `**रक्षक शीघ्र हों।**' कर्म रास्ता दें तो (रक्षा) होगी और काललब्धि आयेगी तो होगी, ऐसा शब्द नहीं लिया। `**स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हों।**' आहाहा !

तीसरा (बोल) अधूरा रहा (था)। `**स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्र हों।**'

अब जो `स्वद्रव्य' है वह द्रव्य है, वह व्यापक है और `पर्याय' है वह व्याप्य है। किन्तु अपन ने `चेतना' में दूसरी तरह लिया था कि : चेतना जो है, वह कायम रहनेवाली है, वह व्यापक है और आत्मा व्याप्य है। यहाँ इस प्रकार कहा कि : चेतना की जो पर्याय है उसे द्रव्य में मोड़ दे, द्रव्य में व्यापक - प्रसार दे ! आहाहा ! सूक्ष्म बात है।

स्वद्रव्य जो ज्ञायक चैतन्यज्योत, जिसके प्रमत्त-अप्रमत्त के भाव भी उसमें नहीं हैं।

ऐसा जो स्वद्रव्य - ज्ञायकभाव - उसमें - स्वद्रव्य में स्वद्रव्य के व्यापक (शीघ्र हों)। नहीं तो द्रव्य स्वयं व्यापक है और पर्याय व्याप्य है, ऐसा (यहाँ नहीं लेना है)। यहाँ स्वद्रव्य के व्यापक हो जाओ, (ऐसा लिया है)। पर्याय को इस ओर मोड़ - यों व्यापक हो जा ! जो पर्याय राग में व्याप्त है, जो अवस्था राग व पुण्य में रुकी है वह पर्याय तो वही रह गई - वह पर्याय तो वहीं रह गई; परंतु आगे की पर्याय को द्रव्य में व्यापक कर ! अंदर कर ! आहाहा ! आनंदकंद द्रव्य में पर्याय को व्यापक कर ! ऐसे संक्षिप्त शब्द !!

स्वद्रव्य का व्यापक - व्यापन करनेवाला, वह द्रव्य कहा जाता है। किन्तु है पर्याय व्यापक। स्वद्रव्य में व्यापक - पर्याय को जल्दी से स्वद्रव्य में व्यापक कर ! आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

वहाँ ऐसा नहीं कहा कि : परद्रव्य - देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा में रुक जा; उनकी आज्ञा का आराधन कर। (उनकी) आज्ञा तो यह है कि : स्वद्रव्य में व्यापक हो जा ! मेरी ओर देखो और मेरी ओर व्यापक हो जाओ - ऐसी आज्ञा नहीं है। कुछ समझ में आता है ?

स्वद्रव्य के व्यापक जल्दी से - शीघ्र हो जाओ। उसमें प्रमाद न करो, ऐसे नास्ति से नहीं लिया। (किन्तु अस्ति से लिया कि) **`स्वद्रव्य के व्यापक शीघ्र हों।'** आहाहा !

यहाँ (संप्रदाय में) ऐसा चले कि : दया करो और व्रत करो और तप करो। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आये न... हो न..? परंतु `अशुभ से बचना' यह शब्द किसे लागू हो ? कि : जिसने स्वद्रव्य में व्यापकपना किया है और उसमें पूर्णतया व्यापक नहीं है, जिससे उसे शुभभाव आए, उसे `अशुभ से बचने' (हेतु) आये - ऐसा कहने में आता है। परंतु अभी जिसकी दृष्टि ही पर्याय - राग पर है, राग के कर्ता-(पने) पर है, वहाँ तो अभी उसकी दृष्टि परद्रव्य पर है। देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहारश्रद्धा - ऐसी श्रद्धा में व्यापक हो जा, ऐसा नहीं। क्योंकि वे तो परद्रव्य (हैं, उनकी) ओर से (लक्ष) छोड़ना है। भाई ! कठिन काम, बापू !

यहाँ तो (कहते हैं कि :) अंदर प्रभु बिराजमान है पूर्ण आनंद शुद्धचेतनघन, वहाँ व्यापक हो न...! वहाँ प्रसर जा न...! वहाँ पर्याय को उड़ेलना। इस पर्याय को द्रव्य की ओर झुका दे न...! परसन्मुख है, उसको स्वसन्मुख कर दे न...! तीन बोल हुए।

चौथा : **`स्वद्रव्य के धारक शीघ्र हों।'**

स्वद्रव्य के धारक - धरनेवाले (हों) अर्थात् स्वद्रव्य को धारण करो। स्वद्रव्य का धारण कब करने में आये ? - स्वद्रव्य की दृष्टि होकर अनुभव हुआ, तब धारक हुआ - यह १७ साल पहले (की उम्र में) कहते हैं श्रीमद्जी !

अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि, 'परंतु हमें तो समझ में नहीं आता। 'हम तो उलझ गये'। परंतु अब 'उलझ गये' (ऐसा विचार) छोड़ दे न...! अभी उलझन तूने पैदा की है; और तुझे ही उलझन सुलझानी है। 'जो जोड़े सो तोड़े।' तू राग में जुड़ा है, वहाँ से संधि तोड़ न...! ऐसा करके यहाँ (आत्मा में) जुड़ जा न...!

स्वद्रव्य के धारक - धरनेवाले, और ऊपर से धरनेवाले का करनेवाला; इस प्रकार धारक का - धरनेवाले का करनेवाला। - स्वद्रव्य के धारक को करनेवाला। आहाहा ! धारणा में धारण करना, यह तो एक मतिज्ञान का भेद है। परंतु वह 'धारक' कब हो सके ? कहाँ (धारण हो) ? कि यह चीज़ जब दृष्टि में आई हो। मतिज्ञान में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा हो, तब 'धारक' होता है। क्या कहा ? भगवानआत्मा पूर्ण शुद्धरूप से बिराजमान है, उसका धारक हो, उसको धारण करनेवाला हो। पर्याय का - राग को धारण किया है कि यह मैं हूँ; वहाँ से (हटकर) अब इस (भगवान आत्मा) की ओर ढल जा ! भगवान पूर्णानंद का नाथ प्रभु जहाँ बिराजमान है, उसकी धारणा कर न...! किन्तु वह धारणा कब हो ? अन्तर्सन्मुख अनुभव हुआ, तब धारणा हुई कि वस्तु 'ऐसी' है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

काफी साल पहले 'बोटाद'में एक मुमुक्षुभाई ने यह प्रश्न किया था कि; देव-गुरु-शास्त्र तो शुद्ध हैं, वे पर हैं ? अर्थात् जो शुद्ध है उसका आत्मा से पर होना कैसे संभव है ? वे (देव-गुरु-शास्त्र) शुद्ध हैं तो वे अपने में शुद्ध हैं (लेकिन इस) आत्मा से तो वे पर हैं। शुद्ध तो आत्मा से अभेद हो मगर कहाँ पर अभेद ? तेरा शुद्धपना तेरे आत्मा से भेद (-अभिन्न) होगा या उनका (देव-गुरु-शास्त्र का) शुद्धपना (तेरे आत्मा से अभेद - अभिन्न होगा) ?

यहाँ तो 'परमात्मप्रकाश' और ('प्रवचनसार') अलिंगग्रहण (बोल) में तो यहाँ तक कहा कि : यति की बाह्य क्रिया का द्रव्य में अभाव है। अलिंगग्रहण के २० अर्थ के २० बोल हैं। उसमें यह १७ वाँ है : ("लिंगों का अर्थात् धर्म चिह्नों का ग्रहण जिसको नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार आत्मा को बहिरंग (बाह्य) यतिलिंगों का अभाव है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है")। अर्थात् मुनि की बाह्य क्रियाएँ यानी पंचमहाव्रतादि के परिणाम और नग्नपना आदि - इन सबका द्रव्य में अभाव है। ये स्वद्रव्य में नहीं है। 'परमात्मप्रकाश'में ऐसा कहा कि : मोक्ष का मार्ग, जो भावलिंग है, वह भी द्रव्य में नहीं है। आहाहा ! इसे द्रव्य कहें। क्योंकि निश्चय मोक्ष का मार्ग हो (तो भी वह द्रव्य में नहीं है)। व्यवहार मोक्षमार्ग तो (द्रव्य में) है ही नहीं। आहाहा ! निश्चयस्वरूप जो शुद्ध चेतन (द्रव्य) उसका निर्णय, ज्ञान व रमणता (रूप) जो मोक्ष का मार्ग, ऐसा जो मुनि का भावलिंगपना, वह

भी द्रव्य में नहीं है। निर्णय करनेवाली पर्याय द्रव्य में नहीं है। जाननेवाली पर्याय द्रव्य में नहीं है। आहाहा ! ऐसा वस्तु का स्वरूप !! यह (लोगों को) दूभर लगे।

स्वद्रव्य के धारक - धारण करनेवाले (हो जाओ)। किन्तु धारक कब हो ? कि: स्वद्रव्यसन्मुख होकर, स्व का ज्ञान हुआ (तब) उसने धारण किया कि 'यह तो पूर्णानंद प्रभु है। - इसका नाम धारक है ! कुछ समझ में आता है ?

बाद के वर्षों में (श्रीमद् में) कहीं आता है, भाई ! आज्ञा का आराधन करना। गुरु के अधीन रहना... इत्यादि। परंतु वह सब व्यवहार से समझाया है। वस्तुस्थिति यह है कि 'देव-गुरु की आज्ञा यह है' ऐसा जो लक्ष जाये, वह भी विकल्प है। वह भी परद्रव्य है; वह स्वद्रव्य में नहीं आता। व्यवहार रत्नत्रय के विकल्प को धारण कर, ऐसा नहीं कहा। '**स्वद्रव्य के धारक शीघ्र हों।**' (ऐसा कहा है)।

भगवान को दिमाग में धारण कर लो। 'समाधिशतक' में एक बोल आता है कि सिद्ध का ध्यान करने से भी आत्मा का मोक्ष होता है। लो ! ऐसा आता है। जिस प्रकार वृक्ष से वृक्ष को रगड़े (तो) उसमें से अग्नि (प्रगट) होती है, इस प्रकार स्वयं अपनेका ध्यान करने से शांति की अग्नि प्रगट होती है। (इस प्रकार) स्व से कहा। और सिद्ध का ध्यान करनेसे भी (मोक्ष) होता है - दीपसे दीप प्रगटे, यह व्यवहार का वचन है। किन्तु सिद्ध तरफ लक्ष जाये, वहाँ अभी विकल्प है। आहाहा ! अरे, ऐसी है बात ! यह चमत्कार नहीं है ? बाहर के चमत्कार धूल में और पैसे में न...! बच्चें हो जायें और व्यापार अच्छा चले इसलिये गुरु की कृपा हुई। लेकिन इसमें कृपा कहाँ आई ?

(अरे ! लोग) पर्याय व द्रव्य की स्वाधीनतामें आपत्ति उठावें ! आहाहा ! परंतु चमत्कार तो यह कि द्रव्य के कारण मेरी पर्याय हुई है, ऐसा नहीं है। घड़ाका है ! (यहाँ तो ध्रुवभाव और पर्यायभाव की स्वतंत्रता का यह ढ़िंढोरा है) आहाहा ! यह सत्य ! सत्य को, सत्य की रीति से रखों। ऐसा श्रीमद् में आता है कि : वस्तु को वस्तु की तरह रखो, उलट-पलट न करो, मर्यादा न बदलो ! कुछ समझ में आता है ?

यहाँ कहते हैं : '**स्वद्रव्य के धारक शीघ्र हों।**' जल्दी से हो जाओ। धारक कब होवें ? - प्रभु अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है, उसे पर्याय में धारण करके, उसका निर्णय करके। आत्मा तो आनंदमय है, ऐसा अंदर में - अनुभव में आनंद की दशा का स्वाद आये, तब उसे धारण किया ऐसा कहने में आवें। उसका धारक तब हो।

यहाँ देव-गुरु-शास्त्र को धारण करके रख, ऐसी बात नहीं ली। यह तो श्रीमद्जी ने खुद ने कहा है : शास्त्र लक्ष दिखाकर अलग रहते हैं। सिर्फ लक्ष दिखाते हैं कि 'अंदर जाना'। बाकी अलग रहे शास्त्र वहाँ करें क्या ? आहाहा ! धारक - धारण करनेवाले

का धारक - धरनेवाला करनेवाला - शीघ्र हो जा ! भाई ! यह मनुष्य की देह मिली और अवसर चला जा रहा है।

क्षायिक समकिती - ज्ञानी चक्रवर्ती राज में हो (तो भी) राज में नहीं हैं ! राज में दिखते हैं कि ऐसे दिनभर राजदरबार में सिंहासन पर बैठे हैं, राजाओं को आदेश दे रहे हों कि ऐसा करो, इसको ऐसा करो, यह राजा क्यों काम नहीं कर रहा ? - ये विकल्प हैं, वे उठते हैं, भले हो। परंतु यहाँ कहते हैं कि - उसको (विकल्प को) धारण मत कर। अब इसे भूल जा। आये तब भी भूल जा ! आहाहा ! इसको (विकल्प को) धारण करने की - रखने की (बात ही नहीं है)।

चक्रवर्ती का राज्य करना वह कैसा होगा ? ३२००० राजा इकट्ठे हों। इन्द्र तो जिसके मित्र हो ! चक्रवर्ती भरत की बात लो : अष्टापद पर्वत पर से भगवान (ऋषभदेव) जब मोक्ष पधारे तब भरत की उपस्थिति (थी)। क्षायिक समकिती, मति-श्रुत-अवधि, तीन ज्ञान के धारी भरत, जहाँ भगवान को मोक्ष हुआ ऐसा देखा; वहाँ अश्रु की धारा बहने लगी। तब उनके मित्र इन्द्र कहते हैं : भरत ! हमें तो अभी मनुष्य की एक देह करनी है और तुम्हारी तो अब यह अंतिम देह हैं और (फिर भी) भगवान के विरह में यह क्या ? भरत कहते हैं : हे इन्द्र ! सब मालूम है... सब खयाल में है। यह मेरी अंतिम देह है। भगवान के विरह के कारण नहीं, किन्तु मेरी कमज़ोरी के कारण यह राग आता है। यहाँ ऐसा कहते हैं न...! भाई, सुन न...! (-ऐसे) राग के विकल्प का भाव आये, तब भी उनकी (भरतजी की) धारणा में यह विकल्प मेरा है, ऐसा नहीं है। उस विकल्प को तो मैं छूता तक नहीं ! आहाहा ! यह भारी चमत्कार तो देखो ! उस विकल्प को मैं छूता तक नहीं, स्पर्श भी नहीं करता। मेरी स्पर्शना तो भगवान आत्मा पर है। आहाहा ! अन्य की (ऐसी अंतर्दशा को) कौन पहचाने ?

यहाँ कहते हैं : शीघ्र उसे धारण कर ! आनंद का नाथ सच्चिदानंद प्रभु, पूर्ण अरिहंत पूर्ण परमात्मरूप में बिराजमान है, उसे धारण कर न...! उसे धारण कर ! मैं ने शास्त्र की इस बात को धारण किया, इसमें ऐसा है और वैसा है, यह सब तो ठीक...; अब सुन न...! स्वयं का भगवान है उसे धारण कर, वह भी शीघ्र धारण कर ! (शीघ्र धारक) हों (अर्थात्) इस (वर्तमान) पर्याय में (धारक) हो जा, ऐसा कहते हैं।

जिस प्रकार प्रभु कुंदकुंदाचार्य कहते हैं न...! '**तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण**' - मैं अपने वैभव से एकत्व - स्वरूप की एकता और विभाव से पृथक्ता दिखाऊँगा। भगवान ने ऐसा कहा है... सुना है, ऐसा नहीं। किन्तु मैं अपने अनुभव के वैभव से दिखाऊँगा। प्रभु ! दिखाऊँ, उसे प्रमाण करना। आहाहा ! अनुभव की परीक्षा अनुभव से करके प्रमाण

करना, ऐसा कहा। प्रमाण करना मतलब कि हाँ करना, ऐसे सिर्फ नहीं (कहना चाहते)। भगवान अंदर ज्ञानस्वरूपी चेतनबिंब प्रभु पड़ा है न...! उसे देख। हम तुम्हें दिखायें (तो प्रमाण करना)। संतों को, जिनको प्रचुर आनंद का वेदन वर्तता है, वे ऐसा कहते हैं 'मैं दिखाऊँगा...' दिखाने को दो शब्द आये। एकत्वविभक्त 'मैं दिखाऊँगा,' ऐसा पहले कहा; फिर कहा 'दिखाऊँ तो' '**तं एयत्तविहतं दाएहं अप्पणो सविहवेण**' अभी इतना कहा। (आशंका -) लेकिन भाषा नहीं बोल सकते न, प्रभु ! आप यह क्या कह रहे हो ? - अब (विवेकपूर्वक) सुन न...! '**जदि दाएज्ज**' (यदि मैं दिखाऊँ तो) जो यथार्थ कथन आत्मामें से आया...प्रभु ! तू प्रमाण करना हं ! ('**पमाणं**') प्रमाण यानी अनुभव करके प्रमाण करना। आत्मा आत्मा में (-अनुभव में) आये, इसका नाम प्रमाण है। भारी कठिन काम, बापू ! पूरा संसार खत्म हो जाये, भव का अभाव हो और आनंद की - पूर्ण सिद्धदशा की शुरूआत हो जाये - ऐसी बातें तो कठिन हैं न, भाई !

लोगों को दुःख लगे...हम यह व्यवहार करते हैं, उसे तो उड़ा देते हैं यहाँ ! (परंतु) यहाँ कहते हैं बापू ! व्यवहार तेरी वस्तु ही नहीं है। यह व्यवहार धारण करने लायक ही नहीं है, रखने लायक ही नहीं है। '**स्वद्रव्य के धारक शीघ्र हों।**' आहाहा ! चार बोल हुए।

पाँचवाँ : '**स्वद्रव्य के रमक शीघ्र हों।**'

इस स्वद्रव्य की रमणता करनेवाले शीघ्र बनो। राग में तेरी रमणता अनादि काल से है, प्रभु ! वह तो तेरी दुःख की दशा है। स्वद्रव्य के रमक-रमण करनेवाले (शीघ्र हों)। देखी भाषा...'क' शब्द है न...? पुरुषार्थ की बात है। स्वद्रव्य में रमक - रमण करनेवाला शीघ्र हो जा, अन्य रमणता छोड़ दे, प्रभु ! राग की रमणता छोड़। आहाहा ! इसकी विशेष बात आयेगी....

❁ ❁ ❁

स्वद्रव्य अन्य द्रव्य के बोल

प्रवचन क्रमांक-३ ता - २८-१-१९७८

अभी एक (जैन) पत्रिका में ऐसा आया था कि, सोनगढ़ '**णमो लोए सव्व अरिहंताणं**' ऐसा कहता है। 'धवला' में '**णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं**' तथा '**णमो लोए सव्व अरिहंताणं**' - दो पाठ हैं। बाद में संक्षिप्त अर्थ करके '**णमो अरिहंताणं**' भी है।

'**णमो लोए सव्व साहूणं**' यानी लोक के सर्व साधु यानी जैन के जो साधु हैं,

वे साधु - आत्मस्वरूप का - आनंद का साधन करते हैं - जिनको अंतर में अतीन्द्रिय आनंद का सागर उमड़ पड़ा है। भगवान(आत्मा) अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है। त्रिकाल स्वरूप है। अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रियज्ञान तथा अतीन्द्रिय शांति से भरा हुआ पूर्ण भगवान है। जिस प्रकार समुद्र के तट पर ज्वार आती है, उस प्रकार जिनकी पर्याय में (प्रचुर) आनंद की ज्वार आती है, उन्हें यहाँ साधु कहते हैं। ऐसे जितने साधु हैं उन्हें मेरा नमस्कार। बाद में फिर विशेष जोड़ा : '**णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं**' तीन काल के - भूत, वर्तमान और भविष्य (में होनेवाले हैं) उनको भी मैं तो वर्तमान में नमस्कार करता हूँ। '**लोए**' - '**सव्व**' (अंत) दीपक है, यह चारों को लागू होता है। और इससे भी ज्यादा 'धवला' में तो '**त्रिकालवर्ती**' लिखा है। भले यह सारा ज्ञान हो, वंदन हो, परंतु इसे करना तो (यह है कि :) '**स्वद्रव्य के रमक शीघ्र हों।**' अपने यहाँ पर यह पाँचवाँ बोल आया न...! ये (नमस्कारादि के) सब भाव अंदर हो, लेकिन प्रयोजनभूत तो (यह है) कि :

अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप भगवान (स्वद्रव्य), इसमें रमण करनेवाला हों। 'रमक' है न...! यह वस्तु है, भाई ! तात्पर्य (यह कि:) भगवान अंतर सच्चिदानंद प्रभु, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण अतीन्द्रिय आनंद के स्वभाव का स्पर्श करके इसका रमण हों। आहाहा ! राग के खेल छोड़ ! व्यवहाररत्नत्रय का राग है, इसका खेल छोड़ प्रभु ! कुछ समझ में आया ?

'राजा क्रीड़ा छोड़ ! सेना आ गई सीमा पर !' यह युद्ध करनेवाला (दुश्मन) राजा आ पहुँचा है। (किन्तु) उसको (राजा को) कुछ पता नहीं है। इसी भाँति यहाँ कहते हैं कि : आत्मा ! जगत की क्रीड़ा छोड़ ! ये दया, दान और व्रत, भगवान की (पूजा-भक्ति के) भाव - विकल्प; (इनको) हे राजा ! हे राजा ! तू छोड़। ('समयसार') १७ वीं गाथा में, आतम राजा - जीवराजा कहा है न...! 'राजते शोभते इति राजाः।' जो अंतर अनंत आनंद से शोभित हैं और अनंत आनंद की केलि करता है, उसका नाम राजा। ये करोड़पति सभी ममतावाले, दुःखी हैं, भाई ! कुछ समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं : '**स्वद्रव्य के रमक (शीघ्र हों)।**' तो 'स्वद्रव्य' माने क्या ? - अनंत आनंद का कंद, प्रभु ध्रुव शुद्ध चेतनघन (यह 'स्वद्रव्य'।) इसमें रमण करने में शीघ्रता कर। आहाहा ! ऐसा समय फिर से मिलना मुश्किल है प्रभु ! ऐसा कहते हैं। निर्णय तो कर कि 'यह करने जैसा है।' बाकी तो सब बातें हैं। व्यवहार की और निमित्त की बातें आयें; लेकिन कहते हैं कि : अगर तुझे कल्याण करना हो (तो स्वद्रव्य का रमक शीघ्र हो जा)।

ये चौरासी के अवतार - परिभ्रमण कर-करके, दुःखी होकर के आत्मा को मरण तुल्य कर डाला है। जैसे कि यह जीती - जागती ज्योति ही न हो। ये पुण्य-पाप के

सारे भाव ही मानो जीवन हो ! और बाहर की किसी अनुकूल सामग्री में जैसे `यह मेरा जीवन' वहाँ ही है। (ऐसे में) आत्मा को तो मृत-तुल्य कर डाला, भाई ! जागती ज्योति, चेतन अनंत आनंद और अनंत शांति से भरा हुआ भगवान है। इसका क्षेत्र भले ही शरीर अनुसार हो, परंतु इसका स्वभाव तो अमाप है। एक-एक गुण अमाप - बेशुमार शक्ति से भरा हुआ (है) - ऐसे स्वद्रव्य के रमक (होने में) और रमण करने में शीघ्रता करो !

भाषा तो कितनी सादी ! १७ वर्ष की वय से पूर्व (श्रीमद्‌जी ने) लिखा है ! उस समय तो कोई ऐसे शब्द करनेवाला (कहनेवाला) नहीं था। सब ये दया-दान और व्रत और भक्ति और तप और... ऐसा करो। (परंतु ऐसा करके) ये चौरासी के अवतार कर-करके मर गया, प्रभु ! तूने स्वयं का घात कर डाला है !

जो चीज़ (आत्मा) जितनी ताकतवाली है, उसे उतनी (ताकतवाली) न मानकर, उसे इस (वर्तमान) पर्याय और राग जितनी मानकर; इस प्रभु को - परमात्मा के स्वरूप को मरण तुल्य कर डाला है। अब इसकी (अंदर की) क्रीड़ा में इसको (आत्मा को) ज़िंदा कर ! यानी जितनी शक्तिवाला और जितना यह तत्त्व है उतनी दृष्टि करके, उसके अनुपात में प्रतीति - पुरुषार्थ करके स्वद्रव्य में रमक - रमनेवाला हो। रमक - रमण करनेवाला हो। आहाहा ! `**इन बारह अंग का सार** `यह' है।' चाहे जितना (शास्त्र) पढ़ा - बाँचा, चाहे जो किया, लेकिन करना तो `यह' - स्वद्रव्य में स्वद्रव्य का रमक - रमण करनेवाला शीघ्रता से हो। आहाहा ! मुनिराज भी ऐसा कहते हैं न...! `आज ही करो।'

प्रभु ! तुमने बहुत आलसी होकर चेतन की पूँजी का - मूल धन का अनादर किया है। यह बाहर की लक्ष्मी को `मेरी पूँजी' मानी; अरे...! राग का कण - शुभराग - इसको भी `मेरा' माना; (ऐसे में) इसने चेतना आनंदकंद जीवन को मरण तुल्य कर डाला है। मानो यह चीज़ है ही नहीं। आहाहा ! ऐसी बात लोगों को (समझना) कठिन पड़े।

यहाँ से तो अभी सम्यक्‌दर्शन शुरू होता है। स्वद्रव्य का रमक - रमण करनेवाला शीघ्र हो जा। जल्दी से हो जा। आहाहा ! शुभ-अशुभ के सभी विकल्पों को छोड़ दे; यह बाद में कहेंगे। पहले अस्ति से कहा है और बाद में नास्ति से कहेंगे।

(`समयसार' के) पहले श्लोक में भी अस्ति से आया है न...! `**नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते। चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।**' इस श्लोक में भगवान अमृतचंद्राचार्य संत-मुनि (फरमाते हैं कि :) `**नमः समयसाराय**' जो समय का सार भगवान - स्वद्रव्य - उसे मैं नमन करता हूँ, उसमें मैं ढलता हूँ, उसमें झुकता हूँ। `**स्वानुभूत्या चकासते**' - यह स्वद्रव्य स्वानुभूति से प्रगट हो ऐसा है। - यह (है) वह `रमक' - `**स्वानुभूत्या चकासते**'

स्व-अनुभूति यानी संवर और निर्जरा। स्वानुभूति यह संवर और निर्जरा - यह अनुभूति - आत्मा की रमणता - यह संवर-निर्जरा की अस्ति। '**चित्स्वभावाय भावाय**' जिसका स्वभाव चित्-ज्ञानस्वभाव और स्वयं उसको धारण करनेवाला भाव। '**भावाय**' में द्रव्य लिया। '**चित्स्वभावाय**' में गुण लिया। '**स्वानुभूत्या**' में पर्याय ली। आहाहा ! (इस तरह) अस्ति कही। और '**सर्वभावान्तरच्छिदे**' इससे पूर्ण - मुक्त - मोक्षदशा होगी। सर्व भावों को जाननेवाला होगा - सर्वज्ञ होगा। यह भी अस्ति से सर्वज्ञपना स्थापित किया। एक श्लोक में चार का अस्तित्व कहा : चित् भाव, चित् स्वभाव, स्वानुभूति और पूर्ण मोक्ष। आत्मा, (आत्मा का स्वभाव), आत्मा का मार्ग और पूर्णता। आत्मा, आत्मा का स्वभाव, आत्मा की अनुभूति की पर्याय और उसकी पूर्ण प्राप्तिरूप मोक्ष; (इस प्रकार) चार अस्ति कही।

यहाँ (भी) पहले अस्ति से कहते हैं : स्वद्रव्य में रमण करनेवाला शीघ्र हो !

छठा बोल : '**स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्र हों।**'

स्वद्रव्य को पकड़नेवाला - ग्राहक - ग्रहण करनेवाले (शीघ्र हों)। (अज्ञानी जीव ने) राग को ग्रहण किया है, पुण्य को ग्रहण किया है। यह तो सब मिथ्या जाल है। बाहर की किसी चीज़ को तो ग्रहण किया नहीं; (लेकिन) उस चीज़ के प्रति की 'ममता' को ग्रहण की है, उसका ग्राहक है।

यहाँ तो कहते हैं : '**स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्र हों।**' पूर्णानंद का नाथ यह स्वद्रव्य। इसे प्रथम पहचानकर, इसका ग्राहक हो। ग्राहक माने माल लेने ग्राहक आता है न...! वैसे तुझे अगर माल चाहिए तो अंदर जा। उसका ग्राहक हो !

आहाहा ! स्वयं भगवान राजा ! इसकी शोभा तो स्व को ग्रहण करने में है। 'स्व' का गाहक (-ग्राहक) हो। 'स्व' के धर में जा। (जहाँ तू) 'है' वहाँ जा। राग पर्याय में है; उस राग में 'तू' नहीं है। वह राग 'तेरे' अंदर नहीं है। आहाहा ! कैसी बातें !!

अशुभ से बचने के लिये शुभ को...(!) (लेकिन) यह (कथन) बापू ! किसके लिये ? - वह तो जिसकी स्वरूप की रमणता - दृष्टि हुई है, उसको फिर जब कोई शुभभाव हो, तब ऐसा कहा जाए। वास्तव में तो (वह) शुभभाव क्रमबद्ध में आना ही था, निजक्षण (स्वसमय) पर उत्पन्न होनेवाला ही था; और वह भी षट्कारक से वह राग होनेवाला था; वह द्रव्य-गुण के कारण नहीं; कर्म के कारण नहीं (उत्पन्न हुआ।) 'अशुभ को टालने के (हटाने के) लिये (शुभभाव आये)' यह भी व्यवहार का एक वचन है; (ऐसे वचन शास्त्र में) आए। 'पंचास्तिकाय' में है : '**अशुभ वंचनार्थं**' बाकी तो उस समय पर उसको क्रमबद्ध में शुभराग आने का काल है, वह आवें; पर वहाँ उसके साथ अब केलि नहीं करता। उसके प्रेम में तू मत फँस !

आहाहा ! भगवान अंदर पूर्णानंद का नाथ है, स्पष्ट चीज़ है। `बहिन'का वचन (`बहिनश्री के वचनामृत' बोल : ३०६ में) है न...! `जागता जीव विद्यमान है...'। जागता यानी ज्ञायकभाव - ध्रुव(स्वभाव) - वह शास्त्रभाषा। बहिन की भाषा साधारण आदमी को (भी) समझने में सरल रहे। (लोग `बहिनश्री के वचनामृत' पुस्तक को पढ़कर) बहुत खुशी बताते हैं, आहाहा ! बहुत उमदा पुस्तक ! (लोग) बहुत बखान करते हैं।

आहाहा ! यह वस्तु !! प्रभु ! तेरी दृष्टि को (तेरे) निधान में ले जा। पर्याय एवं राग की पामरता है; उसको छोड़ दे ! हे राजन् ! पर्याय की केलि छोड़ दे। भाई ! देह छूटने का अवसर आयेगा। अतः `यह' (-स्वद्रव्य की) केलि कर; तो राजन् ! तेरा राज्य रहेगा। अन्यथा तू हार जायेगा। प्रभु ! कहाँ जायेगा ? कहाँ निगोद... कहाँ आलू...कहाँ शकरकंद ! आहाहा ! ज्यादातर समय तो व्यापार-धंधा (करने में चला जाये); ६-७ घंटें सोये; २-४ घंटें स्त्री एवं बच्चों को खुश करने में (गँवाये); पूरा पाप का गड्ढा - अररर... प्रभु ! क्या करता है तू यह ! यहाँ से कहाँ जायेगा ? यह केवल पाप बाँधता है... २२ घंटें। घंटे - दो घंटें कुछ (धर्म का) सुनने जाये; तो ऐसे सुनानेवाले मिले कि अपवास कर... व्रत ले, तो तुझे संवर होगा। अपवास कर तो तुझे निर्जरा होगी और उस संवर-निर्जरा से तेरा मोक्ष होगा। आहाहा ! लूट लिया इसे। यहाँ तो कहते हैं कि ये (व्रतादि) सब विकल्प हैं; - उसकी केलि छोड़ प्रभु ! तेरा कल्याण करना हो; जीव का उद्धार करना हो - भवसागर में डुबने से अंतरंग से उबरना हो - (तो) `**स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्र हों।**' ग्राहक - ग्रहण करनेवाला - स्वद्रव्य को ग्रहण करनेवाला (हों)। राग को - व्यवहार को ग्रहण करनेवाला (तो) अनादि से है, (अब) स्वद्रव्य का ग्राहक (हो)।

`मोक्षमार्ग प्रकाशक' में व्यवहारनय को ग्रहण करने योग्य कहा है न...? - (वहाँ) `ग्रहण' करने का अर्थ `जानना' है। जानने का अर्थ ही ग्रहण करना है। ऐसे इस वस्तु (स्वद्रव्य) को जान। अंदर में इसका ग्राहक हो। राग को हेयरूप से ज्ञेय (तथा) भगवान (स्वद्रव्य) को उपादेयरूप से ज्ञेय (बना)। आहाहा ! बात तो ऐसी है !! सुनने मिले नहीं। बाड़ा (संप्रदाय) में तो सब बाहर की - भटकने की - बंध की बातें हैं।

यह अंदर शिव का नाथ, प्रभु निरुपद्रवतत्त्व ऐसा वह शिवस्वरूप ही है। इसका ग्राहक शीघ्र हो। इसको पकड़नेवाला शीघ्र हो। इसको जाननेवाला तुरंत हो। इस स्वद्रव्य का माल लेनेवाला ग्राहक हो !

अरे...! कहाँ सुनता है...? यह (शरीर) तो स्मशान की राख बन जायेगा। बापू ! धूल-पैसे (इत्यादि) तो यहीं के यहीं रह जायेंगे। भले ही शुभराग शायद कोई किया होगा

तो ये परमाणु बंधे होंगे पर (इसमें) `निहाईकी चोरी और सूईका दान' इस तरह पूरे दिन पाप...पाप और पाप - इसमें किसी समय घंटाभर सत्समागममें थोड़ा-सा सुने, (वह सत्समागम तो अभी किसे कहें यह मुश्किल है; लेकिन इसमें कुछ शुभभाव हो; तो भी वहाँ `यह निहाई की चोरी और सूई का दान...' इसमें तेरा उद्धार कहाँ है ? कुछ समझ में आया ?

यहाँ (श्रीमद्जी) १७ वर्ष की वय के पूर्व - (आत्मा को उम्र कहाँ है ? आत्मा तो अनादि अनंत है) - पुकार करते हैं। (यहाँ ६०-७०-८० (वर्षकी उम्र) हो जाये, उन्हें पता नहीं होता) कि : `यदि तुझे कल्याण करना हो तो स्वद्रव्य का ग्राहक हो। ग्रहण करनेवाला बन। वर्तमान ज्ञान की पर्याय में इसे (स्वद्रव्य को) ग्रहण कर। ज्ञान की और श्रद्धा की पर्याय में, इस त्रिकाली (स्व) द्रव्य को ग्रहण कर। इस त्रिकाली को पकड़ !' तूने पर्याय को और राग को पकड़ा है, यह तो (तीनों काल में) संसार-भाव है। इस संसार-भाव का व्यय, इसे बाद में कहेंगे; लेकिन यहाँ तो `ग्राहक बन' (इस तरह) उत्पाद की बात (है)। भले ही चाहे जो (शास्त्र) पढ़ा, चाहे जो अवधारा; और शुभराग भी चाहे जिस प्रकार से हुए हों; परन्तु `ग्राहक जीव का (-स्वद्रव्य का) हो' तब तेरा कल्याण है। क्योंकि इसके (स्वद्रव्य) जैसी सर्वोत्कृष्ट कोई चीज़ ही नहीं है। आहाहा ! सिद्ध की पर्याय भी एक समय की; और यह तो प्रभु अनंत पर्याय का पिण्ड; एक-एक गुण - ज्ञान, आनंद और शांति का दरिया; इसके स्वभाव का ग्राहक बन न...प्रभु ! द्रव्यदृष्टि करके, उसको ग्रहण करनेवाला बन। पर्यायदृष्टि को छोड़ दे। - ऐसा कहते हैं।

ऐसी बातें हो और ऐसा उपदेश हो; तो फिर आदमी को ऐसा (समझना कठिन) लगे। परंतु जिसे अभी प्रथम ऐसी व्यवहारश्रद्धा की ही ख़बर नहीं है कि `यह वस्तु ऐसी है और ऐसी नहीं है' इसे तो ये बातें कठिन लगें... लेकिन क्या करें ?

यहाँ तो निश्चयस्वरूप भगवान आत्मा - निश्चय माने सत्य-भूतार्थ, निश्चय माने ज्ञायकभाव - उसका ग्राहक हो, उसको ग्रहण करनेवाला हो, उसका जाननेवाला हो, उसका ही धारण करनेवाला हो; अन्य सब छोड़ दे ! कोई चीज़ मुझे नहीं चाहिए। ग्राहक तो `द्रव्य हूँ' इसका ग्राहक बन जा। आहाहा..हा ! अंतिम `सार' है, भाई ! यह तो।

बाहर की उपाधि में जिंदगी चली जा रही है ! ये पुत्र और पत्नी और संतान... इसमें जिंदगी (व्यर्थ जा रही है) ! परंतु भाई ! (इसमें) आत्मा कभी तेरा हो सकता है ? `यह पत्नी मेरी...' किसकी पत्नी ? किसको क्या कह रहा है तू ? उसका (पत्नी का) शरीर जड़ है... वह तेरा है ? उसका आत्मा तो पर है... वह तेरा है ? यह मेरा पुत्र है न... यह मेरी पत्नी है न... यह मेरे लड़के की बहू है न...! - प्रभु ! यह तूने क्या किया ? लूट गया, प्रभु ! तू पर का ग्राहक हो गया; पर का स्वामी हो गया। (अब)

स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्रता से हो जाओ ! ऐसा और कहा। प्रमाद छोड़ दे बापू ! `अभी (आत्मा) नहीं; (पहले) थोड़ा (दूसरा काम) कर लूँ। ये लड़कियाँ बड़ी हो गई हैं, (इनकी) शादी करा दूँ; लड़के बड़े हो गये हैं, (इन्हें) ठिकाने लगा दूँ।' - भटकने में। और कहता है कि `अभी (तो) युवान अवस्था है।' (परंतु यहाँ तो कहा कि : जल्दी कर!)

(संवत) १९९० में वढ़वाण (शहर) में एक मुमुक्षु से मैं ने कहा कि : आप (यहाँ) क्या करने आये हो ? तो उसने कहा कि : ऐसा है और ऐसा है, अभी कर लें, अभी थोड़ा कुछ कर लेंगे तो (भविष्य में काम आयेगा)। तो मैं ने कहा : क्या कर लें ? क्या करना है, बापू ! वह किया हुआ रहेगा ? वह रहेगा इसलिये तुझे संतोष रहेगा, ऐसा है ? धूल में भी नहीं है कुछ, बापू ! वहाँ (व्याख्यान में तो) कहा था कि : देखो भाई ! आत्मा का ज्ञानस्वभाव तीन काल - तीन लोक को जानने का है। लेकिन (जीव ने) इस तरह जाना नहीं। लेकिन समय समय पर, क्षण-क्षण में भव करके, और उस-उस भव का भाव और भव को जानने का (काम) बहुत किया। `एक समय में सब कुछ जानना,' ऐसा उसका (ज्ञान का) स्वरूप है। (लेकिन) इस (प्रकार जानने का काम) किया नहीं। परंतु भव के भ्रमण के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जाना, दूसरे भव का जाना, तीसरे भव का जाना - इस प्रकार ऐसे भव को (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को) जानकर...जानकर...जानकर (भव का जानपना बहुत किया)। - इस प्रकार ऐसा परलक्षी ज्ञान किया। परंतु तेरा नाथ सर्वज्ञस्वभावी अंदर बिराजमान है, उसका तू ग्राहक नहीं हुआ। तूने उसको नहीं पकड़ा।

उस दिन एक ब्रह्मचारी भाई ने मुझ से एकांत में कहा (कि) श्रीमद् में तो फलाँ था और... ऐसा था... श्रीमद् में ऐसी भाषा कही है। मैं ने कहा : `**अरे...! `क्या बोल रहे हो ?' यह सब बापू ! यह वस्तु तो उनको** (प्राप्त) **हो गई और प्राप्त होने के बाद तो खुद ही आराधना करके चले गये हैं ! वे तो एक भव करके मोक्ष में जायेंगे; इसमें कोई दलील और सवाल नहीं है।**'

यहाँ कहते हैं : `**स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्र हों।**' आहाहा..हा ! (जैसे लोग कहते हैं न कि :) अरे भाई ! जल्दी लाना हं ! सब्जी बनाने का वक्त हो गया है, यह खाना पकाने का समय हो गया है, जल्दी कर। जाकर फिर जल्दी से लेकर आना ! वहाँ जल्दी से करने का होता है। कोई माल लेने भेजे... वहाँ (कहते हैं न...) जल्दी से लाना, तुरंत लाना, दौड़कर के फटाक से आ जाना हं ! बड़े आदमी आये हैं, दूध में केसर डालना है... केसर फटाक से लेकर आना ! (उस प्रकार) यहाँ कहते हैं कि : प्रभु ! तू फटाक से अब जा न अंदर में !

तू माल (-सुख) लेने, इसका ग्राहक होने (बाहर) जाता है ! परंतु माल तो यहाँ

(तेरे में ही) पड़ा है। आहाहा ! तेरे अंतर में तो प्रभु ! (अनंत आनंद, अनंत ज्ञानादि चतुष्टय पड़े हैं)। सर्वज्ञ प्रभु ने जो अनंत चतुष्टय प्रगट किये - मुख्यतः अनंत ज्ञान, अनंत आनंद, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य - वे कहाँ से आये, प्रभु ? तेरे में ये अनंतचतुष्टय पड़े हैं। (सर्वज्ञ को) तो वे पर्यायरूप से प्रगट हुए। लेकिन यहाँ (तेरे में) तो अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद, अनंत वीर्य - ऐसे अनंत गुणरूप में पड़े हैं। यहाँ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्व-भाव से अस्ति तथा पर से नास्ति - ये अनंत चतुष्टय नहीं; यहाँ तो अंदर में जो गुणरूप से चार चतुष्टय हैं वे... कुछ समझ में आया ?

स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभाव से है और परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल-परभाव से नहीं है, ये भी चतुष्टय कहने में आते हैं। परंतु ये चतुष्टय स्व से हैं और पर से नहीं। (इतनी अपेक्षा है)। परंतु यहाँ तो 'स्व' में क्या है ? प्रभु ! तू अंदर में कितना बड़ा है ? - भाई ! तू एक पर्याय के खेल में, इस एक समय की पर्याय की रुचि के कारण - निकट में प्रभु है उसके पास गया नहीं। आहाहा ! वहाँ तो (प्रभु) अनंतचतुष्टय के साथ बिराजमान है। राजन् प्रभु आनंद का नाथ - सागर अनंत गुण से बिराजमान है, उसका ग्राहक हो न...! उसको पकड़ न...! ऐसा पकड़ कि किसी दिन छूटे नहीं। आहाहा ! स्वद्रव्य का ग्राहक हो - स्वद्रव्य का ग्राहक जल्दी से हो जा।

बहुत साल पहले एक सेठ के साथ यह प्रश्न उठा था : जो केवली है वे, 'तू पुरुषार्थ कर' ऐसा उपदेश करेंगे ही नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ तीन काल को जानते हैं। उनको यह (जीव) कब पुरुषार्थ करेगा, यह तो मालूम है। (तो) फिर केवली उसको (जीव को) ऐसा कैसे कहे कि 'तू पुरुषार्थ कर !' (मैं ने) कहा : ऐसा नहीं है, बापू ! यह क्या कहते हो ? मैं ने तो 'आचारांग' का उदाहरण दिया था। यह है तो आचार्य का वचन; परंतु उस समय (संप्रदाय में) तो भगवान का है ऐसा जानते थे न...? '**आणाये गे सो ठाणा अणाणाये निरुठाणा**' (अर्थ :) 'आज्ञा में अनउद्यम और अनाज्ञा में (आज्ञा नहीं है उसमें) उद्यम, ये दो तुझे न हो; आज्ञा में उपस्थित हो और अनाज्ञामें से उपस्थिति छोड़ दे'। - देखो, यह पुरुषार्थ करने का तो केवली ने कहा है ! और 'उत्तराध्ययन' में वीर ऐसा कहते हैं कि : '**समयं गोयम ! मा पमायए**' - एक समय मात्र का प्रमाद मत करना ! जानते हैं केवली ! जो स्थिति है वह-वह उनके जानने में और वाणी में भी आती है। कुछ समझ में आया ? बहुत सारे शल्य जगत के - भगवान जानते हैं इसलिये उस प्रकार होगा, भगवान जानते हैं इसलिये वे पुरुषार्थ करने का कहे नहीं न ! - क्या कर रहे हो, यह सब आप ?

'श्रीमद् तो स्वयं पहले से ही यह कहते हैं; केवली के वचनो में भी यह है :

ज्ञायक के ग्राहक (शीघ्रता से) हों।'

यह ('समयसार') छठी गाथा में है न...! '**ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो**' - प्रमत्त-अप्रमत्त ये दशायें द्रव्य में नहीं हैं। क्योंकि शुभ-अशुभ भावरूप जीव हो जाये तो प्रमत्त-अप्रमत्तरूप हो; (परंतु) जीवद्रव्य कभी शुभ-अशुभ भावरूप हुआ ही नहीं है। आहाहा ! '**ण वि होदि अप्पणत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो। एवं भणंति शुद्धं**' इसे हम शुद्ध कहते हैं। '**ण ओ जो सो उ सो चेव**' जिस पर्याय में स्व जानने में आया, वह ही आत्मा। उसमें पर जानने में नहीं आता। वह स्व को ही जानता है। - इसे हम शुद्ध कहते हैं। आहाहा ! 'यह' छठी का लेख ! ऐसे यहाँ भगवान(आत्मा) को जानना है, यह कोई नई चीज़ है ? यह तो (अटल) लेख है। पड़ा ही है अंदर ज्ञायक - छठी का लेख ! - ज्ञायक को जान। तू तीन लोक का नाथ बिराजमान परमात्मा, तू ही प्रभु है; उसे ग्रहण कर ! तू स्वयं को ग्रहण कर ! पर का ग्रहण छोड़ दे; ऐसा बाद में कहेंगे। कुछ समझ में आया ?

('समयसार') कलश टीका में आया है न...? कि : बारह अंग का ज्ञान कोई अपूर्व (लब्धि) नहीं है। (लेकिन) बारह अंग के ज्ञान में यह अनुभूति करने का कहा है। बारह अंग का ज्ञान अपूर्व नहीं है। अपूर्व तो अनुभूति है। हालाँकि जिसको 'अनुभूति' होती है उसीको बारह अंग का ज्ञान होता है, लेकिन यहाँ तो वज़न अनुभूति पर देना है न...! अभी एक (लेख) आया था न... कि बारह अंग का ज्ञान भी निष्फल है, अगर अनुभूति न करें तो। परंतु उस बारह अंग (के ज्ञानवाले को) तो अनुभूति होती ही है। दस पूर्व में नव पूर्व तक की लब्धि (तो) मिथ्यादृष्टि को भी होती है। किन्तु बारह अंग का ज्ञान तो आत्मा की अनुभूति हो, उसे ही होता है। यह (ज्ञान) कोई पढ़ने से तो आता नही। यह (ज्ञान) कोई सीखने से तो सीखा जाता नहीं। यह तो अंदरमें से लब्धि आती है। अंदर आत्मा का अनुभव ज़रा हुआ इसीमें से किसी जीव को, इस ज्ञान की तरंगें ऐसी उछलती हैं कि पर्याय में बारह अंग का ज्ञान - बिना सीखे, बिना पढ़े, बिना पन्ने पलटे, बिना सुने - प्रगट हो जाता है। 'कलश' में ऐसा कहा न...! बारह अंग (का ज्ञान) कोई अपूर्व नहीं है। परंतु बारह अंग में तो 'यह' अनुभूति करने का कहा है। - 'यह ग्राहक'।

परंतु तू कौन ? प्रभु ! तेरी बात - अंदर में तत्त्व जिसे कहें, जिसे आत्मतत्त्व कहें, यह बात तुझे बैठती नहीं है !! तूने एक समय की पर्याय के खेल में काल गँवाया। इसलिये जो समूचा रमण करनेवाला भगवान त्रिकाली, तीन लोक का नाथ; वह वैसा का वैसा कोरा रह गया - वह तुझे तेरी नज़र में नहीं आया ! अब इसका ग्राहक हो ! ऐसी बात है, भाई !

प्रश्न : क्या करना इसमें ? सूझ नहीं पड़ती।

समाधान : परंतु (स्वद्रव्य का ग्राहक होना) `यह' करना नहीं है क्या ? आहाहा ! स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्रता से हों। यह अस्ति से बात कही।

अब पहले तो (बात) कही थी न...! `**स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हों।**' इसको अब दूसरे ढंग से कहते हैं : (सातवाँ बोल) `**स्वद्रव्य की रक्षकता पर ध्यान रखें (दें)।**' पहले यह कहा था `**स्वद्रव्य के रक्षक शीघ्र हों ।**' अब यहाँ कहते हैं कि : `**स्वद्रव्य की रक्षकता पर ध्यान रखें (दें)।**' परद्रव्य को रखने पर से लक्ष हटा लें। परद्रव्य माने राग आदि। पर को (शरीरादि को) तो कौन रखता (रख सकता) है ?

`**रक्षकता**' देखा ? रक्षक और धारक और ग्राहक... वहाँ `क' था; वह रक्षकता - रखनापन अर्थात् स्वद्रव्य का रखनापन, ऐसा आया। अब स्वद्रव्य की रक्षकता - स्वद्रव्य के रक्षकपने पर लक्ष दो। `स्वद्रव्य की जिस प्रकार रक्षा हो' उस पर ध्यान दें। `पर की रक्षा हो,' यह दृष्टिमें से छोड़ दें। करने का तो `यह' है। विशेष कहेंगे।

❁ ❁ ❁

स्वद्रव्य अन्य द्रव्य के बोल

प्रवचन क्रमांक-४ ता - २९-१-१९७८

`**स्वद्रव्य की रक्षकता पर ध्यान रखें (दें)।**' प्रथम इसके खयाल में - ज्ञान में आना चाहिए न...! (कि) `स्वद्रव्य' माने क्या ? कि : पर्याय और राग से भी भिन्न, परिपूर्ण अनंतगुण का समुदाय - पिण्ड है, जो त्रिकाल एकरूप है, ध्रुव है उसे यहाँ `स्वद्रव्य' कहने में आया है। इस स्वद्रव्य की रक्षकता - रक्षकपना - रखनापन अर्थात् स्वद्रव्य के रखनेपन (रखवाली) पर लक्ष रखों। परद्रव्य का रखनापन तो (जीव) कर नहीं सकता; यह (नास्ति) बाद में कहेंगे। अभी पहले अस्ति से बात करते हैं : `**स्वद्रव्य की रक्षकता पर ध्यान रखें।**' पर की रक्षकता पर तो अनंतबार लक्ष किया। पर का लक्ष रखकर पर की दया का पालन करना आदि, (और) पर का लक्ष रखकर शास्त्र पठन भी अनंतबार किया। परंतु जो स्वद्रव्य है, उसकी रक्षकता - रखनापना एक सेकंड़ भी नहीं किया। समस्त शास्त्राभ्यास और (अन्य) सभी परिणाम शुभ-अशुभ चाहे जितने हो परंतु उसमें ग्रहण करने का तो स्वद्रव्य है, यह सार है। कुछ समझ में आया?

स्वद्रव्य जो वस्तु अंदर (त्रिकाल है, उसकी रक्षकता पर ध्यान रखो) हालाँकि `नियमसार'

गाथा - ३८ में तो पर्याय को भी परद्रव्य कहा है। आहाहा ! वर्तमान पर्याय के ध्यान में, ध्येय के लिये अंदर रही यह त्रिकाल ध्रुव वस्तु जो स्वद्रव्य - इसकी रक्षकता पर लक्ष रखो। यह अस्ति से बात की।

अब नास्ति से बात करते हैं : '**परद्रव्य की धारकता शीघ्र छोड़ें।**' आहाहा ! पहले बोल में 'शीघ्र' नहीं था; २, ३, ४, ५, ६ में शीघ्र था; सातवें में नहीं था। आठवें में '**परद्रव्य की धारकता शीघ्र छोडें।**' लाख बात की एक बात (कि) जिसने स्वद्रव्य की रक्षकता पर दृष्टि दी तथा परद्रव्य की धारकता शीघ्र छोड़ी (ऐसे) आठ साल के बालक को, बालक कहने में आये, परंतु केवलज्ञान होता है। आहाहा !

यहाँ तो दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा के भाव ये 'परद्रव्य' हैं; इस परद्रव्य की धारकता - धारकत्व (शीघ्र छोड़ो)।

आहाहा ! परद्रव्य का ज्ञान परद्रव्य के लिये करना नहीं है ! परद्रव्य का ज्ञान वह (परद्रव्य) स्वद्रव्य में नहीं है इस हेतु ज्ञान करना है। कुछ समझ में आया ? श्री योगीन्द्रदेव के दोहरे में 'छह द्रव्य का ज्ञान प्रयत्न से करो' ऐसा आता है। परन्तु उसका हेतु - 'परद्रव्य में है, वह मेरे द्रव्य में नहीं है' - ऐसा ज्ञान करने के लिये (है)। 'छह द्रव्य को प्रयत्न से जानो...' लेकिन जानने का हेतु - फल क्या ? कि : 'स्वद्रव्य में वह - परद्रव्य नहीं है' इसलिये उसका लक्ष छोड़ने योग्य है।

यहाँ कहते हैं : उस परद्रव्य की धारकता अर्थात् परद्रव्य के धारकत्व का लक्ष शीघ्र छोड़ें। '**परद्रव्य की धारकता शीघ्र छोड़ें।**' आहाहा ! (श्रीमद् ने) १७ साल की उम्र में ऐसा कहा था !!

जिज्ञासा : परद्रव्य की धारकता है, ऐसा कबूल किया ?

समाधान : है; लेकिन उसको छोड़ो। है तो सही... और 'है' इसको छोड़ने का कहा न...? परद्रव्य की धारकता - धारकत्व शीघ्र छोड़ें।

व्यवहार रत्नत्रय - राग आदि आता है। देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा-भक्ति आदि राग आता है। परंतु कहते हैं कि : '**परद्रव्य की धारकता शीघ्र छोड़ें।**' भगवानआत्मा में लक्ष दो। आहाहा ! अरे...! जीव को कठिन पड़ता है। लेकिन बापू ! सत् है, सत् सर्वत्र है, सरल है। 'है' उसको पाना - इसमें कठिन क्या ? पर उसने (जीव ने) प्रयास नहीं किया। आहाहा ! मूल चीज़ यह है, इसकी खबर नहीं और इसके बिना सब सामायिक और पौषधव्रत और प्रतिक्रमण (किये)... लेकिन ये किसके ? ये सब विकल्प हैं। यह परद्रव्य का धारकत्व (शीघ्र छोड़ें)। पहले तो कहा था (कि) '**स्वद्रव्य के धारक शीघ्र हों।**' इसके सामने (कहा) '**परद्रव्य की धारकता शीघ्र छोड़ें।**' क्योंकि भगवान आत्मा का ज्ञान किये

बिना, जन्म-मरण का अंत हो (ऐसा) कहीं नहीं है। लाख क्रियाकांड करें (पर) ये सभी (क्रियाएँ परद्रव्य हैं)। (जब तक) पूर्ण न हो तब तक (ज्ञानी को ऐसा) व्यवहार आता है, परंतु है वह बंध का कारण। यहाँ तो कहते हैं (कि) वह परद्रव्य का भाव आता तो है, पर उस परद्रव्य का धारकत्व शीघ्र - जल्दी से छोड़ो। उस परद्रव्य को दिमाग में - ज्ञान में क्षणभर (भी) मत रखो।

`समाधिशतक' में तो एक श्लोक आता है न...! आत्मा के कार्य के अलावा, परकार्य का लक्ष आये, उसे जल्दी छोड़ो। उसे (परकार्य को) स्मरण न करो। मैं ने ऐसा किया था और... मैं ने ऐसा किया था और... इन सब विकल्पों को ज्यादा याद न करो। आत्मा के सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र - इन कार्य के अलावा, अन्य कार्य को अवकाश मत दो।

आहाहा ! स्वद्रव्य की धारकता शीघ्र करो तथा परद्रव्य की धारकता शीघ्र छोड़ो। दोनों बातें आमने-सामने हैं। यहाँ तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का शुभभाव आये, लेकिन उसको शीघ्र छोड़ो। ऐसा कहा न...! छोड़ो, शीघ्र छोड़ो; धारकता शीघ्र छोड़ो।

भगवान आनंद का नाथ प्रभु (स्वद्रव्य) इसे ग्रहण करने, इसमें जमने, इसमें रमने (के लिये जल्दी करो)। आहाहा ! करने का तो यह है। बाकी तो सब है सो (परद्रव्य) है। लोगों को कठिन लगता है कि हमारे (व्यवहार) से निश्चय हो, ऐसा कहो; आपका (सोनगढ़ का) एक एकांत है; ऐसा कहते हैं। (परंतु) सम्यक् एकांत ही है। इस परद्रव्य में व्यवहार आ गया। व्यवहार का विकल्प, वह परद्रव्य है। परद्रव्य की धारकता (शीघ्र छोड़ों) धंधे-व्यापार के व्यवहार की (यहाँ) बात नहीं है; वह तो पापव्यवहार है। पर यहाँ तो पुण्यव्यवहार जो शुभभाव, वह भी स्वद्रव्य से विरुद्ध है, इसलिये परद्रव्य का रक्षकत्व (रक्षकता) शीघ्र छोड़ो। वहाँ (इसमें) तुम्हारा कल्याण है। बाकी (अन्यथा) कल्याण नहीं है। वास्तव में तो असंग में पर के संग (का) विकल्प उठे (वह) भले ही देव-गुरु के संग का (हो, तो भी वह परद्रव्य है)।

आहाहा ! ऐसी बात !! जीव को कभी सुनने नहीं मिलती, बापू ! भटक-भटक कर मर गया। मुंबई में एक पैंतीस साल का आदमी, दो-तीन साल का विवाहित, `सिर दुःखता है' इतना कहा फिर तुरंत (मर गया)। (अभी तो) कुछ यह करुँगा और... वह करुँगा और... उतने में जिंदगी खत्म हो जाती है। प्रभु ! तब तेरा अनुभव करने का समय कब आवे ? अभी `स्वद्रव्य' वह क्या चीज़ है और उसकी प्रतीति - प्रथम दृष्टि कहाँ रखनी है, ऐसे निर्णय बिना, परद्रव्य छोड़े कैसे ? धंधा-व्यापार की तो बात एक तरफ रही, वह तो पाप है, उसे तो छोड़।

परद्रव्य और यह राग (तथा) देव-गुरु की भक्ति का राग (वह तो) परद्रव्य है। (लेकिन) भगवान ऐसा कहते (हैं कि) तेरे स्वयं की अपेक्षा हम परद्रव्य हैं। भगवान की वाणी में ऐसा आए कि परद्रव्य की धारकता जल्दी से छोड़। हमारे सामने देखना जल्दी से छोड़। आहाहा ! देखो, यह वाणी !!

अभी तो गड़बड़ बहुत हो गई है। सच्चे को झूठा साबित करे और झूठ को सच्चा साबित करे ! बापू ! सच्चा तो सत् है, वह रहेगा और वह कोई नया नहीं है, भाई !

(यहाँ) परद्रव्य का अर्थ व्यवहार किया। व्यवहार है वह परद्रव्य है। उस व्यवहार की धारकता को जल्दी से छोड़ो। आहाहा ! (अब कहते हैं :) '**परद्रव्य की रमणता शीघ्र छोड़ें।**' पहले धारकता कही थी-धारना-यह ऐसा है और वैसा है ऐसे विकल्प (-उनको छोड़ो)। अब परद्रव्य-राग में रमणता (-उसको छोड़ो)। भगवानआत्मा ज्ञानानंदस्वभाव, इसमें जो भी विकल्प उठते हैं, वे परद्रव्य हैं, उसमें (विकल्प में) रमणता - उस परद्रव्य की रमणता - शीघ्र छोड़ें। इससे पहले पाँचवें बोल में आ गया : 'स्वद्रव्य के रमक शीघ्र हों।' (अब) यहाँ नास्ति से बात की है : '**परद्रव्य की रमणता शीघ्र छोड़ें।**'

यह तो शांति का मार्ग है, प्रभु ! यह (मार्ग) कोई क्रियाकांड से, दया और व्रत और तप और भक्ति और उपवास आदि से (मिलनेवाला नहीं है)। वे (सब) तो विकल्प हैं और परद्रव्य हैं।

अरेरे...! (जीव को यह) सुनना भी कब नसीब हो ? और मनुष्यपना चला जा रहा है। हर समय मृत्यु के समीप जा रहा है क्योंकि मृत्यु का समय निश्चित है। केवलज्ञान में नक्की (निश्चित) है। उसकी आयुष्य की स्थिति निश्चित है। और उसकी-जीव की यहाँ रहने की योग्यता निश्चित है। क्या कहा ? तीन बातें कही। इस जीव का शरीर में रहने की योग्यता का काल ही नज़दीक है। नज़दीक है माने निश्चित है। वैसे आयुष्य की स्थिति तो निमित्तरूप है। आयुष्य के मुताबिक रहना - यह (बात) तो निमित्त से है, लेकिन अपनी योग्यता से उस समय में वह तो रहेगा यह निश्चित है। यह समय पूरा होकर देह तो फटाक से छूट जायेगी; यानी केवलज्ञानी ने ऐसे देखा है कि इस समय पर देह छूटने का, इस क्षेत्र में - इस संयोग से - इसी रीति से ही यह होगा। इसलिये कहते हैं कि : परद्रव्य की रमणता छोड़ दे... प्रभु !

आहाहा ! (तुझे) स्वद्रव्य की रमणता करने में परद्रव्य की रमणता छोड़नी पड़ेगी। इसे भी समझाने के लिये एक कथन नास्ति से किया है। वास्तव में तो जब स्वद्रव्य में रमता है, तब परद्रव्य छूट जाता है। परंतु समझाना हो तब कैसे समझाये ? संक्षेप

में न समझ में आये तब विस्तार करके समझाये कि स्व-चेतनमूर्ति, ज्ञान और आनंद का धाम, ध्रुव धाम, उसमें रमणता शीघ्र करें और उससे विरुद्ध राग आदि परद्रव्य को शीघ्र छोड़ें। आहाहा !

एक क्षुल्लक कहते थे (कि) महाराज (कानजीस्वामी जो ये) सब कहते हैं उसका इतना संक्षेप (मर्म है) : `पर से हट `स्व में बस' (निवास कर) इतना बस (काफी)...इतनी सी बात (इतना करो तो बस) `पर से हट' वह इस पर से - रागादि से हट; स्व-चेतन के आनंद में बस; इतना बस (काफी)... छोटी सी बात, बाकी यह सब इसका विस्तार है।

आहाहा ! यह बाहर (के संयोग की) मोहजाल (जीव को) मार डाले। यहाँ से तो फुरसत पाता नहीं है; उसे अभी दया-दान और विकल्प से फुरसत पाना (तो बहुत मुश्किल) ।

इस चौदह ब्रह्मांड में एक स्वद्रव्य है तो तू (है); इसके सिवा राग से लेकर सब परद्रव्य (हैं)। उस परद्रव्य का लक्ष छोड़। स्वद्रव्य की रक्षकता पर लक्ष रख। ध्यान में ध्येय `स्वरूप' का बना; और इसके अलावा परद्रव्य - व्यवहार आदि (के लक्ष को छोड़)।

लोगों को कठिन लगता है कि (हम) इतना दया-दान-व्रत-तप करें, (इस) व्यवहार से भी (कल्याण) नहीं होता ! - भाई वह तो परद्रव्य है।

यहाँ तो `नियमसार' में वहाँ तक कहा कि : क्षायिक समकित हो और सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र की पर्याय सच्ची (यथार्थ) हो, उसे भी हम परद्रव्य कहते हैं। क्योंकि जिस प्रकार परद्रव्यमें से (-परद्रव्य के लक्ष से निर्मल) पर्याय (उत्पन्न नहीं होती); आनंद की और शांति की नई पर्याय वृद्धिगत् होती नहीं; यानी कि शुद्धि की वृद्धि नहीं होती, उस प्रकार पर्याय के लक्ष से शुद्धि की वृद्धि नहीं होती, अतः उस निर्मल पर्याय को भी, हम परद्रव्य कहते हैं। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

ऐसा बात है !! लोगों को (दिमाग में) बैठती नहीं। बेचारे साधारण आदमी। और पंडित लोग (ऐसी बात का) विरोध करें। यह आत्मा क्या है इसकी (ख़बर नहीं); कहाँ से हटना और हटकर जाना कहाँ ? इस चीज़ (स्वद्रव्य) की महिमा आये बिना जाये कहाँ ? और राग का माहात्म्य छूटे बिना (परद्रव्य को) छोड़े कहाँ से ? जब तक व्यवहाररत्नत्रय का भी माहात्म्य रहें कि यह है; इसलिये यह (निश्चयरत्नत्रय) होता है; `वह है' इसलिये `यह' होता है, (तब तक उसका लक्ष छूटे कहाँ से ?)

श्रीमद् ने सत्संग पर ज़ोर दिया है; परंतु तात्पर्य यों कहा कि : सत्संग माने क्या ? - सत्संग माने `तू'। हम यह परसत्संग की बात भले ही करते हैं; (परंतु) सत्

भगवान आत्मा आनंद का नाथ प्रभु, ज्ञायकरस से भरा हुआ, जिसका अस्तित्व परिपूर्ण प्रभु है; उसके सामने देख न...! वहाँ जा न...! कुछ समझ में आया ?

`**परद्रव्य की रमणता शीघ्र छोड़ें।**' ज्ञानी को भी जब तक पूर्ण वीतरागता नहीं होती तब तक राग का भाव आवे। परंतु यहाँ कहते हैं कि उसकी (राग की) रमणता शीघ्र छोड़, प्रभु ! वह बंध का कारण है। धर्मी को भी अभी आसक्ति का रागभाव आवें; लेकिन वह छोड़ने लायक है। उसे छोड़ !

पहले दृष्टि में (राग-परद्रव्य) छोड़ने लायक हैं और स्वरूप आदर करने योग्य है (ऐसा) निर्णय करके, फिर परद्रव्य को छोड़ और स्वद्रव्य की रमणता में वृद्धि कर। इसमें तो पंचमहाव्रत (आदि को) परद्रव्य में डाल दिया है।

अरे ! `नियमसार' शुद्धभाव अधिकार में निर्मल पर्याय को परद्रव्य में डाला है न...! गाथा - ३८से `नियमसार' का जो शुद्धभाव अधिकार है, वह शुद्धभाव पर्याय की बात नहीं है। वह शुद्धभाव त्रिकाली (द्रव्य) की बात है। आहाहा ! शुद्धभाव माने `त्रिकाली स्वद्रव्य'। इसको वहाँ शुद्धभाव कहा है। वहाँ शुद्धोपयोग को शुद्धभाव नहीं कहा। वह शुद्ध माने त्रिकाली ज्ञायक पवित्र पिण्ड प्रभु ! वह स्वद्रव्य है। और इसके सिवा, निर्मल पर्याय को भी हम परद्रव्य कहते हैं। उस परद्रव्य की रमणता - एकाग्रता, उसे भी छोड़। (ऐसा) कहते हैं। कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! ऐसा मार्ग !! सुना न हो उसे इतना (कठिन) लगे। और पूर्व के आग्रह पकड़ रखें हो, उसे ऐसा लगे कि यह कैसा मार्ग है ? क्या जैनधर्म ऐसा है ? व्रत पालन करना और भक्ति करना, पूजा करना, दान करना... यह कोई बात (है) ? ये तो (सोनगढ़वालों को) बातें करनी (हैं)। अरे भगवान ! सुन न...प्रभु ! बातें तो बातों में रहेगी। प्रभु प्रभु में रहेंगे। यह बातें करने से बड़े (खाने की चीज़) बन जावे ऐसा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं : परद्रव्य को शीघ्र छोड़ें। `**परद्रव्य की रमणता शीघ्र छोड़ें।**' `**शीघ्र छोड़ें**' ऐसा कब हो सके ? (कि) स्वद्रव्य में पुरुषार्थ का ज़ोर भीतर जाने से, स्वद्रव्य की रमणता बढ़ने पर, परद्रव्य की रमणता का त्याग हो जाता है, छूट जाती है। लेकिन पुरुषार्थ से समझाना हो तो इस प्रकार समझायें न... (कि शीघ्र छोड़ें)।

(जीव ऐसा विचार करता है कि :) ऐसा क्या दिनभर करना ? हमें तो व्यापार करने का होता है... पत्नी-बालबच्चों को निभाना होता है... शादी की... इनको रखना या क्या करना - फेंक देवें ? (परंतु वे) तेरे कहाँ थे, बापू ! इन्हें छोड़ने में रखो। `**परद्रव्य की रमणता शीघ्र छोड़ें।**' भारी काम, बापू ! देखो न... क्षणभर में आयुष्य पूरा

हो जाता है। जहाँ देह की स्थिति पूरी हुई वहाँ ज़रा-सी देर में तीन लोक का नाथ अकेला चला जाता है ! कोई रजकण साथ में (नहीं आयेगा)। कर्म के रजकण भी कर्म के कारण साथ में आते हैं, आत्मा के कारण नहीं।

यहाँ कहते हैं : '**परद्रव्य की रमणता शीघ्र छोड़ें** !' चाहे तो भगवान की भक्ति का राग (हो) लेकिन (वह) परद्रव्य है। (राग) आता है, परंतु उसको हेय जान और स्वद्रव्य को उपादेयरूप में ज्ञेय जान। ज्ञेय तो दोनों (-राग और स्वद्रव्य) हैं। परंतु दोनों ज्ञेय में एक उपादेय ज्ञेय है और दूसरा हेय (छोड़ने योग्य) ज्ञेय है। हेयज्ञेय की बात यहाँ छोड़ने हेतु कहते हैं : '**परद्रव्य की रमणता शीघ्र छोड़ें।**' आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

आखरी बोल : '**परद्रव्य की ग्राहकता शीघ्र छोड़ें।**' छठा बोल था : '**स्वद्रव्य के ग्राहक शीघ्र हों।**'

देह की १७ साल की उम्र में (श्रीमद् को) कितना क्षयोपशम है ! थोड़ी भाषा में कितना समाविष्ट कर दिया है ! जो कहना चाहते हैं, वह भाषा बहुत थोड़ी (और) भाव बहुत ! आहाहा !

लोग बाह्यत्याग - स्त्री और कुटुंब का त्याग - होता है न...! तो उसको त्याग मानते हैं। परंतु वास्तव में तो राग का त्याग और मिथ्यात्व का त्याग वह त्याग है, वह वास्तविक त्याग है। वह त्याग कब हो ? कि स्वद्रव्य को ग्रहण करके स्वद्रव्य में रमे, तब परद्रव्य का त्याग हो। यहाँ तो बाहर में पत्नी - बच्चें, दुकान और धंधे को छोड़े तो ऐसा जाने कि अहोहो ! त्यागी हो गया। (पर) वह त्याग (नहीं) बापू !

मूल में तो जो मिथ्याश्रद्धा है, वह वास्तव में परद्रव्य है। कियोंकि वह सच्ची श्रद्ध नहीं है। (अर्थात्) वस्तुस्वरूप शुद्ध चेतन है, इस वस्तु - स्वद्रव्य की तो प्रतीति नहीं है। 'परद्रव्य - राग और पुण्य - ये मैं' यह प्रतीति तो मिथ्याश्रद्धा - मिथ्यात्व है। तो इस मिथ्यात्व के त्याग के बिना, स्व का ग्रहण नहीं होगा; और स्व के ग्रहण बिना मिथ्यात्व का त्याग नहीं होगा। पहला त्याग तो यह है। अब यह त्याग हुए बिना, अव्रत का त्याग तथा अन्य प्रमाद - कषाय का त्याग और बाहर का त्याग कहाँ से आ गया ? कुछ समझ में आया ? कठिन है, भाई ! मार्ग वीतराग त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव (का)।

आहाहा ! भगवान के वचन हैं 'ये'। श्रीमद् ने 'यह' कुछ घर का नहीं कहा है। वस्तु का स्वरूप (यह) है। शास्त्र में है। उन्हों ने छोटी उम्र में क्षयोपशम से कहा कि : पर की रमणता (शीघ्र छोड़ो)। देव-गुरु-शास्त्र तरफ का लक्ष भी पर की रमणता हुई। वे इसमें (परद्रव्य में) (शामिल हैं)। (श्रीमद् ने) फिर सत्संग का (महत्त्व) स्थापित किया है। परंतु उसका सार ऐसा कहा है कि : उस (सत्) पुरुष को पहचान और उनकी

आज्ञा का आराधन कर ! उनकी आज्ञा यह (कि) `स्वद्रव्य में आना।' यह आज्ञा है; तो लोग ऐसा समझे कि वे कहते हैं इसमें - भाषामें आज्ञा है। (परंतु ऐसा नहीं है।) उनकी - ज्ञानी की आज्ञा यह है : `स्वद्रव्य का आश्रय ले और परद्रव्य का (आश्रय) छोड़ !' अनंत तीर्थंकर, अनंत केवली, अनंत संत-मुनि `यह' एक ही आवाज़ से कहते हैं, कह गयें और कहेंगे कि : `तेरा स्वरूप जो भगवान पूर्णानंद स्वद्रव्य, उसको ग्रहण कर न...!' उसका ग्राहक हो न...! उसका ग्राहक हो और; राग का ग्राहक (होना) छोड़ दे।'

(शास्त्र में) लिखने में कहीं ऐसा भी आता है कि भाई ! ऐसा निश्चय हो जाये, उसको अभी राग होता है। व्यवहार होता है; परंतु `होता है' इसलिये व्यवहार आश्रय करने योग्य है या आत्मा को लाभदायक है। - ऐसा नहीं है। परद्रव्य का राग (शुभभाव होता है)। ऐसा भी आवे : `**अशुभवंचनार्थ**' अथवा अस्थान के राग को छोड़ने के लिये शुभभाव आवें। `पंचास्तिकाय' में ऐसा आता है : अस्थान से अथवा अशुभ से वंचनार्थ शुभभाव होता है। परंतु `होता है' इसलिये वह धर्म है और वह स्वभाव का साधन है और उसके द्वारा स्वभाव प्राप्त होवे, ऐसा नहीं है।

अतएव यहाँ कहा : परद्रव्य की ग्राहकता - परद्रव्य का ग्रहण करना, शीघ्र छोड़ो। आहाहा ! (जैसे) जिसको बहुत तृषा लगी हो, गला सूख रहा हो तब मौसंबी मिले (तो वह) गटक-गटक (गले में) उतारे। इस प्रकार (अगर तुझे) तृषा - चैतन्य की तृषा लगी हो तो प्रभु ! तू एकबार परद्रव्य की ग्राहकता छोड़। भगवान अतीन्द्रिय आनंद का नाथ प्रभु है, उसकी तुझे अगर भावना हुई हो, तो इस परभाव की ग्राहकता छोड़ दे ! अब (कोई) ऐसा कहे कि मगर वह शुभभाव तो कहीं आगे जाने पर (आगे के गुणस्थान में) छूटता है ! - यह सवाल एक अलग बात है। परंतु दृष्टिमें से तो छोड़ !

पहली - चौथी भूमिका में (-गुणस्थान में) - सम्यक्दर्शन में (समकिती को) चाहे तो देव-गुरु के संग का परिचय हो, वाणी सुनने का परिचय हो; पर उस शास्त्र की तरफ (उसकी) बुद्धि जाती है; उसे तो `पद्मनंदीपंचविंशती' में व्यभिचारिणी कहा है। यह जो स्वद्रव्य को छोड़कर परद्रव्य में लक्ष जाता है, उस राग को व्यभिचार कहा है और `प्रवचनसार' में फिर ऐसा भी कहा है : `शास्त्र का अभ्यास करना'। उसका अभ्यास स्वलक्ष को रख करके कर; परंतु है तो वह विकल्प; वह तो छोड़ने योग्य है।

आहाहा ! ऐसा कठिन पड़ता है लोगों को ! अब करें क्या ? पूरा दिन मिलता है - यह कर...! तो इसमें से (करने में से) निवृत्ति लेकर यह किया जा सकता है; कि यह छोड़ना, यह नहीं खाना, कंदमूल नहीं खाना, रात्रिभोजनत्याग करना ! पर (यहाँ) कहते हैं कि भाई तेरी चोविहार और ऐसी क्रियाएँ तो तूने अनंतबार की... सुन न.. वह

तो राग की क्रिया है। उस राग को भी शीघ्र (छोड़)। शीघ्र इसका ग्राहक न बन। कहते हैं न...! `**परद्रव्य की ग्राहकता शीघ्र छोड़ें।**' परद्रव्य की पकड़ छोड़ दे। परद्रव्य का राग है, उसको छोड़ दे।

- इन सबका सार फिर (इस बोल से पूर्व क्रमांक १०३ में है) अंतिम शब्द है : `**परभाव से विरक्त हो।**' आखरी सारभूत `यह' है : राग आदि परभाव से विरक्त हो। स्वभाव में रक्त हो। `परभाव से विरक्त हो।' संक्षेप में फिर यह सब आ गया।

पुण्य का भाव - दया-दान-व्रत का (भाव) भी परभाव है। (इन) परभावों से विरक्त हो जा। यहाँ (लोग) इन परभावों से आत्मा का कल्याण होता है, ऐसा माने ! अब `इस मान्यता' को कब छोड़े ? और यह मान्यता भी `आत्मा में बैठी' इसलिये यह तो आत्मा बन चुकी, अब इसे छोड़ा कैसे जाये ? उसको प्रतीति में आत्मा भी बराबर इसी सदृश हो गया। अब इसे किस तरह छोड़ें ?

- यहाँ कहते हैं : प्रभु ! एकबार परभाव से विरक्त हो। `विरक्त हो' में विरक्त शब्द क्यों डाला ? कि : स्वचेतनमूर्ति शुद्ध चेतन है, इसमें रक्त हो। क्योंकि वह स्थिति (स्थिरता) होने का स्थान है।

`समयसार' निर्जरा अधिकार गाथा - २०३ में आता है न...! `स्थाताका स्थान है' अर्थात् (रहनेवाले का) निवासस्थान है। जो रहना चाहे, उसका रहने का स्थान यह भगवान ध्रुव है। पर्याय निवास-स्थान नहीं है। पर्याय तो बदलती (क्षणिक चीज़) है।

आहाहा ! `**परभाव से विरक्त हो।**' बड़ेवाले पुस्तक (श्रीमद् राजचंद्र) में तेरहवें पृष्ठ पर है। `परभाव' साफ-साफ भाषा रखी - ये दया, दान, व्रत, भक्ति, तपस्या के विकल्प उठे - ये परभाव हैं। शास्त्र-वाचन यह परभाव है। श्रवण करने का विकल्प उठे, यह भी परभाव है। (अतः) स्व-भाव में रक्त हो, परभाव से विरक्त हो। लो ! यह एक शब्द सभी बातों का `सार' है। ये बारह अंग की टीका का समस्त विस्तार `यह' है कि : भगवान आत्मा आनंदकंद प्रभु - इस स्वद्रव्य - में रक्त हो। रक्त कहो, रमणता कहो, स्थिरता कहो, लीनता कहो (सब एक ही है)। और परभाव की रमणता - लीनता - एकाग्रता से विरक्त हो।

व्रत रख लिये इसलिये विरक्त हुआ, विरति हुआ...! लेकिन अभी अंदर राग है, इसे अपना समझा है; इससे तो विरक्ति हुई नहीं। अंदर राग का विकल्प उठता है, उससे तो विरक्ति है नहीं। तो विरक्ति (-विरती) आई कहाँ से ? अव्रती है वह विरक्त नहीं है और व्रती विरती है। परंतु कौन ? (कि) जिसको अंदर राग से विरक्ति हुई है; जिसे अंदर पुण्य और दया-दान-विकल्प से विरक्ति हुई है; उसे आत्मा में रक्तता होती

है। और विरक्ति और बढ़कर विशेष विरक्ति होती है; अस्थिरता से भी विरक्ति हो; तब उसको चारित्र कहने में आता है। परंतु पहले से ही जिसकी दृष्टि में विरक्ति नहीं है, उसको विरक्ति हो और विरक्त हो जाये - यह संभव नहीं है।

'**परभाव से विरक्त हो**' यह आखरी जोड़ (टोटल) लगाया है। समझ में आया? परभाव में तो जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बंधे वह (भी) परभाव है। आहाहा ! 'परभाव से विरक्त हो' इसमें आ गया न...! परद्रव्य की धारकता - रमणता - ग्राहकता - इस में, वह तीर्थंकर गोत्र बाँधे, वह शुभभाव (भी) आ गया; उस भाव को भी ग्रहण न कर। उसमें रमण न कर। आहाहा !

अब जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति बंधे और तीर्थंकर होवें; परंतु तीर्थंकर उस प्रकृति से होते हैं ? - वह तो स्वद्रव्य का आश्रय लेकर और केवलज्ञान होता है तब तीर्थंकर प्रकृति के उदय का फल बाहर में समोवसरण और वह सब - उसे आता है। तीर्थंकर गोत्र का उदय तेरहवें (गुणस्थान में) आता है, पहले नहीं आता। जब इस राग से विरक्त होकर, वीतराग और केवलज्ञान हुआ; तब तीर्थंकरगोत्र का उदय आया। परंतु उसमें इसने किया क्या ? कुछ समझ में आया ?

परद्रव्य से विरक्त हो, निवृत्ति ले, राग से निवृत्ति ले। अन्य परद्रव्य का (तो) ग्रहण - त्याग है (ही) कहाँ ? - परद्रव्य का ग्रहण - त्याग आत्मा में है ही नहीं। '**त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति**'' - पर का त्याग और पर का ग्रहण, इससे तो भगवान (आत्मा) शून्य ही है।

यहाँ तो परभाव माने राग। स्त्री - कुटुंब परिवार और व्यापार - दुकान का ग्रहण (ही) कब किया था (कि) उसको तू छोड़े ! तूने ग्रहण किया था मिथ्यात्वभाव और राग; इससे विरक्त हो, जिससे स्वरूप में तुझे रक्तता होवे। - यह इसका सार (टोटल) है। पूरा हुआ।

❁ ❁ ❁

परमात्माने नमः

श्री समयसार गाथा - ३०८ से ३११

अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टान्तपुरस्सरमाख्याति -

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिंदु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह।।३०८।।
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि।।३०९।।
ण कुदो चि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि।।३१०।।
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धि दु ण दीसदे अण्णा।।३११।।

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्परिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कङ्कणादिपरिणामैः काञ्चनवत्। एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्; तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिध्यति; तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिध्यति। अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठेत।

अनुवाद :

अब, आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टांतपूर्वक कहते हैं :-

जो द्रव्य उपजे जिन गुणोंसे, उनसे जान अनन्य वो।
है जगतमें कटकादि, पर्यायोंसे कनक अनन्य ज्यों।।३०८।।
जीव-अजीवके परिणाम जो, शास्त्रोंविषैं जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणामसे।।३०९।।
उपजे न आत्मा कोईसे, इससे न आत्मा कार्य है।
उपजावता नहिं कोईको, इससे न कारण भी बने।।३१०।।
रे ! कर्म-आश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतारके।
आश्रित हुवे उपजे नियमसे, अन्य नहिं सिद्धी दिखै।।३११।।

टीका :- प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। इसप्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीव को साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्यद्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है; उसके (कार्यकारण भावके) सिद्ध न होने पर, अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता; और उसके (-अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया (अन्य द्रव्य से निरपेक्षतयास्वद्रव्य में ही) सिद्धि होने से जीव के अजीव का कर्तृत्व का सिद्ध नहीं होता। इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है।

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-१ (हिन्दी में) ता. २१-७-१९७९

यह जो गाथा है, वह मोक्ष अधिकार की चूलिका है। मोक्ष अधिकार पूरा हुआ। (इसके बाद) प्रारंभ की जो यह गाथा है; वह मोक्ष अधिकार की चूलिका है। ३२१-गाथा से पूरे 'समयसार' की चूलिका है। चूलिका का अर्थ यह है कि : (उसमें) जो कथन हो चुका है वह भी होता है, नहीं हुआ वह भी होता है तथा विशेष स्पष्टीकरण किया हो - इसका नाम चूलिका है। यह गाथा मोक्ष अधिकार चल चुका न...! उसकी चूलिका है।

सूक्ष्म बात है। कहते हैं कि : '**प्रथम तो**' यह कहना है कि - प्रथम यानी '**तावत्**' शब्द संस्कृत में रखा है। '**तावत्**' - मुख्य बात तो यह कहनी है कि - '(प्रथम तो)' 'जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ (जीव ही है)।' सूक्ष्म बात है। 'जीव क्रमबद्ध' एक के बाद एक जो परिणाम होते हैं, वे क्रमबद्ध - आगे-पीछे नहीं; तथा पर द्वारा नहीं। आहाहा..हा ! यह 'क्रमबद्ध' का बड़ा झगड़ा (विवाद) है न...? कि: अगर 'क्रमबद्ध' इस प्रकार होवे तो पुरुषार्थ कहाँ रहा ?

'क्रमबद्ध' एक के बाद एक पर्याय जब होगी, तो है तो ऐसा ही। जीव में (पर्याय) क्रमानुसार क्रमवर्ती कहा है; यहाँ '**क्रमनियमित**' - '**क्रमबद्ध**' कहा है। जिस जीव की, जिस समय, जो पर्याय होनेवाली है, वह 'क्रमबद्ध;' यानी क्रम में आनेवाली है वह आती है; तथा उस पर्याय का स्वकाल ही वह है; जन्मक्षण वह है, जीव में जिस समय जो पर्याय होने योग्य, आगे-पीछे कोई नहीं, (यह क्रमबद्ध है)।

'क्रमबद्ध' की भारी चर्चा (संवत) २०१३ के साल में इशरी (शिखरजी) में हुई थी। (उन्होंने) 'क्रमबद्ध' का अर्थ ऐसा किया कि 'एक के बाद एक होगी, लेकिन इसके बाद यह ही, ऐसा नहीं।' तो कहा : 'एक के बाद एक है, वही वह है, उसीका नाम 'क्रमबद्ध' है।' कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई !

यह जीव ही 'आत्मा' है। उसकी पर्याय - अवस्था (वह) क्रमबद्ध - क्रमनियम (नियत) - जिस समय पर जो होगी, वह (ही) होगी। इसके बाद जो होनेवाली होगी वह होगी। बाद होनेवाली होगी वह होगी। - इस प्रकार क्रमशः होती है। (उसको) आगे-पीछे करने की ताकत इन्द्र-नरेन्द्र की भी नहीं है। आहाहा...हा !

पर इस 'क्रमबद्ध' में तात्पर्य क्या है ? यह कहते हैं : गाथा के ऊपर देखो, कहा न...! **'आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टांतपूर्वक कहते हैं।'** - 'क्रमबद्ध' द्वारा अकर्तृत्व सिद्ध करना है। सूक्ष्म बात है, भगवान ! प्रत्येक जीव की पर्याय जिस समय होनेवाली है, उसी समय होगी; आगे-पीछे करने की ताकत इन्द्र-नरेन्द्र-जिनेन्द्र की भी नहीं है। और (वह पर्याय) पर के द्वारा तो होती ही नहीं है। आहाहा..हा...हा ! सूक्ष्म बात है। ऐसा कहते हैं : 'अकर्तापना' सिद्ध करने के लिये 'क्रमबद्ध' की बात कही है। 'क्रमबद्ध' कहने के लिए 'अकर्ता' और अकर्तापना सिद्ध करने के लिये 'क्रमबद्ध' कहते हैं। आहाहा ! यह गाथा बहुत कठिन है।

जिस जीव की जिस समय जो पर्याय होनेवाली है, वह होगी। भगवान देखते हैं, इसलिये होगी, ऐसा भी नहीं है। भगवान तो ज्ञायक हैं। वे तो सर्वज्ञ हैं। वे तो (जो) होता है, उसे जानते हैं। लेकिन प्रत्येक जीव में - निगोद से लेकर सिद्ध और सब में - जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है वह क्रमशः - क्रमबद्ध - नियमशः उत्पन्न होगी। तो इसका तात्पर्य क्या ?

'प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,...' - जीव अपने परिणामों से - क्रमशः अपने परिणामों से - उत्पन्न होता है। ये परिणाम पर द्वारा तो होते नहीं हैं। अपने परिणाम से पर में कुछ नहीं होता। तथा अपने परिणाम भी 'क्रमबद्ध' - एक के बाद एक होनेवाले हैं, वही होंगे। आहाहा ! तो फिर क्रमबद्ध पर्याय है, वह होगी, तो इसमें 'पुरुषार्थ' कहाँ रहा ?' तो कहा कि : इसमें अकर्तापना सिद्ध करना है। आहाहा ! 'अकर्तापना' भी नास्ति से बात है; वरना वास्तव में (तो) ज्ञाता को ही सिद्ध करना है।

आहाहा ! सूक्ष्म बात, बापू ! भगवत् ! तेरी चीज़ ही कोई ऐसी है ! अपना पक्ष (मत) छोड़कर 'सत्य' क्या है ? (इस प्रकार सोचकर) लोगों ने कभी सुना नहीं है।

पर्याय क्रमबद्ध होती है, तो इसमें पुरुषार्थ कहाँ रहा ? तो यहाँ कहते हैं कि : क्रमबद्ध में अकर्तापना का पुरुषार्थ है ! जिस समय जो पर्याय होगी, इसका जब निर्णय करता है, तो 'ज्ञायक' पर दृष्टि जाती है; और ज्ञायक पर दृष्टि होने से राग का (कर्तृत्व

छूट जाता है)। सूक्ष्म बात है। वास्तव में तो यह (ज्ञायक), पर्याय का भी कर्ता नहीं है। लेकिन यहाँ पर इतनी ज्यादा बात ली नहीं है। (यहाँ कहते हैं कि) 'जिस समय जो पर्याय होनेवाली है,' इसका निर्णय कब होता है ? कि : इसका 'मैं अकर्ता हूँ।' तो 'अकर्तापने' का निर्णय कब होता है ? कि : अपने ज्ञायकभाव पर दृष्टि जाये; तब क्रमबद्ध का (-अकर्तापने का) निर्णय होता है। तो ज्ञायक पर (दृष्टि जाने से) 'अकर्तापने' का पुरुषार्थ आया। सूक्ष्म बात है, भगवान !

आहाहा...हा ! ('समयसार') ७२-गाथा की संस्कृत टीका में '**भगवान आत्मा**' ऐसा शब्द है। आचार्य तो 'भगवान' कहकर ही बुलाते हैं। 'भगवानआत्मा' ऐसा कहते हैं। (इस) गाथा में आया है कि : प्रभु ! पुण्य और पाप अशुचि है, मैल है। दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा के भाव भी मैल हैं। भगवानआत्मा, निर्मलानंद ज्ञाता-दृष्टा है। (परिणाम) क्रमशः होते हैं, तो भी पुण्य-पाप (के) जो परिणाम हैं (वे) तो दुःखरूप और मैल हैं।

आहाहा ! अपना आत्मा राग व पर का 'अकर्ता' है; जब ऐसी बुद्धि होती है, तब उसकी बुद्धि द्रव्य पर जाती है। कुछ समझ में आया ? द्रव्य 'ज्ञायक' है, तो ज्ञायक पर दृष्टि जाने से 'ज्ञाता-दृष्टा' का निर्णय क्रमबद्ध में होता है। 'अकर्तापने'का निर्णय 'ज्ञाता-दृष्टापने' में जाता है। आहाहा...हा ! कुछ समझ में आया ?

कोई ऐसा कहे कि : 'केवली ने जो देखा वैसा होगा...' हम (पुरुषार्थ) क्या करें ? क्रमबद्ध पर्याय होगी - भगवान ने जब (होना) देखा (है) तब होगा - तो (फिर) हम (पुरुषार्थ) क्या कर सकते हैं ? यह भारी सवाल ६३ साल पहले, संवत १९७२ में उठा था। हम पहले (स्थानकवासी) संप्रदाय में थे न...! २६ साल की छोटी उम्र थी। सत्तर (१९७०) में दीक्षा (ली) और बहत्तर में यह बात (चर्चा) चली : 'केवलीने देखा वैसा होगा। हम क्या करें ?' तो कहा सुनो : 'केवली ने देखा वैसा होगा...' तो पहले केवलज्ञानी इस जगत में हैं; ज्ञान की एक पर्याय तीन काल - तीन लोक को जानती है, ऐसी एक समय की पर्याय की सत्ता जगत में है; (प्रथम) - 'इसका स्वीकार है...?' कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है ! हमारे गुरुभाई तो बहुत कहते थे : 'क्या करें, भाई ! भगवान ने देखा होगा वैसा होगा... हम क्या पुरुषार्थ करें ?' (तो कहा) सुनो : 'भगवान ने देखा होगा वैसा होगा... तो 'भगवान हैं' ऐसा निर्णय पहले है ? 'देखा होगा वैसा होगा'- यह बाद (की बात)। 'भगवान सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकीनाथ जगत में हैं, जिनके ज्ञान की एक पर्याय तीन काल - तीन लोक को स्पर्श किये बिना, (उसको) जानती है, ऐसी सत्ता जगत में है ? अरे ! अपने द्रव्य-गुण त्रिकाल देखें; अपनी तीनों काल की पर्याय (को) तथा अन्य (छह द्रव्यों की) तीनों काल की अनंती पर्याय (को) तथा अन्य सभी द्रव्य (को) एक समय की ज्ञान की पर्याय में देखें !' - ऐसे ज्ञान की पर्याय की सत्ता जगत में है ? (-इसका स्वीकार अंदर में है ?) इसके बाद 'देखा होगा वैसा होगा' यह बाद की बात। कुछ समझ में आया ?

यह बात (चर्चा) संप्रदाय में बहुत चली... बहुत चली। हमारे (दीक्षा) गुरु बहुत शांत थे। संप्रदाय में थे, किन्तु शांत... शांत... कषाय मंद। तुरंत विरोध नहीं करते थे। पहले तो मैं ने बात कही, तो सुनते थे कि बात तो सच्ची कहते हैं।

'भगवान ने देखा...' परंतु 'भगवान जगत में हैं' ऐसी सत्ता का स्वीकार कब होगा ? 'उस केवलज्ञानी की पर्याय अन्य में है, और 'है' 'जगत में' ऐसा स्वीकार, अपनी पर्याय में कब होगा ? कि : अंदर जहाँ सर्वज्ञस्वभाव पड़ा है, उस पर स्वयं की पर्याय की नज़र जायेगी तब, केवलज्ञान की पर्याय की सत्ता का स्वीकार यथार्थरूप से होता है। सूक्ष्म बात है, भाई ! यह अधिकार क्यों लिया... कुछ समझ में आया ? प्रभु ! तेरी बात तो अलौकिक है; परंतु समझने के लिये बहुत (उत्साह चाहिये)।

भगवान परमात्मा अनंत सिद्ध हैं। महाविदेह क्षेत्र में अनेक संख्यात केवली हैं, और बीस तीर्थंकर हैं। आहाहा ! उन सब केवलज्ञानी परमात्माओं ने देखा है, वैसा होगा। ऐसे अनंत सिद्धकेवली व तीर्थंकरकेवली का ऐसा तो केवलज्ञान है कि जो एक समय में तीन काल - तीन लोक को (जैसा) देखे उसी प्रकार होगा। आगे-पीछे नहीं। - ऐसा 'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' गाथा : ३२१-२२-२३ में आता है : भगवान ने देखा है, वैसा होगा इसके सिवा कभी आगे-पीछे होता नहीं, ऐसा समकिती मानता है। इससे विपरीत माने (तो) वह मिथ्यादृष्टि है। ऐसा लिखा है।

यूँ ही (कोई) सामायिक कर ले और... पौषध कर ले और... धर्म कर ले और... मंदिर बना दे ! (किन्तु) इससे कोई धर्म नहीं है। लाखों - करोड़ों रुपये खर्च कर दे तो इसमें धर्म है ? लाखों मंदिर बना दे तो धर्म है ? - ऐसी बात है ही नहीं। वह तो जगत की चीज़ है। उसके कारण से बननेवाली है, बनती है। उसका 'कर्ता' आत्मा नहीं है; अब इसका कर्ता तो आत्मा नहीं है; किन्तु जो मंदिर का - पूजा का भाव आया, वह तो शुभभाव है, वह कोई धर्म नहीं है। (भाव) आता है... परंतु वह धर्म नहीं, वह पुण्य है। आता है, धर्मी - समकिती को - मुनि को भी शुभभाव आता है। पर वे जानते हैं कि : (यह) राग है, हेय है। वह मेरी चीज़ नहीं। और राग है, वह दुःखरूप है।

भगवान (आत्मा) है, वह अतीन्द्रिय आनंदमय है; उसका जब निर्णय आता है; तो पर्याय में आनंद आता है। भगवान ! आनंद की व ज्ञान की पर्याय साथ में हैं। वह (क्रमबद्ध) पर्याय का निर्णय करे (-होवे), तो आनंद का स्वाद आना चाहिये तो (वह) कैसे आता है ? इस पर्याय का लक्ष द्रव्य पर जाता है। पर्याय का निर्णय, पर्याय के आश्रय से नहीं होता। केवली का निर्णय भी पर्याय के आश्रय से नहीं होता। तथा अपनी पर्याय का निर्णय भी अपनी पर्याय के आश्रय से नहीं होता। आहाहा...हा ! सूक्ष्म बात है, भगवान ! ऐसी अलौकिक बात है !!

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर यह कहते हैं : सुन तो सही प्रभु ! 'हम केवलज्ञानी

हैं ऐसा निर्णय, तुझे तेरी पर्याय में आया है ? निर्णय कब होगा ? कि : पर्याय के लक्ष से होगा ? हमारे लक्ष से होगा ? पर्याय तो एक समय की है। उसके आश्रय से इसका (सर्वज्ञ का) निर्णय कैसे हो सकता है ? बदलती अवस्था है। है क्रमबद्ध लेकिन बदलती अवस्था है। उसके आश्रय से निर्णय कैसे हो ? तो इसका अर्थ यहाँ ऐसा कहते हैं : 'अकर्तापना' क्रमबद्ध का निर्णय करता है। उसको 'अकर्तापने' की बुद्धि होती है। 'अकर्तापने की बुद्धि' यह नास्ति से बात की है। अस्ति से कहें तो 'ज्ञाता-दृष्टा की बुद्धि' होती है। आहाहा..हा..हा.. ! कुछ समझ में आया ? (गाथा का) शीर्षक ज़रा समझने जैसा (है)।

यहाँ 'समयसार' निर्जरा अधिकार चल रहा था। (उन्नीसवीं बार यह चल रहा है)। पर अभी यह शिक्षण-शिविर है; तो थोड़ी मूल चीज़ तो समझे। (जगत से यह) अनोखी बात है। भाई ! मुद्दे की बात यह है। आहाहा ! मुद्दे की बात है कि :

यह भगवानआत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर जगत में है ! - ऐसा 'निर्णय' पर के लक्ष से नहीं होता। पर्याय के लक्ष से नहीं होता ! सर्वज्ञशक्ति है न...! सर्वज्ञशक्ति - गुण है, तो इसके कारण से जो दृष्टि उत्पन्न होती है, उसमें 'निर्णय' होता है कि : 'मेरा (त्रिकाली) सर्वज्ञ स्वभाव है। तथा जगत में सर्वज्ञस्वभावमें से सर्वज्ञ की पर्याय प्रगट हुई है।' ऐसा सर्वज्ञ का निर्णय हुआ। यह तो सम्यग्दर्शन हुआ। आहाहा ! 'मैं तो सर्वज्ञस्वरूपी हूँ।' मैं पुण्य-पाप के विकल्प (जितना) नहीं और मैं एक समय की पर्याय जितना भी नहीं। आहाहा..हा..हा..! 'मैं तो सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु !!'

'वह ज्ञान-ज्ञायकस्वरूपी' ऐसा कहा न...? ('समयसार') छठी गाथा में 'ज्ञायक' कहा। '**ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो**'- 'ज्ञायक'। ज्ञायक कहो या सर्वज्ञस्वभाव कहो, उसे ज्ञायकभाव कहा है। भगवानआत्मा भगवान है, और ज्ञायक इसका भाव है। यह ज्ञायकभाव 'है'। जगत में - मेरे में अस्तित्व है, सत्ता है - 'पूर्ण प्रभु मैं हूँ'। आहाहा..हा..हा.. ! मेरे में ऐसा एक गुण नहीं किन्तु अनंत गुण परिपूर्ण हैं। फिर भी, अनंतगुण की ओर दृष्टि नहीं। क्योंकि गुण-गुण के भेद का लक्ष करने से तो राग उत्पन्न होता है। अतः इस गुण-गुणी के भेद का भी विचार - निर्णय नहीं। सूक्ष्म बात है, प्रभु !

'मैं तो ज्ञान से परिपूर्ण हूँ, आनंद से परिपूर्ण हूँ, ईश्वरता से परिपूर्ण हूँ, कर्तापने के स्वभाव से परिपूर्ण हूँ, परिपूर्ण वस्तु हूँ, ऐसे अनंत गुणों से मैं परिपूर्ण हूँ'। ऐसा जो परिपूर्ण वस्तु द्रव्य है, वह एकरूप है; (उसमें) गुण-गुणी के भेद नहीं हैं। आहाहा ! जब उस 'द्रव्य' का लक्ष - दृष्टि होती है, तब जगत में सर्वज्ञ हैं और उन्होंने जैसा देखा है वैसा होगा - ऐसा समकिती को सच्चा निर्णय होता है। भाई ! सूक्ष्म बात है। भाई ! यह तो वीतराग मार्ग है !!

परमात्मा का (यहाँ) विरह हुआ। सीमंधर प्रभु परमात्मा तो वहाँ रह गये, महाविदेह में बिराजमान हैं। पाँचसौ धनुष (शरीर की ऊँचाई) है। महा विदेह में तो कुंदकुंदाचार्य गये

थे। इस बात को दो हज़ार साल हुए। आप (भगवान) तो वहाँ अरबों साल से थे और अरबों साल तक रहनेवाले हैं। (एक) करोड़ पूर्व का आयुष्य है। एक पूर्व में सत्तर लाख छप्पन हज़ार करोड़ वर्ष (७०५६०००,००,००० वर्ष) निकलते हैं। आहाहा ! ऐसी बात है ! एक करोड़ पूर्व वर्ष का आयुष्य प्रभु का है। श्वेतांबर चौरासी लाख पूर्व कहते हैं। श्वेतांबर की तो कल्पित बात है। (यहाँ) ये तो संत अनादि से कहते चले आये हैं वह बात है। दिगंबर मुनिलोग (यानी) केवली के मार्ग पर चलनेवाले...! आहाहा ! उन्होंने ऐसा कहा :

'जीव क्रमबद्ध'। वैसे तो 'गुण' सहवर्ती और 'पर्याय' क्रमवर्ती, ऐसा आता है न...? लेकिन 'क्रमवर्ती' में यह 'बद्ध' नहीं आया। इसलिये यहाँ पाठ में 'क्रमनियमित' ऐसा लिया है : 'क्रमपूर्वक,' किन्तु निश्चय से जो पर्याय होगी, वही होगी - '**क्रमनियमित**' - अकेला 'क्रम' नहीं। बहुत (गहन) चीज़ है ! आहाहा ! जयसेनाचार्य की टीका में ऐसा पाठ है (कि) कोई एक भाव भी अगर यथार्थ समझने में आये तो सारे भाव समझ में आ जाते हैं।

यह अधिकार मोक्ष अधिकार की चूलिका है। आहाहा ! तो मोक्ष किस प्रकार होता है ? और मोक्ष होने से पहले सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है ? और सम्यग्दर्शन है, वह मोक्ष का मार्ग है, तो मोक्ष का मार्ग (यानी) सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है ?

क्रमबद्ध की पर्याय में, अपनी क्रमबद्धपर्याय को (भी) आगे-पीछे कर नहीं सकते। अपने आत्मा के सिवा, पर का - कोई परमाणु का, कोई पत्नी-बच्चे के आत्मा का - कुछ कर सके, ऐसा तीन काल में (संभव) नहीं। 'मेरी पत्नी है और मेरा पुत्र है' ऐसा मानना, यह मिथ्यात्व-भ्रम-अज्ञान है। वह आत्मा भिन्न है; शरीर व रजकण भिन्न हैं; वे तेरे कहाँ से हो गये ? 'लक्ष्मी मेरी है' - लक्ष्मी तो जड़ है, धूल है, अजीव-धूल-मिट्टी है; 'तू जीव;' तेरे अंदर ये अजीव कहाँ से आ गये ? यहाँ तो इससे आगे जाकर 'पुण्य के परिणाम भी मेरे हैं' ऐसी मान्यता, मिथ्यादृष्टि की है, (ऐसा कहा)। क्योंकि यहाँ क्रमबद्ध में तो पुण्य व पाप के परिणाम से भिन्न, अपने सर्वज्ञ स्वभाव का निर्णय करते हैं, तो पुण्य-पाप का भी 'अकर्ता' हो जाता है। आहाहा ! 'मैं तो सर्वज्ञस्वभावी ज्ञायक हूँ' तो 'ज्ञायकभाव' राग को कर सकता है क्या ?

आत्मा में अनंत...अनंत...अनंत...अनंते गुण हैं। इन गुणों का पार नहीं है। आकाश के प्रदेश, अपरिमित अलोक...अलोक...अलोक, उसके प्रदेशों से अनंत गुने गुण एक जीव में हैं। इन अनंत गुणोंमें से कोई गुण ऐसा नहीं है कि विकार करे। क्या कहा यह ? अनंत...अनंत गुण हैं, उसमें विकार करे ऐसा कोई गुण नहीं है। (तो) इस पर्याय में विकार क्यों होता है ? कि : पर के लक्ष से, पर के वश होने से विकार होता है। अपने द्रव्य व गुण में विकार होने की ताकत ही नहीं है। आहाहा..हा..हा ! दया-दान के परिणाम करने

की ताकत भी अपने गुण की नहीं है। गुण तो निर्मल है। अनंता...अनंता...अनंता...अनंता गुण हैं, परंतु उसमें से एक भी गुण विकार करे, ऐसा कोई गुण है नहीं। आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि : मुख्य बात यह कहनी है कि... आचार्य महाराज अमृतचंद्राचार्य कहते हैं '**तावत्**' - हमारी मूल बात यह है कि : 'क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से '- अपने परिणाम क्रमबद्ध होते हैं; आगे-पीछे नहीं। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

वे (इशरी में) कहते थे कि 'आगे-पीछे परिणाम हों। एक के बाद एक हो रहे हो परंतु यही होते हैं, ऐसा नहीं।' (पर) यहाँ ऐसा नहीं है। 'वे जो होनेवाले (परिणाम) हैं, व ही होंगे' कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म (बात) है। यह तो परमात्मा के पेट की बात है। आहाहा !

अरे ! इसने (जीव ने) कभी (यथार्थ) निर्णय किया नहीं। पर से विमुख - निमित्त से, राग से व पर्याय से विमुख - अपने त्रिकालीस्वभाव - सन्मुख निर्णय करता है तब 'क्रमबद्ध' का सच्चा निर्णय होता है। कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! बहुत कठिन बात ! अभ्यास कुछ है नहीं, लोगों के पास फुरसत है नहीं। पूरे दिन पाप के धंधे...लोग स्त्री और बच्चों में ही रुके रहे ! पाप...पाप और पाप। धर्म तो नहीं है, परंतु पुण्य का भी कोई ठिकाना नहीं। चार घंटे शास्त्रवाँचन करना और सत्समागम (करना)। (लेकिन) सत्समागम मिलना (और) कठिन। (मिले तो) ऐसा मिले कि उल्टी पट्टी पढ़ा दे... जिससे कि मिथ्यात्व की दृढ़ता होवे। कुछ समझ में आया ? इसमें कोई धर्म-फरम (नहीं होता)। धर्म तो कोई अलौकिक चीज़ है ! अभी चौबीस घंटोंमें से चार घंटे पुण्य का शुभभाव करके पुण्य बाँधे, इसमें भी समय (फुरसत) नहीं। इसमें ऐसा धर्म (कहाँ से करे) ?

मेरी चीज़ अनंतगुण से परिपूर्ण भरी हुई है; इसका जिसे निर्णय होवे, उसे 'क्रमबद्ध' का निर्णय होता है। उसको 'केवलज्ञानी ने देखा वैसा होगा' ऐसा निर्णय होता है। कुछ समझ में आया ?

१९७२ के साल में, फागुन महीने में एक बड़ी-भारी चर्चा हुई थी। मैं ने तो ऐसा कहा कि देखो : नेमिनाथ भगवान (जब) द्वारिका में पधारे थे, तो दर्शन करने के लिये श्रीकृष्ण और उनके भाई गजसुकुमार (गज अर्थात् हाथी, हाथी के तालु के समान मुलायम जिसका शरीर था। युवान अवस्था) हाथी के हौदे पर बैठकर जा रहे थे। (श्री कृष्ण की गोद में गजसुकुमार बैठे थे। हाथी पर से देखा कि सुनार की एक अत्यंत सुंदर कन्या, सोने की गेंद से खेल रही थी। श्रीकृष्ण ने कहा कि इस कन्या को गजसुकुमार की शादी के लिये अंतःपुर में ले जाओ ! गजसुकुमार यह बात सुनते हैं। कन्या को अंतःपुर में ले गये। और वे गये अब भगवान के पास ! जहाँ भगवान को सुना; वहाँ उसी समय गजसुकुमार कहते हैं : 'प्रभु ! आपकी अगर आज्ञा हो तो मैं तो मुनिदीक्षा लेना चाहता

हूँ।' (आहाहा ! मालूम है कि अभी उनके भाई वहाँ (शादी के लिये) कन्या को तैयार कर रहे हैं।) 'प्रभु ! आपकी आज्ञा...' तो भगवान तो आज्ञा कहाँ (करते हैं) ? वे तो 'ॐ' बोलते हैं। उन्हें तो (अक्षरवाली) वाणी है नहीं। पर उनको (गजसुकुमार को) विनय करने का भाव है, इसलिये ऐसा बोलेंगे न...! कि : 'प्रभु ! आपकी आज्ञा हो तो मैं तो मुनि बनना चाहता हूँ।' आहाहा ! वे घर गये अपनी माता के पास ! वहाँ शादी की तैयारी (चल रही)। (माता से) कहा : 'माता ! मैं अपनी स्वरूप-साधना हेतु, साधकभाव से साधु बनना (चाहता हूँ) ! माता ! अनुमति दे... अनुमति दे, माँ !' आहाहा ! माता रोने लगी। तो कहते हैं कि : 'माता ! जननी ! तुझे रोना है तो रो ले; इसके बाद अब दूसरी माँ नहीं करुँगा ! अब मैं तो मोक्ष में जाऊँगा.. अनुमति दे, माँ ! मैं इस भव में मोक्ष जाऊँगा !' छद्मस्थ को... भगवान से पूछे बिना ही, इतना निर्णय हो गया ? - अरे ! भगवान आत्मा में इतनी ताकत है !! वहाँ (समोसरण में) जाकर दीक्षित हुए ! तो (मैं ने ऐसा) कहा कि : आप ऐसा कहते हो ?! 'भगवान ने देखा होगा वैसा होगा' ऐसा वहाँ (गजसुकुमार ने) कहा होगा ? एक क्षण में तो मुनि हो गये !! और मुनि होने के बाद भी भगवान से आज्ञा ली : प्रभु ! मैं तो बारहवीं प्रतिमा लेकर द्वारिका के श्मशान में ध्यान में बैठता हूँ। साधु की बारहवीं प्रतिमा बहुत जिम्मेदारीवाली है। कहा : इतना पुरुषार्थ !! (गजसुकुमार श्मशान में) ध्यान में बैठे। वहाँ उस समय उस कन्या का पिता सोमल आया... अरेरे ! राजा (मेरी) कन्या को अंतःपुर में (इस राजकुमार के लिये ले गये) और... इस राजकुमार ने ऐसी दीक्षा (ले ली !) अब फिर मेरी कन्या को लेगा कौन ? तो उसको ज़हर (-तीव्र द्वेष) हो गया। श्मशान में जो जली हुई भस्म थी उसमें पानी डालकर सिर पर (पगड़ी की तरह) बाँधी; और उसमें डाली अग्नि। (गजसुकुमार तो) अंदर उतर गये - आहाहा ! केवलज्ञान पाकर देह छूट गई। कहा कि : भगवान की यह वाणी कैसी है कि उन्होंने मुनिपना ले लिया ! ऐसा कोमल शरीर, (उसको) अग्नि (लगी)। ...और अंदर उतरकर केवलज्ञान हो गया...! देह छूट गई... संसार से निकल गये !! यह वस्तु भगवान की वाणी में कैसी आई - कि : पुरुषार्थ करके... मुनिपना लेकर... (सिद्धालय में) चले गये !! कहा कि 'भगवान ने देखा होगा वैसा होगा... देखा होगा वैसा होगा' ऐसा कहकर वहाँ बैठे रहेंगे क्या ?

आहाहा ! 'भगवान ने देखा वैसा होगा' तो 'मैं ने भी देखा वैसा होगा' (ऐसा) जब मेरे ज्ञान में भी होता है, तब देखनेवाला (-ज्ञातादृष्टा) 'मैं हूँ' (ऐसा निश्चय आता है)। आहाहा ! जब पर्याय की दृष्टि छूटकर, पर का लक्ष छूटकर अंतर में जाता है, तब 'क्रमबद्ध' का निर्णय, अपने परिणाम का निर्णय होता है। यह प्रथम पंक्ति का अर्थ है। '**प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे**' - क्रमानुसार - आगे-पीछे नहीं।

'क्रमबद्ध' का लेख 'आत्मधर्म' में बहुत आता है। इस पर लोग ऐसा कहते हैं कि 'क्रमबद्ध होगा तो फिर अपने को क्या करना ? वह तो होगा ही होगा।' किन्तु क्रमबद्ध

का `निर्णय' करने में आत्मा का `पुरुषार्थ' स्वसन्मुख होता है - यही पुरुषार्थ है। भगवंत ! (तुझे) तेरे पुरुषार्थ की गति की खबर नहीं है। आहाहा ! तेरी पर्याय जब जैसी होनेवाली होगी; (उसे) तू बदल नहीं सकता; और वह पर के द्वारा होती नहीं। - ऐसा `निर्णय' जब करने चलता है तब, प्रभु ! तेरी प्रभुता पर तेरी नज़र अंदर जायेगी। आहाहा..हा ! `प्रभुता से भरा पड़ा `मैं' प्रभु हूँ, भगवंतस्वरूप हूँ !' अगर भगवत्स्वरूप न होवे तो भगवत्स्वरूप की पर्याय आयेगी कहाँ से ? समझ में आया ? केवलज्ञान की जो पर्याय आती है, भगवंतस्वरूप - अनंतचतुष्टय जो प्रगट होते हैं, वे कहाँ से आये ? - बाहर से आते हैं ? - अंदर में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतआनंद, अनंतवीर्य, अनंतस्वच्छता, अनंतसुख इत्यादि पड़े हैं; उनकी जब एकाग्रता होती है, उस ओर नज़र जाती है, तब अनंतगुण का एक अंश सम्यग्दर्शन में प्रगट होता है।

`सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व' ऐसा श्रीमद्जी का वचन (पत्रांक : ९५, वर्ष २३ वाँ) है। टोडरमलजी की `रहस्यपूर्ण चिठ्ठी' में यह है : एकदेश ज्ञानादि का प्रगट होना वह चौथे गुणस्थान में और सर्वदेश प्रगट होना वह केवली को। क्या कहते हैं ? कि : आत्मा में जो अनंत...अनंत...अनंत...अनंत, जिसका अंत नहीं है, इतनी संख्या में गुण है। जब वह अपने स्वभाव-सन्मुख हुआ, तो जितनी संख्या है, उन सभीमें से एक अंश व्यक्त अर्थात् प्रगट, पर्याय में आया है, सम्यग्दर्शन होने पर सर्वगुणांश वह समकित। जितने गुण हैं उतने, (एक) अंशरूप व्यक्त - अल्प किन्तु व्यक्त - प्रगट होता है; अकेला सम्यग्दर्शन (श्रद्धागुण) नहीं। कुछ समझ में आया ?

`भूयत्थो' में तो ऐसा कहते हैं कि श्रद्धा को आत्मा में ले जाओ ! लेकिन श्रद्धा कोई अकेली आत्मा में नहीं जाती। श्रद्धा की मुख्यता से बात की है। समझ में आया ? अनंत गुण की पर्याय इस (द्रव्य) तरफ झुक जाती है। यह `रहस्यपूर्ण चिठ्ठी' में है : सभी गुणों की पर्याय इस तरफ ढल जाती है - अनंत-अनंत गुण की जो पर्याय है, वह इस तरफ ढल जाती है, झुक जाती है। तो जितने अनंतगुण हैं, उतना एक-एक अंश व्यक्त हो जाता है। आनंद का अंश, श्रद्धा का अंश यानी समकित, चारित्र का अंश यानी स्वरूपाचरण, प्रभुता - ईश्वरता का अंश, अनंत-अनंत गुण की पर्याय की रचना करनेवाला वीर्य, उस वीर्य का अंश - आत्मा में प्रगट होता है।

आहाहा ! ऐसा मार्ग है !! मार्ग समझे बिना, ऐसा का ऐसा, करो व्रत और करो भक्ति और करो पूजा...! - वह शुभभाव है, बापू ! वह तो संसार है। (शुभभाव) आता है... ज्ञानी को भी आता है। अशुभ से बचने के लिये - ऐसा पाठ है : `**अशुभवंचनार्थं**'। इस प्रकार अस्थान से बचने के लिये आता है; परंतु वह है बंध का कारण।

भगवानस्वरूप आत्मा क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है। उस क्रम में जो परिणाम उत्पन्न हुए वह जीव ही है। आहाहा..हा ! स्व के आश्रय से जीव

के जिस क्रमबद्ध में जो परिणाम उपजे, वह जीव है; '**अजीव नहीं**'; अजीव से नहीं उपजे हैं। परिणाम की उत्पत्ति में पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा...हा ! ऐसी बात है : (परिणाम) जीव ही है। संस्कृत में है '**जीव एव**'। परिणाम को '**जीव एव**' कहा। आहाहा ! क्या कहा? कि : अपना आत्मा - भगवानआत्मा क्रमबद्ध - समय-समय पर जो परिणाम उपजते हैं - जब ऐसा, निर्णय, अपने द्रव्य-ज्ञायक पर से हुआ, तो जो परिणाम उपजे, ये अनंत परिणाम व्यक्त हुए, वे परिणाम जीव ही हैं। अन्यथा (वैसे तो) वह है पर्याय ! फिर भी '**जीव ही है**' - ऐसा कहा '**जीव एव**' - उस परिणाम को हम जीव कहते हैं। परंतु वे परिणाम कौन से ? कि : द्रव्य के सन्मुख होकर निर्मल परिणाम होते हैं, उन परिणामों को यहाँ 'जीव' कहा है। कुछ समझ में आया ? रागादि होते हैं, पर उस राग का ज्ञान करता है।

आहाहा ! ऐसी सूक्ष्म बात !! अब, पकड़ में आये नहीं; फिर लोग एकांत है... एकांत है सोनगढ़ का ऐसे चिल्लाते हैं। चिल्लाओ... भाई ! भगवंत ! (परन्तु) तेरी चीज़ तो ऐसी है।

आहाहा ! '**जीव ही है।**' स्वयं के परिणाम उपजे - जीवद्रव्य के आश्रय से जो क्रमबद्ध परिणाम उपजे वह जीव ही है। द्रव्य के परिणाम द्रव्य ही है और अजीव नहीं है - नास्ति लगाई - यह 'अनेकांत' ? अनेकांत यह नहीं है कि अपने परिणाम अपने द्वारा भी हैं और पर के द्वारा भी हैं ! - यह अनेकांत नहीं, (बल्कि) यह तो एकांत मिथ्यात्व है। समझ में आया ? अपने परिणाम अपने द्वारा भी हैं और पर के द्वारा भी हैं, यह अनेकांत है - ऐसा लोग कहते हैं; (किन्तु) ऐसा है नहीं। अपने परिणाम अपने द्वारा ही हैं; अजीव के द्वारा नहीं; वे कर्म से नहीं हुए। कर्म का क्षयोपशम हुआ तो इस जीव के परिणाम जीव के आश्रय से हुए, ऐसा (भी) नहीं है। (अर्थात्) कर्म का क्षयोपशम हुआ इसलिये ये परिणाम हुए, ऐसी बात ही नहीं है। अपने परिणाम में कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं है। आहाहा..हा ! ऐसा मार्ग !! अरे, सुनना भी दूभर लगे।

आहाहा..हा ! यह तो वीतराग त्रिलोकीनाथ (की बात है) ! और वह भी दिगंबर धर्म में ऐसी बात है...हं ! श्वेतांबर में ऐसी बात नहीं है। स्थानकवासी-श्वेतांबर में कहीं (यह बात नहीं है)। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में तो श्वेतांबर व स्थानकवासी को अन्य मत में डाला है। अन्य मत में रख दिया है - यह (बात कोई) पक्षपात से नहीं की। प्रभु ! वस्तु का स्वरूप है। यह चीज़ तो...!!

आहाहा..हा..हा ! भगवानआत्मा अनंतगुण का पिण्ड है ! (उसकी) पर्याय जब 'क्रमबद्ध' का निर्णय करने चलती है, तब स्वयं के स्वभावसन्मुख होकर जो परिणाम उपजे वे परिणाम ही जीव हैं। जीव के परिणाम जीव ही है। अजीव के परिणाम अजीव ही हैं। - ऐसा कहकर क्या कहा ? कि : अंदर कर्म का उदय है वह मंद हो गया और कुछ खिसक

गया तो यह सम्यग्दर्शन की पर्याय उपजी - ऐसा नहीं है। कर्म का क्षयोपशम है तो अपनी सम्यग्दर्शन की पर्याय उपजी - ऐसी अपेक्षा नहीं है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

अरे ! कब (यह) निर्णय करे ? फुरसत मिले नहीं। धंधे के पीछे फुरसत मिले नहीं। पिताजी के स्वर्गवास के बाद दुकान हमें भी चलानी पड़ी थी। १९६३ से १९६८ संवत की साल। अगर हिस्सेदार साथी गद्दीपर बैठा हो, तो हम निवृत्ति ले लेते थे। हम दुकान में भीतर (बैठकर) शास्त्र पढ़ते थे। अगर हिस्सेदार साथी नहीं रहता था, तो गद्दी पर - धंधे के लिये बैठना पड़ता था।

(यहाँ) इस प्रकार उसको अनेकांत किया कि 'स्वयं के - जीव के परिणाम जीव ही है; अजीव नहीं।' अर्थात् अजीव से उत्पन्न नहीं हुए। अर्थात् कर्म का क्षयोपशम है इसलिये जीव के परिणाम में सम्यग्दर्शन हुआ, ऐसी अपेक्षा नहीं है !

२०१३ की साल में सम्मेदशिखर की यात्रा में गये थे, तब ईशरी में भारी चर्चा हुई थी। 'पंचास्तिकाय' की ६२-गाथा में ऐसा लिया है कि : आत्मा में जो पुण्य-पाप के - दया-दान के, काम-क्रोध के - विकार उपजते हैं, वे षट्कारक के परिणमन से उत्पन्न होते हैं। ये जो परिणाम होते हैं, वे स्वयं से हैं; पर से नहीं; कर्म से नहीं। (तो) सामने ऐसा प्रश्न किया कि : 'अगर कर्म से विकार नहीं होवे तो स्वभाव हो जावे ?' (मैं ने कहा:) 'परंतु वह स्व-भाव ही है पर्याय का।'

('समयसार') ३७२ गाथा में भी है : वास्तव में स्व-भाव है - इस पर्याय में विकृतपर्याय होना वह भी पर्याय का स्व-भाव है; द्रव्य का नहीं; गुण का नहीं। तो इस पर्याय में विकार होने के लिये पर की अपेक्षा है क्या ? - ऐसा बिलकुल नहीं है। ('पंचास्तिकाय') ६२-गाथा में ऐसा पाठ है : कर्म के कारक की अपेक्षा नहीं है। कर्म के कारक की अपेक्षा विकार होने में नहीं है; तो फिर धर्म की पर्याय में किसी पर की अपेक्षा है ?! (-ऐसा है ही नहीं।)

आहाहा ! निश्चय से तो ऐसा ही है कि : जब वह (पर्याय), जीवद्रव्य का अवलंबन लेती है, तब तो वह पर्याय (अपने) षट्कारक से परिणमती है। सम्यग्दर्शन की पर्याय षट्कारक से परिणमती है। - इसका अर्थ क्या है ? कि : पर्याय का कर्ता पर्याय है। पर्याय का कर्ता द्रव्य नहीं। आहाहा ! सूक्ष्म है थोड़ा। कर्ता कहना और फिर भी पर की अपेक्षा नहीं ! कर्ता परिणाम सम्यग्दर्शन है, ये (परिणाम) षट्कारक से परिणमित हुए हैं। (अर्थात्) कर्ता-कर्म-करण-संप्रदान-अपादान-अधिकरण-षट्कारक से, समकित की पर्याय उत्पन्न होती है। परंतु इस कर्ता में, इसका लक्ष स्वद्रव्य के ऊपर जाता है। यह कर्ता स्वतंत्र होकर स्वलक्ष प्रति जाता है। क्या कहा ? ऐसे कि : स्व का लक्ष आया तो उतनी 'अपेक्षा' पराधीनता की हुई या नहीं ? - नहीं। यह सम्यग्दर्शन की पर्याय षट्कारक से उत्पन्न होती है। उसमें पर की अपेक्षा तो नहीं है, परंतु द्रव्य-गुण की (भी) नहीं है। समझमें आया ? अगर द्रव्य -

गुण की (अपेक्षा) नहीं है, तो कर्तापने की पर्याय है, वह कर्ता तो है; परन्तु कर्ता किसका? कि : अपनी पर्याय का। लेकिन यह अपनी पर्याय का कर्ता है, वह कर्ता स्वतंत्ररूप से स्व के लक्ष में जाता है। सम्यग्दर्शन व ज्ञान की - धर्म की पर्याय, कर्ता होकर स्वतंत्र होती है। परंतु यह (पर्याय) कर्ता होकर स्व लक्ष पर जाती है। आहाहा ! ऐसा कि स्व का आश्रय करे तो पर्याय की पराधीनता है ? - ऐसा नहीं है। कहने में आता है : ('समयसार') ११ वीं गाथा - '**भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो**' - भूतार्थ वस्तु भगवान पूर्णानंद का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। कुछ समझ में आता है ? फिर भी, यहाँ कहते हैं कि : वह पर्याय स्वतंत्ररूप से आश्रय करती है। आहाहा ! वह पर्याय पराधीन - स्व (द्रव्य) पर लक्ष गया इसलिये पराधीन - हो गई, ऐसा नहीं है !

अब ऐसी बातें !! जगत को सम्मत हो पानी कठिन हैं। तीन लोक के नाथ वीतराग परमात्मा की यह सीधी दिव्यध्वनि है। 'ॐकार ध्वनि' सुनि अर्थ गणधर विचारे और आगम रचे और आगम सुनकर भविक जीव संशय निवारे। - वह बात यह है !! आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

(यहाँ) तो कहते हैं कि : 'जीव ही है, अजीव नहीं।' - यह अनेकांत है। जीव के परिणाम स्वयं के द्वारा भी होते हैं और पर के द्वारा भी होते हैं - ऐसा शब्द आता है: 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में ऐसा पाठ है। अकलंकदेव ऐसा कहते हैं कि : दो कारण का कार्य है : उपादान और निमित्त। वह तो निमित्त है उसका ज्ञान करवाया है। निमित्त से होता नहीं; परंतु निमित्त है, ऐसा ज्ञान कराया है। यहाँ तो एक ही कारण कहा। 'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में ऐसा आया है : '**पुव्व-परिणाम-जुतं...दव्वं उत्तर-परिणाम-जुदं**' - पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य - उपादान कारण और उत्तर पर्याययुक्तद्रव्य उपादेय (-कार्य) है। (अर्थात्) पूर्व पर्याय उपादान 'कारण' है और बाद की पर्याय 'कार्य' (है)। - यह सद्भूतव्यवहारनय से कथन है; निश्चय से नहीं। निश्चय से तो वह (उत्तर) पर्याय, पूर्व की पर्याय से भी उत्पन्न नहीं हुई। (क्योंकि) पूर्व की पर्याय का तो व्यय होकर (उत्तरपर्याय) उत्पन्न होती है। उस (उत्तर) पर्याय के उत्पन्न होने में आश्रय तो त्रिकाली द्रव्य का है। आहाहा ! कठिन बात है।

'नियमसार' में परम आलोचना अधिकार में आखिर में 'सतत सुलभं' पाठ है कि: ज्ञानी को आत्मा (सहज तत्त्व) 'सतत सुलभं' है। और प्रथम अधिकार में है कि : अज्ञानी को यह जो (बाह्य) सामग्री मिलती है वह - 'सतत सुलभं' - सहज मिलती है, उसको सुलभ है। मिथ्यादृष्टि यूँ ही लक्ष करता है : 'मुझे मिला... मुझे पैसे मिले, मुझे शरीर मिला।' (किन्तु) धूल भी नहीं मिलती। वह तो पूर्व के पुण्य के कारण मिलता है। एक ओर मुनि भगवान ऐसा भी कहें : मिथ्यादृष्टि को सामग्री मिलनी दुर्लभ है। क्यों कि उसके (वर्तमान) पुरुषार्थअधीन (वह) नहीं है। (वह तो) पूर्व के पुण्य के अधीन है; (इसलिये) दुर्लभ कहा। एक ओर सुलभ कहा। कुछ समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि : जीव के परिणाम जीव से हैं; अजीव से नहीं; कर्म से नहीं; अथवा देव-गुरु-शास्त्र से भी नहीं। अपने परिणाम जो अपने द्रव्य के अवलंबन से हुए हैं, वे परिणाम देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त से भी नहीं। आहाहा...हा !

'**अजीव से नहीं**' इसका मतलब : इस (अपने) जीव के सिवा, बाकी सब (जो) हैं (उनसे नहीं)। यहाँ अजीव में तो 'कर्म' लेंगे। वरना यह जीव, वह 'जीव' है; और इस अपेक्षा से, बाकी सारे जीव 'अजीव' हैं। आहाहा ! यह (मेरा) द्रव्य, 'द्रव्य' है; इसकी अपेक्षा; अन्य द्रव्य 'अद्रव्य' हैं। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! प्रभु के एक-एक बोल को समझना...! ये अलौकिक बातें हैं, बापू ! यह कोई (साधारण विषय नहीं) और अगर वह (यथार्थ) समझ में आ गया तो भव का अंत आ गया; उसके भव (होते) नहीं। ऐसा यहाँ कहते हैं :

'**इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से**'... भाषा देखो ! शरीर में भी क्रमबद्ध प्रर्याय होती है; आत्मा के द्वारा नहीं। (शरीर) ऐसे... हिलता है, वह (उसकी) क्रमबद्ध पर्याय होने की योग्यता से ऐसा होता है। कुछ समझ में आया ? (शरीर) पहले ऐसा था और (अब) ऐसे हुआ, यह क्रमबद्ध पर्याय में अजीव की (जो) पर्याय क्रमबद्ध के अनुसार होनेवाली थी (वह) उससे (अजीव से) हुई; आत्मा की इच्छा से नहीं; आत्मा के द्वारा नहीं। आहाहा !

'**अजीव भी...**' ऐसा क्यों कहा ? कि : पहले जीव की बात कर चुके न...? इसलिये ऐसा : '**अजीव भी**' '**क्रमबद्ध**' - इसमें (अजीव में) भी क्रमबद्ध है। आहाहा ! यह मकान बनने की पर्याय, परमाणु की क्रमबद्ध हुई है। मंदिर बनता है... तो परमाणु की पर्याय क्रमबद्ध में होनेवाली है, उससे बनता है। राज या (ट्रस्ट के) प्रमुख उसको बनानेवाले नहीं है ! आहाहा ! बहुत ज्यादा सूक्ष्म बातें !!

'**अजीव भी क्रमबद्ध**'। सब में क्रमबद्ध है न...! यह भाषा निकलती है... वह भी क्रमबद्ध। परमाणुमें से भाषा आती है; आत्मा से नहीं। आत्मा नहीं बोलता और भाषा की पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है। आहाहा ! '**अजीव भी क्रमबद्ध**'। आत्मा के सिवा, शरीर - वाणी - मन - बाह्य पुद्गल - सब अजीव; वे भी क्रमबद्ध; उनके परिणाम (जिस) क्रम से होनेवाले हैं, उस क्रम से होते हैं। कोई कहे कि, 'मैं उसका - परमाणु का सुधार कर दूँ।' (पर ऐसा होता नहीं)। कुछ समझ में आया ? कच्ची सब्जीमें से पक्की सब्जी होती है, वह अग्नि के कारण नहीं; वह क्रमबद्ध में आनेवाली पर्याय, अजीव के परिणाम हैं और अजीव के परिणाम वह अजीव है। तवे से और स्त्री के द्वारा रोटी हुई, सब्जी (अग्नि से) पकी - ऐसा नहीं। आहाहा ! विशेष कहेंगे....

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-२ ता. २२-७-१९७९

'समयसार' ३०८ से ३११ गाथा। टीका - अमृतचंद्राचार्य। एक पंक्ति कल चली थी। फिर से '**जीवो हि तावत्**' संस्कृत में शब्द है। '**प्रथम तो जीव** (**क्रमबद्ध**)' - बहुत ही सूक्ष्म बात है। यह बात आजकल लोगों को कठिन पड़ती है - अपनी पर्याय पर के द्वारा नहीं होती और अपनी पर्याय आगे-पीछे (भी) नहीं होती। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में है। यह तो ('प्रथम तो जीव' कहकर) अभी जीव की बात है। जीव में जो पर्याय होती है, वह पर के द्वारा तो नहीं होती; किन्तु वह पर्याय आगे-पीछे हो, ऐसा भी नहीं। आहाहा !

'**जं...गुणेहिं**' शब्द (गाथा में) है; उसका अर्थ यहाँ 'पर्याय' है। इस क्रमसर में 'द्रव्य' में जो-जो पर्याय उत्पन्न होती हैं, वह उसका स्वकाल है। और 'क्रमबद्ध' का यही अर्थ है : जिस समय, जो पर्याय उत्पन्न होती है, (तथा) दूसरे समय - उस समय, जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह '**क्रमनियमित**' (है)। (क्रमनियमित -) मात्र क्रम से नहीं किन्तु क्रम से और निश्चित। क्रमपूर्वक तो होती है किन्तु निश्चित (अर्थात्) जो पर्याय होनेवाली है वही होती है। समझ में आया ?

'**जीव क्रमबद्ध**' - 'क्रमबद्ध' शब्द कैसे बना ? '**क्रमनियमित**' - 'क्रम' और 'नियमित'। 'नियमित' का अर्थ 'बद्ध' किया; यानी ('क्रम' + 'बद्ध' =) 'क्रमबद्ध'। यह 'क्रमबद्ध' कहाँ से निकला ? कि : 'जं...गुणेहिं' - जो गुण यानी 'जो पर्याय' उत्पन्न होती है वह, ऐसा वहाँ से निकाला : ('जीव क्रमबद्ध')। आहाहा ! प्रत्येक द्रव्य अपने स्वकाल में अपनी पर्याय से जिस (स्वरूप में) उत्पन्न होने लायक है, उसी समय में उत्पन्न होता है।

आजकल तो कितने पंडित लोग ऐसा कहते हैं कि : आत्मा अथवा प्रत्येक द्रव्य में उपादान की योग्यता अनेक प्रकार की है। जिस तरह का निमित्त आवे, उस तरह की पर्याय होवे। तो यहाँ ऐसा कहते हैं कि : ऐसा नहीं है। जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है, वह एक ही प्रकार की वैसी (ही) योग्यता है। कुछ समझ में आया ? जैसे पानी है सफेद (निर्मल) (अगर उसमें) काला रंग डाले तो काला हो जाता है, हरा डाले तो हरा हो जाता है; (उसी प्रकार) उपादान में अनेक योग्यता है; जैसा निमित्त मिले वैसा हो जाये ? - नहीं, ऐसा नहीं है। आहाहा ! यह तो मूल मुद्दे की (महत्त्व की) बात है।

यहाँ तो अपने को 'जीव' लेना है। जीव है वह 'जीवद्रव्य' है। '**दवियं**' जो द्रव्य (अर्थात्) प्रत्येक द्रव्य - जो द्रवित हो, वह द्रव्य - द्रव्य द्रवित होता है; उसमें जिस पर्याय द्वारा द्रवित होकर उत्पन्न होता है, उसी पर्याय द्वारा ही उत्पन्न होगा। और वह 'पर्याय' उसका (द्रव्य का) कार्य; और द्रव्य को 'कर्ता' कहने में आता है। वास्तव में द्रव्य कर्ता नहीं है। वास्तव में तो पर्याय कर्ता और पर्याय कार्य। पर यहाँ ऐसा नहीं लेना। यहाँ (तो) सिर्फ

जिस समय में द्रव्य की जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है, वही उत्पन्न होगी। (बस... इतना लेना है)।

'पंचास्तिकाय' गाथा - १७२ में लिखा है कि : चारों अनुयोग का तात्पर्य क्या? कि : 'वीतरागता'। यहाँ यह शब्द है : 'जिस समय, द्रव्य की जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है, वही उत्पन्न होगी।' तो इसका तात्पर्य क्या ? ऐसा कहने में और ऐसे भाव में तात्पर्य क्या ? कि : 'इसका तात्पर्य वीतरागता (है)।' तो 'वीतरागता' किस प्रकार हो ? कि : 'जिस समय में, जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है (वही उत्पन्न होगी)' - इस बात का 'निर्णय' जब करता है; तब रागादि का 'अकर्ता' हो जाता है - 'अकर्ता होता है'।

यहाँ 'अकर्ता' सिद्ध करना है। (गाथा के) शीर्षक में वह शब्द पड़ा है : '**अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टान्तपुरस्सरमाख्याति**' - इसमें 'क्रमबद्ध' आया है कि : जो पर्याय जिस समय में (होनेवाली होगी वह) होगी। आहाहा ! (यहाँ पर्याय का कर्ता 'पर्याय') इस हद तक की बात नहीं ली। (यहाँ) 'पर का कर्ता नहीं' इतना लिया है; मालूम है; (लिखी नहीं है) परंतु अंतर में - गर्भ में तो इतनी सारी बातें समाई हुई हैं !

'जिस द्रव्य की - जीव की - जिस समय में (जो) पर्याय (होनेवाली है वही) होती है' तो इसका तात्पर्य क्या ? इसका फल क्या ? कि : वह (जीव) 'क्रमबद्धपर्याय' का निर्णय करने चलता है, तो पर्याय के आश्रय से क्रमबद्ध का 'निर्णय' नहीं होता। उसका 'निर्णय' पर्याय में, पर्याय के आश्रय से नहीं होता। इसका (ऐसे निर्णय का) तात्पर्य 'वीतरागता' है। वीतरागता 'पर्याय' में (होती) है। तो 'वीतरागता' पर्याय के आश्रय से उत्पन्न नहीं होती।

प्रश्न : (जब) तात्पर्य वीरागता है, तो वीतरागता किस प्रकार उत्पन्न हो ?

समाधान : कि : 'घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन, मति-मदिरा के पानसौं मतवाला समुझै न।' ऐसा क्यों कहा कि : 'अंतर जैन ?' कि : बाहर में तो चक्रवर्ती के पास छह खंड का राज्य भी हो, ९६ हज़ार रानियाँ हो, देवों के पास करोड़ों अप्सरायें हों, (तो भी) जैनपना अंतर में है। तो अंतर में क्या ? कि : 'घट घट अंतर जिन बसै' - वीतराग स्वरूप आत्मा है, जो जिनस्वरूपी भगवान आत्मा है, उस ओर का जहाँ लक्ष और आश्रय करने जाता है, तो पर्याय में वीतरागता - सम्यग्दर्शन होता है। - वह जैनपना घट में है। यह 'जैनपना' कोई बाह्य त्याग या अत्याग में है (नहीं); इसलिये, उसका प्रमाण खोजने जाये, तो मिले (ऐसा) नहीं है। (बाह्य में) छह खंड का राज्य हो, ९६ हज़ार रानियाँ हो, ९६ करोड़ थलसेना हो तो भी, (अंदर में) सम्यग्दर्शन ! यह घट घट में 'जिन' और घट घट में 'जैन' ! आहाहा..हा ! यह 'जिनपना' जो वस्तु का स्वरूप है, वह वीतरागस्वभावी आत्मा है, त्रिकाल निरावरण है, अखंड है, एक है, शुद्ध है, परम पारिणामिक तत्त्व - भाववाला 'निजद्रव्य' है ! इस निजद्रव्य पर दृष्टि करने से - निजद्रव्य, वीतरागस्वरूप है; उस पर दृष्टि करने से - पर्याय में 'वीतरागता' उत्पन्न होती है।

ऐसा कहकर बहुत सारा निकाल दिया। : निमित्त के द्वारा वीतरागता हो जाये, व्यवहार रत्नत्रय से निश्चय हो जाये, यह बात निकाल दी। व्यवहाररत्नत्रय, दया-दान-पूजा-भक्ति के (जो) परिणाम, उससे सम्यग्दर्शन होता है, यह बात निकाल दी। और ऐसा (भाव) करनेवाला (उसको) आगे-पीछे कर सकता है, यह बात भी निकाल दी।

फिर भी, शास्त्र में ऐसा पाठ आता है कि : इस जीव ने थोड़े - अचिर काल में केवलज्ञान लिया; '**अचिरम्**' - विशेष नहीं, अल्पकाल में लिया। पर इसका अर्थ क्या ? कि : जिसकी दृष्टि द्रव्य-ज्ञायक पर पड़ी है (अर्थात्) जिसको जिनस्वरूप की दृष्टि - अनुभव हुआ, उसका केवलज्ञान प्राप्त करने का काल ही अल्प है। क्रमानुसार तो आयेगा। कुछ समझ में आया ?

'षट्खंडागम' में तो ऐसा एक लेख है कि : जब मति और श्रुतज्ञान में जो सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु का जहाँ अनुभव हुआ, और मतिश्रुतज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ; तो (वहाँ) 'मतिज्ञान' केवलज्ञान को बुलाता है ! आहाहा..हा..हा ! क्या कहते हैं ? कि : यह जो मतिज्ञान है वह 'जिस समय में जो पर्याय होती है' ऐसा निर्णय करने चलता है; तब वीतरागस्वरूपी भगवान आत्मा पर दृष्टि जाती है और वह वीतरागभाव उत्पन्न होता है। सूक्ष्म बात है, भाई !

कोई ऐसा कहते हैं कि : चौथे गुणस्थान में तो समकित सराग ही होता है, वीतराग समकित नहीं होता। - ऐसा कहना यह झूठ है। क्योंकि 'क्रमबद्ध' का तात्पर्य वीतरागता है और 'वीतरागता' वीतरागस्वरूप भगवानआत्मा के आश्रय से होती है। चौथा गुणस्थान है, वह समकित 'वीतरागी पर्याय' (ही) है। वह तो राग की अपेक्षा से किसी ज़गह सराग समकित कहा है। 'समकित' सराग नहीं है। अभी (पूर्णतया) राग का अभाव किया नहीं है, वीतराग हुआ नहीं है, इस अपेक्षा से, समकिती को सराग समकिती कहा। समझ में आया ?

उमास्वामी (कृत) 'तत्त्वार्थसूत्र' में दो पाठ आते हैं कि : जब स्वर्ग का आयुष्य बंधता है, तो सराग संयम से बंधता है और शातावेदनीय बंधता है, वह भी सराग संयम से बंधता है। तो (वहाँ) सराग संयम (ऐसा) कहने में आया है। पर वह 'संयम' सराग नहीं है। संयम तो अंतर में वीतरागी पर्याय, वही संयम है। परंतु साथ ही साथ आयुष्य बंधने का कारण राग था, अतः राग के कारण सराग संयम कह दिया। संयम राग है - ऐसा संयम नहीं होता।

इस प्रकार समकित में सरागी समकित भी कहा है; वह तो राग का दोष निकला नहीं है इस अपेक्षा से कहा है; परंतु सम्यग्दर्शन है, वह तो वीतरागी पर्याय है। इस 'क्रमबद्ध' में भी वह (वीतरागी पर्याय) आती है। आहाहा..हा !

जिस समय जो पर्याय होगी, उसको आगे-पीछे करना, यह वस्तु की मर्यादा में नहीं है। वस्तुस्थिति ऐसी है। पर्याय का आगे-पीछे होना, यह वस्तुस्थिति नहीं है। अतः वह (पर्याय) आगे-पीछे होती (ही) नहीं है। और जब (पर्याय स्वकाल में) हुई है, उसका यथार्थ ज्ञान जब

होनेवाला है (तभी होगा)। तो यथार्थ ज्ञान कब होगा ? (अर्थात्) जो पर्याय क्रमबद्ध में आई है, उसका यथार्थ ज्ञान कब होगा ? कि : जब वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा (जो) है, उसका - स्व का ज्ञान होगा, तब उस (क्रमबद्ध) पर्याय का ज्ञान (यथार्थ) होगा। आहाहा..हा ! कुछ समझ में आता है ?

कल कहा था न...? (विक्रम) संवत १९७२ में (-६३ वर्ष पहले) संप्रदाय में बड़ा सवाल उठा था। (हम नवदीक्षित, २४ वर्ष (की उम्र,) ७० में दीक्षा ली, तब ७२ में दीक्षा को दो साल हुए थे। हम तो पहले से ही यह कहते थे, लेकिन बाहर बात बाद में रखी।) वे लोग (संप्रदाय के साधु) ऐसा कहते थे कि : 'केवली ने देखा वैसा होगा।' ऐसा तो यहाँ भगवतीदासजी भी कहते हैं कि : 'जो-जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।' - पर इसका तात्पर्य क्या ? 'उन वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने (जैसा) देखा वैसा होता है' तो ये वीतराग सर्वज्ञ जगत में 'हैं'... ऐसी सत्ता का स्वीकार प्रथम है...? - उस सत्ता के स्वीकार के बाद, 'उसने देखा वैसा होगा' - यह तो बाद की बात ! यह भारी बात (चर्चा) तो ७२ से चल रही है। (दीक्षा)गुरु ने तो मेरी बात स्वीकार (सम्मत) कर ली; लेकिन गुरुभाई बहुत विरोध करते थे कि : 'आत्मा पुरुषार्थ बिल्कुल कर नहीं सकता, सर्वज्ञ ने देखा है उस दिन होगा।'

प्रभु ! यह तो वीतराग की वाणी में यह 'सार' आया है। वीतराग की वाणी जहाँ सुनी तो उसमें ऐसा आया कि : तेरी पर्याय में जब वीतरागता की पर्याय होगी, वह पर्याय के स्वकाल में होगी। तो 'वह स्वकाल में होगी,' ऐसी 'पर्याय' का जहाँ निर्णय करता है, तो (वह) त्रिकाली (निज) वीतराग (स्वभाव) का निर्णय करता है, तो (वहाँ) स्वकाल में वीतरागी पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, प्रभु !

शास्त्र तो गहन हैं !! ये कोई साधारण शब्द नहीं हैं। कुंदकुंदाचार्य '**दवियं जं... गुणेहिं...**' बस ! इसमें से सार निकाला है। आहाहा..हा ! '**दवियं जं...गुणेहिं**'। '**गुणेहिं**' माने यहाँ 'पर्याय' ली। 'गुण' कब उत्पन्न होते हैं ? यहाँ पाठ तो यह है न...! '**दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं**' - द्रव्य में जिस प्रकार पर्याय उत्पन्न होनेवाली है, वह उत्पन्न होती है। इसमें से अमृतचंद्राचार्य ने - '**क्रमनियमित**' निकाला !

यहाँ परमात्मा... ये संत कह रहे हैं, वे परमात्मा ही कह रहे हैं : गुण की जिस समय में जो पर्याय द्रवित होती है (वह) उत्पन्न होगी, ऐसा उसमें है, वह '**क्रमनियमित**' है। '**क्रमसे**' तो ठीक, किन्तु '**नियमित**'। यानी जो पर्याय होनेवाली है वही होगी। - इसकी भारी चर्चा संवत् २०१३ में ईशरी में हुई थी।

'केवलज्ञानी ने देखा वैसा होगा, हम पुरुषार्थ कहाँ (कैसे) करें ?' - यह चर्चा संवत् १९७२ में संप्रदाय में हुई थी। प्रभु ! सुन ! इस जगत में केवलज्ञान एक समय की पर्याय है। वह तीन काल और तीन लोक को बिना स्पर्श किये जानती है, ऐसा एक पर्याय

की सत्ता का सामर्थ्य है। - प्रथम ऐसी सत्ता के सामर्थ्य की प्रतीति है क्या ? 'उसने देखा वैसा होगा' - यह बाद की बात। जब उस एक समय की पर्याय का इतना सामर्थ्य ! - ऐसा जो 'निर्णय' करता है, (वह निर्णय), पर के सामर्थ्यमें से या पर्याय के आश्रय से नहीं होता। पर के आश्रय से तो नहीं होता, किन्तु पर्याय के आश्रय से (भी) वह 'निर्णय' नहीं होता। कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! वीतराग मार्ग...!! आहाहा..हा !

यह तो हम कर दें... मंदिर बना दें... ऐसा हुआ न...! कौन बनाये, प्रभु ! वह तो अपनी पर्याय के काल में, '**दवियं जं उप्पज्जइ**' - अपनी पर्याय के काल में उत्पन्न हुआ है। यह मंदिर बनाये कौन ? वहाँ प्रतिमा को स्थापित करे कौन ? (ऐसा) शुभभाव आये; तो वहाँ उस शुभभाव को निमित्त कहने में आता है। (अर्थात्) उस क्रिया में शुभभाव को निमित्त कहने में आता है। लेकिन शुभभाव के कारण यह हुआ - ऐसा नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि : जब 'क्रमबद्ध'का निर्णय करते हैं अर्थात् 'केवली ने देखा' ऐसा निर्णय करते हैं तो ऐसे 'निर्णय' में पर्याय - ज्ञानस्वरूपी प्रभु में - घुस (प्रवेश कर) जाती है। 'त्रिकाली ज्ञान हूँ, सर्वज्ञ हूँ संपूर्ण सर्वज्ञ हूँ।' वे (केवली) सर्वज्ञ हैं' - ऐसा निर्णय करने में 'मैं सर्वज्ञ पूर्ण हूँ' (- ऐसा आता है)। आहाहा..हा !

अल्पज्ञान के आश्रय से सर्वज्ञ का सच्चा निर्णय नहीं होता। बाहर का निर्णय होता है। ऐसा ('प्रवचनसार') ८० गाथा में आता है। 'जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं'। यह तो व्यवहार है। अर्हंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना, वह तो अभी व्यवहार है। और उस पर्याय का निर्णय करना, वह भी विकल्प है-राग है।

आहाहा..हा ! अपना स्वरूप है, वह सर्वज्ञ है। यह सर्वज्ञपना आया कहाँ से ? इसका स्वभाव सर्व-ज्ञ है। 'है' इसमें से प्राप्त की प्राप्ति है, कुएँ में होता है, वह उबारे में आता है। इस प्रकार अंदर में (आत्मा में) है, वह बाहर आता है। आहाहा..हा ! भगवानआत्मा सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु, त्रिकाली, अनादि - अनंत (है)। उसे आवरण भी नहीं, अपूर्णता नहीं, विरुद्धता नहीं, विपरीतता नहीं - ऐसा सर्वज्ञस्वभावी भगवान; उसकी ओर जब दृष्टि जाती है, तब पर्याय में सर्वज्ञ का निर्णय - सम्यग्दर्शन - वीतरागी पर्याय में - होता है। उस समय साथ-साथ पर - तीर्थंकरादि का सर्वज्ञपना व्यवहार से निश्चय में आया। ऐसे निश्चय में 'यह' आया। लेकिन परद्रव्य का सर्वज्ञपना वह तो परद्रव्य का है; और परद्रव्य का लक्ष करने से तो विकल्प ही उठते हैं। (अर्थात्) परसर्वज्ञ हैं, उनका निर्णय करने में तो विकल्प उठता है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि : 'वह अंतर्दृष्टि जो वीतरागस्वभाव है, उसे सिद्ध करना है। तू वीतराग प्रभु अंदर है; अतः तेरी (वीतरागी) पर्याय, जिस समय में उत्पन्न होती है, वह उत्पत्ति, त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करने से होती है। आहाहा..हा ! यह गज़ब बात है !! हम सर्वज्ञ हुए तो किस प्रकार हुए ? (क्या) पर्यायमें से सर्वज्ञ-पर्याय आई है ? 'प्रवचनसार'

टीका में पाठ है : त्रिकाली ज्ञायक को - ज्ञानभाव को `कारण' रूप में ग्रहण करके `कार्य' - सम्यग्दर्शन - ज्ञान होता है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

वह भी यहाँ आया कि : प्रथम का अर्थ : `**तावत्**'। `**तावत्**' का अर्थ `**मुख्य**'। मुझे ऐसा कहना है कि - और वस्तु की मर्यादा भी यह है कि - `**तावत्**' - `**प्रथम तो जीव क्रमबद्ध**' - क्रमानुसार जो परिणाम होनेवाले हैं, वे होंगे। कुछ समझ में आया ?

संवत् २०१३ में ईशरी में, विद्वानों की उपस्थिति में यह चर्चा चली थी : वे तो ऐसा कहें कि `क्रमबद्ध है तो सही; लेकिन इसके बाद यह ही (पर्याय) होगी, ऐसा नहीं; चाहे जैसी पर्याय हो - वह क्रमबद्ध (है)।' तब कहा कि : `ऐसा नहीं है। जिस समय की पर्याय जैसी आनेवाली होगी, वही आयेगी; अन्य नहीं; आगे-पीछे नहीं।'

और (दूसरी) एक बात (चर्चा) यह हुई : आत्मा में विकार होता है, वह अपने द्वारा अपने षट्कारक परिणमन से होता है; कर्म के कारण नहीं।

अपने त्रिकाली द्रव्य और गुण में विकार होने की योग्यता है ही नहीं। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध - पवित्र है। है अनंत गुण, किन्तु सब पवित्र हैं। तो पवित्र गुण अपवित्रता करे !? - ऐसा होता ही नहीं है। पर्याय में जो अपवित्रता होती है, वह उन पवित्र गुणमें से नहीं; वह निमित्त के और पर के वश, अपने से होती है; वह निमित्त से नहीं। परंतु (स्वयं) निमित्त के वश होकर पर्याय में विकार करता है। वह विकार पर्याय में षट्कारक द्वारा परिणमित होता है; पर के कारण नहीं। द्रव्य-गुण द्वारा (भी) नहीं। यह राग कर्ता, राग कार्य, राग साधन, राग अपादान, राग संप्रदान, राग आधार - (इस प्रकार) षट्कारक से होता है। जब विकार में ऐसा है तो निर्विकारी पर्याय में क्या ? निर्विकारीपर्याय जो धर्मपर्याय - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह पर्याय भी अपने द्वारा - षट्कारक द्वारा - परिणमन करती है; उसे किसी द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं है। उसे व्यवहार की तो अपेक्षा नहीं है कि व्यवहार है तो उसे निश्चय समकित हुआ, यह बात तो है ही नहीं। लेकिन जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अपने त्रिकाली द्रव्यस्वभाव जो ज्ञायकभाव; उसके अवलंबन से उत्पन्न होता है - यह भी अपेक्षित बात है। बाकी तो पर्याय कर्ता, पर्याय कर्म, पर्याय करण आदि पर्याय के षट्कारक पर्याय से है। कुछ समझ में आया ? ऐसी बात है, भाई !

इस एक पंक्ति में तो बहुत समा दिया है ! यह तो सिद्धांत है। यह कोई कहानी नहीं है। यह कोई कथा नहीं है। आहाहा ! `केवली ने देखा' ऐसा निर्णय होने में भी `केवलज्ञानी' का निर्णय करना पड़ेगा। `केवलज्ञानी जगत में है' - ऐसी सत्ता का स्वीकार करे, तब उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है। इस `क्रमबद्ध' का निर्णय करने चलता है तो इसके `तात्पर्य' की (-वीतरागता की सिद्धि) भी द्रव्यस्वभाव पर नज़र जाती है (तब होती है)। कुछ समझ में आया ?

'प्रवचनसार' में ४७ नय लिये हैं। 'काल आने पर भी मोक्ष और काल नहीं आने पर भी मोक्ष' ऐसा पाठ है। (अगर) दोनों हैं तो 'यह क्रमबद्ध' है, तो 'अकाल में मोक्ष' कहाँ से आया ? किन्तु इसका अर्थ दूसरा है। 'काल आने पर (मोक्ष)' तो उसी समय होता है, (अर्थात्) उस क्रम की पर्याय जब आनेवाली है, तब होता है। लेकिन 'काल नहीं आने पर (मोक्ष)' क्यों लिया ? कि : स्वभाव व पुरुषार्थ साथ-साथ लेना है। क्रमबद्ध के साथ अकेला स्वभाव और पुरुषार्थ लेना है; पाँच समवाय साथ में लेने हैं; तो काल के अलावा, अन्य चार समवाय मिलाकर 'काल नहीं आने पर (मोक्ष)' कहने में आया है। परंतु अकाल का अर्थ ऐसा नहीं है कि (वह क्रमबद्ध नहीं है) कुछ समझ में आया ?

अरे...अरे ! ऐसा (दुर्लभ) मनुष्यत्व मिला ! अरे ! बड़ी मुश्किल से तो निर्णय करने का अवसर आया है। 'सब अवसर आ गये हैं' (ऐसा) 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में श्री टोडरमलजी ने लिखा है। आहाहा ! तेरी नींद उड़ा दे, जागृत हो जा...नाथ ! प्रभु ! तेरी शक्ति तो अनंत-अनंत गुण से भरी पड़ी है, उसे जगा दे ! तू निद्रा में सो रहा है। अपने स्वरूप की खबर नहीं है और रागादि में अपनापन मानता है। - ये सारे प्राणी 'असाध्य में (लगे हुए) हैं। मरते समय बेहोश हो जाते हैं न... (पर) यह तो जिंदे में असाध्य है ! साध्य जो त्रिकाली ज्ञायकमूर्ति प्रभु है; उसकी दृष्टि नहीं, उसका अनुभव नहीं, उस तरफ का (कोई) आश्रय नहीं; और राग का आश्रय, व्यवहार का आश्रय - ये सब अंधत्व हैं।

'समयसार' निर्जरा अधिकार, कलश - १३८ में पाठ है : '**आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ता...सुप्ता।**' आहाहा ! संबोधन करते हैं : '**अन्धा**' - हे अंध प्राणिओं। '**तद्विबुध्यध्मन्धा...**' - दूसरी पंक्ति। (अज्ञानी को) अंधा कहते हैं : हे अंधा ! सब देखा मगर अपनी चीज़ न देखी तो तू अंधा है। आहाहा ! संबोधन है : अंधा ! हे अंध प्राणिओं ! अरे ! जो देखने की चीज़ थी वह तो देखी नहीं, जाननेवाले को जाना नहीं, देखनेवाले को देखा नहीं। और जानने में जो चीज़ आती है, उसे जानकर (वहाँ) रुक गया !

वह भी वास्तव में उस चीज़ को जानता नहीं है। वास्तव में तो अपनी पर्याय को ही जानता है; पर को नहीं जानता। पर तो असद्भूतव्यवहारनय से कहने में आता है। पर को जाननेवाली पर्याय (भी) अपने में अपने से अपने को जानती है। वह पर्याय को जानता है; किन्तु वह पर्याय तो 'अंश' है। भगवान त्रिकाली आनंदकंद प्रभु शुद्ध स्वभाव से पूर्ण भरा हुआ भगवान (आत्मा) 'अंशी' है। आहाहा..हा ! हे अंधा ! वहाँ नज़र कर। पर्याय में - राग, दया, दान, व्रत में - रुक गया (उसे) तो यहाँ अंधा कहते हैं। (कहते हैं कि :) अंधा है तू अंधा ! तेरी (मूल) चीज़ जो राग से भिन्न, अंदर पूर्णानंद का नाथ, सच्चिदानंद प्रभु, सत् यानी शाश्वत ज्ञान और आनंद के जल से भरा सागर है। प्रभु ! वहाँ तू नज़र कर। इस 'क्रमबद्ध' में 'यह' है। समझ में आया ?

'क्रमबद्ध' में जिस समय जो होगा, 'वह जिस समय जो होगा' - उसके सामने

देखना है ? (-ऐसा नहीं है)। वहाँ तो 'अकर्तापना' और 'ज्ञातापना' सिद्ध करना है। पाठ तो यह आया। 'अकर्ता' कहो या 'ज्ञाता' कहो। 'ज्ञाता' भगवान सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु, सर्वदर्शी, अतीन्द्रिय आनंद का पूर्ण नाथ ('मैं हूँ') - ऐसा निर्णय करता है, तो उसे सम्यग्दर्शन होता है। यह बात (तो नींव की) है, भाई ! इसके बिना, सब शून्य है, इकाई बिना के शून्य हैं। आहाहा ! यहाँ 'अंधा' कहकर बहुत बड़ी बात कर दी है !

अब अपना जो चल रहा है वह 'क्रमबद्ध' आया न...! '**जीव क्रमबद्ध**'। आहाहा ! कोई ऐसा मानते हैं (कि) 'इसमें पुरुषार्थ (की बात) उड़ जाती है'... 'इसमें पुरुषार्थ करने का नहीं रहता'... 'जिस समय जो पर्याय होनेवाली होगी, वही होगी' (तो) इसमें हम क्या करें ? - पर इसका 'निर्णय' करने में, तेरा पुरुषार्थ स्वभावसन्मुख जाता है, तब 'क्रमबद्ध' का निर्णय होता है। कुछ समझ में आता है ?

हमारे यहाँ यह चर्चा संवत् १९७२ से है। और संवत् १९७१ से यह पहली चर्चा चली थी : 'कर्म के द्वारा विकार कभी भी तीन काल में भी नहीं होता।' क्योंकि 'कर्म परद्रव्य है' तो परद्रव्य के द्वारा आत्मा में विकार हो सकता है ? - तीन काल में ऐसा नहीं होता।

परद्रव्य अपने को (-आत्मा को) कभी स्पर्श ही नहीं करता। 'समयसार' तीसरी गाथा में यह है : प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायरूपी धर्म का चुंबन करता है। लेकिन परद्रव्य की पर्याय को कभी छुआ नहीं, चुंबन किया नहीं और स्पर्श किया नहीं। अतः आत्मा ने कर्म को छुआ ही नहीं है। कर्म ने भी आत्मा का स्पर्श किया ही नहीं। आहाहा ! तेरे अपराध के कारण तेरे में मिथ्याभ्रांति और राग-द्वेष तेरे द्वारा उत्पन्न होते हैं, कर्म के द्वारा नहीं। इस मिथ्याभ्रांति और विकार का नाश करना हो, 'ये (विकारादि) मेरे में नहीं हैं' ऐसा निर्णय करना हो तो ज्ञायक की ओर जाना पड़ेगा।

शास्त्र (-तात्पर्य) 'यह' (है) ! (इसे जाने) वह पंडित है ! (लोग) पंडिताई की बातें तो बहुत करते हैं ! परंतु मूल चीज़ तो अंदर (अलग तरह की है)। आहाहा ! अनंतबार ११ अंग भी पढ़ डाले। एक अंग में १८ हज़ार पद; और एक पद में ५१ करोड़ से अधिक श्लोक, ऐसे ११ अंग भी कंठस्थ किये - इसमें क्या आया ? - वह तो 'परज्ञेयनिष्ठ' है। शास्त्र का ज्ञान वह परज्ञेय (है)। 'ज्ञेय' पर है - उसके ज्ञान में 'निष्ठ' है- (वह) 'स्व-ज्ञान' नहीं। आहाहा..हा !

बहिनश्री के वचनामृत में आता है : शास्त्र का ज्ञान परज्ञेयनिष्ठ है; अपने ज्ञेय में नहीं है। स्वयं के ज्ञेय में (निष्ठ) तो (तब होता है कि) जब पर्याय में 'क्रमबद्ध' का निर्णय करता है। 'जिस समय में जो (पर्याय) होनेवाली होगी वही होगी' इसका निर्णय करता है तो (पर्याय) अंतर में झुक जाती है। दृष्टि का विषय आत्मा हो जाता है। दृष्टि का विषय क्रमबद्धपर्याय नहीं रहता। आहाहा..हा ! ऐसी बात है, भाई ! आजकल (लोगों को) समझना

कठिन पड़े !

भाई ! मुद्दे की बात है ! मूल बात यह है ! यह (बाहर में) तो (ऐसी बात चल रही है कि) प्रतिमा ले लो और... यह ले लो ! परंतु वे कोई प्रतिमा नहीं है। प्रतिमा आई कहाँ से ? अभी सम्यग्दर्शन की तो खबर नहीं है। और सम्यग्दर्शन कैसे हो ? उसकी (भी) खबर नहीं है। और पर्याय 'क्रमबद्ध' होती है, उसको आगे-पीछे करने की किसी की- इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र की - ताकत नहीं है; (फिर भी) तुम (अभिप्राय में) पर्याय को आगे-पीछे कर दो और धर्म हो जाये ? (यह नितांत असंभव है)। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई !

आहाहा ! भाषा तो सादी है न... प्रभु ! भाषा कोई संस्कृत और व्याकरण जैसी कठिन नहीं है। भाषा तो सादी है। प्रभु सादा है; अंदर निरावरणस्वरूप, परमात्मस्वरूप, पूर्ण (विद्यमान) पड़ा है ! - उसका आश्रय लेने से 'क्रमबद्ध' का सच्चा निर्णय होता है। क्रमबद्ध का निर्णय करने में, स्व का आश्रय लेने से, सम्यग्दर्शन की पर्याय - भव के अंत की पर्याय - उत्पन्न होती है। कुछ समझ में आया ?

यह कहा : '**जीव क्रमबद्ध**'। '**जं...गुणेहिं**' इसका अर्थ निकाला : जिस पर्याय से उत्पन्न होता है - वह अपने परिणामों से (अर्थात्) वे परिणाम स्वयं द्रव्य के हैं - यहाँ तो फिर ऐसा कहना है। अन्यत्र कहते हैं कि : परिणाम जो हैं, वे आत्मद्रव्य के हैं ही नहीं। पर्याय पर्याय की है। द्रव्य द्रव्य का है। क्योंकि : दो वाच्य हैं; तो अंदर दो वाचक हैं। वाचक - वाच्य दोनों स्वतंत्र हैं। पर्याय भी स्वतंत्र व द्रव्य भी स्वतंत्र है। आहाहा ! पर यहाँ तो पर से भिन्नता करने की अपेक्षा से (कहा कि :) '**अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ (जीव ही है, अजीव नहीं)**।' इस प्रकार अपने परिणामों से - द्रव्य अपने परिणामों से - तो परिणाम अपने - द्रव्य के हुए। समझ में आया ?

आहाहा ! प्रभु... उनकी वाणी !! ये कुंदकुंदाचार्य दिगंबर संत ! उनकी वाणी !! (अन्यत्र) कहीं नहीं है। उसे समझने के लिये - अपना पक्ष छोड़कर, अपने गढ़े हुए (मिथ्या) अभिप्रायों को छोड़कर, वस्तु स्वरूप की मर्यादा क्या है - इसका अभिप्राय बनाना। यह कोई अलौकिक बात है (कि) जिस अभिप्राय में भगवान आत्मा आता है। आहाहा ! इसके बिना अभिप्राय का विषय द्रव्य नहीं बन पाता !

यहाँ कहते हैं : '**जीव ही है**'। - एकांत कह दिया : इन परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है। इन परिणामों से उत्पन्न होता हुआ यानी ये परिणाम जीव ही है। 'परिणाम जीव ही है'। संस्कृत पाठ की प्रथम पंक्ति यह है : '**जीव एव**' - जीव ही है। अरे प्रभु ! 'परिणाम जीव ही है ?!' 'जीव तो द्रव्य है और ये परिणाम तो एक समय की पर्याय है।' यहाँ तो द्रव्य जिस समय परिणमन करता है ऐसा लेकर, 'द्रव्य अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ' - इसमें (यह कहा कि वे) परिणाम पर के नहीं - आत्मा (स्वयं के) सिवा, पर के परिणाम उत्पन्न कर नहीं सकता। शरीर-वाणी-मन की ये सब अवस्था (जो)

होती हैं, वे आत्मा के द्वारा बिलकुल नहीं होती। आहाहा ! आत्मा अपने परिणामों के सिवा, अन्य की पर्याय - परिणाम को तीन काल में - कदापि कर सकता ही नहीं। पैर चल रहे हैं... तो इस क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं। पैर चलते हैं (परंतु) ये पैर जमीन को स्पर्श नहीं करते और (फिर भी) पैर चलते हैं। क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी भी स्पर्श नहीं करता। आहाहा..हा ! सूक्ष्म पड़े ! लेकिन प्रभु ! मार्ग यह है। (परम सत्य) बात यह है ! यह इसको (जीव) को करना (-समझना) पड़ेगा।

अहो..हो ! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ - अनुसारी दिगंबर संत - केवली के पदचिह्नों पर चलनेवाले - केवलज्ञान की पगडंडी पर चलनेवाले और अल्पकाल में केवलज्ञान लेनेवाले...! आहाहा..हा ! (यह उनकी वाणी !!)

पहले कहा न...! कि : अपने द्रव्य के आश्रय से जब मति-श्रुतज्ञान हुआ; तब यह मतिज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। - 'षट्खंडागम' में है : आओ...आओ...अल्पकाल में केवलज्ञान आओ ! अब मेरा केवलज्ञान ज्यादा देर दूर न रहे। आहाहा !

एक आदमी कोई जा रहा हो न...भाई ! इधर आओ, इधर आओ, यहाँ से जाने का है, यह रास्ता है - सिद्धपुर जाने का, प्रभु ! (तू जिस रास्ते से जा रहा है) वह बाड़े की ओर जाता है। (-गलत रास्ता है)। वहाँ से जाना है या खुले (सच्चे) रास्ते से जाना है ? गाड़ी के रास्ते तो दोनों हैं (परंतु उसमें एक गलत है)। भाई ! सिद्धपुर जाना हो तो इधर आ...इधर आ ! इस तरह यहाँ केवलज्ञान से कहते हैं कि : आओ...प्रभु ! नज़दीक नज़दीक आओ ! अब आप दूर नहीं रह सकोगे। आहाहा ! दूज का उदय हुआ है तो पूनम होगी ही होगी। दूज उगे तो पूनम होगी ही होगी।

इस प्रकार इस 'क्रमबद्ध' का निर्णय करनेवाला समकिती अल्पकाल में केवलज्ञान लेने के लिये (पुरुषार्थ) कर लेगा। आहाहा ! मुश्किल लगे जगत को। (किन्तु) भाई ! अंतर की चीज़ (यह) है। प्राप्त की प्राप्ति है। 'है' इसमें से लेना है। 'नहीं है' उसमें से तो लेना नहीं है। अंदर प्राप्त पड़ा है। आहाहा..हा !

(यहाँ कहते हैं :) '**जीव ही है**' - जीव के परिणाम जीव ही है। (तथा 'समयसार') ३२० गाथा में कहेंगे कि : मोक्ष व मोक्ष के मार्ग को 'जीव' करता नहीं है। इसे 'परिणाम' करता है। इस गाथा के बाद गाथा - ३२० लेने की है। ३२० (-गाथा) में ऐसा पाठ है : उदय व निर्जरा, बंध व मोक्ष - इसको आत्मा जानता है। आत्मा मोक्ष को करता नहीं है। निर्जरा को जानता है, उदय को जानता है, बंध को जानता है और मोक्ष को भी जानता है। 'करता है' ऐसा वहाँ नहीं लिया। वहाँ तो (ऐसा लिया कि जिसे) अंदर द्रव्य की दृष्टि निर्मल - पूर्ण हुई तो उसे पर्याय का आश्रय भी नहीं है। (दृष्टि को) पर्याय का आश्रय व अवलंबन नहीं और पर्याय को द्रव्य का भी अवलंबन नहीं। यह विषय 'प्रवचनसार' गाथा - १७२, अलिंगग्रहण - २० वें बोल में तो ऐसा लिया है कि : यह आत्मा -

अपना द्रव्य - प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो आत्मा; यह है...यह है...यह है, इस प्रत्यभिज्ञान का कारण (जो) आत्मा - अपना द्रव्य। (ऐसे) अपने द्रव्य को स्पर्श नहीं करती, ऐसी शुद्ध पर्याय (वह आत्मा) है; वेदन में आई, वह ('पर्याय') मैं हूँ। आहाहा ! यहाँ कहते हैं कि : यह 'द्रव्य' है वह मैं हूँ।

यह (कहाँ) किस अपेक्षा से लिया है, (यह समझना पड़ेगा)। यह तो विशाल मार्ग वीतराग का !! स्याद्वाद मार्ग है ! लेकिन स्याद्वाद का अर्थ ऐसा नहीं है कि : निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है; उपादान से भी होता है और निमित्त से भी होता है; - इसका नाम स्याद्वाद नहीं है; वह तो फूदड़ीवाद (चक्करमें डालनेवाला वाद) है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं : '**जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है।**' आहाहा ! अभेद ले लिया। जिसमें से जो परिणाम आया, वह परिणाम उसका (द्रव्य का) है। (वह परिणाम) जीव का ही है; अजीव का नहीं है। - इसका नाम अनेकांत। जीव के द्वारा भी है और अजीव के द्वारा भी है, यह अनेकांत नहीं है; वह तो मिथ्या एकांत - फूदड़ीवाद है। कुछ समझ में आया ?

स्वयं के परिणाम स्वयं से उत्पन्न होते हैं, वे जीव ही हैं; अजीव नहीं। वे (परिणाम) कर्म के द्वारा उत्पन्न नहीं हुए। सम्यग्दर्शन - ज्ञान उत्पन्न हुआ, वह कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न नहीं हुआ। आहाहा ! 'ये' (परिणाम) अजीव नहीं हैं' सूक्ष्म बात है, भाई !

जिस समय जो होना होगा वह होगा।' तो वहाँ (कोई) ऐसा कहे : 'हम पुरुषार्थ क्या करें ?' - 'भगवान ने देखा वैसा होगा' तो भगवान सर्वज्ञ परमात्मा जगत में हैं; इस सत्ता का स्वीकार है अंदर ? 'सत्ता का स्वीकार है...' तो दृष्टि ज्ञान में (आत्मा में) घुस जायेगी। दृष्टि सर्वज्ञ में घुस जायेगी। और जहाँ दृष्टि ज्ञानस्वरूप में घुस गई तो भगवान ने उसके भव देखे ही नहीं हैं। एक-दो भव होवे वह कोई भव नहीं है, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई !

यह वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है ! (इसको कोई) अगर साधारण तौर से ले लेता है, मान लेता है ! (तो) बापू ! जिंदगी (व्यर्थ) चली जायेगी। ऐसा वीतराग-मार्ग है, वह सुख का पंथ है; (अगर) इस पंथ पर नहीं जायेगा (तो) ये (बाकी) सब तो दुःख के (ही) पंथ हैं। आहाहा ! (इसको) शास्त्र में चपलता कहा है। ये पुण्य और पाप के अनेक प्रकार के विकार वह चपलता (-चंचलता) है; और चंचलता (है) वह दुःख है। ये शुभ और अशुभ - दोनों भाव, जीव के परिणाम भी नहीं हैं; वे तो अजीव के - जड़ के परिणाम हैं। आहाहा ! (वास्तव में) ऐसी बात है। अभी यहाँ तो 'परिणाम स्वयं के (जीव के) हैं' वहाँ तक लेना है। 'परिणाम स्वयं के हैं; अजीव (के) नहीं।' एक बोल

हुआ।

(अब कहते हैं :) `**इसीप्रकार अजीव भी**' - यह शरीर, वाणी और कर्म (भी) - (क्रमबद्ध पर्याय से परिणमन करते हैं)। कोई कहे कि : `आत्मा राग-द्वेष करता है, तो वहाँ कर्म बंधते हैं।' (किन्तु) यहाँ इसकी ना करते हैं। वह जो कर्मवर्गणा है; उसमें कर्म-पर्याय होने का समय है; तो वह कर्मरूप परिणमन करता है। (अर्थात्) वह अजीव भी अपने परिणाम का क्रमबद्ध से परिणमन करता है ! आहाहा..हा..हा !

ये होंठ चलते हैं। जीभ चलती है। - ये सारे परिणाम क्रमबद्ध में हैं; इन परिणामों से (वह) उत्पन्न होता है; आत्मा के द्वारा नहीं; और आगे-पीछे भी नहीं। आहाहा ! जिस समय भाषावर्गणा में पर्याय उत्पन्न होने की क्रमबद्ध में लायकात होती है; वचनवर्गणामें से, वचन की जो पर्याय होती है; वह पर्याय क्रमबद्ध में आनेवाली (होती) है, उसके कारण होती है। (उसे) आत्मा तो कर नहीं सकता, किन्तु दूसरा परमाणु भी भाषा की पर्याय कर नहीं सकता। इस भाषा की पर्याय जिस परमाणु की हुई, उस परमाणु में वह पर्याय क्रमबद्ध होती है।

`**इसीप्रकार अजीव भी**' (यहाँ) `भी' क्यों कहा ? कि : पहले जीव का बोल लिया न...? `**इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है।**' आहाहा !

यह लकड़ी...इस तरह ऊँची होती है, तो यह कहते हैं कि : इस अँगुली से नहीं, (किन्तु) क्रमबद्ध में उसका (वह) परिणाम आनेवाला था तो (वह) नीचे से इस तरह (ऊँची) उत्पन्न (हुई है)। इस पर्याय का `कर्ता' आत्मा तो नहीं है; किन्तु वास्तव में तो इस पर्याय का कर्ता उसका द्रव्य भी नहीं; पर्याय का कर्ता `पर्याय' (है)। आहाहा..हा ! ऐसी बात है !! बहुत सूक्ष्म बात !

आजकल तो बाहर में - संप्रदाय में व्रत रख लो...प्रतिमा ले लो...देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व की श्रद्धा - हो गया समकित... जाओ ! आहाहा ! समकित क्या चीज़ है, वह तो (पता तक नहीं है) ! (जैसे) अफीम पी ले... और फिर कहे कि `मुझे डकार कस्तूरी की आयेगी'। इस प्रकार प्रतिमा का राग है वह तो विकल्प है। अभी सम्यग्दर्शन के बिना प्रतिमा कैसी ? दो प्रतिमा और सात प्रतिमा और...लेकिन यह कोई प्रतिमा नहीं है। और पंच महाव्रत हो गये और २८ मूलगुण हो गये ! २८ गुण और पंचमहाव्रत तो राग है; वह आस्त्रव है; बंध का कारण है; संसार है; और दुःख का कारण है। (-इसमें) धर्म कहाँ से आ गया ?!

कहा था न...! `मुनि व्रत धार अनंत बार ग्रैवेयक उपजायो...' - अनंत बार दिगंबर

मुनि हुआ, पंच महाव्रतधारी, २८ मूलगुण निरअतिचार पालन करनेवाला। उसके लिये चौका (आहार) बनाये तो ले भी नहीं। (अगर) उसके लिये आहार बनाओ और वह ले, तो उसका व्यवहार भी झूठा है। निश्चय तो है ही नहीं; किन्तु सम्यग्दर्शन भी नहीं ही है। समझ में आया ? क्योंकि ११वीं प्रतिमावाला (होवे) उसे (भी) उद्देशिक आहार का त्याग (होता) है; तो फिर मुनि के लिये बनाना और आहार लेना तो देनेवाला भी मिथ्यादृष्टि और लेनेवाला भी मिथ्यादृष्टि। देनेवाला साधु समझकर देता है, और वह (अपने को) साधु मानकर लेता है। आहाहा ! कठिन बात है, भाई !

(यहाँ) अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। अजीव के परिणाम उस अजीव से उत्पन्न होते हैं और वह जीव नही है। देखो : `जीव नहीं' यानी जीव के द्वारा बिल्कुल नहीं होते। यह शरीर हिलता-डुलता है, तो (वह) जीव की प्रेरणा से हिलता - डुलता है; यह बिल्कुल झूठ है। (शरीर) हिलता-डुलता है, वह तो जड़ की पर्याय से है; जीव के द्वारा बिल्कुल नहीं। विशेष कहेंगे...

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-३ ता. २३-७-१९७९

`समयसार' (गाथा) ३०८-९-१०-११ ! विषय ज़रा सूक्ष्म लगे... किन्तु समझ ने लायक है। `**क्रमबद्ध**' यह अलौकिक बात है ! क्रमरूप और अक्रमरूप तो पर्याय में होता है। - क्या कहा ? यहाँ क्रमबद्ध कहा : प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमसर - एक के बाद एक, एक के बाद एक - होनेवाली (है वही) होगी।

`समयसार' ३८ गाथा में `**अहमिक्को**' लिया है; वहाँ ऐसा आया है कि : क्रमरूप और अक्रमरूप - दो प्रकार की पर्याय हैं। इन दोनों पर्यायों से `आत्मा' भिन्न है। तो वह `अक्रम' क्या ? वह `अक्रम', इस `क्रमबद्ध' को तोड़कर `अक्रम' ऐसा नहीं है; परन्तु एक समय में `गति' होती है वह एक के बाद एक होती है, उसे `क्रम' कहने में आता है; तथा एक समय में योग - राग - लेश्या आदि होते हैं, उसे `अक्रम' कहने में आता है। वह होता तो `क्रमबद्ध' है। `अक्रम' का अर्थ एक समय में अनेक पर्यायें हैं। और `क्रम' एक समय में गति है, वह दूसरे समय में गति - यह `क्रम' है। - गति में `क्रम' है; और योग - लेश्या - रागादि में `अक्रम' है अर्थात् एक साथ है। है तो (वे) `क्रमबद्ध'। `**अहमिक्को**' लिया है कि : मैं तो क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान भावों से भिन्न हूँ।

आहाहा ! मैं एकरूप शुद्ध चिदानंद हूँ। क्रमरूप व अक्रमरूप (भावों) से `मैं' भिन्न हूँ। ये जो क्रम और अक्रम (भाव) हैं, वे व्यवहारिक भाव हैं। (यह) गाथा-३८ में एक की व्याख्या है। अन्यत्र भी आता है, `तत्त्वार्थराजवार्तिक' में भी यह क्रम - अक्रम `पर्याय' की बात है।

बाकी `क्रम' व `अक्रम' को दूसरी तरह से लें तो `गुण' हैं, वे अक्रम हैं; और `पर्याय' हैं, वे क्रम हैं। कुछ समझ में आता है ? गाथा - ३८ में `यह' नहीं लेना है और यहाँ (गाथा : ३०८ से ३११ में) भी `यह' नहीं लेना है। अपनी पर्याय में क्रमपूर्वक `गति' एक समय में एक होती है, दूसरी नहीं; इसे `क्रम' कहने में आता है, है तो `पर्याय (क्रमबद्ध)'। और एक समय में राग - योग - लेश्या आदि साथ में हैं, है तो पर्याय; है वह `क्रमबद्ध' में लेकिन एकसाथ होने से (उसे) `अक्रम' कहने में आता है। तो कुछ लोग दलील करते हैं : देखो ! `तत्त्वार्थराजवार्तिक' में `क्रम और अक्रम' लिखा है। परंतु वह तो दूसरी बात है। पर्याय में योग-लेश्या आदि एकसाथ होते हैं, उसे `अक्रम' कहते हैं।

अन्यत्र भी कहीं आता है : `गुण' अक्रमरूप है और `पर्याय' क्रमरूप है। `गुण' सहवर्ती है। एक साथ अनंत हैं। तो भी एक साथ - द्रव्य के साथ हैं, ऐसा भी नहीं है। क्या कहा ? आत्मा में गुण `अक्रमरूप' हैं, सहवर्ती हैं, एकसाथ हैं। तो गुण एकसाथ हैं; द्रव्य में एकसाथ हैं; इसलिये (सहवर्ती) नहीं, परंतु गुण एकसाथ अनंत हैं, इसलिये (उन्हें) सहवर्ती कहने में आते हैं। कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! भगवान का मार्ग बहुत सूक्ष्म है !

क्या कहा ? कि : भगवान आत्मा है, वह एकरूप द्रव्य (है) और गुण अनंत (है)। वे गुण एकसाथ सहवर्ती हैं। सहवर्ती अर्थात् साथ में वर्तते हैं। सहवर्ती `यानी द्रव्य के साथ गुण हैं इसलिये सहवर्ती कहा, ऐसा नहीं; द्रव्य के साथ तो पर्याय भी है। अनंत गुण एकसाथ हैं और पर्यायें एकसाथ नहीं हैं।' यहाँ यह `क्रमबद्ध' सिद्ध करना है न...? कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म (बात) है, भगवान ! अंतर - मार्ग की `यह' सूक्ष्म बात भाई !

वीतराग परमात्मा यहाँ ३८ वीं (गाथा में) कहते हैं : गुरु ने शिष्य को समझाया... तो यह समझाया कि प्रभु ! एक बार सुन ! तेरी पर्याय में अक्रम (और) क्रम - दोनों हैं। (तो) उन दोनों का अर्थ : पर्याय (में) क्रमसर एक गति है; तब दूसरी गति नहीं है - यह `क्रम' (हुआ) और एकसाथ राग - योग - लेश्या (आदि हैं) - इसलिये (वह) `अक्रम' हुआ। (लेकिन) पर्याय क्रमवर्तीपने से छूटकर अक्रम में पर्याय हो जाती है ऐसा

नहीं है। (रागादि) एकसाथ रहते हैं इसलिये `अक्रम' कहने में आता है और (अन्यत्र) `गुण' को भी अक्रम कहने में आया है।

भगवान आत्मा गुण व पर्याय के भेद से भी रहित है। आहाहा ! वह पूर्णानंद का नाथ प्रभु एकस्वरूपरूप बिराजमान है ! उसकी दृष्टि करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। वह धर्म की प्रथम सीढ़ी है।

इसमें (आत्मा में) गुण को सहवर्ती कहा। वे गुण एकसाथ रहते हैं। पर्याय एकसाथ नहीं रहती। (इसलिये उसको) क्रमवर्ती कहा।

यहाँ `क्रमबद्ध' कहा। नियमपूर्वक एक के बाद एक पर्याय होनेवाली है वही होगी। द्रव्य में आगे-पीछे पर्याय होगी, ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य में पर्याय की व्यवस्थित व्यवस्था है। व्यवस्था अर्थात् विशेष अवस्था। उस-उस समय में वह पर्याय अपने द्वारा व्यवस्थित है। अन्य कोई पर्याय को करे अथवा वह पर्याय में (कुछ) फेर बदल करे, ऐसा नहीं है।

दूसरी बात ज़रा खयाल में आई : एक आत्मा में ४७ शक्तियाँ ली हैं। हैं अनंत। यहाँ ४७ के नाम लिये हैं। ४७ शक्ति में एक भाव नाम का गुण (शक्ति) है। तो उस गुण का स्वरूप क्या ? कि : कोई भी पर्याय, जिस समय होनेवाली है वह होगी, यह भावगुण का कार्य है। कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म (बात) है, भगवान ! भावगुण के कारण भवन - पर्याय जिस समय होती है, वह आगे-पीछे नहीं। एक बात। दूसरी बात : वह जो भावगुण है, उसका अपना रूप अनंतगुण में है। तो जिस प्रकार भावगुण में जो वर्तमान पर्याय होनेवाली (है वह) भावगुण के कारण होगी। उस प्रकार अनंत गुणमें से भी भावगुण के कारण (पर्याय क्रमबद्ध होगी); (क्योंकि) अनंतगुण में भावगुण का रूप है। आहाहा ! समझ में आता है भाई ! सूक्ष्म है, भगवान ! यह `क्रमबद्ध' तो सूक्ष्म है !

हमारे (पास) तो ७२ की साल से `क्रमबद्ध' की (चर्चा) चलती है। कहा था न...! कि `केवली ने देखा होगा वैसा होगा।' तो बात तो सच्ची है : `जिस समय जो पर्याय (होनेवाली होगी वही) होगी।' लेकिन `जैसा केवली ने देखा होगा वैसा होगा' - ऐसा पर से (जो) लेते हो, वह छोड़ दो ! समझ में आया ?

द्रव्य की पर्याय जब-जब होनेवाली होगी तब होगी। यह द्रव्य का स्वभाव है। और इस द्रव्य में भाव नाम का एक गुण है; कि जिसके कारण, जिस समय, जो पर्याय होती है, वह होती है। और इस पर्याय को छोड़कर (-व्यय होकर) दूसरी (उत्पाद) होती है। तो इसमें - भगवान आत्मा में - एक भावअभाव नाम का गुण है। अनंत गुण की जो वर्तमान पर्याय हैं, वे ही होनेवाली हैं। वे ही हैं। परंतु इस भाव का अभाव - वर्तमान

है इसका अभाव - ऐसा एक गुण है; इस गुण के कारण (वही) वर्तमान पर्याय का भाव नहीं - उसके अभाव का भाव - इसे करना नहीं पड़ता। `मैं करुँ' ऐसा विकल्प नहीं। सूक्ष्म बात है, प्रभु ! आहाहा ! कुछ समझ में आता है ? ज़रा सूक्ष्म (विषय) है।

ये तो यहाँ `क्रमबद्ध' आया; और फिर दूसरी ज़गह `क्रम- अक्रम' है (ऐसा आया)। फिर वह क्रम-अक्रम `पर्याय' की बात है। वह `क्रम' एक के बाद एक होगा। वह `अक्रम' में होगा, ऐसा नहीं है। पर्याय में एकसाथ रहनेवाली पर्याय को `अक्रम' कहते हैं और एकसाथ नहीं रहनेवाली पर्याय के `क्रम' कहते हैं। कुछ समझ में आता है ?

आत्मा में भाव नाम के दो गुण हैं। एक भावगुण ऐसा है कि : षट्कारक से पर्याय में जो विकारीभाव क्रमानुसार होते हैं, उस विकारीपर्याय का अभावरूप परिणमन होना, यह भावगुण के कारण, (अर्थात्) वह भावगुण का कार्य है।

यहाँ तो हमें `क्रमबद्ध' में निर्मल पर्याय प्रगट होती है, यह सिद्ध करना है। क्योंकि आत्मा में `क्रमबद्ध' है ऐसा निर्णय जब करता है, तब तो दृष्टि ज्ञायकस्वरूप पर होती है। ज्ञायकस्वभाव में अनंत गुण हैं। अनंतगुण में `भाव' नाम के दो गुण हैं। एक भावगुण का अर्थ : जिस समय पर जो पर्याय होनेवाली है; वह भाव(गुण) के कारण होगी। उस भाव(गुण) का रूप अनंत गुण में है। इस कारण से अनंत गुण की पर्यायें (जिस समय पर जो होनेवाली है वह) होगी। एक बात। दूसरी बात : षट्कारक से पर्याय में विकार होता है। वह कर्म से नहीं; द्रव्य-गुण से नहीं। पर्याय में विकार षट्कारक से (यानी) राग कर्ता, राग कार्य, राग संप्रदान आदि छह कारकों से (होता है)। राग आदि, द्वेष आदि, विषय वासना आदि (विकाररूप) परिणमन, पर्याय में षट्कारक से होता है। (इस) विकार का अभाव होकर, अविकाररूप (जो) परिणमन होता है, वह एक भावगुण के कारण होता है। तो यह भाव (गुण) ऐसा है कि : विकार के अभाव रूप - धर्मरूप - मोक्षमार्ग की पर्यायरूप - परिणमन होता है। आहाहा ! तो इस `क्रमबद्ध' में भी इस तरह निकाला है। कुछ समझ में आता है ?

कोई कहे कि : `क्रमबद्ध' है...`क्रमबद्ध' है, वह होगा... होगा।' लेकिन (धैर्य से) सुन : प्रभु ! पर्याय क्रमबद्ध तो उसी तरह होती है; किन्तु क्रमबद्ध में `अकर्तापना' कब आता है ? `मैं करुँ...मैं करुँ... इस पर्याय को ऐसी करुँ' तब तक तो विकल्प है और `कर्तापने' का (-कर्ताबुद्धि का) भाव है। तो `पर्याय क्रमबद्ध होती है' इसमें `मैं करुँ' ऐसा विकल्प भी नहीं; और `पर्याय होती है' उसमें `मैं करुँ' ऐसा भाव भी नहीं। आहाहा..हा ! ऐसी सूक्ष्म बात है !

प्रभु अंदर सच्चिदानंद प्रभु - `सिद्ध समान सदा पद मेरो।' -ऐसी जो अंदर चीज़

है वह (तो) पर्याय से भिन्न है। यह क्रमबद्ध की पर्याय और अक्रमपर्याय; (अक्रम यानी योग-लेश्या आदि साथ रहनेवाले;) उससे रहित है। ऐसा भगवान आत्मा जब दृष्टि में आता है, तब उसमें जितने गुण हैं, उसमें भावगुण का रूप है, इस कारण से उस (एक) समय में अनंत गुण की पर्याय होती ही है। `मैं करता हूँ तो होती है' ऐसा नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई ! यह बात समझने लायक है। सूक्ष्म तो (है), बापू ! यह प्रियंकर (-हितकारक) चीज़ है।

भगवान आत्मा एक समय में - वर्तमान ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव..ध्रुव त्रिकाल रहेगा; अतः इस त्रिकाली की अपेक्षा भी (भेदरूप) व्यवहार है। भेद से कथन आवे...! एक समय में परमात्मा स्वयं पूर्णानंद का नाथ प्रभु (है)। उस `क्रमबद्ध' के निर्णय में `अकर्तापना' आता है अथवा `ज्ञातापना' आता है।

प्रश्न : तो ज्ञातापना व अकर्तापना कब आता है ?

समाधान : क्रमबद्ध के लक्षमें से, पर्याय का लक्ष छोड़कर, जिसमें से क्रमबद्ध (पर्याय) आती है, उस द्रव्य पर ही दृष्टि करनी ! (तो ज्ञातापना और अकर्तापना आता है)। सूक्ष्म बात है, भाई !

उन अनंतगुण का विकाररूप परिणमन होता है तो भी, उसमें ऐसा गुण है कि (जो) द्रव्य को पकड़े। क्रमबद्ध की पर्याय में द्रव्य को - ज्ञायक को पकड़ा। लेकिन पर्याय में पर्याय का निर्णय पर्याय के द्वारा नहीं होता। पर्याय का ज्ञान भी द्रव्य का निर्णय करने से होता है। तो यहाँ कहते हैं कि : उस पर्याय में जो क्रमसर पर्याय है, उसका निर्णय जब करता है तो `दृष्टि' ज्ञायक पर (ही) होती है।

ज्ञायक में `भाव' नाम के दो गुण हैं। एक भाव नाम के गुण के कारण अनंत गुण में ऐसी एक शक्ति स्वयं के द्वारा है कि : उस समय पर वह पर्याय होगी, होगी और होगी ही। `मैं करुँ तो होगी' ऐसा नहीं है। और एक भावगुण ऐसा है कि : पर्याय षट्कारक (द्वारा) परिणमन करती है। और `क्रमबद्ध' का निर्णय (होनेपर) जब (दृष्टि) ज्ञायक पर जाती है, तब उसकी निर्विकारी - धर्म की पर्याय उत्पन्न होती है। कुछ समझ में आता है ?

आहाहा ! अब ऐसी व्याख्यायें ! कोई कहे : करो व्रत... करे उपवास और करो तपश्चर्या... करो भक्ति - (वह) सरल था। (परंतु) वे तो सब भटकने के (साधन) थे। राग की क्रिया है। और (जब) राग का कर्ता होता है और आगे-पीछे करने जाता है तो मिथ्यात्व ही बढ़ता है।

द्रव्य में भाव नाम का गुण जो स्वभाव है, उस गुण के कारण अन्वय की वर्तमान

पर्याय होगी और होगी ही। वह आगे-पीछे नहीं होगी। उस समय पर होनेवाली होगी और होगी ही। 'मैं करता हूँ तो पर्याय होती है' ऐसी दृष्टि उड़ जाती है। ऐसा विकल्प भी उड़ जाता है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

सूक्ष्म बात है, भाई ! यह तो मूल तत्त्व है ! परमात्मा सर्वज्ञदेव त्रिलोकीनाथ ने जो कहा वह कोई (नया) पंथ नहीं है। वह कोई पक्ष नहीं है। वह तो वस्तु का (त्रिकाल) ऐसा ही स्वरूप है। आहाहा ! उस वस्तु का स्वरूप यह है कि : जब उस वस्तु की दृष्टि होती है और क्रमबद्ध पर्याय पर से लक्ष छूट जाता है, तब उसे द्रव्य की दृष्टि होती है।

द्रव्य में वे भावगुण दो हैं। एक (भाव)गुण के कारण विकाररूप परिणमन के अभावरूप परिणमन होता है। अतः धर्म का मूल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमन होता है। और (दूसरे) एक भाव(गुण) के कारण, उस समय पर जो पर्याय होनेवाली है, वह होगी ! आहाहा !

इस द्रव्य में 'मैं यह पर्याय करूँ तो होगी' ऐसा सवाल ही नहीं है। ऐसा विकल्प भी नहीं है। सूक्ष्म बात है, प्रभु ! इस वस्तु में विकल्प नहीं है। भावगुण के कारण वह पर्याय (होनेवाली) होगी (ही)। फिर 'मैं करूँ' ऐसे विकल्प का भी लक्ष नहीं है। अर्थात् 'वह पर्याय करूँ' ऐसा लक्ष भी (साधक को) नहीं है। उसका लक्ष तो द्रव्य पर गया है; कि जिसमें अनंत गुण पड़े हैं : भाव, अभाव, अभावभाव (इत्यादि)। सूक्ष्म बात ! एक-एक बात (सूक्ष्म) है।

आत्मा में 'भाव' नाम के दो गुण हैं। जब 'क्रमबद्धपर्याय' का निर्णय करता है तो उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है। और द्रव्य में भाव नाम का गुण पड़ा है तो उस कारण से विकाररहित परिणमन होता है। वरना 'क्रमबद्ध' में तो विकार भी आता है परंतु, 'क्रमबद्ध' का निर्णय करने चलता है वहाँ, क्रमबद्ध में निर्मल - मोक्षमार्ग की पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

(यहाँ) कहते हैं कि : 'प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ' - (यहाँ) निर्मल परिणाम को अपने कहे (हैं) वरना पर्याय है, वह द्रव्य से भिन्न है। क्योंकि पर्याय तो द्रव्य पर तैरती है। पर्याय का प्रवेश द्रव्य में नहीं है। (पर) यहाँ तो इतना (ही) सिद्ध करना है कि : जीव में जो परिणाम होते हैं वे क्रमसर होते हैं, क्रमबद्ध होते हैं।

साधारण बात तो ऐसे आई न...? कि : गुण सहवर्ती और पर्याय क्रमवर्ती (है)। (पर) यहाँ तो इसके अतीरिक्त '**क्रमनियमित**' - क्रमवर्ती तो है; परंतु नियम से जो होनेवाली

है वह होगी। 'वह होगी' यह सत् है ! वास्तव में तो पर्याय 'सत्' है।

यहाँ तो (कहते हैं :) निर्मल - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की - पर्याय उत्पन्न हुई है, वह (निर्मल पर्याय) भी 'क्रमबद्ध' का निर्णय करने से (उत्पन्न हुई है)। (क्योंकि) द्रव्यस्वभाव का निर्णय होता है, तो उसका (द्रव्य का) परिणमन निर्मल ही होता है। विकार होता है, परंतु विकार से रहित इसका परिणमन होता है। सूक्ष्म बात है, भाई ! (किन्तु) बात ऐसी है !! लोगों को बैठे (या) न बैठे...! (लेकिन) वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वस्तु ऐसी है !!

आत्मा में अनंत गुण हैं। अनंत गुण में, उन सभी गुणों की वर्तमान पर्याय उत्पन्न हो, ऐसा भी एक गुण उसमें है। (तो) 'पर्याय करूँ तो होगी' ऐसी बात नहीं है। एक बात और (दूसरी बात :) वह 'भाव' पर्याय है, उसका अभाव होता है। तो 'उस पर्याय का मैं व्यय करूँ' ऐसा भी नहीं है। क्योंकि : आत्मा में एक 'भाव-अभाव' नामका गुण है।

आहाहा ! वीतराग मार्ग तो देखो ! अहो..हो ! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का पंथ कोई न्यारा ही है ! भाई ! दुनिया के साथ कोई मेल बैठना कठिन है। इसलिये लोग 'सोनगढ़' का एकांत है, एकांत है (- ऐसा कहते हैं)। तो कहो प्रभु ! तू भी प्रभु है। सिद्धांत में तो ऐसा लिया है कि : समकिती की पर्यायदृष्टि उड़ गई है तो द्रव्य से तो परद्रव्य उसका साधर्मी है। क्योंकि स्वयं की पर्यायदृष्टि उड़ (जाने से वे) अन्य की (भी) पर्याय को नहीं देखते। उसका (अन्य का भी) द्रव्य पर्यायरहित है। समझ में आया ? द्रव्य साधर्मी है। भगवान है ! स्वयं को पर्याय का लक्ष छूटा; (तो) पर की पर्याय का भी लक्ष छूटा। (अतः वह) उसका द्रव्य है उसीको देखता है।

आहाहा ! अंदर भगवानस्वरूप परमात्मा है। ऊपर से शरीर-रागादि परिणाम चाहे जैसे हो... लेकिन अंदर तो उससे भिन्न, भगवान है ! ऐसी दृष्टि हुए बिना, क्रमबद्ध में धर्म की निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती। कुछ समझ में आया ?

(जीव) स्वयं के परिणामों से उत्पन्न होता है, तो ये परिणाम कौन से ? कि : निर्मल लेना। साथ में विकार होता है, परंतु उसका ज्ञान होता है। ये (निर्मल) परिणाम (यहाँ) इसके (-साधक के) लेने हैं। (साधक को) परिणाम में विकार तो होता है पर वे (विकारी) परिणाम मेरे नहीं। क्योंकि : जब 'क्रमबद्ध' का निर्णय होता है, तब तो दृष्टि द्रव्य पर - ज्ञायक पर पड़ती है। ज्ञायक में कोई गुण विकारी तो है ही नहीं। अविकारी अनंतगुण का पिण्ड प्रभु है ! उस अनंत गुण के पिण्ड का जब स्वीकार हुआ, तब पर्याय में विकार होता है परंतु ये परिणाम अपने (साधक के) नहीं। उससे रहित, ऐसे निर्मल

परिणाम अपने हैं। क्रमसर होते हैं। होनेवाले हो, तब होते हैं। तो भी अपने निर्मल परिणाम वे अपने हैं। ज्ञानी को भी विकारी अवस्था होती है; परंतु ये परिणाम स्वयं के हैं, ऐसा (यहाँ) नहीं आता।

विकारी परिणाम भी क्रमसर - क्रमबद्ध ही आते हैं। परंतु उसी समय विकार से रहित - 'क्रमबद्ध का निर्णय' - 'द्रव्य' का निर्णय कहने में आता (है)। द्रव्य में तो अनंत गुण हैं। ये अनंत गुण निर्मल हैं। तो इस विकारी अवस्था से रहित - 'क्रमबद्ध का निर्णय करने से' - 'द्रव्य' का निर्णय हुआ। और इसलिये निर्मल पर्याय की उत्पत्ति होती है - यह '**अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है।**' कुछ समझ में आया?

इसके रहस्य का तो कोई पार नहीं है। कोई (साधारण व्यक्ति) तो इसे पा ही न सके। यह संतों की - दिगंबर संतों की वाणी तो अलौकिक है ! (अन्यत्र) कहीं नहीं है। वेदांत एक आत्मा कहता है न... शुद्ध कहता है न...! सुधरे हुए लोगों में (कुछ समझनेवाले में) बहुत चलता है न...? परदेश में भी वेदांत बहुत चलता है : 'एक सर्व व्यापक है'। और मुसलमानों में भी ऐसा चलता है। उसमें एक सूफी नाम का मार्ग (-मत) है। सूफी फकीर हमने देखे हैं। हम एकबार बोटाद शहर से बाहर निकल रहे थे, वहाँ दो सूफी फकीर सामने मिले। वैराग्य...उदास...उदास... वैराग्य दिखे लोगों को। वे एक को ही मानते हैं : 'एक हम हैं, एक खुदा हम हैं। हम हैं खुद खुदा यारों। दूसरी चीज़ कोई है ही नहीं। एक ही खुदा सर्वव्यापक है।' - ये सब गलत हैं। वेदांत भी सर्वव्यापक मानता है। वेदांत तो वहाँ तक कहता है कि : आत्मा और आत्मा का अनुभव - ये दो कहाँ से आये ? यहाँ तो अभी आत्मा और आत्मा की पर्याय - दो लेना है। अनुभव है, वह पर्याय है। आत्मा त्रिकाली है। 'क्रमबद्ध' का जहाँ निर्णय करता है तो आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा व आत्मा का अनुभव - दोनों का निषेध वेदांत करता है कि : 'आत्मा' और 'अनुभव' (ये) तो द्वैत हो गया। आहाहा ! (परंतु) द्वैत ही है ! अनुभव की पर्याय है। विकार की पर्याय भी है; परंतु उस पर्याय से रहित परिणमन स्वयं का होता है; तो 'वह है' तो सही न...? 'है' तो उससे रहित हुआ न...! छह द्रव्य से रहित आत्मा हैं; तो छह द्रव्य है कि नहीं ? इस आत्मा के अतीरिक्त अन्य अनंत आत्मा अभी सब हैं !

जहाँ द्रव्य का आश्रय होकर, एक समय की पर्याय में इन छह द्रव्य का निर्णय होता है; तो उस पर्याय में खुद के द्रव्य-गुण का भी ज्ञान होता है। इस पर्याय में ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक अपने द्वारा होता है - ऐसा ज्ञान उसमें होता है; नया नहीं करना पड़ता। उसकी पर्याय में स्व-पर प्रकाशक पर्याय उत्पन्न होती है। 'पर को जान

लूँ ऐसा भी नहीं है। 'पर को जानना' ऐसा भी यहाँ नहीं है। परसंबंधी अपना जो ज्ञान है, उसे ही जानता है। पर को नहीं जानता। (ज्ञान) पर का स्पर्श नहीं करता, तो पर को जाने कहाँ से ?

आहाहा ! कुछ समझ में आया ? थोड़ा सूक्ष्म है, भाई ! पर बात तो ऐसी है ! ठीक से समझ में न आये तो रात्रि में (चर्चा में) पूछना। ऐसा मत समझना कि हम नहीं पूछ सकते। ऐसी बात नहीं है। सब पूछ सकते (हैं)।

'**अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ**' यहाँ तो '**अपने परिणामों से**' लिया। 'अपने विकारी परिणामों से' ऐसा नहीं; वे (विकारी) परिणाम जीव के नहीं हैं। उस समय वह विकार होता है, परंतु उस समय, द्रव्य की दृष्टि से 'क्रमबद्ध' का निर्णय करता है तो, विकार रहित अपने परिणाम क्रमबद्ध में होते हैं। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

इस पंक्ति का अर्थ तो तीसरी बार हो रहा है। परसों किया था। कल और आज शुरू किया था। पार नहीं ! वीतराग-मार्ग के शास्त्र के रहस्यों को कोई पार नहीं है !! आहाहा ! ऐसी चीज़ भगवान त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ के श्रीमुख से दिव्यध्वनि में आती है !! 'मुख ॐकार धुनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे !'

('समयसार') ३८ गाथा में क्रम और अक्रम के बाद पाठ ऐसा लिया है : शिष्य - श्रोता पंचमकाल का (है) ! तथा कुंदकुंदाचार्य व अमृतचंद्राचार्य पंचमकाल के साधु हैं ! (वे) श्रोता को समझाते हैं। श्रोता सुनते हैं और सुनकर तुरंत प्रतिबोध प्राप्त करते हैं, प्रतिबोध ऐसा पाते हैं : अब मुझे सम्यग्दर्शन हुआ; मिथ्यात्व का नाश हुआ; अब फिर से (मिथ्यात्व का) अंकुर पैदा नहीं होगा।

पंचमकाल के श्रोता को गुरु ने समझाया - अप्रतिबुद्ध को समझाया। कुछ (लोग) ऐसा कहते हैं कि : यह 'समयसार' तो साधु के लिये है। किन्तु पाठ में ('**अत्यन्तमप्रतिबुद्धः**' शब्द है) तो अप्रतिबुद्ध को समझाया है और अप्रतिबुद्ध समझे। आहाहा ! ऐसी बात संतों ने ली है ! वह शिष्य ऐसा कहता है कि : प्रभु ! अब मेरे मिथ्यात्व का नाश हुआ। इस मिथ्यात्व का अंकुर अब सादि-अनंत (काल में) उत्पन्न नहीं होगा। आहाहा ! अरे प्रभु ! तू छद्मस्थ है, पंचमकाल का श्रोता (है), अप्रतिबुद्ध था और यह सुना और ...इतना ज्यादा जोश आ गया ?! भगवान ! जोश क्या ? आत्मा में इतनी ताकत तो है... अहो..हो..हो ! ('समयसार' गाथा-) ३८ में और ('प्रवचनसार') - ९२ में 'अप्रतिहत' बात ली है; उत्पनन हुआ सो हुआ। सम्यग्दर्शन हुआ और फिर च्युत हो जायेगा - यह बात ही नहीं है।

('समयसार') आस्त्रव अधिकार में लिया है : (जो शुद्ध)नय से परिच्युत हो जाये तो ऐसा होता है। (यह तो) थोड़ा ज्ञान कराने के लिये 'शुद्धनयतः प्रच्युत्य' (लिया है)।

आहाहा ! श्रोता तो ऐसे लिये हैं कि सुनते (ही) रस आ गया और द्रव्य पर झुक गये और जैसे ही अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ तो कहते हैं कि : अब हम सम्यग्दर्शन से च्युत होंगे और मिथ्यात्व उत्पन्न हो जायेगा - ऐसा हमारे लिये (होनेवाला) नहीं है ! ऐसी बात है !

'प्रवचनसार' (गाथा -) ९२ में भी ऐसा कहा कि : 'आगमकौशल्य से और अपने अनुभव से हमको जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ तो दर्शन में हमें मिथ्यात्व का अंकुर पैदा होगा (ही) नहीं। चारित्र की बात और है। 'पंचमकाल के हैं तो स्वर्ग में जायेंगे; (वहाँ) चारित्र रहेगा नहीं। पंचमकाल के साधु हैं न...! तो केवलज्ञान तो है नहीं। हमारे दर्शन में तो मिथ्यात्व का अंकुर उत्पन्न हो नहीं सकता। (पर) हम चारित्रवंत हैं, तो चारित्र का नाश नहीं होगा - ऐसा नहीं है; क्योंकि हम पंचमकाल में हैं। (अतः) हमें स्वर्ग में जाना पड़ेगा क्योंकि हमें (अभी) केवलज्ञान है नहीं। हमारे पुरुषार्थ में कमी है; वह काल के कारण नहीं। यहाँ से तो स्वर्ग में जाना पड़ेगा अतः चारित्र से तो रहित हो जायेंगे। चारित्र अप्रतिहत नहीं है, ऐसा कहा।

'चारित्रपाहुड' में पर्याय के दो बोल हैं न...! पर्याय 'अक्षय' और 'अमेय' ! द्रव्य-गुण की तो बात कहाँ करें ?! आहाहा ! द्रव्य का जहाँ अनुभव - दृष्टि हुई, (अर्थात्) 'मैं पूर्णानंद प्रभु, अभेद-अखंड आनंद हूँ' ऐसी जहाँ दृष्टि हुई तो कहते हैं कि चारित्रवंत को (वह) पर्याय अक्षय है और अमेय है। वरना (स्वर्ग में तो) चारित्र छूट जायेगा। तो भी हम चारित्र दूसरे भव में लेंगे, लेंगे और लेंगे और दूसरे भव में पूर्ण करेंगे। आहाहा ! हम पंचमकाल के साधु हैं...(लेकिन वास्तव में तो) हम पंचमकाल के नहीं, हम तो हमारे आत्मा के हैं। हमारे लिये काल बाधक नहीं है। चारित्र का अधिकार लिया है वहाँ चारित्र की पर्याय को अक्षय व अमेय (कहा है)। पर्याय में (कोई) मर्यादा नहीं, इतनी ताकत पर्याय में है !

अनंतगुण की पर्याय में एक-एक पर्याय इतनी ताकतवाली है कि : अनंतगुण को जाने, अनंत पर्याय को जाने - ऐसी ज्ञान की एक पर्याय की ताकत ! श्रद्धा की ऐसी ताकत ! चारित्र की ऐसी ताकत ! अस्तित्व - वस्तुत्व - प्रमेयत्व - अगुरुलघुत्व आदि प्रत्येक पर्याय की ऐसी ताकत - इतनी ताकत ! आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

वह पर्याय तो ऐसे कहती है कि, 'हमें अब मिथ्यात्व का अंकुर पैदा नहीं होगा' (लेकिन) प्रभु ! आप भगवान के पास तो गये नहीं हो... और आपने इतना कहा ! आप

महाव्रतधारी हो न... आप इतना कह देते हो ! (साधक कहते हैं :) हमारा नाथ ऐसे पुकारता है... हमारा प्रभु पुकारता है - वह प्रभु ऐसा कहता है कि : हमारे में मिथ्यात्व अब से लेकर कभी भी होगा नहीं।

आहाहा ! इस 'क्रमबद्ध' का निर्णय करने में इस दर्शन (-श्रद्धा) का निर्णय हुआ तो निर्मल परिणाम अपने हुए - वे निर्मल-सम्यक् परिणाम अब नहीं गिरेंगे। समझ में आया ?

ऐसी बात किसी दिन - इतने साल में कभी सुनी तक नहीं होगी ! सुनने जाये (वहाँ सुनने मिले कि:) दया करो और व्रत करो और मंदिर बनाओ ! एक दिन इस मंदिर के पास में ही बात हुई थी; वह तो जिस समय पर जड़ की जो पर्याय होनेवाली होगी वह होगी, होगी और होगी। दूसरा करे (तो होवे) और दूसरा न करे तो न होवे, ऐसा नहीं है। यह यहाँ आया है :-

वह अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है। 'जीव ही है' उसमें तो विकार के परिणाम दूर रखने में आये हैं। अन्यथा (वह) जीव ही है। (लेकिन) जहाँ 'क्रमबद्ध' का निर्णय हुआ (वहाँ जो निर्मल परिणाम उत्पन्न होते हैं वे जीव ही हैं)। आहाहा ! गज़ब बात !!

गाथा के रचयिता कुंदकुंदाचार्य ने तीर्थंकर जैसा काम किया है और अमृतचंद्राचार्य ने उनके गणधर जैसा काम किया है। आहाहा...हा ! अरे ! ऐसी वाणी मिलना मुश्किल, बापू ! प्रभु ! यह कोई लौकिक बात नहीं है। जगत के प्रपंच की बातें नहीं हैं। यह तो अंतर की बातें हैं !

'**जीव क्रमबद्ध**' आहाहा ! इसमें कितना भरा है !! आहाहा ! '**अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...**' विकारादि हैं तो सही; परंतु विकार का ज्ञान है - वह अपना परिणाम है। क्योंकि अकर्तापना की बात है न...! तो अकर्तापने में ज्ञाता-दृष्टा हुआ। 'ज्ञाता-दृष्टा परिणाम हैं, वे अपने हैं। इस प्रकार 'क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणाम' हैं। परिणामों का क्रम है। परिणाम में '`क्रमबद्ध`' लेना है न...? द्रव्य में (क्रमबद्ध) कहाँ लेना है ? 'क्रमबद्ध' ऐसे अपने परिणाम' - परिणाम में क्रमबद्ध लेना है।

आहाहा ! सूक्ष्म तो है लेकिन प्रभु ! यह तो अमृतकुंभ है !! ऐसी बात दिगंबर संतों के अलावा कहीं नहीं है। श्वेतांबर में भी कल्पित बातें हैं। शास्त्र बनाये वे कल्पित बनाये हैं। यह तो भगवान त्रिलोकीनाथ की वाणी (है)। सर्वज्ञ के पद्चिह्नो पर चलनेवाले दलाल बनकर बात कर रहे हैं। ये मुनि (भगवंत) सर्वज्ञ के दलाल हैं। यह माल प्रत्यक्षरूप से सर्वज्ञ भगवान का है। श्रुतज्ञानी को परोक्ष है। प्रत्यक्षरूप से यह उनका (सर्वज्ञ का) माल है; उसे प्रत्यक्षरूप से यहाँ बताते हैं।

आहाहा ! प्रभु तू पूर्णानंद का नाथ है न...! तेरी पर्याय जिस समय पर जो होनेवाली है, वह होगी ही। उस पर से दृष्टि हटा ले। उतना सत् भी होगा (-होकर रहेगा)।

क्या कहते हैं ? - पर्याय 'सत्' है। उत्पाद-व्ययरूप 'सत्' है न...! उत्पाद-व्यय 'सत्' है। व्यय अभावरूप से सत् है। 'तीनों सत् हैं'। उत्पाद सत् है। व्यय सत् है। भाव सत् है। अभाव सत् है। और ध्रुव सत् है। - इन तीनों सत् में किसी की अपेक्षा एक-दूसरे को नहीं है। ऐसा १०१-गाथा 'प्रवचनसार' में आया है। उत्पाद की अपेक्षा ध्रुव को नहीं। ध्रुव की अपेक्षा उत्पाद को नहीं। आहाहा !

यहाँ तो जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे जीव ही हैं। क्रमबद्ध परिणाम में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शांति (के) निर्मल परिणाम उत्पन्न हुए वे (जीव ही हैं)। आहाहा ! ग़ज़ब बात है !!

कितने ही दिगंबर पंडित शास्त्र (-का आशय) समझे नहीं और बिना समझे (यों ही) पढ़ते रहते हैं, और बड़े (पैसेवाले) लोग (सभा में) बैठे हों, उन्हें कुछ मालूम तो होता नहीं है फिर भी जयनारायण (हाँ जी हाँ) करे ! यहाँ तो सत्य है, वह सत्य है ! (मैं ने तो इन्दौर के सेठ से कहा कि :) 'सेठ ! पर्याय उपादान से - स्वयं से होती है, पर से नहीं। (इस बात का) ढिंढोरा पीट दो ! यहाँ कुछ गुप्त नहीं है।'

(यहाँ कहते हैं :) 'अजीव नहीं है' - वह परिणाम (जीव ही) है, अजीव नहीं। इसका अर्थ है : उस परिणाम में राग भी नहीं है और अजीव भी नहीं है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

मार्ग ज़रा सूक्ष्म, प्रभु ! पकड़ने के लिये बहुत ध्यान रखना चाहिए, बहुत प्रयत्न चाहिए। दुनिया को खुश रखने के लिये बात करे (वह तो) लोकरंजन (है)। तारणस्वामी कहते हैं कि : दुनिया लोकरंजन करती है, जनरंजन करती है। इस 'अष्टपाहुड' में (भी) आया : जनरंजन करते हैं - लोगों को किस तरह ठीक लगें ? जनरंजन (यानी) दुनिया खुश हो जाए ऐसा करो, देशसेवा करो, एकदूसरे को मदद करो, साधर्मी को मदद करो। परंतु यहाँ कहते हैं कि मदद कोई कर नहीं सकता; (वह तो) जड़ की पर्याय है।

मुनि को सच्चे संत को भी आहार-पानी देता है... तो वह आहार-पानी देने की क्रिया आत्मा कर नहीं सकता। उस समय वह विकल्प आया। परंतु आहार देनेवाले, जो ज्ञानी हैं (वे) तो (उस) विकल्प से रहित, निर्मल परिणाम के स्वामी हैं। उन्हें क्रमबद्ध से निर्मल परिणाम उत्पन्न होते हैं। उस राग के और 'मैं मुनि को आहार देता हूँ' ऐसे (विकल्प के) भी स्वामी नहीं हैं। आहाहा ! बहुत कड़क बात !

यहाँ ये लोग (संप्रदाय में) तो (ऐसा) कहे : शत्रुंजय (पर्वत) की यात्रा करके नीचे उतरे और साधु को आहार दे तो बहुत लाभ होगा ! फिर उसके साधु चाहे जैसे हो। (किन्तु) वे साधु हैं कहाँ ? श्वेतांबर के साधु - गृहीत मिथ्यात्वी हैं। कुंदकुंदाचार्य ने कहा न...! (और) 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' पाँचवें अध्याय में श्वेतांबर - स्थानकवासी को अन्य मत में डाले हैं। किसीको दुःख लगे... परंतु सत्य तो यह है। सत्य तो ऐसा है। तेरे लाभ का कारण तो 'यह' है। तेरे अनुकूल बोले... और इससे (तेरा मार्ग) विपरीत हो जायेगा तो नरक व निगोद मिलेगा। प्रभु ! ऐसा (जन)रंजन करने जायेगा उसे नरक-निगोद मिलेगा।

आहाहा ! यहाँ कहते हैं : '**जीव ही है, अजीव नहीं**' - यह अनेकांत। जीव भी परिणाम का कर्ता है और उस परिणाम का कर्ता अजीव भी है। (-यह अनेकांत नहीं है)।

वास्तव में तो क्रमबद्ध के निर्णय में जब सम्यग्दर्शन हुआ, उस परिणाम के समय (जो) राग है, उस राग संबंधी स्वयं का ज्ञान स्वयं से होता है। राग है इसलिये ज्ञान होता है - ऐसा भी नहीं। वह अपने परिणाम का कर्ता (है), अजीव नहीं (है)। अर्थात् क्या कहते हैं ? कि : अपने में जो ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम हुए, तो राग को जाना ऐसा भी नहीं। स्वयं को जाना। उस पर्याय में राग संबंधी अपना ज्ञान है, उसे जाना है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? राग भी अजीव है तो अजीव का ज्ञान यहाँ हुआ है, इसे भी व्यवहार कहने में आया है। उस समय पर अपनी स्व-पर प्रकाशकशक्ति से, उस अजीव संबंधी - पर का ज्ञान अपने द्वारा अपने में हुआ है; पर के कारण नहीं। राग है तो राग का ज्ञान हुआ है - ऐसा भी नहीं। कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! '**अजीव नहीं।**' (वे) परिणाम अजीव नहीं हैं। उस परिणाम का कर्ता अजीव नहीं है। ये (परिणाम) क्रमसर कहे। जो होना होगा वही होगा। - ऐसा जब अकर्तापना हो जाता है; तो भगवान आत्मा अकर्ता-ज्ञाता हो जाता (है)। ज्ञाता होने पर (उसकी) दृष्टि ज्ञान (-ज्ञायक) पर रह जाती है। तो उस परिणाम में जो राग का जानना होता है, वह तो राग के कारण हुआ ऐसा भी नहीं।

प्रश्न : राग का भी ज्ञान हुआ न !

समाधान : (आत्मा में) भाव (नामका) गुण कहा न...! तो उस भावगुण के कारण षट्कारक से विकाररूप होता है। परंतु (दूसरे) भावगुण के कारण विकाररहित परिणाम उसके हैं। जो होना होगा वह होगा यह दूसरी बात। भाव एक गुण है उसमें पर्याय होगी ही, यह दूसरी बात। और एक भाव विकाररहित भाव। ४७ शक्ति में दो भावगुण हैं। तो दूसरा भाव ऐसा है कि जब द्रव्य पर दृष्टि गई और क्रमबद्ध का निर्णय हुआ;

तो राग है इसलिये राग का ज्ञान हुआ; ऐसा भी नहीं। (ज्ञान में) राग तो आता नहीं किन्तु राग का ज्ञान होता है, यह भी व्यवहार से। यह अपने स्व-पर प्रकाशक का ज्ञान अपने परिणामों से उत्पन्न होता है; उस राग से और अजीव से नहीं। विशेष कहेंगे...

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-४ ता. २४-७-१९७९

'समयसार' गाथा - ३०८ से ३११। प्रथम पंक्ति तीन दिन चली। आज चौथा दिन है। क्या कहते हैं ? अमृतचंद्राचार्य ऐसा कहते हैं : '**तावत्**' - प्रथम - मुख्य बात यह है कि : '**जीव क्रमबद्ध**' - जीव क्रमबद्ध ऐसी पर्याय से उत्पन्न होता है। कल वह नहीं कहा था...? कि : आत्मा में क्रमवृत्ति (क्रमरूप) और अक्रमवृत्ति (अक्रमरूप) एक गुण है। (अर्थात्) आत्मा जो वस्तु है, उसमें क्रमवृत्ति और अक्रमवृत्ति नाम का (एक) गुण है।

जब 'क्रमबद्ध' का निर्णय करते हैं - जिस समय जो पर्याय होनेवाली (है वह) क्रमसर होगी, आगे-पीछे नहीं। और पर के द्वारा नहीं। - तो इसमें पुरुषार्थ कहाँ रहा ? सो कहते हैं.

'क्रमबद्ध' का निर्णय करते ही पर्याय का लक्ष छूट जाता है और ज्ञायक का लक्ष होता है; तब 'क्रमबद्ध' का निर्णय होता है। क्योंकि 'क्रमबद्ध' है, वह पर्याय में है। द्रव्य में कोई 'क्रमबद्ध' नहीं है।

द्रव्य में क्रमसर होना और अक्रम से होना, ऐसा गुण है। कुछ समझ में आता है ? कल तो थोड़ी बात यह कही थी कि : ('समयसार') गाथा - ३८ में ऐसा कहा है कि : 'क्रम' और 'अक्रम' - दोनों पर्याय में हैं। क्या ? कि : वह 'क्रम' और 'अक्रम' ये अन्य चीज़ हैं। वह 'क्रम' माने एक समय में, एक गति होती है और दूसरे समय में दूसरी गति। - वह गति 'क्रमसर' है। परंतु आत्मा में योग-लेश्या-कषायादि एक समय में हैं। - इसे 'अक्रम' कहने में आता है। (फिर भी) अक्रमपर्याय अक्रमसर होती है, - ऐसा नहीं है। पर्याय तो 'क्रमबद्ध' ही होती है। लेकिन उस 'क्रमबद्ध' का निर्णय करने जाने पर, वहाँ पर्याय पर लक्ष नहीं रहता, परंतु 'मैं ज्ञायक सर्वज्ञस्वभावी हूँ' 'सर्वज्ञ-स्वभावी हूँ।' (-इसका लक्ष होता है।)

'असाधारण ज्ञान को कारणरूप से ग्रहण करके' - असाधारण यानी 'सर्वज्ञस्वभावी'

आत्मा का जो असाधारण गुण है, उसे कारणरूप से ग्रहण करके - ऐसा पाठ 'प्रवचनसार' की टीका में है। यहाँ तो (जो) याद आये सो आये... पर अंदर वस्तु का कोई पार न मिले !! 'असाधारण ज्ञान को कारणरूप से ग्रहण करके' इसका अर्थ (यह है) कि : जब 'क्रमबद्ध' का निर्णय करते हैं, तब सर्वज्ञस्वभाव का कारण ग्रहण करके, (उसका लक्ष होकर,) 'क्रमबद्ध' का निर्णय होता है (कि जो) सर्वज्ञस्वभाव अंदर में है।

सूक्ष्म बात है, प्रभु ! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है !! आहाहा ! इसमें भी 'यह' दिगंबर संतों की वाणी !! (अन्यत्र) कहीं नहीं है। परंतु बहुत गंभीर ! एक-एक शब्द और एक-एक पद में बहुत गंभीरता !!

जिस समय पर (पर्याय) क्रमबद्ध होती है तो इसमें हमें पुरुषार्थ (करना) कहाँ रहा ? केवलज्ञानी ने देखा वैसा होगा। हम क्या पुरुषार्थ कर सकें ? वह (तो) भगवान ने जब (होना) देखा होगा, तब पुरुषार्थ होगा। हम अकेले पुरुषार्थ कैसे कर सकें ?' - ऐसा सवाल संप्रदाय में दो साल संवत १९७० और १९७१ में चला। हमारी नई-नई दीक्षा (थी)। एक गुरुभाई थे, वे बार-बार ऐसा कहा करे, (हम) सुनते थे। हम तो पहले (-स्थानकवासी संप्रदाय में) थे न ? हम तो भाई ! किसी के 'संप्रदाय में' आये नहीं हैं। हमने तो 'सत्य है उसे' अंतर में ले लिया। १९७२ की साल में हमारी उम्र २६ वर्ष की। बाद में 'यह चर्चा' वींछीआ शहर के निकट सरवा गाम में बाहर - प्रगटरूप से कही : मैं ने कहा - प्रभु ! मुझे तो आप (गुरुभाई) कहते हो, वह बात बैठती नहीं है। क्योंकि जैसा केवली ने देखा वैसा होगा, वह बात तो ठीक ऐसी ही है। परंतु 'पुरुषार्थ क्या करें ? तो हम तो कहते हैं कि 'केवली जगत में हैं, एक समय की ज्ञान की पर्याय में तीन काल, तीन लोक को जाननेवाले जगत में हैं, ऐसे अनंत सिद्ध हैं। महाविदेह में लाखों केवली हैं। बीस 'तीर्थंकर' हैं, वे केवलज्ञानी हैं। एक समय में तीन काल, तीन लोक को जाननेवाली पर्याय की सत्ता है। इस सत्ता का स्वीकार है पहले ?' ....उसने देखा वैसा होगा यह तो बाद की बात है।' 'यह बात' ६३ वर्ष पूर्व की है।

पूर्व के संस्कार थे न...! वास्तव में तो यह बात 'प्रवचनसार' ८०-८१-८२ गाथा में चलती है न...! वह (ग्रंथ) तो संवत् १९७२ में हाथ में भी नहीं आया था। वह १९७८ में हाथ आया। लेकिन 'वह बात' अंदर से आई थी। गाथा है न...! '**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं**'' जो कोई अर्हंत के द्रव्य-गुण-पर्याय जाने '**सो जाणदि अप्पाणं**' (वह अपने आत्मा को जानता है)।

अर्हंत के द्रव्य-गुण-पर्याय तो परद्रव्य हैं। परद्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय जानना, वह तो विकल्प है। अरे ! वह तो विकल्प है; किन्तु अपने आत्मा में द्रव्य-गुण-पर्याय - तीनों

का विचार करना वह भी विकल्प है।

`नियमसार' आवश्यक अधिकार में ऐसा लिया है : भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय तो परद्रव्य हैं। तो भगवान तो ऐसा कहते हैं कि : परद्रव्य का विचार करेगा तो तेरी दुर्गति होगी। `मोक्षपाहुड' १६वीं गाथा में भगवान कुंदकुंदाचार्य ने ऐसा कहा कि : हमारा लक्ष करेगा तो तुझे राग होगा और तेरी दुर्गति (होगी) अर्थात् चैतन्य की गति नहीं होगी।

(तो) यहाँ (`प्रवचनसार' में) ऐसा क्यों कहा कि : `**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जत्तेहिं सो जाणदि अप्पाणं...**' ...? पर यह तो निमित्त से कथन किया।

सर्वज्ञ की पर्याय एक समय में पूर्ण त्रिकाल(-ज्ञ) है। तो वह पर्याय निकली वहाँ से ? - वह सर्वज्ञशक्तिमें से निकली है। ४७ शक्तियों में सर्वज्ञ(शक्ति) - गुण अंदर (आत्मा में) है। उस `सर्वज्ञशक्ति'में से वह सर्वज्ञ-पर्याय निकली है। (अगर) उन अर्हंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय करने चलते हैं, तो अपने द्रव्य में (जो) सर्वज्ञशक्ति है, उसका निर्णय होता है; तब उसे `क्रमबद्ध' का (निर्णय हुआ) और अर्हंत के द्रव्य-गुण-पर्याय व्यवहार से जानने में आये। सूक्ष्म बात है, भगवान !

(परिणाम) क्रमबद्ध होते हैं। जिस समय पर जो पर्याय होनेवाली (होगी वह) होगी। आगे-पीछे नहीं। पर से - परद्रव्य से तो (होती ही) नहीं। निश्चय से तो यहाँ यह लिया है कि : जब क्रमबद्ध का निर्णय हुआ, तो उसे अर्हंत के केवलज्ञान का तो निर्णय हुआ; किन्तु वह तो पर है। लेकिन स्वयं का निर्णय हुआ कि `मैं सर्वज्ञस्वभावी हूँ।' आहाहा ! `मेरी चीज़ ही सर्वज्ञस्वभावी है।'

(अगर) सर्वज्ञस्वभाव न हो तो पर्याय में सर्वज्ञपना आयेगा कहाँ से ? कुछ समझ में आता है ? तो जब उस `सर्वज्ञस्वभाव' का निर्णय करते हैं, तब `क्रमबद्ध' का निर्णय आ गया, तो उसमें `पुरुषार्थ' आ गया।

`केवली ने देखा वैसा होगा' (इसमें) प्रथम तो केवली की श्रद्धा, और केवली की श्रद्धा से पहले खुद का स्वभाव सर्वज्ञ है, उसकी श्रद्धा (होती है)। आहाहा..हा !

सूक्ष्म बात है, भाई ! यह तो प्रभु का विरह हुआ और... (यहाँ) आ पड़े... बापू ! आहाहा ! यह बात कहाँ से कब आती है ! यह (किस प्रकार) कहें ? परंतु वह अंदर से आती है ! यह कोई तैयार अंदर रटकर रखी हैं ? - ऐसा नहीं है। बात अंदर से आती है ! कल क्या आया था वह खयाल में नहीं है। कल व्याख्यान आया था - ऐसा पूरी जिंदगी में नहीं आया है, ऐसा आया था।

यहाँ कहते हैं कि : क्रमवर्ती और अक्रमवर्ती नामका (एक) गुण अंदर (आत्मा में)

है। जब `सर्वज्ञस्वभाव' का निर्णय करते हैं, तब `द्रव्य' का निर्णय करने में `क्रमवर्ती' और `अक्रमवर्ती' नाम के गुण का निर्णय भी साथ में आ गया। समझने में थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई !

जिस प्रकार `सर्वज्ञ जगत में हैं, (उन्हों ने जैसा) देखा होगा वैसा होगा' तो वह सर्वज्ञ-पर्याय आई कहाँ से ? - उसकी सर्वज्ञशक्तिमें से आई। `**अप्पाणं जाणदि**' ऐसा लिखा है न ? तो `मैं भी सर्वज्ञशक्तिवान हूँ।' `मेरा स्वभाव ही सर्वज्ञस्वरूप है।' किसी चीज़ का करना या उसका किसीको करना - ऐसा तो है नहीं; परंतु उसे जाने बिना रहना - ऐसा भी नहीं। तीन काल, तीन लोकके (जो-जो) द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उन्हें जानने की ताकत मेरी एक पर्याय में है। वह पर्याय सर्वज्ञस्वभावमें से आती है - ऐसा जब निर्णय करने चलता है, तो वह क्रमवर्ती और क्रमबद्ध - जिस समय पर जो पर्याय होनेवाली है, उस समय (वही होती है - इसका यथार्थ निर्णय आता है) बहुत सूक्ष्म बात है, भगवान !

ईशरी में २०१३ की साल में चर्चा चली थी। किन्तु उन लोगों को `यह बात' बैठी नहीं। वे लोग कहते हैं कि `एक के बाद एक (पर्याय) होगी, परंतु यही होगी ऐसा नहीं।' यहाँ (मैं ने) कहा `जो होनी होगी वही होगी। आगे-पीछे होने का कोई सवाल ही नहीं। इसके बाद यही (पर्याय) आयेगी, ऐसा ही है; इसके बाद यह आयेगी ऐसा नहीं - आयेगी ही।' (सामनेवाले ने कहा कि) `इसके बाद यह ही आयेगी, ऐसा नहीं।' तो मैं ने कहा `इसके बाद यह ही आयेगी, ऐसा नियम है।'

यहाँ कहते हैं कि : ऐसे `**क्रमबद्ध अपने परिणामों से**' तो दूसरी ओर ऐसा कहा कि : पर्याय द्रव्य में नहीं है। द्रव्य पर्याय में आता नहीं। क्योंकि दो चीज़ हैं। (दोनों का) अस्तित्व है : पर्याय का अस्तित्व है और द्रव्य का अस्तित्व है। अस्तित्व का (कोई) हेतु नहीं होता। `है' उसका हेतु नहीं। चाहे तो द्रव्य हो, चाहे तो गुण हो और चाहे तो पर्याय हो। (-तीनों की) `सत्ता' है !

`समयसार' बंध अधिकार में है : `अहेतुक' पर्याय अहेतुक है। वह तो ठीक; परंतु `क्रमबद्ध' का निर्णय करने से द्रव्य का लक्ष होने पर, जो पर्याय उत्पन्न हुई, उस पर्याय को निश्चय से द्रव्य की - ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि वह जो पर्याय है, वह `सत्' है। `सत्' को (कोई) हेतु नहीं होता। आहाहा..हा ! उसको (पर्याय को) ध्रुव का हेतु नहीं है। प्रभु ! सूक्ष्म बात है। यहाँ कहते हैं कि : `वे परिणाम अपने से' - `**क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ**'। तो एक तरफ ऐसा कहे कि `उस परिणाम को ध्रुव की अपेक्षा नहीं है।' कुछ समझ में आता है ?

द्रव्य-ज्ञायक की दृष्टि हुई, तो जो निर्मल परिणाम उत्पन्न हुए (वे जीव हैं); विकार

की बात यहाँ नहीं है। विकार परिणाम में आता है। कहा था न कि : ४७ शक्तियों में आत्मा में भाव नाम के दो गुण हैं। उसमें एक भाव नाम के गुण का अर्थ यह है कि जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह उस भावगुण के कारण होगी। उस गुण का रूप अनंतगुण में है। तो अनंत गुण की भी जिस समय जो पर्याय होगी, वह (उस) भावगुण के कारण होगी। अनंतगुण में उस भावगुण का रूप है तो अनंतगुण की जिस समय जो पर्याय होनेवाली है, वह अनंत गुण के कारण से होती है। - यह शब्द यहाँ प्रथम पंक्ति में है : `अपने परिणामों से' - `परिणाम' से ऐसा नहीं कहा; `परिणामों' से (कहा)। बहुवचन है। अनंत (परिणाम) लिये हैं। यह तो गंभीर बात, बापू ! दिगंबर संतों की बात कोई अलौकिक (है) !

यहाँ तो एक शब्द `क्रमबद्ध' लिया है... अलौकिक है ! `क्रमबद्ध' का निर्णय जिसको हुआ, उसे सर्वज्ञस्वभावी प्रभु का निर्णय हुआ।

संवत् (१९)७२ में वे (संप्रदाय के साधु) कहते थे कि `भगवान ने देखे होंगे उतने भव होंगे'। तो वहाँ मैं ने एक बार कहा था कि `सुनो ! भगवान के ज्ञान का तथा अपने सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय जिसको हुआ, उसके भव केवलज्ञानी ने देखे ही नहीं हैं। (उसको) भव है ही नहीं। कदाचित् दो-चार भव होवे तो वे ज्ञान के ज्ञेय हैं।' वहाँ की (विदेह की) बात थी न...! भगवान तीन लोक के नाथ से (सुनी थी न...!) यहाँ जन्म हो गया है। यह (पुरुषार्थहीनता की बात) तो सहन नहीं हुई। इसलिये कहा कि : सर्वज्ञ जगत में हैं, ऐसी सत्ता का स्वीकार करने जाता है, तो उसका लक्ष पर्याय पर नहीं रहता। उसका लक्ष गुण-गुणी के भेद पर नहीं रहता। उसका लक्ष द्रव्य पर जाता है, अभेद पर जाता है; तब `क्रमबद्ध का सही निर्णय होता है।' तो `केवलज्ञानी ने देखा वैसा होगा,' (इस प्रकार) उसने केवलज्ञानी की सत्ता का स्वीकार किया, अपनी सत्ता का स्वीकार किया वहाँ पुरुषार्थ आ गया।

दूसरी बात : इसमें (आत्मा में) क्रमवृत्ति(रूप) और अक्रमवृत्ति(रूप) गुण है। तो उसकी पर्याय क्रमसर - क्रमबद्ध ही होगी। उस गुण को धारण करनेवाला गुणी प्रभु - उस गुणी की ओर जब दृष्टि होती है, तो गुण में जो पर्याय क्रमबद्ध आनेवाली है (वह) क्रमवृत्तिगुण के कारण वह ही होगी। कुछ समझ में आता है ? ज़रा सूक्ष्म पड़े, लेकिन धीरे से पचाना, भाई !

यहाँ फिर दूसरी बात (यह) कि : `**परिणामों से उत्पन्न होता हुआ**' यानी `एक परिणाम नहीं'। आज सुबह किसी भाई ने प्रश्न किया था कि : एक समय में एक ही पर्याय उत्पन्न होती है ? तो कहा कि : एक गुण की एक। (इस प्रकार से) अनंती

(पर्यायें एक समय में)। `परिणामों' लिया है न...? अनंत गुण के परिणाम एक समय में उत्पन्न होते हैं। द्रव्य में अनंत गुण हैं। जब द्रव्य की दृष्टि हुई तो अनंत गुण जितनी संख्या में हैं, (-उन सारे गुणों की निर्मल पर्याय प्रतिसमय उत्पन्न होती है)।

आकाश के प्रदेशों का अंत नहीं है। अलोक का अंत कहाँ आयेगा ? - कहीं भी अंत नहीं है। लोक का अंत है, परंतु अलोक का अंत कहाँ ? - दसों दिशा में आकाश... कहाँ पूरा होता है ? - कहीं भी अंत नहीं है। इस (अनंत...अनंत...के बाद) क्या है ? आहाहा ! एक बार नास्ति से विचार करे तो भी इस अस्तित्व की श्रद्धा हो जाये (ऐसा) है कि - आकाश के बाद क्या आयेगा ?

धुवारण गाँव में १९९१ में दो भाइयों से ऐसा कहा कि : भाई ! (पहले) इतना विचार करो, बाकी बाद में रखो; कि : यह (आकाश) चीज़ है, तो यह कहाँ तक है ? अनंत-अनंत-अनंत-अनंत योजन में यह चीज़ है। यह चीज़ (तो) अनंत-अनंत योजन में (पूरी होती) नहीं; तो अब (इसके) बाद क्या ? और इसके बाद कुछ है; तो उसका अंत कहाँ ? आहाहा ! अंदर दिमाग चकरा जाये ऐसा है !! दिमाग यानी दृष्टि। आकाश के प्रदेश का अंत क्या ? आकाश का अंतिम प्रदेश कहाँ ? अलोक की बात है। उसका अंत ही नहीं है। इतने प्रदेश (आकाश के) हैं। - इससे अनंतगुने गुण तो एक आत्मा में हैं। आहाहा !

यहाँ ऐसे कहा : अनंत गुण के परिणामों से उत्पन्न होता हुआ। एक गुण की पर्याय, ऐसा नहीं; श्रद्धा की पर्याय उत्पन्न होती है, आनंद की पर्याय होती है; अरे ! जितने अनंत गुण हैं, उन सब के परिणाम व्यक्त-प्रगट-उत्पन्न होते हैं। आहाहा ! द्रव्य पर दृष्टि जाने से, संख्या में जितने गुण हैं, उन सब गुण का एक अंश व्यक्त-प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन में सिर्फ सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा नहीं; सम्यग्दर्शन की पर्याय में आनंद का अंश, वीर्य का अंश (साथ में हैं)।

आत्मा में वीर्य-पुरुषार्थ नाम का गुण है। उस वीर्यगुण का कार्य यह है कि : स्वरूप की रचना करना; ऐसा ४७ शक्तियों में आता है। शुभ व अशुभ राग की रचना करना, यह कार्य वीर्यगुण का नहीं। जब द्रव्य की दृष्टि हुई तब अंतर में जितने अनंत गुण हैं, उनकी प्रगट अवस्था की रचना वीर्य करता है, वह कार्य वीर्य का है। आहाहा ! पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कहना है। उस (सम्यग्दर्शन की) पर्याय भी क्रमबद्ध में आती है; पर वह पुरुषार्थ से होती है। अनंत निर्मल पर्याय की रचना वीर्यगुण करता है, तो इसमें (क्रमबद्ध में) पुरुषार्थ आया कि नहीं ?

और उस समय जो राग आता है वह - आत्मा में जो एक भावगुण है उसकी

विकृत परिणति - षट्कारकरूप होती है; उससे रहित होना ऐसा भावगुण है। ४७ शक्ति में हैं। आहाहा ! ऐसी बातें !! अब इसमें समझना क्या ? जो पर्याय षट्कारकरूप से विकृत होती है, उस पर्याय से रहित, भाव नामका गुण है; उसका परिणमन (विकृत) रहितरूप से होता है; विकृतसहितरूप से नहीं।

इस 'क्रमबद्ध'का निर्णय करने में 'द्रव्य' का निर्णय होता है। द्रव्य में 'वीर्य' एक ऐसा गुण है कि जो स्वरूप की निर्मल रचना करता है; राग की (रचना) करे, ऐसा उसमें है ही नहीं। आहाहा !

राग आता है... तो यहाँ ज्ञान, राग संबंधी ज्ञान करता है। (फिर भी) वह राग है, इसलिये उसका ज्ञान करता है, ऐसा भी नहीं है। ज्ञान की वह पर्याय स्व का ज्ञान करती है और पर का ज्ञान (करती है। फिर भी) पर है, इसलिये पर का ज्ञान करती है, ऐसा भी नहीं है। ज्ञान की वह पर्याय, अपने स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य से प्रगट होती है। राग हो... परंतु राग है इसलिये यहाँ (ज्ञान में) उस राग का ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। अपने ज्ञान की पर्याय में स्व-पर प्रकाशक ताकत होने से (ज्ञान होता है)।

ये अनंती पर्यायें - प्रत्येक पर्याय में - वीर्य की रचना है। ये अनंत परिणाम अपने पुरुषार्थ से प्रगट होते हैं। और ये परिणाम निर्मल उत्पन्न होते हैं। मलिन (परिणाम) की बात यहाँ है ही नहीं।

उस समय जो राग है, तत्संबंधी ज्ञान, अपने से अपने कारण से उत्पन्न होता है। राग है इसलिये राग का ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है।

ऐसे कहा न...! '**अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...**' तो 'राग' है, वे कोई अपने परिणाम नहीं है। राग-दया, दान आदि - कोई अपने स्वभाव के परिणाम हैं ? (-नहीं)। क्योंकि - आत्मा में जितने गुण हैं उसमें विकृत पर्याय कर सके ऐसा कोई गुण है ही नहीं। अनंत गुण पवित्रता की परिणति कर सके ऐसे हैं। विकृत (परिणति) कर सके ऐसा कोई गुण अनंत गुण में नहीं है। विकृति (पर्याय में) होती है, वह तो पर्याय दृष्टि से निमित्त के वश होकर होती है।

लेकिन ज्ञानी को जब 'क्रमबद्ध' का निर्णय हुआ, तो उसका (राग का) भी ज्ञान (हुआ)। किन्तु राग हुआ इसलिये रागसंबंधी ज्ञान हुआ; ऐसा भी नहीं है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

'**क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से**' (अर्थात्) 'अपने अनंत निर्मल परिणामों से' (यानी कि) जितने अनंत गुण हैं, उतने पर्याय में आये। एक गुण की एक, किन्तु अनंत गुण की अनंत पर्याय, एक समय में हुई। जैसे ही सम्यग्दर्शन हुआ, क्रमबद्ध का निर्णय हुआ,

सर्वज्ञ (नाम के) गुण का निर्णय हुआ, सर्वदर्शी का (निर्णय हुआ), (अर्थात्) सर्व गुणों को धारण करनेवाले द्रव्य का निर्णय हुआ, वैसे ही अनंतानंत जितने गुण हैं वे सभी परिणाम में निर्मलरूप में उत्पन्न होते हैं।

आहाहा ! सूक्ष्म बहुत, भाई ! समझ में आये उतना समझना बापू ! यह तो परमात्मा, तीन लोक के नाथ के घर की बातें हैं ! उनके पेट की बातें हैं !

बिना पुरुषार्थ के कोई पर्याय होती ही नहीं है। क्योंकि जो वीर्य गुण है, उसका रुप अनंत गुण में है। (अर्थात्) अनंत गुण में भी वीर्य नामकी शक्ति का रूप है। जब दृष्टि द्रव्य पर हुई तो अनंत गुणमें से वीर्य के द्वारा पर्याय प्रगट होती है। 'भगवान ने देखा वैसा होगा' ऐसा निर्णय जहाँ हुआ, तो अपनी पर्याय में अनंती पर्यायें पुरुषार्थ से उत्पन्न होती हैं।

दूसरी बात : '**परिणामों से उत्पन्न होता हुआ**' - (अर्थात्) उस समय राग या अजीव सब चीज़ें बाहर में (भले) हो...परंतु तत्‌संबंधी ज्ञान, अपना अपने द्वारा उत्पन्न होता हुआ उस (पर) चीज़ को देखता है या (पर) चीज़ को जानता है - ऐसा भी नहीं है। पर चीज़ को देखना-जानना, ऐसा तो है ही नहीं। वह तो अपने को ही देखता - जानता है। क्योंकि पर और अपनी पर्याय का (परस्पर) अत्यंत अभाव है। जब दोनों में अत्यंत अभाव है; तो यह (ज्ञान-)पर्याय उसको (पर को) देखती है, ऐसा कहना वह तो असद्‌भूतव्यवहारनय का कथन है। लोकालोकसंबंधी तथा अपने द्रव्य संबंधित जो (ज्ञान-)पर्याय उत्पन्न हुई, वह (तो) अपने सामर्थ्य से, अपने कारण से उत्पन्न हुई है। लोकालोक है तो (ज्ञान-) पर्याय उत्पन्न हुई; ऐसा भी नहीं है।

आहाहा ! अब यह इतनी दूर तक का समझना...कठिन पड़े, बापू ! लेकिन मार्ग तो यह है।

'**अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ**' - अन्य के परिणामों को 'जीव' नहीं कहा। (एक ओर ऐसा कहे कि:) पर्याय द्रव्य में जाती नहीं है और द्रव्य पर्याय में आता नहीं है (तथा) यहाँ यह कहा कि : परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीवद्रव्य ही है। उन अनंत गुण का परिणमन (जीव ही है।) आहाहा..हा !

जब 'क्रमबद्ध' का निर्णय करने जाता है, तब ज्ञायकस्वभाव पर (दृष्टि होती है) और (जीव अकर्ता सिद्ध होता है)। यहाँ आत्मा का अकर्तृत्व सिद्ध करना है। देखो गाथा के ऊपर है : '**अब, आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टांतपूर्वक कहते हैं।**' क्रमबद्ध में पर की पर्याय का कर्तापना नहीं है। (क्रमबद्ध में) ज्ञातापना सिद्ध करना है। 'अकर्तृत्व सिद्ध करना है' इसका अर्थ : अस्ति से ज्ञातापना सिद्ध करना है। तो जब ज्ञातापना सिद्ध हुआ, तब

राग का भी कर्ता नहीं और राग से ज्ञान हुआ ऐसा भी नहीं। आहाहा ! ऐसी बात है, भाई ! कुछ समझ में आता है ?

ये...अपने अनंत शुद्ध परिणामों द्वारा, ऐसा कहा न...? पर के परिणामों (से) नहीं, राग के (परिणामों से) भी नहीं - 'अपने परिणामों से' (अर्थात्) 'जो अपने अनंत गुण हैं, उनकी (जो) पवित्र परिणति हुई, वे अपने परिणाम हैं। व्यवहाररत्नत्रय का राग है, वे अपने परिणाम नहीं हैं, और व्यवहाररत्नत्रय का राग है, इसलिये उसका ज्ञान यहाँ हुआ, ऐसा भी नहीं है। अपने ज्ञान की यह पर्याय इतने सामर्थ्यवाली है कि पर की अपेक्षा रखे बिना, स्व-पर को जानने का परिणमन स्वयं के द्वारा होता है। बहुत सूक्ष्म बात, बापू !

आहाहा..हा ! वह 'अपने परिणामों से' एक ओर कहे कि : पर्याय द्रव्य की नहीं, पर्याय पर्याय की है। ऐसा 'आप्तमीमांसा' नाम के न्याय-ग्रंथ में भी आता है : धर्मी व धर्म - दोनों भिन्न हैं। धर्मी (है) वह धर्म नहीं और धर्म (है), वह धर्मी नहीं। आहाहा ! यहाँ इस प्रकार नहीं लिया है। यहाँ तो पर से भिन्न, अपने परिणाम निर्विकारी उत्पन्न होते हैं तो वे परिणाम अपने हैं, वे परिणाम ही जीव है। (ऐसा लिया है)।

बापू ! वीतराग मार्ग !! यह कोई हल्दी की गाँठ रखकर पंसारी बन बैठे, ऐसी बात नहीं है। यह तो बहुत गंभीर चीज़ है। आहाहा ! थोड़े शास्त्र पढ़े या सीख लिये, इसलिये ज्ञान हो गया - ऐसी चीज़ नहीं है। भाई ! भगवान आत्मा का ज्ञान होवे, तब ज्ञान होता है। कुछ समझ में आता है ?

'**अपने परिणामों से**...' 'परिणामों से' ऐसे बहुवचन यानी अनंत परिणाम लिये। '**उत्पन्न होता हुआ**' - पैदा होता हुआ, '**जीव ही है**'। वह जीवद्रव्य ही है। वह पर्याय जीव की है तो वह जीवद्रव्य ही है।

आहाहा ! ऐसी बात है ! अरे प्रभु ! आत्मा में ताकत है, एक क्षण में केवलज्ञान लेने की ताकत है। उसको ऐसी बात समझ में नहीं आ सकती, ऐसा कलंक मत लगाना। हम नहीं जान सकेंगे, ऐसा मत कहना ! (क्योंकि) वह (तो) कलंक है। प्रभु ! तेरा केवलज्ञान तीन काल, तीन लोक को जाने - ऐसी पर्याय, एक क्षण में प्रगट हो जाये (ऐसा) है। एक समय में प्रगट होती है ! आहाहा ! वह अपने सामर्थ्य से - द्रव्य का लक्ष करने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है !

मोक्ष है - वह मोक्षमार्ग द्वारा उत्पन्न हुआ, ऐसा भी नहीं। (मोक्ष होनेपर) मोक्ष-मार्ग का तो अभाव - व्यय होता है। और व्यय की अपेक्षा उत्पाद को नहीं है। (तो) वह उत्पाद, उत्पाद से (है)। ज्यादा से ज्यादा कहो तो द्रव्य के आश्रय से (मोक्ष) उत्पन्न

हुआ, ऐसा कहने में आता है। मोक्ष-मार्ग का तो व्यय-अभाव हो जाता है। और केवलज्ञान - मोक्षपर्याय है, यह तो भाववाली है। तो वह भाव कहाँ से उत्पन्न हुआ ? कि : द्रव्य में से उत्पन्न हुआ। - ऐसा एक अपेक्षा से कहने में आता है। द्रव्य `कर्ता' और पर्याय `कर्म' - यह भी उपचार से कथन है। अमृतचंद्राचार्य की `कलशटीका' में ऐसा आता है कि : यह निर्मल परिणाम अपना `कार्य' और आत्मा `कर्ता' - ये दो भी उपचार से हैं। आहाहा..हा !

अरे भगवान ! तेरी तो अंदर बलिहारी है ! तू तो भगवान हो.. चैतन्य हीरा ! तेरे हीरे की कीमत क्या !! आहाहा..हा ! बड़ा-बड़ा बोले नहीं, बड़ा न बोले बोल; हीरा मुखसे न कहे, लाख हमारा मोल।' इस तरह भगवान की कीमत आँकने की कोशिश करने पर, बापू ! वह कीमत बिना की (अनमोल) चीज़; वह तो महान चीज़ है, बापू ! वह कोई साधारण चीज़ नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान, यह कोई साधारण चीज़ नहीं है। इसके बिना, व्रत ले लो और...प्रतिमा ले लो और...यह ले लो - धूल है; सब संसार है। आहाहा ! जहाँ मूल चीज़ का कोई ठिकाना नहीं, (वहाँ) व्रत-तप-प्रतिमा-पूजा-भक्ति कहाँ से आ गये? वे तो सब राग हैं। (परंतु) इन सबको धर्म का कारण है, (ऐसा अगर माने) तो वह मिथ्यात्व है। आहाहा ! कठिन बात है, भाई !

यहाँ कहते हैं : अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ `जीव है' ऐसा नहीं कहा; किन्तु `जीव ही है' (ऐसा कहा)। `जीव एव' संस्कृत में है। **`जीव एव' - `जीव ही है'**।

प्रश्न : प्रभु ! आप तो कहते थे न...कि : परिणाममें द्रव्य आता नहीं है। और (यहाँ) आप इस परिणाम को द्रव्य कहते हो !

समाधान : भाई ! पर से भिन्न और अपने परिणाम से अभिन्न है। अभिन्न का अर्थ : परिणाम द्रव्य में एकरूप हो गये, ऐसा नहीं। अभिन्न का अर्थ : परिणाम परिणामी में अभेद होता है, एकमेक होता है, ऐसा भी नहीं। परंतु वे (परिणाम) सन्मुख हुए, तो पर से विमुख हो गये; तो ऐसा कहने में आया (कि:) परिणाम आत्मा में अभेद हुए। आहाहा..हा..हा..!

ऐसा मार्ग त्रिलोकीनाथ जिनेश्वरदेव का !! अरे ! जिसको सुनने भी न मिले, वह विचार कब करे और उसको (समझ में) बैठे कब ? बापू ! ऐसी (दुर्लभ) मनुष्यदेह चली जा रही है ! उसकी मृत्यु का जो समय है, वह तो पक्का (-निश्चित) है। जितने दिन जा रहे हैं उतना मृत्यु के समीप जाता है।

यहाँ कहते हैं कि : `अपने परिणामों से' - ये अपने परिणाम निर्मलवाले लेना, विकारी मत लेना। विकार होता है...परंतु जहाँ द्रव्य की दृष्टि हुई, तो उसमें (जो) भाव नामका गुण है, उसके कारण विकार से रहित परिणमन (है) वह उसका है। विकार

का जो ज्ञान हुआ, विकार की श्रद्धा हुई - वह अपने से हुई (है)। यह विकार है इसलिये ज्ञान हुआ और श्रद्धा हुई, ऐसा नहीं है। ये श्रद्धा व ज्ञान हुए, वे अपने परिणाम हैं। राग अपना परिणाम नहीं है। आहाहा..हा ! सूक्ष्म बात है।

यहाँ कहा कि : '(परिणाम) जीव ही है'। एक ओर प्रभु ऐसा कहे कि : परिणाम को ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। 'प्रवचनसार' १०१-गाथा : जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उन्हें ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। उसको (उत्पाद को) व्यय की अपेक्षा नहीं है। ध्रुव को उत्पाद की अपेक्षा नहीं है। आहाहा..हा..हा !

अरे भाई ! ऐसे अवसर कब मिले, बापू ! भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ का हृदय 'यह' है उनका अभिप्राय 'यह' है ! कुछ समझ में आता है ?

(अपने परिणाम) जीव ही है। परिणाम उसके (जीव के) हैं और उसके द्वारा उत्पन्न हुए हैं न...! निमित्त के द्वारा उत्पन्न हुए हैं, ऐसा भी नहीं है। अरे ! व्यवहाररत्नत्रय राग है, तो उसके द्वारा यहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, ऐसा नहीं। व्यवहाररत्नत्रय का राग है तो राग का ज्ञान, राग के कारण हुआ, ऐसा (भी) नहीं। अपने ज्ञानगुण आदि अनंतगुण - शक्ति जो हैं, उनका अनंत पर्यायरूप परिणमन अपने कारण से होता है।

आहाहा ! द्रव्य स्वतंत्र, गुण भी स्वतंत्र और अनंत पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे भी स्वतंत्र। वह पर्याय जब उत्पन्न होती है; जिसको यहाँ 'जीव ही' कहा; वह निश्चय से तो (अपने) षट्कारक से उत्पन्न हुई है। (अर्थात्) जब निर्मल पर्याय - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि (की) - हुई; (तब) उस पर्याय का 'कर्ता' पर्याय; पर्याय का 'कार्य' पर्याय; पर्याय का 'साधन' पर्याय; पर्याय से पर्याय, पर्याय होकर पर्याय रही; पर्याय के 'आधार से' पर्याय (हुई)।

अरे...रे ! कहाँ प्रभु का मार्ग ! और लोग क्या मान बैठें ! और सत्य बात (बाहर) आई तो कहे कि 'एकांत है'। अरे प्रभु ! 'सम्यक् एकांत' ही यह है। यह चीज़ ही ऐसी है ! नय एक है तो एक अंश का ही लक्ष करता है, तो वह सब एकांत है। प्रमाण है वह दोनों अंश को (प्रगट) करता है, वह अनेकांत है : द्रव्य का भी ज्ञान व पर्याय का (भी) ज्ञान। यहाँ तो द्रव्य का ज्ञान हुआ तो पर्याय के ज्ञान का निर्णय यथार्थ हुआ। 'क्रमबद्ध' का निर्णय तब हुआ, कि जब 'द्रव्य' का निर्णय यथार्थ हुआ। तो 'क्रमबद्ध' का निर्णय हुआ, तब 'सर्वज्ञ - परद्रव्य जगत में हैं' ऐसा निर्णय भी, उसे व्यवहार से हुआ। कुछ समझ में आता है ?

'अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं।' - यह क्या कहा कि : जो अनंत परिणामों से उत्पन्न हुआ (वह जीव ही है, अजीव नहीं)। राग आया,

तो उस राग से यहाँ `ज्ञान' हुआ - ऐसा नहीं। `राग' है, वह अजीव है; जीव नहीं। शरीरादि अजीव हैं। उस अजीव से (ज्ञान) नहीं हुआ। अनंत परिणाम जो उत्पन्न हुए, वे अजीव से नहीं हुए हैं। राग से नहीं हुए हैं। राग का ज्ञान (भी) राग से नहीं हुआ।

आहाहा ! ऐसी सूक्ष्म बात है, भाई ! शिक्षाशिविर में लोग बाहर से - कहाँ-कहाँ से आये हैं ? (सत्य को) खयाल में तो लेना चाहिए न...! अरे ! मनुष्यपना चला जायेगा, भाई ! अगर विपरीत श्रद्धा थोड़ी-सी भी रह गई (तो वह महासंसार का कारण है) !

`मोक्षमार्ग प्रकाशक' के पाँचवें अध्याय में गृहीत मिथ्यात्व की बात कही। छठे अध्याय में कुगुरु-कुदेव कहा। और सातवें अधिकार में जैन संप्रदाय में जन्म लिया - ऐसे लोग भी क्यों मिथ्यादृष्टि रहते हैं ? इसका अधिकार है। मिथ्यात्व का एक अंश भी - शल्य भी महासंसार का कारण है। जैन में - दिगंबर में जन्म लिया, तो भी मिथ्यात्व रहता है, इसकी उसे खबर नहीं है। इसका अधिकार सातवाँ है।

यहाँ कहते हैं कि : द्रव्य के निर्णय में अर्थात् क्रमबद्ध का निर्णय करने से अपने जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम उत्पन्न हुए, वे राग द्वारा नहीं और अजीव द्वारा (भी) नहीं ! यहाँ (पंच परमेष्ठी को भी) अजीव के साथ लेंगे। वास्तव में तो `इस जीव' की अपेक्षा से भगवान पंच परमेष्ठी भी जीव नहीं हैं - क्या कहा ? - इस `द्रव्य' की अपेक्षा से वे पर - अद्रव्य हैं। तीन लोक के नाथ पंच परमेष्ठी आदि हैं, वे भी `इस द्रव्य' की अपेक्षा `अद्रव्य' हैं; `इस क्षेत्र' की अपेक्षा `अक्षेत्र' है; `इस काल' की अपेक्षा `अकाल' है; और `इस भाव' की अपेक्षा `अभाव' है। आहाहा..हा..हा ! तो `इस (अपने) द्रव्य' की अपेक्षा तो वे (पंच परमेष्ठी) `अद्रव्य' हैं। `इस जीव' की अपेक्षा पंचपरमेष्ठी हैं वे `यह जीव' नहीं, वे `अजीव' हैं। कुछ समझ में आया ?

थोड़ी सूक्ष्म बात तो है, भाई ! परंतु समझने की चीज़ तो `यह' है। यथार्थ ज्ञान और यथार्थ श्रद्धा के बिना, जो कुछ करें, वह सब संसार (-हेतु) है। `शुभभाव' है वह संसार...है। ये दया-दान-व्रत-भक्ति-प्रतिमा के शुभ परिणाम वह `संसार है'। स्त्री-कुटुंब-परिवार-लक्ष्मी - ये कोई `संसार' नहीं है। संसार तो अज्ञानी का अपनी पर्याय में रहता है। संसार किसी दूसरे में रहता है ? (-नहीं)। विकृत पर्याय है वह संसार है। विकृत पर्याय आत्मा की पर्याय में होती है। इसलिये संसार उसकी पर्याय में रहा। संसार कहीं बाहर में नहीं है। स्त्री-कुटुंब-परिवार-लक्ष्मी, ये संसार हैं ? - नहीं, वे तो परचीज़ हैं। संसार तो तेरी पर्याय में जो शुभराग व अशुभ राग उत्पन्न होता है, वह संसार है। आहाहा ! बड़ी कठिन बातें, भाई ! वह संसार अजीव है। तो उस अजीव से यहाँ ज्ञानपरिणाम उत्पन्न हुए, आनंद परिणाम उत्पन्न हुए - ऐसा नहीं है। आहाहा ! कठिन बात है, भाई !

तीन लोक के नाथ की वाणी आती होगी वह कैसी होगी !! आहाहा ! (जहाँ) संतलोग ऐसी बातें करें...छद्मस्थ मुनि ऐसी बातें करें...! तो सर्वज्ञ की वाणी - दिव्यध्वनि में कैसा (आता होगा !!) जहाँ इन्द्र भी समोसरण में पिल्ले की तरह सुनने बैठे...! प्रथम स्वर्ग के इन्द्र एक भवतारी और उनकी मुख्य इन्द्राणी (जो करोड़ों में एक - मुख्य है, वह भी एक भवतारी है। दोनों मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाले हैं) वे जब सुनने जाते हैं, तो (वह) वाणी कैसी होगी !! दया का पालन करो...व्रत करो.. ऐसा तो कुम्हार भी कहता है।

(पहले) जीव लिया न....? अब, '**इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध**' - इसी प्रकार जीव की भाँति अजीव भी क्रमबद्ध। आहाहा ! उसमें भी पर्याय क्रमसर (जो) होनेवाली है (वह) होती है।

यह मंदिर बना... तो (वह) उसकी पर्याय से बना है। किसी राज ने बनाया है, ऐसा नहीं। समझ में आया ? आहार का एक ग्रास जो (हाथ में) नीचे है, वह...इस प्रकार...ऊँचा होता है, वह उसकी पर्याय से होता है; हाथ के द्वारा नहीं। (और) जीव की इच्छा से (भी) नहीं। आहाहा ! 'अजीव भी क्रमबद्ध'!

शरीर की ऐसी जो पर्याय है, वह क्रमबद्ध में आनेवाली है, सो आई है। मैं ध्यान रखूँ तो (शरीर) बराबर रह सके। पथ्य आहार करुँ तो नीरोगता रह सके। ये सारी बातें (मिथ्या हैं)। परद्रव्य की पर्याय को दवा नीरोगी करे - इसकी यहाँ ना करते हैं; कि : नीरोगता भी शरीर की पर्याय का क्रम है, तो होती है।

एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करती। ऐसा 'समयसार' की तीसरी गाथा की टीका में है : प्रत्येक पदार्थ अपने गुण - पर्यायरूपी धर्म का चुंबन करता है, परद्रव्य को कभी स्पर्श ही नहीं करता। यह जो आत्मा है, वह कर्म को कभी भी छुआ ही नहीं। इस आत्मा ने शरीर को भी छुआ ही नहीं; और शरीर ने आत्मा को छुआ नहीं। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

यह लकड़ी ऊँची होती है...देखो ! कहते हैं कि : (यह) क्रमबद्धपर्याय से इस तरह उत्पन्न हुई है। अँगुली का आधार है तो उत्पन्न हुई है, अँगुली से उत्पन्न हुई है - ऐसा तीन काल में नहीं। परंतु वह (अज्ञानी जीव) संयोग से देखता है। वह इधर (उपादान की ओर) नहीं देखता। वह इधर (निमित्त की ओर) देखता है, लेकिन इधर (उपादान को) देखे तो उसकी पर्याय यहाँ (स्वयं) से है। परंतु वह (संयोग को) देखता है कि देखो यह (अँगुली से इस प्रकार ऊँची) हुई है कि नहीं ? पर वह (अँगुली) तो दूसरी चीज़ है। आहाहा !

(यहाँ `इसीप्रकार) **अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से**' - इसमें से यह बहुवचन आया। अजीव बहुत हैं न...? वे सब अनंत हैं।

यह शहतीर है... वह नीचे के आधार से नहीं टिका है। उस एक-एक परमाणु में (अपने-अपने) षट्कारक (हैं)। अपने आधार से (प्रत्येक) परमाणु रहा है; पर के आधार से नहीं। आहाहा ! इसे तो कौन माने ? संयोग (-दृष्टिवाले) न माने। वे संयोग से देखते हैं। वह अपने से रहा है, ऐसा वे नहीं देखते ! (श्रोता:) तो यह खम्भा किसने बनाया ? (उत्तर :) (उसकी) पर्याय ने बनाया है। वह तो जड़ की पर्याय से (वह) खम्बा बना है। यह पुस्तक बनती है, वह जड़ की पर्याय से बनती है। अक्षर लिखते हैं, तो वे अक्षर (जीव की) इच्छा से तो नहीं बने, किन्तु कलम से भी नहीं बने।

आहाहा ! ऐसी बात है !! `ऐसी' प्रभु की पुकार है। तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की `यह' पुकार है : अजीव की - परमाणु के प्रत्येक गुण की पर्याय, जिस समय होनेवाली (है वह) होती है; वह अपने से होती है; पर के कारण से नहीं होती ! आहाहा..हा..!

यहाँ तो संवत् ७१ से कहते थे कि `कर्म के द्वारा अपने में (-आत्मा में) विकार होता नहीं।' यह प्रश्न ईशरी में २०१३ की साल में चला। वे ऐसा कहते थे कि `कर्म से - निमित्त से विकार होता है।' तो कहा कि `तीन काल, तीन लोक में निमित्त से (विकार) नहीं होता।' - यह तो (दुनिया से) अनोखी बातें हैं !

परद्रव्य की पर्याय - एक परमाणु की पर्याय, दूसरे परमाणु की पर्याय को कभी भी स्पर्श नहीं करती। परमाणु की पर्याय को जीव करे, ऐसा कैसे हो ? क्योंकि : अजीव के (जो) परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे अजीव ही हैं।

आहाहा ! वह अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से (उत्पन्न होता है)। आहाहा ! उस `क्रमबद्ध' में महाभगवंत बिराजमान हैं ! `क्रमबद्ध' का निर्णय करने में भगवान नज़र आते हैं; तब `क्रमबद्ध' का सच्चा निर्णय होता है। आहाहा ! ऐसी बात है, भाई ! **`अजीव भी क्रमबद्ध'।**

यह पुस्तक है, वह (इस) चौकी के आधार से रहा है ? - नहीं। ऐसा कहते हैं कि वह अपनी पर्याय अपने आधार से, अपने कारण से (ऐसी) है। परमाणु (उस) पर्याय (रूप) अपने कारण से है; पर के कारण से (वे) परमाणु (नहीं)।

`तत्त्वार्थसूत्र' में ऐसा है - सिद्धांत तो ऐसे चला है कि : दो गुण अधिक हो (अर्थात्) इसमें यहाँ यदि तीन गुण होवें और दूसरे में पाँच गुण हो, तो पाँच गुण हो जाते हैं। यह तो निमित्त का कथन है कि : (एक) परमाणु में पाँच गुण चिकनाई की पर्याय है और दूसरे परमाणु में तीन गुण की है तो वह पाँच गुण में आ जाये, तो

पाँच हो जाते हैं, (परंतु) वे इन पाँच गुणों के मिलने से पाँच हुई है, ऐसा नहीं है। क्रमबद्ध में उसका पाँच होने का काल है, तो पाँच होती हैं। विशेष आयेगा....

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-५ ता. २५-७-१९७९

'समयसार' सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार। यह अधिकार मोक्षमार्ग की चूलिका है। चूलिका का अर्थ यह है कि : पहले जो कह चुके वह भी कहेंगे और नहीं कहा हो उसे भी विशेषरूप से कहेंगे। इसमें बहुत स्पष्ट आया है। कोई प्रश्न करे कि भाई ! १४ वीं गाथा व ३८ वीं गाथा ! तो उसमें सब कुछ आ जाता है। १४ वीं गाथा में ऐसा कहा कि : अपना भगवान आत्मा अबद्ध है; राग से बद्ध नहीं है; कर्म से बद्ध नहीं है; और एक पर्याय जितना (भी) नहीं। तो 'वह बात' यहाँ आती है। भगवान (आत्मा) अबद्धस्पृष्ट है। अबद्धस्पृष्ट में नास्ति से कथन है। अस्ति से कहो तो मुक्तस्वरूपी भगवान अंदर में है। द्रव्यस्वरूप जो द्रव्य - वस्तु है, वह तो मुक्त स्वरूप है। उसे अबद्ध कहकर जो मुक्त स्वरूप का ज्ञान करता है, मुक्त स्वरूप की प्रतीति करता है, मुक्त स्वरूप का अनुभव करता है, वह समस्त जैनशासन का अनुभव करता है। ऐसा १५ वीं गाथा में कहा। तो उसमें - १४ वीं, ३८ वीं गाथा में सब आ गया है। ७३ वीं गाथा में यह कहा कि : इस एक समय की पर्याय और पर से तो भगवान भिन्न ही है। राग से भी भिन्न है। और स्वद्रव्य के आश्रय से अपनी जो निर्मल - धर्म की पर्याय उत्पन्न होती है, वह (पर्याय) षट्कारक के परिणमन से उत्पन्न होती है। द्रव्य से भी नहीं। यहाँ यह कहा : अपना आत्मा क्रमसर अपने निर्मल परिणामों से उत्पन्न होता है। वस्तु तो वस्तु है त्रिकाल। त्रिकाल निर्मल, शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यघन-सिद्धस्वरूप प्रभु (आत्मा) शुद्ध है, बुद्ध है, ज्ञान का पिण्ड है ! सिद्ध समान सदा पद मेरो'। इसमें इस षट्कारक की परिणति - धर्म की हं ! विकार की नहीं - धर्म की परिणति जिस पर्याय में है, (अर्थात्) अपनी पर्याय में चैतन्य शुद्ध भगवंत का अनुभव, उसकी प्रतीति, उसका ज्ञान, उसमें लीनता (होती है) - वह पर्याय, षट्कारक से स्वयं से उत्पन्न होती है। आहाहा ! - वह (जो वहाँ) कहा वही यहाँ कहा (कि:) 'अपने परिणामों से उत्पन्न होता है।' - इसका अर्थ : ये निर्मल परिणाम षट्कारक से उत्पन्न होते हैं।

आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई ! धर्म - वीतराग का धर्म - वीतराग स्वभाव द्वारा

उत्पन्न होता है। वीतरागस्वभाव, ये अपने परिणाम हैं। तो वे परिणाम उत्पन्न कहाँ से हुए ? कि : त्रिकाली वीतरागस्वभाव है, उसके आश्रय से हुए। कुछ समझ में आया ? यह तो प्रथम पंक्ति के थोड़े शब्द हैं : `**जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से** (**उत्पन्न होता हुआ जीव ही है**)'। द्रव्य तो द्रव्य ही है। पर उसकी जो निर्मल पर्याय होती है, वह भी `क्रमबद्ध' (है)। अपनी पर्याय के काल में (होती है)। यह पर्याय की जन्मक्षण है। यह पर्याय की उत्पत्ति का काल है - `प्रवचनसार' गाथा - १०२ में (है)।

आहाहा ! `अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ' - (ऐसा) क्यों कहा ? कि : परिणाम द्रव्य की पर्याय है, इस अपेक्षा से कहा। बाकी द्रव्य से (परिणाम) उत्पन्न होते हैं, यह भी व्यवहार है। कुछ समझ में आता है ? सूक्ष्म बात है, भाई ! `**अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है।**'

स्वयं को केवलज्ञान उत्पन्न होता है, वह अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। चार घाति (कर्म) का नाश होता है तो (ज्ञान), केवलज्ञानरूप में उत्पन्न होता है, ऐसी अपेक्षा नहीं है। आहाहा ! इसी प्रकार एक दर्शनमोहनीय कर्म है, अगर उसका अभाव होता है, तो यहाँ सम्यक्त्व की पर्याय होती है; ऐसी भी अपेक्षा नहीं है।

इस प्रकार अपने में आत्म(-दर्शन) - सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध चैतन्य आत्मा का साक्षात्कार (अर्थात्) जैसा आत्मा है वैसा ज्ञान में आकर, अनुभव में आकर, प्रतीति करके और फिर उसमें लीनता होती है। - वह लीनता भी अपने द्रव्य के आश्रय से होती है, परंतु वास्तव में तो वह लीनता, अपने षट्कारक परिणमन से उत्पन्न होती है। द्रव्य (के आश्रय से) उत्पन्न होती है, वह भी एक व्यवहारसंबंध दिखाना है। बहुत सूक्ष्म बात !

यह बात तो चार दिन चली। आज पाँचवाँ दिन है, यह तो गंभीर बात है, पार न (पाये) ऐसी (है) !! अमृतचंद्राचार्य की टीका और कुंदकुंदाचार्य के श्लोक, एक-एक श्लोक में गंभीरता का पार नहीं !! आहाहा !

यहाँ अब दूसरा आया : जीव अपनी पर्याय में क्रम से - क्रमकाल में - अपने उत्पत्तिकाल में अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। यहाँ परिणाम निर्मल लेना, मलिन नहीं। क्योंकि द्रव्य में अनंत गुण होने पर भी, ऐसा कोई गुण नहीं है कि जो पर्याय को विकृत करे। ऐसे अनंत गुणों का पिण्ड प्रभु (आत्मा) अपनी पर्याय से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अजीव भी अपनी पर्याय से क्रमसर (-क्रमबद्ध) उत्पन्न होता है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ? `अजीव भी' (ऐसा) क्यों कहा ? कि : जीव की बात पहले चली है न...? तो अजीव भी (क्रमबद्ध)।

यह अँगुली यों...यों हिलती है। यह पर्याय में क्रमबद्ध - स्वकाल में हिलने की

क्रिया का परिणाम है। होनेवाला था सो हुआ है। (यह) आत्मा द्वारा हुआ है, और आत्मा ने इच्छा की तो अँगुली चलती है, (ऐसा नहीं)। भगवान की पूजा में (बोलता है न...) स्वाहा...! उस स्वाहा की भाषा की पर्याय, अजीव में क्रमसर होनेवाली हुई है। सूक्ष्म बात ! आहाहा !

मंदिर बनाया न...! वह तो अजीव की पर्याय, (जिस) क्रम से आनेवाली थी, वह आई है। इसमें आत्मा को क्या ? वह तो यहाँ कहते हैं 'अजीव भी क्रमबद्ध'। उन पैसों की पर्याय, जिस समय उस क्षेत्र में आनेवाली थी (वह आई)। (फिर भी) इसमें (कोई) मान ले कि 'पैसे मेरे हैं' तो वह मिथ्या - मूढ़ है। पैसे की - अजीव की पर्याय क्रमबद्ध में, जिस समय जहाँ क्षेत्रांतर होनेवाली है, वहाँ होती है। (फिर भी, कोई) अन्य प्राणी कहे कि : मैं ने राग किया, पुरुषार्थ किया तो ये पैसे कमाये, तो वह भ्रम और अज्ञान है। आहाहा !

रोटी बनती है... तो रोटी की पर्याय, आटे की उस समय होनेवाली थी, वह हुई है। वह स्त्री के द्वारा हुई है, ऐसा नहीं। (एवं) तवे - कड़ाई से हुई नहीं व अग्नि से हुई नहीं। स्त्री की इच्छा रोटी की थी इसलिये हुई है, ऐसा भी नहीं ! गज़ब बात है ! और आटे को लेकर (उस पर) बेलन घुमाते है, तो बेलन उसको (आटे को) छूता है, ऐसा नहीं। उस बेलन से वह रोटी इस तरह चौड़ी (बड़ी) होती है, ऐसा नहीं। उसकी पर्याय क्रमबद्ध में उस प्रकार होनेवाली थी, तो होती है। आहाहा..हा !

जिज्ञासा : यह दिखाई तो देता है !

समाधान : जो दिखता है, वह तो मूढ़ (जीव) संयोग से देखता है। उसकी पर्याय से देखे, तो उसकी पर्याय उससे हुई है। देखता है संयोग से - इस बेलन से...अग्नि से ! देखनेवाली की दृष्टि में फ़र्क है।

जिज्ञासा : रुपये आते तो हैं !

समाधान : किसके पास रुपये आते हैं ? वह तो जड़ की पर्याय का, जिस समय इस क्षेत्र में आने का क्रम था, उसके अनुसार आई है। उसके (आदमी के) पुण्य से आई है, ऐसा कहना, वह भी निमित्त का कथन है। पूर्व के पुण्य है, वह तो जड़ की पर्याय है। और ये परमाणु अलग पर्याय है। और ये पैसे आते हैं, वह अलग पर्याय है। तो पुण्य से पैसे आये, ऐसा कहना, वह निमित्त का कथन है।

आहाहा ! बहुत (सूक्ष्म) बात ! प्रभु का मार्ग !! प्रवचन में प्रश्न हुआ (था) कि : ईश्वर कर्ता है कि नहीं ? तो कहा कि : (ईश्वर) कहीं कर्ता नहीं। यहाँ तो प्रभु की पूजा करते हैं, उसमें जो आवाज़ आती है न...! स्वाहा...! वह जड़ की पर्याय में, क्रमबद्ध

होनेवाली होने के कारण, (ऐसा) होता है। (लेकिन) स्तुति करनेवाला (अगर) ऐसा माने, कि 'मैं ऐसी भाषा करता हूँ और स्तुति करता हूँ,' अर..र ! वह तो मिथ्यात्व का पोषण है।

यहाँ कहते हैं कि : शरीर की पर्याय भी जब जिस क्षेत्र में जाने की योग्यता होती है, वहाँ क्रमबद्ध होती है। वह यहाँ कहते हैं कि '**अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से**'।

यहाँ पर्याय की दशा को 'परिणाम' कहते हैं। 'परिणाम' क्यों कहा ? कि : 'नियमसार' १४ वीं गाथा में ऐसा संस्कृत (पाठ) है : '**परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्यायः**' 'परि' माने समस्त प्रकार से नम (झुक) गई। पर्याय अपने से ही हुई है। परिणाम समस्त प्रकार से नमकर (झुककर) अर्थात् 'नमन' यानी 'उत्पन्न होना'। वे परिणाम अपने से उत्पन्न हुए हैं; द्रव्य से नहीं; गुण से नहीं; पर से नहीं। आहाहा ! ऐसा सुनने को कहाँ मिले ? '**परि समन्तात्**' क्रमबद्धपर्याय (को) परिणाम क्यों कहा ? कि : '**भेदमेति गच्छतीति पर्याय :**' - द्रव्य में पर्याय रूपी भेद उत्पन्न होता है। अर्थात् जो चारों ओर से भेद को प्राप्त हो, वह पर्याय है। परिणाम भी पर्याय है। तो द्रव्य में उन सभी प्रकार से भेद होकर अपने परिणाम अपने से उत्पन्न होते हैं। पर के कारण अजीव की पर्याय हो (ऐसा नहीं।)

ऐसा कायोत्सर्ग लगाना... ऐसा कायोत्सर्ग लगाया...! भाई ! ऐसा नहीं है। वह शरीर की पर्याय, क्रम से ऐसी होती है, तो ऐसा होता है। (श्रोता :) कायोत्सर्ग (लगता तो है न ?) (उत्तर :) कौन लगाये ? कोई लगाता नहीं है। मानता है... 'मैं ने ऐसा किया'...वह तो उसका अभिमान है। अज्ञानी मानता है कि 'हम ऐसा करते हैं'। भगवान की स्तुति भी चलती है... तो वाणी की पर्याय से चलती है और क्रमसर पर्याय है, इससे चलती है। आहाहा ! और मंदिर हुआ... ऊपर भगवान की प्रतिमा (स्थापित की)... वह भी क्रमसर उस जड़ की - अजीव की पर्याय होने के कारण इस प्रकार उत्पन्न हुई है। उस परमाणु में, '**भेदमेति गच्छतीति**' उस समय भेदरूप पर्याय की उत्पत्ति हुई, तो क्रमसर उत्पन्न होती है। दूसरा जीव या दूसरा अजीव, उसको बनाये ऐसा तीन काल में नहीं होता।

(भ्रांति से लगे कि) 'मैं ने किया...मैं ने किया,' 'ऐसा मैं ने किया...मैं ने किया'। (किन्तु) यहाँ तो प्रत्येक अजीव की पर्याय व्यवस्थित है। व्यवस्थित का अर्थ व्यवस्था। व्यवस्था का अर्थ, विशेष अवस्था (अर्थात्) विशेषतापूर्वक की अवस्था। वह सामान्य, जो परमाणुद्रव्य हैं, उनकी विशेष अवस्था को व्यवस्था कहते हैं। उन परमाणु की व्यवस्था, द्रव्य में पर्याय से होती है। आहाहा ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई !

आजकल तो तत्त्व में फेरफार बहुत हो गया है। भगवान की स्तुति करके, भगवान को केसर - चावल चढ़ायें... और मान लेते हैं कि हमें धर्म होता है ! अरे...रे ! (आजकल कुछ लोग) तो भगवान का पंचामृत से अभिषेक करते हैं ! भगवान तो वीतराग हैं, उनकी मूर्ति को भी पंचामृत नहीं होता (चढ़ता)।

ऐसे (भगवान की) स्थापना हुई है...वह उसकी क्रमिक पर्याय से स्थापना हुई है। स्थापना करने के भाववाला था, और उसके क्रम में (यह) शुभभाव आनेवाला था, तो वह (भाव) आया। वह शुभभाव और स्थापना - सब क्रम है; सब क्रम में आये हैं। भोपाल में पंचकल्याणक था। चालीस हज़ार लोग व्याख्यान सुन रहे थे; पर वे सारी पर्यायें आनेवाली थीं; तो (लोग) आये। भाषा का भी निकलने का काल है, तो भाषा निकलती है। प्रभु ! ऐसी बात है। वह जड़ है, तो जड़ क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। आहाहा ! 'यह बात' कैसे बैठे ?

जिज्ञासा : निश्चय से ऐसा है ?

समाधान : निश्चय से माने यथार्थ से। जैसी वस्तु की स्थिति है वैसी वह है। उससे विपरीत मानना, वह विपरीत दृष्टि है। (प्रश्न में ऐसा स्पष्ट कराना चाहते हैं कि :) निश्चय से वैसा; परंतु व्यवहार से तो होता है न ? निश्चय से (तो) नहीं; किन्तु व्यवहार से तो कर सकते हैं न ? (- ऐसा नहीं है)।

यहाँ तो कहते हैं : श्रीमद् राजचंद्रजी ने तो एकबार कहा कि : ('एक बार एक तिनके के दो भाग करने की क्रिया कर सकने की शक्ति का भी उपशम हो, तब जो ईश्वरेच्छा होगी वह होगा।' - पत्रांक - ४०८) एक तिनके के दो टुकड़े कर सकना, यह आत्मा की शक्ति नहीं है। टुकड़े की पर्याय क्रमबद्ध में होनेवाली है, तो होती है।

जिज्ञासा : पुरुषार्थ तो करे न ?

समाधान : पुरुषार्थ तो अज्ञान का करता है ! (भले ही) माने : 'मैं खेती करता हूँ और बैल चलाता हूँ न...!' ये सारे अभिमान - मिथ्यात्व हैं।

यहाँ कहते हैं : इस प्रकार - जीव की माफिक, जीव की तरह अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से... आहाहा ! 'परिणामों' क्यों कहा ? - प्रत्येक परमाणु में अनंत गुण हैं, तो एक समय में अनंत पर्यायें उत्पन्न होती हैं। एक परमाणु में एक समय में अनंती पर्यायें (उत्पन्न होती हैं)। क्योंकि : गुण अनंत है न...! तो उसकी अनंती पर्यायें क्रमबद्ध में - क्रमसर में जो आनेवाली हैं, वह आती है। आहाहा ! ऐसा काम !

यह शहर मेरा, गाँव मेरा, हम (वहाँ के) रहनेवाले...!! तो वह (शहर-गाँव) तो दूसरी चीज़ है, और रहनेवाला दूसरी चीज़ है। भाई ! तू तो आत्मा में रहनेवाला है। राग

में रहनेवाला भी नहीं है, तो फिर शहर (-गाँव) में रहनेवाला (कहाँ से हो गया ?) आहाहा ! (मान्यता में) बहुत फर्क है।

अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। आहाहा ! पानी अग्नि के निमित्त से गरम होता है... तो कहते हैं कि : पानी में उष्ण होने के क्रम से उसके उष्ण होने की पर्याय होने का काल था तो उष्ण हुआ; अग्नि से नहीं। कुछ समझ में आया ? यह तो दृष्टांत है। सिद्धांत तो एक ही है कि : प्रत्येक अजीव पदार्थ, अपने स्वकाल से - क्रमसर में आनेवाले परिणाम से परिणमता है। लेकिन वास्तव में परमाणु - अजीव में भी जो परिणाम होते हैं, वे षट्कारक द्वारा परिणमित होते हैं। उस परमाणु के परिणाम भी (स्वयं अपने से होते हैं)। `पंचास्तिकाय' गाथा - ६२ में ऐसा पाठ है : जीव और कर्म - दोनों को अपने से परिणाम होते हैं। यह चर्चा ईशरी में हुई थी कि `विकार अपने से होता है, पर से नहीं।'

यहाँ तो अभी निर्मल पर्याय की बात चल रही है। निर्मल पर्याय भी अपने से क्रमसर होनेवाली है, तभी होती है। उसका अर्थ कि : धर्म की - निर्मल पर्याय को आश्रय लेना है द्रव्य का - व्यवहार से।

(यहाँ कहते हैं कि :) पर्याय (जब) अपने द्रव्य की ओर झुके, पर्याय का मुख फिरे; (अर्थात् :) पर्याय का मुख, राग और पुण्य-दया-दान और विकल्प पर है, वह पर्याय (अपना) मुख (जब) अपने द्रव्य की ओर बदल के करें; तो `दृष्टि' द्रव्य पर जाती है; तब उसे क्रमबद्ध में सम्यग्दर्शन और धर्म होता है।

जिज्ञासा : मुख कैसे बदलें ?

समाधान : कैसे करना...? यह उस (तरफ) है; उसे इस तरफ करना। चेहरा ऐसे (बहिर्मुख) है, उसे ऐसे (स्वसन्मुख) करना ! कुछ समझ में आया ?

अगर चाहे जो कोई पर का (कुछ) कर सके ऐसा (संभव) होवे, तो देखो : यह (अँगुली) ऐसे है, तो (उसे) यों (दूसरी तरफ) कर दो। (परंतु) ऐसा नहीं हो पायेगा ! यह इसी तरफ रहेगी। आहाहा ! बात बहुत सूक्ष्म, बापू !

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने अनंत द्रव्य देखे हैं। तो अनंत, अनंतरूप में कब रहेंगे ? कि : अनंत में एक द्रव्य की पर्याय का कर्ता अन्य न हो, तो अनंत अनंतरूप में रहेंगे। अगर दूसरा द्रव्य इसकी पर्याय का कर्ता हो जाये, तो वह द्रव्य बिना पर्याय का रह गया। बिना पर्याय का द्रव्य रहता नहीं। और अगर वह एक पर्याय न रही, तो दूसरे का कर्ता (होता) है, तो वह पर्याय भी न रही। पर्याय के बिना द्रव्य रहता नहीं। (फिर भी एक द्रव्य की पर्याय का कर्ता, दूसरे द्रव्य को माने, तो उसके अभिप्राय से) तो द्रव्य

का भी नाश होता है। इसमें कुछ समझ में आता है ? आहाहा ! सूक्ष्म बात है ! दुनिया से निराली जाति की (बात) है। अभी तो...!

यहाँ तो कहते हैं : किसी भी परमाणु के स्कंध में जो परमाणु है, वह परमाणु भी क्रमसर (स्वयं) अपनी पर्याय से उत्पन्न होता है। वे (परमाणु) स्कंध में आये हैं, इसलिये ऐसी (पर्याय) हुई, ऐसा नहीं। इन परमाणु की रक्त की जो पर्याय हुई, वह ये (आहार के) परमाणु (जो) यहाँ (जठर में) आये इसलिये रक्त की (वह) पर्याय हुई, ऐसा नहीं। उन परमाणु की पर्याय, रक्त होने की योग्यता से, क्रमबद्ध में आनेवाली है, वह (पर्याय) आई है। आहाहा !

प्रभु ! तुम तो ज्ञाता-दृष्टा हो न...! जानने - देखनेवाला अगर कर्ता हो जाये, तो मिथ्यात्वपना आ जाता है। तू तो ज्ञाता-दृष्टा है। यहाँ तो 'अकर्ता' सिद्ध करना है। गाथा के शीर्षक में है न...? '**अब, आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टांतपूर्वक कहते हैं...।**' अमृतचंद्राचार्य को अकर्तृत्व (सिद्ध करना है)।

(वेदांत) ईश्वर को कर्ता कहता है। (पर) यहाँ तो कहते हैं कि : द्रव्य, पर्याय का कर्ता नहीं है। किसी चीज़ का कर्ता ईश्वर तो नहीं है, परंतु (जिस) चीज़ की जो पर्याय है, उस पर्याय का कर्ता द्रव्य नहीं है। अन्य द्रव्य तो कर्ता (है ही)नहीं । आहाहा ! कठिन बात है, भाई ! यह तो परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकीनाथ ने सर्वज्ञस्वभाव में पदार्थ की जैसी मर्यादा व स्थिति देखी है, वह बात है ! दुनिया माने या न माने, 'सत्य को कोई संख्या की जरूरत नहीं है'। लाखों लोग माने तो वह सत्य कहलाये और थोड़े लोग माने तो असत्य कहलाये, ऐसा कुछ नहीं है।

स्त्री कपड़े में कसीदा करती है - वह पर्याय, स्त्री के आत्मा ने की - ऐसी (मान्यता) हराम है ! कपड़े में कढ़ाई करके उसे यहाँ सजा दिया - यह स्त्री ने किया? उसकी इच्छा हुई इसलिये हुआ ? - बिलकुल झूठ है ! कढ़ाई भी अपनी पर्याय में क्रमबद्ध में जो पर्याय होनेवाली है, (उसके कारण से) होती है। तोरण में सजाकर हाथी बनाती है - यह रचना, उसकी पर्याय ने की (है)। स्त्री ने अँगुली से की (है), ऐसा नहीं !

(श्रोता :) सुई लगने से खून निकलता है न...?

समाधान : ऐसा भी नहीं। खून की पर्याय अपने से निकली है ! देखो : यह अँगुली है (इसे) यों (शरीर में दबा दो तो जो) ऐसा गड्ढ़ा हुआ... लेकिन इस अँगुली ने इसका (शरीर का) स्पर्श भी नहीं किया, और इस प्रकार (जो) गड्ढ़ा हुआ, उस गड्ढ़े की पर्याय, परमाणु में क्रमसर होने योग्य हुई है; अँगुली से नहीं हुई ! कुछ समझ

में आता है ?

जिज्ञासा : साफ दिखता तो है कि (गड्ढ़ा) अँगुली से हुआ !

समाधान : इस बात को भी संयोग से देखता है। उसकी पर्याय को देखें तो अँगुली तो दूसरी चीज़ है; और वह वहाँ दूसरी चीज़ है। परंतु वह संयोग से देखता है। लेकिन उसकी पर्याय उसमें उत्पन्न हुई है, उस दृष्टि से तो देखता नहीं है !

सूक्ष्म बात है, भाई ! आजकल तो बहुत गड़बड़ हो गई है न...! 'मैं ने पुस्तक बनायी।' (यह मान्यता विपरीत है)। वह पुस्तक भी अपनी (क्रमबद्ध) पर्याय से होती है !

आचार्य महाराज तो कहते हैं : यह टीका हमने बनाई, इस प्रकार मोह से मत नाचो ! हम तो ज्ञाता (हैं)। हम अपने स्वरूप में हैं। हमारे स्वरूप से बाहर आने पर, इस टीका की रचना हुई, और विकल्प आया तो टीका की रचना हुई; ऐसा भी नहीं है। और विकल्प आया है, तो मेरा कर्तव्य वह विकल्प है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा ! 'मैं तो ज्ञाता (हूँ)।'

'अकर्ता' सिद्ध करना है न...? आत्मा पर का तो कर्ता नहीं, मगर राग का भी कर्ता नहीं। दया-दान-व्रतादि के विकल्प आते हैं, लेकिन उसका कर्ता आत्मा नहीं। क्योंकि आत्मा पवित्र पिण्ड प्रभु है।' वह विकार को कैसे करे ? चक्रवर्ती राजा को मकान में झाड़ू लगाने का काम बताना; कि मकानमें से धूल निकाल दो ! उसी तरह भगवान आत्मा अनंत पवित्र गुण का पिण्ड, उसे दया-दान-विकल्प का कर्ता बनाना - यह 'चक्रवर्ती से धूल झाड़ने को कहने' जैसी बात है। यह दृष्टांत शास्त्र में आता है। दिगंबर शास्त्रों में दृष्टांत - न्याय सब कुछ भरा है; जहाँ-जहाँ, जो-जो चाहिये, वह सब भरा है।

'**क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है।**' देखा ! उस पर्याय को अजीव कहा। अजीव की पर्याय को अजीव कहा। जीव की पर्याय को जीव कहा। वरना (तो) जीव द्रव्य है, वह पर्याय में नहीं आता। उसी प्रकार अजीव द्रव्य भी पर्याय में नहीं आता। (पर यहाँ) अभी ऐसा लेना है कि : वह पर्याय उस (द्रव्य) से हुई है। यह दिखाने हेतु और पर से नहीं हुई और क्रमसर आनेवाली है वह (पर्याय) आई है, यह दिखाकर (कहा कि) अजीव के परिणाम अजीव हैं। आहाहा ! ऐसा क्यों कहा कि : अजीव के परिणाम अजीव हैं। अर्थात् साथ में अन्य जीव हो, तो उसके कारण इसमें हुआ ? - ऐसा नहीं है। इसका मना करते हैं। देखो ! 'अजीव ही है, जीव नहीं,' 'जीव नहीं' ऐसा क्यों कहा ? क्योंकि, जीव संयोग में होवे और उसके कारण से वह जड की पर्याय हुई है; ऐसा तीन काल में नहीं है।

आहाहा ! यह बात (बैठती नहीं,) फिर लोग ऐसा कहे : सोनगढ़ का एकांत है...एकांत

है। कहो तो कहो...प्रभु ! यह भगवान कहते हैं। यह किसकी बात है ? - तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव सीमंधर भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी है। उसको कुंदकुंदायार्य ने साक्षात् सुनी है। और यहाँ आकर इन शास्त्रों की रचना की। (श्रोता :) आपने भी सुनी है ?

(उत्तर :) हम भी साक्षात् सुनने में साथे में थे... पर वह बात...! यह तो (यहाँ) भगवान कुंदकुंदाचार्य की बात कर रहे हैं। आहाहा..हा !

यहाँ `अजीव ही है' ऐसा लिया। तो कोई ऐसा कहे कि `वह एकांत नहीं है ?' कथंचित् अजीव से पर्याय हुई व कथंचित् जीव से हुई। ऐसे अनेकांत करो ! (परंतु) वह अनेकांत नहीं है। प्रभु ! वह तो एकांत है।

ऐसा कहते हैं कि : अजीव की अपनी पर्याय से अजीव उत्पन्न हुआ, वह अजीव ही है। आहाहा ! ये होंठ चलते हैं... तो (वह) अजीव की पर्याय अजीव ही है। ऐसा क्यों कहा कि `जीव नहीं है' ? अंदर जीव है, तो उसके कारण होंठ हिले हैं, ऐसा नहीं; इसलिये `जीव नहीं'। आहाहा ! यह तो अभिमान छुड़ाना है।

(श्रोता :) मुर्दा कहाँ बोलता है ? (उत्तर :) मुर्दा भी चलता है। सुना है ? हमारे बड़े भाई थे। उनकी १९५७ के संवत में मृत्यु हो गई। हमारी उम्र ११ वर्ष की थी (संवत्) १९४६ में जन्म है। वे शामको खत्म हो गये। हमने देखा कि रात में छाती पर कुदाल रख दी ताकि मुर्दा खड़ा न हो जाये। तो इस प्रकार मुर्दे पर कुदाल रखते हैं। बाकी तो मुर्दे की खड़े होने की ऐसी पर्याय नहीं थी, तो (कुदाल) निमित्त आ गया। परंतु (पर्याय) खड़े होने की (तो) थी, और (कुदाल) रखी, इसलिये (मुर्दा) खड़ा न हुआ - ऐसा भी नहीं है।

(अठारहसो) छप्पन में अकाल बड़ा भारी था न...! अपनी आँखों से देखा है। चालीस-पचास गायें खड़ी थी। ग्वाला खड़ा था। गायों की आँखों में आँसू... अरे ! चार-पाँच दिन से घास का एक तिनका मिला नहीं। लाये भी कहाँ से ? घास ही उगी नहीं है न। आजकल भी सुना है : यहाँ घास के बिना १२-१४ ढोर मर गये। थोड़ी-थोड़ी घास उगी है। तो काफी घूमे तो खा सके। ज्यादा घूमने की शक्ति नहीं रही, इसलिये (भूख से) मर गये। परंतु जिस समय जो पर्याय होनेवाली थी वैसी होती है। घास नहीं मिली इसलिये देह छूट गई, ऐसा नहीं। देह की छूटने की पर्याय थी। देह में आत्मा रहा, तो आयुष्य के कारण रहा, ऐसा भी नहीं है। आयुष्य है, वह जड़ है। और भगवान आत्मा चैतन्य तो जड़ के कारण आत्मा, अंदर में रह सके, ऐसा नहीं। शरीर में रहने की अपनी पर्याय की क्रमसर में होनेवाली, योग्यता से इतने वर्ष रहता है। और जब

योग्यता छूट जाती है, तो छूटकर (दूसरी गति में जाता है)। कुछ समझ में आया ?

यहाँ तो धर्मी जीव की (बात है)। मनुष्य में से स्वर्ग में (जाते हैं)। यह दृष्टांत अपना लिया है। क्योंकि आचार्य, देह छोड़कर स्वर्ग में जानेवाले हैं। 'पंचास्तिकाय' में भी चार गति का दृष्टांत लिया है। मनुष्य से स्वर्ग और स्वर्ग से फिर मनुष्य होकर, कुछेक संत - कुंदकुंदाचार्य आदि - केवलज्ञान पाकर मोक्ष जानेवाले हैं। ऐसी स्थिति है। मनुष्य का दृष्टांत ऐसा लिया कि 'मनुष्य मरकर स्वर्ग में जाता है'। मनुष्य मरकर नर्क और तिर्यंच में जाते हैं, ऐसा नहीं लिया। क्योंकि अपनी बात की। खुद की देह क्रमानुसार छूट जायेगी, तब क्रम से हमें स्वर्ग की गति मिलेगी। (क्योंकि) केवलज्ञान नहीं है, पूर्ण प्राप्ति नहीं है, तो देह तो मिलेगी, लेकिन वह जड़ मिलेगा। जड़ के कारण से संयोग मिलेंगे। अपनी योग्यता के कारण वहाँ स्वर्ग में रहते हैं। नर्क में भी इस समय श्रेणिक राजा हैं। श्रेणिक राजा (वास्तव में) नर्क में नहीं हैं। वे तो अपनी पर्याय में व गुण में हैं। पर का उन्होंने कभी स्पर्श भी नहीं किया। तो पर में रहे, ऐसा कहाँ है ? बहुत कठिन है, भाई ! कुछ समझ में आया ?

किसी ने प्रश्न किया था कि : श्रेणिक राजा मरकर नर्क में गये। तो देखो : नर्कगति का उदय आया तो उनको (नर्क में) जाना पड़ा। पहले मुनिराज की अशातना की थी; इसलिये नर्क का लंबा आयुष्य बंध गया। तत्पश्चात् मुनिराज मिले और मुनिराज के पास सम्यक्त्व पाया। और (आयुष्य की) जो लंबी स्थिति बंध गई थी वह टूटकर ८४ हज़ार वर्ष की रही। अभी इस समय वहाँ हैं। पर वे (वहाँ) अपनी पर्याय की योग्यता से हैं ! गति का उदय है, इस कारण से (वे) वहाँ गये हैं, ऐसा नहीं है।

नामकर्म की ९३ प्रकृतियों में एक अनुपूर्वी प्रकृति है। वह अनुपूर्वी प्रकृति क्या है कि : एक गतिमें से दूसरी गति में ले जाना, ऐसा कहने में आता है। ये सारे कथन निमित्त से हैं। जिस प्रकार बैल के नाकमें नथ है, उसे खींचती है न? उसी प्रकार अनुपूर्वी खींचकर ले जाती है, ऐसा लेख है। (वह तो) अनुपूर्वी प्रकृति है, ऐसा निमित्त का ज्ञान कराने हेतु (कथन) है। बाकी अपनी पर्याय की योग्यता से क्रमसर आने पर स्वर्ग में जाता है, नर्क में जाता है। अनुपूर्वी से (ऐसा होता है), यह बिल्कुल झूठ है।

'अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं।' - इसका नाम अनेकांत। (पर्याय) जीव से भी हो और अजीव द्वारा भी हो, तो अनेकांत - इसका नाम अनेकांत नहीं है। (अर्थात्) अपनी पर्याय कथंचित् अपने से और कथंचित् पर से (होती है) ऐसा कहो, तो अनेकांत सिद्ध होता है, ऐसा नहीं। 'जीव नहीं' (यानी) जीव की पर्याय, उसको (अजीव की पर्याय को) उत्पन्न कर सके, ऐसा बिल्कुल है ही नहीं। आहाहा !

अब दृष्टांत देते हैं : `**क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्ण का कंकण** (-कंगन-अँगूठी) **आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है...**' (अर्थात्) सुवर्ण जो (स्वयं) गहनेरूप हुआ, उस गहने से - परिणाम से सोने का तादात्म्य है। जिस प्रकार उष्णता के साथ अग्नि का तादात्म्य है, जिस प्रकार ज्ञान के साथ आत्मा का तादात्म्य है - तत्स्वरूप है, उस प्रकार सुवर्ण का अपनी कंकण-पर्याय के साथ तादात्म्य है। पर से उत्पन्न हुआ ही नहीं। वह कंकण, सुवर्णमें से हुआ (है)। वह सुनार से नहीं बना। क्योंकि, उस (सुवर्ण का) तादात्म्य (उसके) परिणामों से है। वे (कंकण आदि) परिणाम सुवर्ण से उत्पन्न हुए हैं। गहने की अवस्था सुवर्ण से उत्पन्न हुई है; सुनार से नहीं, हथौड़ी से नहीं, और निहाई से नहीं।

आहाहा ! ऐसी बातें !! भारी पड़ती है लोगों को ! सारे दिन हम ये व्यापार - धंधा करते हैं और...ये करते हैं। कौन कर सकता है ? बापू ! वह तो संयोग से देखता है। बाकी संयोगी पर्याय तो अपने कारण से होती है और तू मानता है कि `वह मेरे से हुई'। यह तो मिथ्यात्व का पोषण है। यह मिथ्यात्व (ही) संसार है। यह मिथ्यात्व ही आस्त्रव व संसार है। इस (कर्तृत्वबुद्धिरूप) अहंकार को निकाल देना, (और) भेदज्ञान करना, यह अलौकिक बात है ! `जड़ की पर्याय मेरे से (होती) नहीं। और मेरी पर्याय जड़ से (होती) नहीं।' - ऐसा भेद करना !

ऐसा यहाँ कहते हैं कि : सुवर्ण कंकण आदि परिणामों के साथ तादत्म्य है। जिस सुवर्ण का गहना होता है, वह परिणाम, उस सुवर्ण का है। उस परिणाम के साथ सुवर्ण का तादात्म्य है क्या ? उन परिणामों के साथ सुनार का तादात्म्य है क्या ? उन गहनों के साथ निहाई का तादात्म्य है या उन परिणामों के साथ हथौड़ी का तादात्म्य है ? (- ऐसा नहीं है)। आहाहा ! गहने उत्पन्न हुए, वे हथौड़ी से नहीं; निहाई से नहीं; सुनार से नहीं; पूर्व पर्याय से भी नहीं। (तथा) एक समय में जो पर्याय, क्रमबद्ध उत्पन्न हुई है, उस पूर्व पर्याय से भी नहीं। और निश्चय से तो सुवर्ण के द्रव्य-गुण से भी नहीं। आहाहा..हा..हा !

तादात्म्य कहा न...! `**उसीप्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।**' (अर्थात्) जीव के परिणामों का तादात्म्य, अपने आत्मा के साथ है। अजीव के परिणाम का अजीव के साथ तादात्म्य है। एक परमाणु के परिणमन का (उसी) परमाणु के साथ तादात्म्य है। किसी भी चीज़ के परिणाम उस-उस (चीज़-तत्त्व) के साथ तत्स्वरूप है। (उसका) पर के साथ कोई संबंध नहीं ! आहाहा !

इस शिक्षण शिविर में ऐसे अर्थ निकाले हैं। यही (वस्तु स्थिति) है, बापू ! अरे...रे !

अनादि काल से चौरासी लाख (योनि) के अवतार में, भाई ! भूल गया ! (श्रोता :) `अन्य लोग पूछे तो बोल सकते हैं न ? (उत्तर :) `अन्य पूछे या न पूछे,' वह जाने। यहाँ तो वस्तुस्थिति यह है ! `यह अन्य लोग पूछते हैं,' उसकी तो यहाँ बात चल रही है। हज़ारों लोगों के बीच तो `यह बात' चल रही है। `पूछे' - वह भाषा की पर्याय (है), किन्तु पूछनेवाले के हाथ में (-अधिकार में) नहीं है। ऐसी बात है, भाई ! यह परम सत्य की बात है। आहाहा ! `**इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता।**'

प्रश्न : जीव अपने परिणामों से तो उत्पन्न होता है न ? इतना तो कारण और कार्य करते हैं न ? जीव अपने परिणाम का तो कार्य करता है न ? तो (अगर) अपने परिणाम का कार्य करे, तो अन्य के परिणाम का भी कार्य करे ! जैसे एक ग्वाला, एक गाय को चराने के लिये ले जाए; तो दूसरा कहे कि `हमारी गाय को भी साथ में ले जा।' उस प्रकार दूसरे द्रव्य के भी परिणाम कारणरूप से हो जाये, तो इसमें (दिक्कत) क्या है ?

समाधान : देखो, प्रभु ! आत्मा में एक अकार्यकारण नामका गुण है। ४७ शक्ति में (यह) १४ वीं शक्ति है। आत्मा पर का कार्य नहीं है और आत्मा राग और पर का कारण नहीं है। `जो अन्य द्वारा हो नहीं सकता और अन्य को करता नहीं है ऐसा एक द्रव्य स्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति। (जो अन्य का कार्य नहीं और अन्य का कारण नहीं ऐसा जो एक द्रव्य वह - स्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति'।) `जो अन्य द्वारा करने में नहीं आता' (अर्थात्) आत्मा में जड़ द्वारा कोई पर्याय करने में नहीं आती। और आत्मा में सम्यग्दर्शन की पर्याय, राग द्वारा करने में नहीं आती। `जो अन्य द्वारा करने में नहीं आती' - अन्य में परद्रव्य और राग सब लेना। क्योंकि यहाँ शक्ति का वर्णन है। और शक्ति के वर्णन में निर्मल पर्याय ही ली है। बाद में जो क्रम(वृत्तिरूप) - अक्रम(वृत्तिरूप) शक्ति ली है, उसमें अक्रम वह गुण और क्रम वह पर्याय। पर वह `क्रम' पर्याय निर्मल ली है। उसमें (आत्मा में) अंदर जो शक्ति है, वह वस्तु के गुण हैं और गुण को धारण करनेवाला जो द्रव्य है, वह पवित्र है; तो शक्ति (-गुण) भी पवित्र है। तो उस पवित्रता के (-गुण के) परिणाम भी पवित्र हैं। कुछ समझ में आता है ? राग के परिणाम, वे आत्मा के हैं, ऐसा यहाँ (लेना) नहीं है। शक्ति के वर्णन की शुरूआत में और आखिर में दो ज़गह ऐसा लिया है।

`प्रवचनसार' में ४७ नय का अधिकार लिया है, वहाँ ज्ञान (- प्रमाणज्ञान से) बताने हेतु थोड़ा लिया है कि : धर्मी जीव गणधर हैं; उनको शास्त्र रचना का ज़रा विकल्प

आया, वह उनका परिणमन है। अतः (उनको) अपने (विकल्प का) कर्ता कहने में आता है। परिणमन की अपेक्षा से 'कर्ता' कहने में आता है। करने लायक है, इसलिये 'कर्ता' ऐसा नहीं। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ? 'प्रवचनसार' में ऐसा लिया : कर्ता नय है। भोक्ता नय है। यहाँ ऐसा नहीं लेना। यहाँ यह द्रव्यदृष्टि का विषय है। शक्ति का वर्णन है।

जिज्ञासा : 'समयसार' को मानें या 'प्रवचनसार' को ?

समाधान : दोनों (को मानना), ज्ञान की प्रधानता से जानने लायक वह चीज़ है; ऐसा ही मानना। (तथा) दृष्टि की अपेक्षा से अपने परिणाम निर्मल ही होते हैं; ऐसा मानना।

('समयसार' परिशिष्ठ में शक्ति के वर्णन से पूर्व) एक प्रश्न है : 'जिसमें क्रम व अक्रमपूर्वक प्रवर्तमान अनंत धर्म हैं ऐसे आत्मा को ज्ञानमात्रपना किस प्रकार है ?' (पर यहाँ 'क्रम' में निर्मल लेना। इस 'क्रम' में मलिन मत लेना।) उत्तर : 'परस्पर भिन्न ऐसे अनंत धर्मों के समुदायरूप परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप स्वयं ही होने के कारण (आत्मा को ज्ञानमात्रपना है)' उन अनंत शक्तियों में 'क्रम' को तो निर्मल लिया है।

दूसरा जो 'पंचास्तिकाय' में, गाथा-६२में लिया, वहाँ तो विकार की पर्याय भी स्वतंत्र षट्कारक से परिणमन करती है; ऐसा लिया है। वहाँ ('प्रवचनसार' में) तो ज्ञेय अधिकार है, अतः ज्ञेय को बताते हैं।

यहाँ (४७ शक्ति) तो दृष्टिप्रधान शक्ति का वर्णन है। सारी शक्तियाँ पवित्र हैं। और पवित्र (शक्ति) को धारण करनेवाला प्रभु, पवित्र द्रव्य है। तो पवित्रमें से क्रम में अपवित्रता आये - ऐसी बात नहीं है। अपवित्रता आती है, किन्तु उस अपवित्रता का यहाँ ज्ञान करते हैं। यह जो ज्ञान की पर्याय (है), वह अपनी है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

कल कहा था न...! आत्मा में एक भाव नाम का गुण है। ३३ वीं 'भावशक्ति' हैं : 'विद्यमानअवस्थायुक्तारूप भावशक्ति।' (अमुक अवस्था जिसमें विद्यमान हो उसरूप भावशक्ति'।) उस भावशक्ति के कारण पर्याय निर्मल होती ही है। यहाँ निर्मल की बात है, 'मैं करूँ' तो पर्याय हो, ऐसा विकल्प भी वहाँ नहीं है। आहाहा ! जहाँ द्रव्य पर दृष्टि की पर्याय झुकी, वहाँ द्रव्य में जो भाव नाम का गुण है, उस कारण से अनंत गुण की पर्याय निर्मल ही प्रगट होती है। वह 'भाव (गुण)' यहाँ लिया। और एक भावशक्ति ३९ वीं है। देखो ! ('कर्ता, कर्म आदि) कारकों के अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी (- होनेमात्रमयी, बननेमात्रमयी) भावशक्ति' ! आहाहा ! दो प्रकार की भावशक्ति ! एक भावशक्ति, अनंत गुण में पड़ी (-विद्यमान) है; तो प्रत्येक गुण की पर्याय, जिस समय

होनेवाली है, वह होगी, होगी और होगी ही। वह `मैं करुँ' तो होगी, ऐसा नहीं है। और एक भावशक्ति - विकार का परिणमन षट्कारकरूप होता है, उससे रहित परिणमन, वह भावशक्ति का फल है। विशेष कहेंगे...

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-६ ता. २६-७-१९७९

`समयसार' ३०८ से ३११। `क्रमबद्ध' की व्याख्या आई न...! इस `क्रमबद्ध' में पर के कार्य-कारण का अभाव होता है। विशेष स्पष्टीकरण आता है - इसका कारण यह है कि : `जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है।' यह `क्रमबद्ध' में से निकाला। जब जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तो `क्रमबद्ध' में उसका निश्चय (होने से, दृष्टि) ज्ञायक पर जाती है। यह बात यहाँ है कि : ज्ञायक पर दृष्टि हुई, तो जीव के परिणाम, अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। यहाँ निर्मल (परिणाम) की बात है हं ! अपने परिणामों से वह जीव उत्पन्न होता है।

जीव द्रव्य तो है ही। परंतु (वह) परिणामों से उत्पन्न होता है। (यहाँ कहा कि : `**इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि...**') यहाँ `**तथापि**' क्यों कहा ? कि : अपने परिणामों से तो उत्पन्न होता है न, इतना तो कार्य करता है न ? अपने परिणामों से तो उत्पन्न होता है न, नहीं उत्पन्न होता, ऐसा तो नहीं है; तो ऐसा कि : अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तो पर के भी परिणाम करें ! अगर (अपने परिणाम से) उत्पन्न होता न हो, (अर्थात्) (यदि अपना) कार्य करता न हो, तो तो पर का कार्य न करे ! किन्तु (अपना) कार्य तो करता है, (अर्थात्) जीव अपने निर्मल परिणाम का कार्य तो करता है `**तथापि**' पर का कार्य नहीं करता - ऐसा लेना है। गंभीर शब्द है कि : अपने निर्मल परिणामों से उत्पन्न होता है `तथापि', `**उसका अजीव के साथ कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं होता।**'

`मैं शुद्ध चैतन्यघन, ज्ञान-आनंदकंद प्रभु !' इसके आनंद व शांति के परिणाम, ये परिणाम तो इसके हैं। यहाँ धर्म जिसने प्राप्त कर लिया है, उसकी बात चल रही है। अथवा क्रमबद्ध का निर्णय जिसे हुआ, उसकी बात चलती है।

जगत में प्रत्येक पदार्थ में अपने परिणाम की अवस्था से व्यवस्थित व्यवस्था होती है। अन्य परिणाम इसको करे, तो इसमें व्यवस्था - पर्याय हो, ऐसा नहीं है।

प्रश्न : ये सारे व्यवस्थापक - ये प्रमुख हैं, व्यवस्थापक हैं न ?

समाधान : नहीं, किसका व्यवस्थापक ? भाई ! जो द्रव्य अपने परिणाम से क्रम में उत्पन्न होता है, तो उसकी व्यवस्था, उसकी पर्याय की व्यवस्था, वही उसकी व्यवस्था है। दूसरा जीव उसकी व्यवस्था करे (ऐसा बनता नहीं है)।

(पुनश्च), दूसरा जीव अपने निर्मल परिणामों से उत्पन्न होता है। वहाँ (वह) अपने परिणामों से उत्पन्न हो तथा दूसरों के परिणाम को भी उत्पन्न करें, ऐसा नहीं होता। अतः (यहाँ) `तथापि' - `फिर भी' लिया है। तात्पर्य यह है कि - अपना कार्य करता है न ! करता है कि नहीं ? पलटता है कि नहीं ? तो फिर दूसरे के (परिणाम को) भी पलटा देवें ! (किन्तु) ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि : दूसरा द्रव्य भी अपने परिणामों से परिणमता है। दूसरा द्रव्य कोई बिना पर्याय का द्रव्य (तो) है ही नहीं। अतः उसकी पर्याय का कार्य, दूसरा जीव करे, ऐसा कभी नहीं बनता।

ये सारे सेठ लोग दुकान में धड़ाधड़ धंधा-व्यापार करते हैं न...? (श्रोता :) व्यवहार से (तो) करे ? (उत्तर :) क्या करें ? `कर्ता होना' अर्थात् `मैं करुँ' यह तो मरने के बराबर है। भगवान (आत्मा) ज्ञायकस्वरूप प्रभु है; उसे राग का - पर का काम सौंपना, यह तो प्रभु की मृत्यु है; अथवा उसका अनादर है। अनादर है वही मृत्यु है !

ये सारे व्यापार करते हैं...(माल का) संग्रह करें, इसमें दाम बढ़ जाये, (तो) खुशी होती है कि नहीं ? वह (पैसों की) पर्याय तो परमाणु की है। वहाँ आनेवाले परमाणु (हैं) वे अपनी पर्याय के क्रमबद्ध अनुसार आये हैं। दूसरों के कारण वहाँ पैसे आये (ऐसा नहीं)...! (श्रोता :) उसके पास आये। किसी दूसरे के पास तो नहीं आये न...? (उत्तर :) उसके पास आये, तो उस समय की कार्य की दशा तथा काल ही ऐसा था। पूर्व का पुण्य कहने में आता है; तो पुण्य तो निमित्त है, या पूर्व का पुण्य पैसों को खींच लायेगा ? (वास्तव में) ऐसा नहीं है। बोलने में आता है कि - उसके पुण्य के कारण (आये)। शास्त्र भी ऐसा बोलते हैं : पुण्य से फल मिलता है। पद्मप्रभमलधारीदेव भी कहते हैं : प्रभु ! दूसरों की ऋद्धि देखकर तुझे विस्मय होता है : आहाहा ! यह तो करोड़पति और अरबपति ! और तेरी इच्छा होवे कि `मैं भी हो जाऊँ'। तो प्रभु ! तू अरिहंत की भक्ति कर ! तो उससे पुण्य होगा और उससे वस्तु मिलेगी। (परंतु) मिलेगी... तो फिर (उससे) तुझे क्या लाभ है ? तू तो भगवान आत्मा सत् चिदानंद प्रभु (है !) जिसमें अनंत-अनंत निर्मल गुणों की खान है ! उस खान की प्रतीति जिसे, क्रमबद्ध के परिणाम में हुई, वह तो

अपने परिणाम से उत्पन्न होता है।

प्रत्येक जीवद्रव्य में `कर्ता' नाम का एक गुण है। वह कर्ता होकर अपने परिणाम का `कर्म' अर्थात् `कार्य' करता है। यहाँ अपने निर्मल परिणाम की बात है। `क्रमबद्ध' के निर्णय में ज्ञायक पर दृष्टि होने से, जो सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र प्रगट हुआ, उस `कार्य' का कर्ता कौन ? कि : जीव में कर्ता नामका गुण है, उस कर्ता (गुण) के कारण उस सम्यग्दर्शनादि की पर्याय उत्पन्न हुई है; पूर्व की पर्याय से नहीं, निमित्त से नहीं, सुनने (-देशना) से नहीं। अंदर बहुत मंथन किया, तो उससे भी (सम्यग्दर्शनादि) प्राप्त हो जाये, ऐसा नहीं है। मंथन है, वह तो विकल्प है। अपने में कर्ता नाम का अनादि गुण है; उस कर्तागुण से - कारण से इसकी (आत्मा की) सम्यग्दर्शन आदि पर्याय उत्पन्न होती है। अथवा कर्म नामका गुण है, (उसका परिणमन है, वह सम्यग्दर्शनादि पर्याय है)।

अहो..हो ! एक जड़ कर्म ! एक नोकर्म का कर्म। एक राग का कर्म। एक निर्मल पर्यायरूपी निर्मल भावकर्म। और आत्मा में एक कर्म नाम का गुण है। - क्या कहा ? कि : आत्मा के अलावा (-आत्मा की माफिक) अनंत पदार्थ में कार्य (-परिणमन) होता है, वह उसका कर्म है। वह तो पदार्थों ने अपने परिणाम किये, वह परिणमन, उनका कार्य है - कार्य कहो, कर्म कहो (एक ही है) - एक बात। दूसरा : कर्म जड़ है, उस कर्म कहना। वे परमाणु भी अपने से कर्मरूप परिणमित हुए हैं, वह भी कर्म। तीसरा : राग-द्वेष के परिणाम करना, वह भी एक कर्म, वह भावकर्म। चौथा : निर्मल परिणमन का कार्य हो, वह भी कर्म और पाँचवाँ : आत्मा में `कर्म' नामका एक गुण है ! आहाहा !

सूक्ष्म बात है, भाई ! अरे..रे! अनंत काल में सत्य बात मिली नहीं और मिली तो (उसमें) रुचि नहीं हुई। आहाहा ! एकांत...एकांत लगे ! कोई व्यवहार से या राग की मंदता करने से (धर्म) होता है या नहीं ? तो कहते हैं कि : उसके (आत्मा के) `कर्म' नाम के गुण ने क्या किया ? राग से अगर (धर्म) हुआ, तो `राग' कर्ता और `धर्म-पर्याय' (हुई वह) कार्य, तो (आत्मा के) `कर्ता' नाम के गुण का कार्य क्या ? आहाहा ! सूक्ष्म बात है। लेकिन मूलभूत बात में इसने कभी भी दृष्टि ही नहीं की !

यहाँ कहते हैं कि : `कर्म' इतनी तरह के हैं - एक गुणरूपी कर्म। एक निर्मल पर्यायरूपी कर्म। एक रागरूपी भावकर्म। एक कर्मरूपी जड़ की पर्याय (-द्रव्यकर्म)। और एक पर के परिणामरूपी (नोकर्म)।

प्रश्न : तो उस पर का कर्म आत्मा करता है कि नहीं ?

समाधान : (जड़) कर्म के जो परिणाम हैं, उसे आत्मा नहीं करता। और राग

है, उसे भी आत्मा नहीं करता। और निर्मल पर्याय का कर्ता (आत्मा) है, वह भी उपचार से है। आहाहा ! आत्मा `कर्ता' व निर्मल परिणाम अपना `कार्य' - ऐसा भी उपचार से - व्यवहार से कहने में आता है ! (यह) सब `कलश टीका' में है। कुछ समझ में आता है ?

यहाँ तो कहते हैं कि : आत्मा में `कर्म' नामका गुण है। जड़ कर्म का नहीं, राग का नहीं और पर्याय का (भी) नहीं। जिस प्रकार भगवान आत्मा ज्ञानस्वभावी त्रिकाल है, आनंदस्वभावी त्रिकाल है; उस प्रकार कर्मस्वभावी त्रिकाल है।

आहाहा ! यह शब्द भी सुना न हो ! और ये पैसे मंदिर से खर्च किये, इसलिये उसमें कुछ धर्म हो गया ? (-ऐसा नहीं है)। (क्योंकि) आत्मा पैसा खर्च कर ही नहीं सकता। उस परमाणु की पर्याय का कार्य, तो उस परमाणु का है; अन्य का नहीं। तथा पैसों के कार्य से मंदिर बने, ऐसा भी नहीं।

जिज्ञासा : आप किसी का उपकार नहीं मानते ?

समाधान : वे तो सारी व्यवहार की बातें हैं। शास्त्र में उपकार (की बात) आती है न...! `मोक्षमार्ग प्रकाशक' आठवें अध्याय में है कि : अरहंतों ने भी उपदेश देकर उपकार किया है, तो मैं उपकार का अधिकार लिखता हूँ। तो हम भी उपकार कर रहे हैं - यह तो निमित्त से कथन है। कुछ समझ में आया ? आजकल तो बहुत चलता है न...! चौदह ब्रह्मांड का नकशा बनाकर नीचे लिखते हैं `परस्परोपग्रहो जीवानाम्'। परस्पर उपकार करते हैं। वे उपकार करते हैं, ऐसी व्याख्या नहीं है। उपकार का अर्थ : `निमित्त रूप से है' इतना ज्ञान कराने के लिये `उपग्रह' अथवा `उपकार' ऐसे दो शब्द लिये हैं।

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं कि : जीव के अपने परिणाम कहो या कर्म कहो या कार्य कहो; अपने कार्य से उत्पन्न होता है फिर भी उसका अजीव के साथ, राग के साथ, कर्म के साथ, शरीर के साथ, कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। वह कर्म-जड़ का `कार्य' और आत्मा `कारण' ऐसा सिद्ध नहीं होता। यह शरीर (-होंठ) चलते हैं, उस प्रकार भाषा निकलती है; तो उस भाषा का निकलना `कार्य' और आत्मा `कर्ता', ऐसा कभी सिद्ध नहीं होता। (अर्थात्) उसका (जीव का) अजीव के साथ कार्यकारणभाव (सिद्ध नहीं होता)।

यह तो कल कहा था न...! कि : आत्मा में `अकार्यकारण' नामका गुण है। पर (अन्य) `कर्ता' और आत्मा की पर्याय `कार्य', ऐसा तो होता नहीं है। राग `कर्ता' व निर्मल पर्याय `कार्य', ऐसा भी नहीं होता। सूक्ष्म बात है ! व्यवहाररत्नत्रय `कर्ता' और सम्यग्दर्शन - निर्मल पर्याय `कार्य', ऐसा कर्ता-कर्मपना नहीं है। ज्यादा से ज्यादा आत्मा `कर्ता' व निर्मल

पर्याय `कार्य', - ऐसे (कर्ता-कर्म के) दो भेद उपचार से पड़ते हैं। परंतु व्यवहार - राग (में) (तो परमार्थ से उपचार भी लागू नहीं होता)।

(कुछेक) लेख आते हैं : व्यवहार करो... व्यवहार करो.. करते-करते फिर छोड़ दो ! (श्रोता :) पहले तो करना पड़े न ? (उत्तर :) पहले और पश्चात्, करे कौन...?

(यहाँ कहते हैं कि) अपने परिणामों से उत्पन्न होनेवाला प्रभु (स्वयं है)। तथा अन्य के परिणाम से उत्पन्न होनेवाला वह (अन्य) द्रव्य है। (क्योंकि अन्य) द्रव्य बिना परिणाम का नहीं है। अथवा परद्रव्य अपने कार्य के बिना का नहीं है। तो वह कार्य तो उसका है। (अगर) आत्मा अपना कार्य करे और पर का भी कार्य करे तो दूसरा द्रव्य बिना कार्य का हो गया। अर्थात् (वह) द्रव्य, बिना पर्याय का हो गया ! (किन्तु) बिना पर्याय का द्रव्य कभी होता ही नहीं है। ऐसी बात है, भाई !

आहाहा ! भगवान की वाणी `कर्ता' और आत्मा की ज्ञान-पर्याय `कार्य', ऐसा नहीं है। भगवान की वाणी जो दिव्यध्वनि है, वह तो परमाणु की पर्याय अपने से उत्पन्न हुई है; वह भगवान से नहीं (हुई)। (अर्थात्) भगवान की दिव्यध्वनि, भगवान से भी नहीं हुई। भगवान को तो निमित्त कहने में आता है।

लोकालोक में केवलज्ञान को निमित्त कहने में आता है। और केवलज्ञान में लोकालोक को निमित्त कहने में आता है। परंतु निमित्त कहने में आया, तो निमित्त से कुछ हुआ है ? - ऐसी चीज़ (वस्तुस्थिति) नहीं है। लोकालोक में निमित्त केवलज्ञान है, तो क्या केवलज्ञान से लोकालोक उत्पन्न हुआ है ? और केवलज्ञान में निमित्त लोकालोक है, वहाँ क्या लोकालोक से केवलज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई है ? - ऐसा नहीं है। `समयसार' सर्वविशुद्ध अधिकार में है कि : केवलज्ञान लोकालोक को निमित्त है और लोकालोक केवलज्ञान को निमित्त है। पर इसका अर्थ क्या ? (कि) वह दूसरी चीज़ है, उसका ज्ञान कराया। लेकिन केवलज्ञान हुआ है, वह आत्मा का `कार्य' और उसका लोकालोक कारण - `कर्ता' - ऐसा कुछ कभी है क्या ? और लोकालोक को निमित्त केवलज्ञान है, तो केवलज्ञान `कर्ता' और लोकालोक `कार्य' - ऐसा है क्या ? (- ऐसा कभी नहीं है)। ऐसी बहुत सूक्ष्म बात है !

यहाँ कहते हैं कि : जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। (इसलिये) कार्य तो करता है। कार्य किये बिना रहता है - ऐसा तो नहीं है ! तो (अपना) कार्य करता है, तो पर का भी कार्य करे, इसमें क्या ? (जैसे) लोक में नहीं कहते हैं कि : ग्वाला एक गाय को चराये, तो दूसरी हमारी गाय को भी (चराने) ले जाये। एक गाय को चराये, तो पाँच गाय को (भी) चराये ! उस प्रकार (जीव) अपना कार्य करता है, तो पर का कार्य भी करे ! यदि बिना करे रहता हो, तो पर का न करे ! - ऐसा कहते

हैं।

देखो ! शब्द कैसा लिया है : `**जीव अपने परिणामों से**'। परिणाम अर्थात् कार्य। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि परिणाम - यह `कार्य' -कर्ता गुण से होता है। अथवा वह `कर्म', कर्मगुण से हुआ है, अपने अंदर `कर्म गुण' है। इस कारण से `कर्म' अर्थात् वीतरागी - धर्म की पर्याय `कर्मगुण' से हुई है।

यह `(जीव) अपने परिणामों से उत्पन्न होता है।' यह (अगर) अपना कार्य किये बिना रहे, तो आप ऐसा कहो कि : पर का कार्य न करे ! (किन्तु) कार्य तो करता है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई ! अंदर वस्तु आत्मा, वह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ही है। (वह) अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। अपना कार्य तो करता है। कार्य किये बिना नहीं रहता। `तथापि' पर का कार्य नहीं करता। - ऐसा लिया। `तथापि' लिया न...? - ऐसा होने पर भी।

आत्मा अपने परिणाम से, अपना कार्य-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र करता है। (ऐसा) इसमें (आत्मा में) गुण है। गुण तो ध्रुव है। गुण का परिणमन नहीं होता। गुण तो त्रिकाल अपरिणमन स्वभावरूप - पारिणामिकभाव रूप है। किन्तु (यहाँ ऐसा कहा है कि :) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, वह परिणमन है, तो उस परिणमन का `कर्ता' आत्मा है। वह परिणाम, उस `कर्ता का कार्य' है। परंतु उसका `कार्य' राग नहीं है; शरीर नहीं है; वाणी नहीं है; स्त्री, कुटुंब व व्यापार नहीं है।

उन पैसेवालों को ये सब दुर्गम लगता है ! मैं ने इतने-इतने पैसे संग्रह किये और...इतने किये और... दुकान की गद्दी पर बराबर बैठकर ग्राहक का ध्यान रखकर...! (-यह सब तेरा) अहंकार है ! परद्रव्य तथा तेरे द्रव्य के (बीच) अत्यंत अभाव है तो अभाव के बीच में पर का कार्य तुम करो, ऐसा कैसे हो प्रभु ? आहाहा ! तेरे अहंकार का नाम मिथ्यात्व है।

(जीव) अपने कार्य से उत्पन्न होता है; तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। इसको इस तरह सिद्ध किया कि : जब अपने में अपने `क्रमबद्ध' का निर्णय करता है तब `ज्ञायकभाव' का निर्णय हुआ, तो अपने में सम्यग्दर्शन - ज्ञान पर्याय उत्पन्न हुई; उसका `कर्ता' तो आत्मा है। (किन्तु रागादि का कर्ता आत्मा नहीं है)।

(कहते हैं कि :) व्यवहाररत्नत्रय का राग `कर्ता' और निर्मल पर्याय `कार्य', ऐसा नहीं है। निर्मल पर्याय `कर्ता' व राग `कार्य', ऐसा (भी) नहीं। राग का कार्य अलग है। कुछ समझ में आता है ?

अपनी चीज़ को पहचानकर, जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, (तब) उससे उत्पन्न होता

हुआ, वह अपने परिणाम में कार्य करता है। तो कहते हैं कि : उस परिणाम का कार्य पूर्व पर्याय में (कारण) था तो उत्पन्न हुआ ? जैसे कि, मोक्षमार्ग था इसलिये केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ? कि : नहीं। उस मोक्षमार्ग का तो व्यय होता है। वह (केवलज्ञान) तो सीधा अपने केवलज्ञान परिणाम से उत्पन्न होता है। आहाहा ! ऐसी बातें !! अब जिस में मोक्षमार्ग के द्वारा भी मोक्ष नहीं; तो राग से, निमित्त से व पर से तो कहाँ रहा ?!

यहाँ अजीव को साथ में लिया है। किन्तु उसका अर्थ ऐसा भी लेना कि : इस जीव के सिवा, (जो) अन्य जीव हैं; वे 'इस (जीव) की' अपेक्षा से अजीव हैं। उनका कार्य भी 'यह आत्मा' नहीं कर सकता। अजीव - कर्म आदि का कार्य तो (आत्मा कर सकता) नहीं, किन्तु 'इस जीव' के अलावा, जो अन्य जीव हैं, वे अजीव हैं। अपनी अपेक्षा से वे अजीव हैं और उसकी अपनी अपेक्षा से वह जीव है; उसका कार्य भी (यह आत्मा नहीं कर सकता)।

यहाँ तो अजीव का निषेध किया। तो फिर जीव की पर्याय को कर सकता है, ऐसा आता है कि नहीं ? परजीव का कार्य कर सकता है, ऐसा आता है कि नहीं ? (ना ! ऐसा नहीं)। 'इस आत्मा' के सिवा सब परवस्तु - 'यह जीव' नहीं - (अजीव है) 'यह जीव' अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम से उत्पन्न होता है। (लेकिन) परजीव में (यदि) सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो, तो उसमें इस आत्मा की पर्याय 'कर्ता' और उस (दूसरे) का सम्यग्दर्शन 'कार्य', ऐसा नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि : '**तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,...**' कारण देते हैं : '**क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्यद्रव्य के साथ उत्पाद्य - उत्पादक भाव का अभाव है;...**' क्या कहते हैं ? सर्व द्रव्यों के साथ उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न होने लायक, और पर (अन्य) आत्मा उत्पादक, इस प्रकार उत्पाद्य व उत्पादक है नहीं।

हाथ की यों ऊँचे होने की योग्यता उत्पाद्य, और आत्मा का विकल्प उत्पादक; अथवा ज्ञान में आया कि मुझे हाथ ऊँचा करना है, ऐसा ज्ञान उत्पादक, और हाथ ऊँचा हुआ वह उत्पाद्य; - इसका अभाव है।

आहाहा ! यह भभूति (-वैभव) दूसरी तरह की है ! यह (धन-वैभव) तो सब धूल की भभूति है। भगवान ! तेरा मार्ग, प्रभु कोई अलौकिक है। बापू ! सुना - श्रवण किया और उससे ज्ञान की पर्याय हुई, (ऐसा नहीं)। सुननेवाली - पर्याय 'कर्ता' व ज्ञान-पर्याय 'कार्य', ऐसा है नहीं। और वह भी परलक्षी ज्ञान-पर्याय, यह कोई सम्यग्ज्ञान नहीं है। क्या कहा ? सुनने में जो अंदर ज्ञान-पर्याय होती है, वह तो उसकी पर्याय उसके अपने कारण से होती है; सुनने से नहीं। लेकिन यह जो ज्ञान उत्पन्न हुआ, (उसमें) सूत्र सुनने

का निमित्त है, तो भी वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है; क्योंकि वह परलक्ष से हुआ है। सम्यग्ज्ञान का कार्य तो, अपने द्रव्य के आश्रय से होता है। शास्त्र का ज्ञान है वह `कर्ता' और आत्मा का सम्यग्दर्शन `कार्य', ऐसा नहीं है।

आहाहा ! कहाँ तक ले जायें...? प्रभु ! तेरी स्वतंत्रता...!! तेरे में एक `प्रभुत्व' नाम का गुण है। ४७ शक्तियों में है। ईश्वर होने का गुण है। एक गुण ईश्वर होने का है, तो सभी गुणों में `ईश्वर' का रूप है। अनंतानंत गुण ईश्वररूप हैं। `ईश्वर किसी पर की आशा नहीं करते'। अखंड प्रभुता से - स्वतंत्रता से शोभायमान अपने अखंड प्रताप से, प्रत्येक गुण की पर्याय स्वतंत्रता से अपनी पर्याय से उत्पन्न हुई, जिसमें कोई निमित्त कारण तो नहीं है; किन्तु पूर्व की पर्याय से यह (उत्तर पर्याय) उत्पन्न हुई - ऐसा भी नहीं। यहाँ तो आत्मा ज्ञायकभाव से सीधा परिणाम में उत्पन्न होने पर भी, (हालाँकि उसके साथ अन्य द्रव्य अपना-अपना कार्य करते हैं, फिर भी)) अन्य के कार्य में इसकी सहायता मिले - ऐसा नहीं है।

यह लकड़ी ऊँची होती है; तो उसका कर्ता उसमें है। उसमें भी `कर्ता' नाम की शक्ति है। तब उस (शक्ति) के कारण से ऐसा कार्य होता है; अँगुली से नहीं। (किन्तु) दुनिया संयोग से देखती है। परंतु वह जहाँ है वहाँ उसके स्वभाव द्वारा है, ऐसा नहीं देखती ! इस आँख से दिखता है कि यह देखो : यह (लकड़ी ऊँची) अँगुली द्वारा (हुई) है कि नहीं ? लेकिन अँगुली तो संयोग - पर है।

इस प्रकार, सुनने से ज्ञान हुआ; यह भी पर है। सुनना परचीज़ है; (तो) उससे तुझे ज्ञान हो जाये ?! यह तो भाई ! अमृतचंद्राचार्य ने कहा है कि : `यह टिका मैं ने की है' इस प्रकार मोह से मत नाचो, प्रभु ! `मैं तो ज्ञानस्वरूप में मग्न हूँ'। मेरे विकल्प में भी `मैं' नहीं, आया; तो टीका की क्रिया में `मैं' कहाँ से आऊँ ? `समयसार', `प्रवचनसार', `नियमसार', `पंचास्तिकाय' - प्रत्येक में अंत में श्लोक है। आहाहा ! ऐसी (अलौकिक) टीका !! किन्तु कहते हैं कि : वह कार्य तो शब्द की पर्याय से हुआ है। उन शब्द-परमाणु में कर्ता-कर्म शक्ति है। उसके द्वारा उस पर्याय का कार्य हुआ है; मेरे द्वारा नहीं। `मैं टीका का रचयिता' इस प्रकार तुम मोह से मत नाचो ! तथा मेरी टीका सुनने से तुम्हें ज्ञान होता है, ऐसे मत नाचो ! आहाहा ! मेरी टीका सुनने से या मैं कहता हूँ, उसे सुनने से तुम्हें ज्ञान होता है, इस प्रकार मत नाचो !

`प्रवचनसार' में अंतिम श्लोक में विशेष है - `वास्तव में पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं। आत्मा उनको (-शब्दों को) परिणमित नहीं करा सकता। तथा वास्तव में सर्व पदार्थ स्वयं ज्ञेयरूप - प्रमेयरूप परिणमित होते हैं। शब्द उन्हें ज्ञेय बनाकर समझा

नहीं सकते।

ये शब्द आये तो तुझे ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई, ऐसे मत नाचो ! प्रभु ! आहाहा ! जो शब्द परिणमित होते हैं, वे पुद्गल की पर्याय से परिणमित होते हैं; आत्मा से नहीं। (आत्मा) उनको परिणमित नहीं करा सकता। तथा परपदार्थ स्वयं ज्ञेयरूप परिणमन करता है; यह जानना अपनी पर्याय में होता है, वह अपने से होता है। सुनने से (ज्ञान) होता है (- ऐसा नहीं)। कान में शब्द पड़ा तो ज्ञान हुआ - ऐसे मत नाचो, प्रभु ! ऐसी पराधीनता नहीं है। आहाहा..हा..हा..! ऐसी बात है !!

शास्त्र को वंदन करना... तो कहते हैं कि वह तो विकल्प है। शास्त्र से ज्ञान होता है, ऐसे मत नाचो ! ज्ञान की खान तो तू है ! तेरेमें से ज्ञान कर्ता होकर, ज्ञान की पर्याय `कर्म' अर्थात् `कार्य' होता है। सुनने से (ज्ञान) होता है, ऐसा मत मानो !

जिज्ञासा : तो सुनना कि नहीं...क्या करना ?

समाधान : वह तो (विकल्प) आता है। लेकिन ऐसी बात (समझनी) बहुत कठिन ! भाषा (-कथन) तो ऐसी आती है कि : आगम का अभ्यास करो...देव-गुरु की श्रद्धा करो...सुनो...गुरु की सेवा - गुरु के चरणसेवन के बाद सम्यक्त्व होता है...! ऐसा भी शास्त्र में आता है। (भाई !) ये सारे कथन निमित्त के हैं।

शब्द उनको ज्ञेय बनाकर - समझा नहीं सकते इसलिये `आत्मा सहित विश्व है, वह व्याख्येय (-व्याख्या करने लायक) (-समझाने योग्य) है। वाणी की रचना है, वह व्याख्या (-समझूती) है और अमृतचंद्रसूरि वे व्याख्याता (-व्याख्या करनेवाले, समझानेवाले) हैं', इस प्रकार मोह से (हे) लोगों, मत नाचो ! (मत फूलो)।' - `प्रवचनसार' श्लोक : २१ में है। तो उसमें से फिर ऐसा अर्थ लें कि : वह तो निर्मानता के कारण ऐसी बात करते हैं। तो भी उसका (टीका का) कर्ता `निमित्त' है ही नहीं।

`प्रवचनसार' में कलश कम हैं। - बाईस ही हैं। `समयसार' में २७८ हैं। `नियमसार' में बहुत हैं। (-३११ हैं)। यहाँ कहते हैं कि : अमृतचंद्रसूरि व्याख्याता - समझानेवाले हैं, ऐसे मोह से (हे) लोगों मत नाचो !

आहाहा ! समझानेवाले को ऐसा हो जाये कि `मैं समझाता हूँ' तो वह समझता है ! (श्रोता :) महाराज ! आप समझा रहे हो, तो हम समझ रहे हैं। (उत्तर :) वह ऐसी बात है ही नहीं। ऐसा कहते हैं। मार्ग बहुत अलौकिक है, भाई !

जिज्ञासा : समझाने का भाव करें ?

समाधान : वह भी विकल्प (है)। (उसका) भी `कर्ता' आत्मा नहीं है। (कहाँ) भगवान ज्ञानस्वरूप ! और कहाँ वह विकल्प - राग - विकार... दुःख... आकुलता ! (तो क्या)

आनंद का नाथ आकुलता को उत्पन्न करे ? आहाहा..हा..हा ! समझाने का जो विकल्प है, वह भी आकुलता है, दुःख है। 'समाधिशतक' में तो यहाँ तक लिया है : 'मैं पर को समझाता हूँ' यह भी एक उन्मत्तता है, बावलापन है, पागलपन है ! क्योंकि तेरे द्वारा उनको यह समझ में नहीं आता। उनको तो अपने द्वारा समझ में आता है, बात कठिन बहुत ! भाई ! सारी दुनिया से निराली (बात) है।

आजकल के तो (कितने) पंडित भी (कहते हैं) कि : हम इस प्रकार (पर का) करते हैं ! एक बार तो ऐसा सुना था कि, यहाँ के विरोध में पचास पंडित इन्दौर में इकट्ठे हुए थे। उन्हों ने ऐसा निर्णय किया कि 'परद्रव्य का नहीं करते, (ऐसा माने तो) वह दिगंबर नहीं है।' यहाँ से परद्रव्य का (कर सकने के बारे में) ना करते हैं न...? (विरोध) करो... प्रभु ! आप भी अंदर में प्रभु हो। गलती (तो) पर्याय में होती है। 'जामे जितनी बुद्धि है, उतना दियो बताय; वाको बूरो न मानिये, और कहाँ से लाय ?' आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई !

यहाँ अमृतचंद्राचार्य कहते हैं : 'टीका हमने सुनी और इससे हमें ज्ञान होवें' - ऐसे मत नाचो, ऐसे फूलो मत। 'मत फूलो !' 'परंतु स्याद्वाद विद्या के बल से, विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा एक पूरे शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करो, वह आज ही करो। [आज (लोगों) अव्याकुलतापूर्वक नाचो] (-परमानंद परिणामपूर्वक - अतीन्द्रिय आनंदपूर्वक परिणमित हो जाओ)' ऐसा पाठ है। (- 'प्रवचनसार' श्लोक - २१) दिगंबर संतों की वाणी कोई अलौकिक है !! आहाहा ! (कहते हैं :) आज ही प्राप्त करो ! 'बाद में करुँगा...' तो उसको रुचि नहीं है। जिस (चीज़) की रुचि है, उसकी तरफ वीर्य गति किये बिना नहीं रहता। 'रुचि अनुयायी वीर्य'। जिसकी रुचि है उसके बारे में वायदे करे, ऐसा होता नहीं है। वायदे करे - बाद में (करुँगा), (तो) बाद का बाद ही रह जायेगा।

आहाहा ! 'एक पूरे शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करो।' प्रभु ! भाषा देखो : एक पूरे - परिपूर्ण प्रभु, शाश्वत - टंकोत्कीर्ण - शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज ही अव्याकुलतापूर्वक नाचो ! आहाहा..हा ! एक अखंड शाश्वत चैतन्यप्रभु का लक्ष करके (उसे) प्राप्त करो ! वह करने लायक है। 'आज लोगों अव्याकुलतापूर्वक नाचो।' प्रभु ! अगर तू अपनी चीज़ में आज एकाग्र होगा, तो आज ही अर्थात् उसी वक्त तुझे आनंद आयेगा। वे कहते हैं, देखो : अव्याकुतापूर्वक परिणमित हो जाओ। अतीन्द्रिय आनंदरूप परिणमित होओ। प्रभु ! वह तेरा कार्य है। वह आत्मा अपने परिणामों से उत्पन्न होता है। कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! कठिन बात है, भाई ! यह तो 'मै करुँ... मैं करुँ... ही अज्ञान है,

शकट (बैलगाड़ी) का भार जैसे (नीचे चलता हुआ) श्वान ढोये।' बैल गाड़ी को चला रहे हो, उसके नीचे कुत्ता (चलता हो) और कुत्ते का सिर यदि बैलगाड़ी की लकड़ी को छू जाये तो (कुत्ता माने) कि `मेरे द्वारा बैलगाड़ी चल रही है।' इस प्रकार दुकान पर बैठे और `यह' सारा व्यापार मेरे से चलता है' (ऐसा यदि माने तो वह) कुत्ते के समान है। यहाँ तो यह बात है। प्रभु ! मार्ग तो कोई अलौकिक है !

यह यहाँ कहा कि : `**कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता।**' ये शब्द `कारण' और ज्ञान की पर्याय `कार्य' - ऐसा सिद्ध नहीं होता। `समयसार' बंध अधिकार में आता है न...! `मैं पर को बंध करा दूँ और पर को वीतराग करा दूँ, पर को मैं मोक्ष करा दूँ...!' (तो) कहते हैं कि `मूढ़ है'। उसकी (अपनी) वीतरागता से मोक्ष होगा और उसके राग से - अज्ञान से संसार रहेगा। (तो) तू उसे वीतरागता दे सकता है ? `मैं पर को बंध और मोक्ष करा दूँ...' (तो कहते हैं) प्रभु ! तू क्या करता है ? तू क्या करेगा ? प्रभु ! तू तो ज्ञानस्वरूप है न...! ज्ञानस्वरूप में (जो) विकल्प उठते हैं, वे (तो) प्रभु ! दुःखरूप हैं न...! तो तुझे अन्य का क्या करना है ? ऐसा अभिमान तुझे कब तक रखना है ? जब तक `मैं पर का कर सकता हूँ' यह अभिमान - मिथ्यात्व है, तब तक स्वसन्मुख हो नहीं सकता। आहाहा ! भाषा समझ में आती है न...? सूक्ष्म बात है।

`उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है।' क्या कहा ? सभी द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ (यानी) - अरहंतद्रव्य `उत्पादक' तथा सुननेवाला का ज्ञान `उत्पाद्य' - ऐसे (भाव का) अभाव है। उत्पाद्य अर्थात् होनेवाला कार्य तथा (उसका) उत्पादक अन्य चीज़ - ऐसे उत्पाद्य और उत्पादक (भाव) का अभाव है। `जड़ की पर्याय' उत्पाद्य अर्थात् होने योग्य और `आत्मा' उसका उत्पादक (-ऐसा) अभाव है।

जिज्ञासा : कर्मशास्त्र में इससे विरुद्ध लिखा है क्या ?

समाधान : कहीं (विरुद्ध) लिखा ही नहीं। यह तो पहले `प्रवचनसार' में बताया न...! मैं ने टीका की ही नहीं। (कहते हैं कि) हम कहाँ अपनी पर्याय को छोड़कर, पर में जाकर पर को करें ?

आहाहा ! कठिन बात ! बापू ! जगत के साथ मेल मिलना (संभव नहीं है)। जन्म-मरण से रहित होने की रीत कोई अलौकिक है ! बाहर से प्रसन्न हो जाये, खुश हो जाये और दूसरों के जनरंजन (के लिये) अनुकूल हो ऐसी बातें करें, कि लोगों का रंजन हो जाये। (किन्तु) प्रभु ! (-इस प्रकार अगर) तू उनके जनरंजन की - अनुकूल बात करेगा (तो) वह तो तेरी भ्रमणा है ! ऐसा `अष्टपाहुड़' में कुंदकुंदाचार्य ने कहा है। और तारणस्वामी ने भी (अन्यत्र) कहा है। पूरी दुनिया खुश होवे कि भाई ! एक दूसरी

की मदद करो ! वहाँ उस गरीब - निराधार आदमी ने कहा : महाराज ने बहुत अच्छा कहा - हमारी मदद करने का कहा। हम गरीब आदमी हैं। सेठ लोगों से हमारी मदद करने को कहा। तो (ऐसे) प्रसन्न हो जावें !

हमारे पास बहुत व्यक्तिगत पत्र आते हैं। अब हम निवृत्त हो गये हैं, तो वहाँ (सोनगढ़ में) हमको रख लो। एक दिगंबर साधु के भी पत्र आते हैं; आपकी बात सुनकर हमको ऐसा लगा कि हम साधु नहीं हैं, हम मुनि नहीं हैं। हमने तो बिना समकित (पाये) ही भेष धारण कर लिया है। अब हमारा वहाँ आने का भाव है। आप इतना लिखिये कि : आ जाओ ! (लेकिन) हम तो इतना भी कभी लिखते नहीं ! आओ या मत आओ ! एक स्थानकवासी के साधु आये थे। कहने लगे कि: मुझे यहाँ रख लो ! पर यहाँ रखे कौन ? बुलाये कौन ? इन प्रवृत्तियों के जंजाल में पड़े कौन ? हम कहाँ रखें ? इसमें मैं क्या प्रवृत्ति करूँ ? उनको आहार-पानी कौन दे ? मकान कौन दे ? यहाँ कौन करे, बापू ? यहाँ कोई करे नहीं। (श्रोता :) क्या आप व्यवस्था करते नहीं हो ? (उत्तर :) कोई नहीं करता। यहाँ कौन करे ? बापू ! यह तो उपदेश का विकल्प आता है, और वाणी निकलती है सो आती है। वरना उपाधि कौन करे ?

देखो : यहाँ क्या कहा ? '**सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ**' - सर्व द्रव्य लिये। जीव, अजीव-परमाणु, धर्मास्तिकाय आदि कोई भी तत्त्व (-द्रव्य) 'उत्पाद्य' अर्थात् उत्पन्न होने योग्य, और (अन्य द्रव्य) 'उत्पादक' अर्थात् उत्पन्न करनेवाला - ऐसा नहीं। सभी द्रव्यों में उत्पाद्य (एक) और 'उत्पादक' (दूसरा) - ऐसा है ही नहीं। उत्पाद्य भी वह और उत्पादक भी वह। वास्तव में तो उसकी (किसी भी द्रव्य की) (जो) पर्याय उत्पन्न होती है, उसका 'कारण' भी वह और 'कार्य' भी वह। (अर्थात्) पर्याय 'कारण' और पर्याय 'कार्य' - ऐसा है प्रभु ! आहाहा ! तो इसमें निमित्त उत्पाद्य का उत्पादक और निमित्त उत्पादक - ऐसे (भाव का) अभाव है। उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न होने लायक 'कार्य' और उत्पादक अर्थात् उस (कार्य) को उत्पन्न करनेवाला (-'कर्ता') - ऐसे उत्पाद्य - उत्पादक भाव का अभाव सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ है। यहाँ बाकी क्या रहा ? देव-गुरु, वे 'उत्पादक' तथा उसकी (अन्य की) सम्यग्दर्शन की पर्याय 'उत्पाद्य' - ऐसा नहीं है। आहाहा ! कठिन बात है, भाई ! इस शिक्षण-शिबिर में (आप) आये... किन्तु शिक्षण तो इस प्रकार का है !

'**सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है; उसके (कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर,...**' अर्थात् परद्रव्य 'उत्पाद्य' और दूसरा परद्रव्य 'उत्पादक' ऐसा सिद्ध न होने पर, '**अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता;...**' अजीव के जीव का कार्य - अजीव की पर्याय जीव का कार्य, ऐसा सिद्ध नहीं होता। समझ में आया ?

क्या आया ? अजीव के जीव का कर्मत्व (और) जीव के अजीव का कर्मत्व - ऐसा सिद्ध नहीं होता।

सम्यक्दृष्टि अगर कुम्हार होवे, तो घड़े के बनाने में 'मैं बनाता हूँ,' ऐसा विकल्प (-ऐसी मानता) उसको है ही नहीं। (जो) स्त्री सम्यग्दृष्टि है वह 'मैं रोटी बनाती हूँ, और सब्जी बनाती हूँ' ऐसे अंदर में नहीं मानती। 'कार्य में (निमित्त की) उपस्थिति देखे, तो वह उससे होता है', ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानता। बहुत कठिन काम ! रोटी, दाल, चावल, सब्जी बनाना; ये चिलड़ा बनाने में; बड़ी - पापड - सेव (बनाने में अगर) होशियार स्त्री हो, हाथ हल्का हो... तो बराबर होता है (-ऐसी) मान्यता) भ्रमणा है तेरी !

(यहाँ कहते हैं:) (जीव के) अजीव का कर्मत्व और (अजीव के) जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता। (जीव के द्वारा) अजीव का कार्य (और अजीव को द्वारा) जीव का कार्य - ऐसा सिद्ध नहीं होता। आहाहा ! और यह '**सिद्ध न होने पर, कर्ता-कर्म की अन्य-निरपेक्षतया (अन्य द्रव्य से निरपेक्षतयास्वद्रव्य में ही) सिद्धि होनेसे, (जीव के अजीव का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता)।**' 'निरपेक्ष' (शब्द यहाँ) आया न ? इसकी व्याख्या थोड़ी विशेष है। थोड़ा विशेष लेना है...

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-७ ता. २७-७-१९७९

'समयसार'। यह अधिकार अति अपूर्व है ! प्रत्येक पदार्थ में पर्याय 'क्रमबद्ध' होती है। उस पर्याय में पर की अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार घड़ा उत्पन्न होता है, उसे कुम्हार की अपेक्षा नहीं है। यह कर्ता-कर्म का महासिद्धांत है।

'**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया**' - (अर्थात्) कर्ता का कार्य, उसमें अन्य की अपेक्षा ही नहीं। घड़ा होता है, तो कुम्हार की अपेक्षा नहीं। जुलाहा वस्त्र बुनता है, तो वस्त्र (बुनते) समय जुलाहे की अपेक्षा नहीं। भाषा होती है, उसमें आत्मा की अपेक्षा नहीं। जो अक्षर लिखने में आते हैं, (उसमें) लिखनेवाले की अपेक्षा नहीं। समस्त दुनिया की बात 'क्रमबद्ध' में आ गई है। '**कर्ता-कर्म' महासिद्धांत** !!

'**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया**' - जहाँ अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं है। जैसे कि आत्मा में राग हो तो उसमें कर्म की अपेक्षा ही नहीं है। तथा जो कर्म-बंधन होता है, उसमें राग की अपेक्षा नहीं। उसने राग किया, इसलिये कर्मबंधन होता है, ऐसा नहीं।

आहाहा ! यह शरीर चलता है, उसमें आत्मा की अपेक्षा नहीं। आत्मा ने इच्छा की इतनी अपेक्षा से शरीर चलता है ? - ऐसा नहीं। रोटी बनती है, तो रोटी में स्त्री की या तवे की या अग्नि की अपेक्षा है ? - ऐसा नहीं है। यों कहते हैं। यह जो टोपी सिर पर रहती है, उसे शरीर की अपेक्षा नहीं है।

`कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया' है न...? आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भगवान ! यह बात भी अगर यथार्थरूप से न बैठे, तो उसमें अंतर्मुख होनी की लायकात ही नहीं है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं : हीरे को घिसते हैं और जो उज्जवलता (होती) है, उसमें उस (हीरे को) घिसनेवाले की अपेक्षा नहीं है। साग सीझ जाता है, उसमें अग्नि की या स्त्री की अपेक्षा नहीं है। ये होंठ हिलते हैं, ये परमाणु `कर्ता' और होंठ उसका `कर्म', उसमें आत्मा की अपेक्षा नहीं है।

आहाहा ! यह चीज़ !! इस `क्रमबद्ध' में यह डाला है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में जिस समय, जो पर्याय होनेवाली (है, वह) होती है; तो उसे पर की अपेक्षा नहीं है। जगत में किसी भी चीज़ की पर्याय - कार्य उसे पदार्थ का कर्म कहो या पर्याय कहो या उसका कार्य कहो (उसमें पर की अपेक्षा है ही नहीं)। परमाणु व जीव का (कार्य, अन्यनिरपेक्षतया है)। इसे स्वयं की पर्याय के कार्य में, पर की कोई अपेक्षा है ही नहीं।

आहाहा ! पूरी दुनिया में इस बात का बैठना (अत्यंत कठिन है)। (यह लकड़ी का) शहतीर जो ऊपर रहा हुआ है, तो उसमें (उसे) नीचे (जमीन) के आधार की अपेक्षा नहीं है। नीचे की अपेक्षा से (वह) वहाँ (ऊपर) टिका हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! गज़ब बात है !! कहते हैं कि : एक परमाणु भी अगर ऊर्ध्व गति करता है तो (उसे) (धर्मद्रव्य की अपेक्षा नहीं है)। आँधी-तूफान होता है, उसमें तिनका उड़ता है, उसे पवन की अपेक्षा नहीं है। यह पुस्तक बनती है, उसमें बनानेवाले की अपेक्षा है ही नहीं। हमारे (यहाँ) बहुत पुस्तकें बनती हैं, बहुत पंडित बनाते हैं ! (किन्तु कौन बनाये, प्रभु ?)

आहाहा ! सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकीनाथ का यह सिद्धांत !! `क्रमबद्ध' कहकर (कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया की यह तो ज़ाहिरात है)। आहाहा ! जब जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस समय (उत्पन्न होनेवाली है) उस समय में (वह) उत्पन्न होती है; तो उसे पर की अपेक्षा कहाँ रही ? घड़े के बनने में (कुम्हार भले ही) निमित्त हो, (फिर भी) घड़े को कुम्हार की अपेक्षा नहीं है। कुम्हार हो, किन्तु है इसलिये कुम्हार की अपेक्षा से घड़ा बना है, ऐसा नहीं है। और जुलाहा है तो उसके द्वारा कपड़ा बुना जा रहा है, ऐसा है ही नहीं। उस कपड़े की पर्याय को `कर्ता-कर्म की अपेक्षा में' जुलाहे की अपेक्षा

है ही नहीं। आहाहा ! यह बात !!

घर में तिज़ोरी में पैसे रखते हैं, कोई ले न जाए। तो कहते हैं कि उसमें पैसे रखने की अपेक्षा में, इसकी (आत्मा की) अपेक्षा है ही कहाँ ? (पैसे) रहने की उसकी योग्यता का `कर्ता-कर्म' उसमें है। तिजोरी के कारण भी नहीं रहे हैं। तिजोरी में रखे, (तो) उसकी अपेक्षा से ये (पैसे) रहे नहीं हैं। ताला दिया... तो कहते हैं कि ताला बंद हुआ उसे चाबी की अपेक्षा नहीं है।

ऐसा बात है, प्रभु ! प्रभु की बात अपूर्व है, नाथ ! यह बात कहने तक की नहीं है, पर यह बात अंतर में बैठनी (चाहिए)।

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि : भगवान की वाणी भी कान में पड़ी, तो यहाँ ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई; ऐसी वाणी की अपेक्षा इसमें (ज्ञान में) नहीं है। यह पृष्ठ जो है उसे पढ़ने से ज्ञान होता है, तो कहते हैं कि : ज्ञान की पर्याय में इस पृष्ठ की अपेक्षा नहीं है। ज्ञान की पर्याय `कार्य' है और आत्मा `कर्ता' है - यह (भी) व्यवहार (है) निश्चय से (तो) पर्याय `कर्ता' व पर्याय `कार्य' है। आहाहा ! तो इस पृष्ठ को देखने से ज्ञान होता है, यह बात सही नहीं है। तथा अन्य को समझने का - ज्ञान होता है, तो समझानेवाले की - वाणी की अपेक्षा उसमें नहीं है। आहाहा ! कितनी ज़गह से हट जानेका है ?

रोटी का टुकड़ा होता है, तो (उसमें) दाँत की अपेक्षा नहीं है। दाँतों के निमित्त से टुकड़ा होता है न ? (भाई) ! (जो) टुकड़ा होता है, वह `कार्य' रोटी के परमाणु का है; उसमें दाँत की अपेक्षा नहीं है। यह जानने में आता है, तो चश्मा निमित्त है। (यदि चश्मा) नीचे उतारे तो जानने में नहीं (आता) ! किन्तु ऐसा कहते हैं कि (जानने में) उस चश्मे की अपेक्षा ही नहीं है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

जिज्ञासा : सर्वथा (अपेक्षा) नहीं है ?

समाधान : निश्चयरूप से सर्वथा (अपेक्षा) नहीं है। चश्मा अलग चीज़ है और जानने की पर्याय अलग चीज़ है; तो जानने की पर्याय में चश्मे की अपेक्षा ही नहीं है। तो (चश्मा) चढ़ाते क्यों है ? कौन चढ़ाता है ? प्रभु ! वह चढ़ता है, तो अपने `कर्ता-कर्म' से चढ़ता है; अँगुली से (भी) नहीं चढ़ता। अरे..रे ! यह चश्मा नाक के आधार से रहा है, ऐसी पर की अपेक्षा नहीं है।

हमारे साथ चर्चा करने हेतु एक देरावासी (श्वेतांबर मूर्तिपूजक) साधु लींबडी शहर में आये थे। मैं ने कहा (कि:) हम किसी के साथ चर्चा-वाद तो करते नहीं हैं, भाई ! यह बात कोई ऐसी है कि, इस तरह वाद-विवाद से कोई मिल जाये (ऐसा है नहीं)। फिर ज़रा उठते समय कहने लगे कि `लो ! इस चश्मा के बिना जानने में आता है

?' (मैं ने) कहा : हो गई चर्चा, भाई !

'नियमसार' में तो कुंदकुंदाचार्य प्रभु कहते हैं : प्रभु ! स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद मत करना। चीज़ ऐसी अगम्य है कि वह कोई वाद-विवाद से गम्य हो जाए (ऐसी वस्तुस्थिति ही नहीं है)। स्वसमय (अर्थात्) अपना जैन, और परसमय (अर्थात्) अन्य; उसके साथ वाद नहीं करना !

(यहाँ कहते हैं :) '**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया (अन्यद्रव्य से निरेपक्षतया स्वद्रव्य में ही) सिद्धि होने से...**' आहाहा ! महासिद्धांत !! 'क्रमबद्ध'का निचोड़ (-सार) यह है कि : प्रत्येक पदार्थ की जो पर्याय जिस समय में, जिस काल में, जन्मक्षण में उत्पन्न होनेवाली है, (वह) तब उत्पन्न होगी। उसे पर की अपेक्षा नहीं है। कुछ समझ में आता है ?

एक हाथ दूसरे हाथ का स्पर्श नहीं करता। यह अपना यों (छूने का) जो कार्य यहाँ पर (हुआ), उसमें इस अँगुली की अपेक्षा नहीं है। तथा इस अँगुली के कार्य में इस (दूसरे हाथ की) अँगुली की अपेक्षा नहीं है। आहाहा ! ऐसी बात !!

मैं लोगों को भाषा द्वारा समझा दूँ...! (ऐसा) ज़ोर समझानेवाले को आ जाए। किन्तु यहाँ कहते हैं कि उसकी समझने की पर्याय में तेरी भाषा की अपेक्षा नहीं है।

जिज्ञासा : परस्पर उपकार की (बात शास्त्र में आती है न ?)

समाधान : यह बात ही निमित्त का कथन है। आजकल तो सब (प्रकाशनों) में आता है न...! चौदह ब्रह्मांड का (आकार) बनाकर नीचे लिखते हैं 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'। वह तो निमित्त का कथन है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के आठवें अध्याय में है। देखो : 'अब, मिथ्यादृष्टि जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर, उन पर उपकार करना वह उत्तम उपकार है। श्री तीर्थंकर - गणधर आदि भी ऐसा ही उपाय करते हैं। अतः इस शास्त्र में भी उन्हीं के उपदेशानुसार उपदेश दे रहे हैं।' - यह व्यवहार का कथन है। अरे प्रभु ! प्रत्येक द्रव्य की - सुननेवाले की - जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह पर्याय - सुनने की अपेक्षा के बिना उत्पन्न होती है !

'समयसार' बंध अधिकार में लिया है कि : पर का मोक्ष किया जाता है तथा पर का बंध किया जाता है - ऐसा मानते हो; तो क्या आप उसका मोक्ष करा देते हो? (भाई ! ऐसी स्थिति नहीं है)। उसके अज्ञान से उसको बंध होता है और (उसके) वीतरागभाव से उसका मोक्ष होता है। आहाहा ! बहुत सूक्ष्म बात ! अत्यंत अपूर्व बात !!

माला फिरती है... तो यह जो मनका नीचे उतरता है, उसमें अँगुली की अपेक्षा नहीं है। अँगुली यों फिरती है... तो उसमें आत्मा की अपेक्षा नहीं है। किसी पर्याय के

अपने समय में क्रमसर - क्रमबद्ध होनेवाले कार्य का कर्ता तो वह परमाणु है। जिसके कार्य को देखो... उस कार्य का 'कर्ता' वह है। उस 'कार्य' में अन्य (किसी) की अपेक्षा ही नहीं है। आहाहा ! यह रोटी बनती है, मोटी रोटी बनती है... यों हाथ में टीपकर गोल... तो कहते हैं कि उसे हाथ की अपेक्षा नहीं है।

जिज्ञासा : संयोग तो दिखता है !

समाधान : संयोग से देखनेवाला संयोग को देखता है। (अगर) उसके स्वभाव से देखे तो उसकी पर्याय उसके द्वारा हुई है ! जगत की दृष्टि संयोग पर है। जैसे एक लौकी है, लौकी पर चाकू चला तो टुकड़े हुए... यह भी झूठ है। टुकड़े होने में चाकू की अपेक्षा है ही नहीं। ऐसी बात !! क्या कहते हैं, कुछ समझ में आता है?

आहाहा ! कर्ता अर्थात् करनेवाला और उसका जो कर्म, अर्थात् कार्य। किसी भी चेतन या जड़ पदार्थ का (कर्ता-कर्म अन्यनिरपेक्षतया होता है)। इसमें से ऐसा ही निकला कि : आत्मा में जो विकार होता है, वह कर्ता-कर्म (अन्यनिरपेक्ष है)। (जड़) कर्म 'कर्ता' और आत्मा में विकार (उत्पन्न होता है वह उस जड़ कर्म का) 'कार्य' - ऐसा है ही नहीं। कर्म के निमित्त बिना (आत्मा में) विकार होता है ? (तो) यहाँ कहते हैं कि : विकार होने में - विकार के 'कार्य' में, 'कर्ता' जीव की पर्याय को कहो या जीव को कहो; पर उसमें (विकार के होने में) (जड़) कर्म की अपेक्षा है ही नहीं !

आहाहा ! तो यह भी आया कि : अपने में ज्ञान का जो क्षयोपशम होता है, ज्ञान की शुद्धि की वृद्धि होती है - भले थोड़ा अज्ञान कहो पर - उसे कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं है। उसमें वह आया कि नहीं ? ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो, तो आत्मा में ज्ञान का विकार होवे - ऐसी अपेक्षा है ही नहीं।

बड़ी भारी चर्चा २०१३ के साल में (वर्णीजी के साथ) हुई थी। उन्हों ने कहा था : 'नहीं ! कर्म का उघाड़ हो तो यहाँ (ज्ञान का) क्षयोपशम होता है। कर्म का उदय हो तो यहाँ (आत्मा में) विकार होता है'। (तो मैं ने) कहा : 'ऐसा है ही नहीं।'

(यह बात) हम तो ६३ साल पूर्व - १९७१ के वर्ष से कह रहे हैं। (लोग) सब ऐसा ही कहते हैं : कर्म से (आत्मा में) विकार होता है। विकार हुआ तो कर्मबंधन होता है। दोनों परस्पर (सापेक्ष है -) विकार होता है तो कर्म की अपेक्षा से और कर्म का बंधन हुआ तो वह राग-द्वेष की अपेक्षा से। (किन्तु) यहाँ तो इन्कार करते हैं। विकार हुआ उसमें कर्म की अपेक्षा नहीं है। '**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया**' आहाहा ! तत्त्व...बस ! यही चीज़ है।

द्रव्यानुयोग से दृष्टि बनाकर, फिर तीनों अनुयोग पढ़े तो दृष्टि में बैठे। 'मोक्षमार्ग

प्रकाशक' में टोडरमलजी ने लिया है : द्रव्यानुयोग से दृष्टि मिले, इसके बाद उस दृष्टि के अनुसार चरणानुयोग पढ़े तो बैठेगा; अन्यथा नहीं बैठेगा। ५३ वर्ष पूर्व, १९८२ की साल में, राजकोट में `मोक्षमार्ग प्रकाशक' मिला। हम जब पढ़ते थे तब तो धुन सवार हो गई थी। खाना-पीना-आहार के लिये जाना, (इनमें) कहीं रुचि ही नहीं थी। ऐसा हो गया था।

जिज्ञासा : आपको कितना असर हुआ था ?

समाधान : असर उससे (-`मोक्षमार्ग प्रकाशक' से) नहीं ! (किन्तु) हमारी पर्याय की योग्यता ऐसी थी।

हमें संवत् १९७८ में फागुन महीने में प्रथम `समयसार' मिला। फिर `प्रवचनसार', `नियमसार' (मिले)। सुबह एक समय व्याख्यान देकर, हम उपाश्रय में यही पढ़ते थे। प्रत्येक महीने में दो अष्टमी और एक पूर्णमासी और एक अमावस्या (इस तरह) चार उपवास रखते थे। उस दिन तो सुबह व्याख्यान देकर, एक मील दूर जंगल में चले जाते थे। वहाँ बहुत बड़ा गड्ढा था। हम उसमें अंदर शाम तक अकेले रहते थे। (वहाँ) `समयसार' प्रथम पढ़ा तो ऐसा भाव अंदर में आया : अहो..हो..हो ! शरीर रहित होने की चीज़ तो यह `समयसार' है !! मैं ने संप्रदाय में कहा कि : श्वेतांबर के सारे शास्त्र भले ही हो... लेकिन शरीर रहित होने की चीज़ तो `यह' है ! आहाहा ! (ऐसा भाव अंदर आया कि `यह' शरीर रहित होने की चीज़ है वहाँ `वह चीज़' तो निमित्त है।)

(यहाँ) यह एक शब्द तो गज़ब है !! `**कर्ता-कर्म निरपेक्ष**' - यह महासिद्धांत है !! किसी भी द्रव्य-पदार्थ की पर्याय जिस समय होनेवाली होगी; उस कार्य का `कर्ता' वह द्रव्य है। (अर्थात्) उस पर्याय का `कर्ता' (वह) द्रव्य है और वह पर्याय (उसका) `कर्म' है। उस पर्याय में परद्रव्य की कोई अपेक्षा ही नहीं है।

निमित्त (भले) हो ! प्रत्येक पदार्थ के कार्यकाल में (अन्य पदार्थ) निमित्त (रूप) तो होता ही है। द्रव्य की जो अनादि - अनंत पर्याय होती है, वह अपने से होती है, (फिर भी) उस समय निमित्त तो होता है; लेकिन निमित्त की अपेक्षा से वह पर्याय हुई, ऐसा नहीं है।

जिज्ञासा : धर्मद्रव्य की तरह (निमित्त को) समझें ?

समाधान : `इष्टोपदेश' के कर्ता ने (निमित्त को) धर्मद्रव्यवत् कहा है न...! जिस प्रकार गति करने में स्वयं स्वतंत्र (है), तो धर्मास्तिकाय को `निमित्त' कहने में आता है। वहाँ तो `निमित्त' कैसे हैं कि `धर्मास्तिकायवत्' सब द्रव्य (निमित्त) हैं, ऐसा कहा है।

यहाँ भी यह कहते हैं कि : निमित्त की अपेक्षा ही नहीं है। निमित्त हो... मगर

पर्याय का कार्य करने में निमित्त की अपेक्षा है ही नहीं। जड़ का कार्य व चैतन्य का कार्य और जिस समय है, वह कर्ता और उसका कार्य, उस स्वद्रव्य में है। अर्थात् स्वद्रव्य 'कर्ता' और स्वद्रव्य की पर्याय 'कार्य', उसमें परद्रव्य की - निमित्त की अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा !

कलाई में यह घड़ी पड़ी है, वह कलाई के आधार से रही है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! यह तो दुनिया से (निराली बात है।) वृद्ध होते हैं वे छड़ी का सहारा लेते हैं... (तो) वह (छड़ी) जमीन को छूती है ? तो (कहते हैं) नहीं। वह (छड़ी) ज़मीन को छूती ही नहीं। उसे हाथ में पकड़ा है... तो भी हाथ ने (इस) छड़ी को छूआ ही नहीं है।

जिज्ञासा : (छड़ी) सहारा तो देती है न ?

समाधान : संयोग है ! तो वह (अज्ञानी) संयोग से देखता है।

जिज्ञासा : आप कहते हो तो मानना ही पड़ेगा न...!

समाधान : ऐसा नहीं। न्याययुक्त है कि नहीं ? न्याय अर्थात् 'नी' धातु है, तो 'नी' धातु में वस्तु का जैसा स्वरूप है, उस तरफ हाथ पकड़ के ले जाना, ले जाना उसका नाम 'न्याय'। तो न्याय से समझना चाहिए। हम कह रहे हैं, इसलिये मान लेना, ऐसा नहीं। न्याय में 'नी' धातु है। 'नी' धातु का अर्थ है : 'ले जाना'। जैसी चीज़ है, उस तरफ ज्ञान को ले जाना, उसका नाम न्याय।

प्रत्येक चीज़ - पर्याय अपने समय में आगे-पीछे किये बिना, अपने काल में होती है; उस पर्याय को परद्रव्य की अपेक्षा बिलकुल - किंचित नहीं होती। आहाहा ! ऐसी बात है !

भगवान के दर्शन करने से शुभभाव होता है... उसकी यहाँ ना करते हैं। यहाँ जो शुभभाव होता है, उसमें पर-भगवान के निमित्त की अपेक्षा नहीं। आहाहा ! गज़ब बात है !! वस्तु का यह स्वरूप ही ऐसा है ! उसे भगवान ने नहीं बनाया; जैसा है वैसा कहा; पर (वह) 'कर्ता' नहीं है।

भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है... तो दिव्यध्वनि का कार्य भगवान का है, ऐसा नहीं। भगवान की दिव्यध्वनि - 'भवि भागन वय जोगे' - यह भी निमित्त का वचन है। वाणी के काल में परमाणु की पर्याय भाषारूप होनेवाली थी; उस पर्याय में आत्मा की अपेक्षा नहीं। तथा सुननेवाले की भी अपेक्षा नहीं है। आहाहा ! ऐसी बात है, प्रभु ! तेरी प्रभुता का कोई पार नहीं है!'

यहाँ (कहते हैं :) अपने में जब सम्यग्दर्शन होता है तब उसमें राग व निमित्त

की अपेक्षा नहीं होती। आत्मा `कर्ता' और सम्यग्दर्शन - पर्याय `कार्य', यह भी व्यवहार है। बाकी पर्याय `कर्ता' और पर्याय `कार्य' ! उसमें निमित्त की अपेक्षा नहीं है कि गुरु मिले और तीर्थंकर मिले, इसलिये सम्यग्दर्शन हुआ। (-ऐसी वस्तुस्थिति ही नहीं है)। देशनालब्धि मिलने से ज्ञान नहीं होता। उस देशनालब्धि के काल में जिस (ज्ञान) की पर्याय हुई, वह तो परलक्षी ज्ञान है। वह (पर्याय) भी देशना के शब्द से हुई ही नहीं। उस समय में उतना परलक्षी विकास होने का पर्याय का काल था, (अतः) ऐसा हुआ है।

यहाँ तो (लोग) जहाँ देखो वहाँ `हम करते हैं...' `हम करते हैं...' `हम सारी व्यवस्था करते हैं' (-इस प्रकार वृथा कर्तृत्व का सेवन करते हैं !) वह तो होनेवाली चीज़ है ! ये परमाणु (स्थायी) रहनेवाली चीज़ कहाँ है ? जहाँ जानेवाले हो वहाँ जाते हैं। (एक) कहे `मैं ने दिया' और दूसरा कहे कि `मुझे मिला' (-ये सब झूठ है)। अरे...रे ! भारी फर्क, भाई ! वीतरागमार्ग (और अन्य मार्ग में) !

ऐसी (निमित्त की) भाषा तो शास्त्र में आती है। `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में भी लिया है कि `साता के उदय से (नीरोग) शरीर मिले, अनुकूल संयोग मिले'। वह निमित्त की बात है। उसमें निमित्तपना स्थापित किया (है)। असातावेदनीय के उदय से शरीर में रोग होता है; वह कथन निमित्त का है। रोग होता है शरीर की पर्याय में, उसमें असाता के उदय की अपेक्षा नहीं है।

दुनिया के चतुर लोगों की चतुराई हवा हो जाये ऐसा है ! ये पैसे लेना-देना और मैं पैसा दे सकता हूँ... (किन्तु) उन पैसों का कर्ता-कर्म तो पैसे स्वयं (ही) हैं। पैसे के परमाणु `कर्ता' और जाने का `कार्य' है, वह उसकी पर्याय। (फिर भी) देनेवाले ऐसा सोचे कि `मैं ने पैसे दिये' (तो, वह) मिथ्या-भ्रम है। (तू) पैसे कहाँ से ले आया ?

(लोग माने कि) ये पैसेवाले... इज्जत भारी... (लेकिन) आत्मा पैसेवाला है ? कितने `वाले' हैं ? पाँव में एक `वाला' निकलता है, तो (पीड़ा के मारे) चिल्ला उठता है ! (`वाला' - गंदे पानी की बीमारी के कारण पाँवमें से निकलने वाला एक कष्टदायक कीड़ा) (यहाँ) कितने `वाले' पैसेवाला, पत्नीवाला, परिवारवाला, आबरूवाला, बच्चेवाला, लड़कीवाला, दामादवाला,... तो कितने `वाले' ?

आहाहा ! कौन किसका बेटा... कौन किसका बाप ! यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं : बाप की पर्याय का कर्ता बाप का आत्मा है और लड़के की पर्याय का कर्ता उस (लड़के का) आत्मा है; उसकी पर्याय का कर्ता वह आत्मा है, तो वह उसका बेटा कहाँ से हुआ ? और बेटे का बाप... बाप हुआ कहाँ से प्रभु ?

ऐसी बात है, भाई ! बाहर तो सुनने तक नहीं मिलती। यह बात संप्रदाय में

नहीं चलती है। और यहाँ का विरोध करता है ! अरे प्रभु ! यह (बात) हमारे घर की नहीं है। यह वस्तु का स्वरूप ही है !

आहाहा ! प्रत्येक पदार्थ में जिस समय में पर्याय उत्पन्न होने का काल है, उस समय पर उत्पन्न होगी। निमित्त होता है, लेकिन निमित्त द्वारा उत्पन्न होवे - ऐसी अपेक्षा नहीं है।

'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में ऐसा भी आया है कि : एक कार्य में दो कारण - उपादान और निमित्त (किन्तु) यह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। बाकी उपादान की पर्याय होने में किसी निमित्त की अपेक्षा ही नहीं है। कुछ समझ में आया ?

आजकल तो (कुछ) पंडित ऐसा कहते हैं कि : प्रत्येक पदार्थ में उपादान की अनेक प्रकार की योग्यता है, लेकिन जैसा निमित्त मिलता है, वैसा कार्य होता है। अन्यथा एकांत है...एकांत है !

हे प्रभु ! इस 'क्रमबद्ध' में (उत्पाद्य-उत्पादकभाव का अभाव) लिया है। 'क्रमबद्ध' की विशेष पुष्टि का कारण यह है। ये शब्द इसमें डाले हैं, इसका कारण है कि : जिस पदार्थ में, जिस समय पर, जो पर्याय उत्पन्न होगी, उसमें पर की (कुछ भी अपेक्षा नहीं है)। 'उत्पाद्य' उत्पन्न होने लायक (एक चीज़), और 'उत्पादक' दूसरी चीज़, ऐसा है ही नहीं। यह ऊपर आ चुका है न...! '**इसप्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्यद्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है।**' प्रत्येक द्रव्य की पर्याय में पर्यायरूपी 'उत्पाद्य' और निमित्त 'उत्पादक' - ऐसा अभाव है। आहाहा ! अति कठिन ! अपूर्व बात है, प्रभु ! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकीनाथ की दिव्यध्वनि 'यह' है !

आजकल तो बहुत गड़बड़ हो चुकी है। व्यवहार से निश्चय होता है और... ऐसा होता है और वैसा होता है।

यहाँ तो कहते हैं कि : अपनी (जो) निश्चयपर्याय स्वद्रव्य के आश्रय से हुई, उसका 'कर्ता' आत्मा (है) और वह निर्मलपर्याय (उसका) 'कर्म' (है); इसमें राग की या पर की कोई अपेक्षा है ही नहीं। व्यवहार से राग की मंदता थी, तो यह निश्चय सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ (-ऐसा नहीं)। जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तो पहले शुभभाव होता है। अशुभभाव होवे और फिर समकित हो, ऐसा नहीं होता। (अर्थात्) जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब तो उससे पूर्व - अंत में (मिथ्यादर्शन के अंत समय में) शुभभाव ही होता है। 'यह मैं आनंद हूँ... शुद्ध हूँ' ऐसा जो विकल्प आता है, वह शुभभाव है। तो (उसके कारण) सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ, ऐसा है ही नहीं। (अर्थात्) सम्यग्दर्शन 'उत्पाद्य' और राग-विकल्प

`उत्पादक' - ऐसा नहीं है। यह इतने से इतना सब लिखा है !

(धर्म की) प्रभावना में यहाँ के पंडितों का बड़ा हाथ है। (किन्तु) यह कथन निमित्त से है। जहाँ-जहाँ प्रभावना की पर्याय होनेवाली (है वह) होती है; तो उनको (पंडितों को) निमित्त कहने में आता है। परंतु उस निमित्त की अपेक्षा प्रभावना की पर्याय में नहीं है !

(यह बात) इसमें (शास्त्र में) है या नहीं ? देखो : `**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया सिद्धि होने से**' (अर्थात्) कोई भी पदार्थ `कर्ता' होकर, `कर्म' अर्थात् उस-उस समय पर (अपनी-अपनी) पर्याय का `कार्य' हुआ, वह अन्यनिरपेक्षतया (है)। अन्य द्रव्य से निरपेक्षतया, स्वद्रव्य में ही सिद्धि होने से (उसको) परद्रव्य की अपेक्षा नहीं है।

स्वद्रव्य की पर्याय (है) वह `कार्य' और स्वद्रव्य उसका `कर्ता' - यह (भी) व्यवहार से है। बाकी पर्याय कार्य और पर्याय कर्ता (-ऐसा है !) यह स्वद्रव्य में है। पर वह पर्याय `कार्य' और निमित्त `कर्ता' - ऐसी कोई चीज़ (वस्तुस्थिति) नहीं है। आहाह ! कुछ समझ में आता है ? यह बात, प्रभु ! भाषा से नहीं (परंतु) अंतर में बैठनी... (बहुत कठिन ! इसके लिये भारी पुरुषार्थ चाहिए)।

जिज्ञासा : यह बात हमने सोनगढ़ से निकाली है ?

समाधान : वह तो निमित्त की अपेक्षा से कथन है। बात तो (सनातन) ऐसी ही है !

संवत् २०१३ के साल में वहाँ (ईशरी में) भारी चर्चा हुई थी। वे तो दिगंबर संप्रदाय में बड़े इज्जतवाले लोग ! किन्तु उनको यह बात नहीं मिली थी। (उनकी मान्यता यह थी :) क्रमबद्ध है तो सही, लेकिन इस पर्याय के बाद यही पर्याय होगी ऐसा नहीं। (मैं ने) कहा कि : नहीं ! इस पर्याय के बाद यही पर्याय होगी, ऐसी `क्रमबद्ध' की व्याख्या है।

आहाहा ! यहाँ तो कहते हैं कि : भगवान के दर्शन से शुभभाव हुआ, ऐसा नहीं। उस समय पर शुभभाव होने के क्रम में आनेवाली पर्याय है ! भगवान के दर्शन से - निमित्त से शुभभाव हुआ, ऐसा नहीं। आहाहा ! ऐसी बात !!

जिज्ञासा : यह ऐसा सब मानें (तो) फिर कोई (दर्शन) नहीं करेंगे ?

समाधान : लेकिन करता है कौन ? मात्र उसकी समझ में फर्क है ! बाकी पर्याय होनेवाली तो होगी ही।

जिज्ञासा : मैं ने भगवान के दर्शन किये तो मुझे शुभभाव हुआ। घर में स्त्री के पास रहें तो शुभभाव क्यों नहीं होता ? यहाँ मैं आया और भगवान के दर्शन किये तो शुभ भाव हुआ !

समाधान : झूठी बात है ! स्त्री के पास था और अशुभ भाव हुआ, तो वह भी स्त्री के कारण हुआ, (ऐसा नहीं)। निरपेक्षरूप से अशुभ भाव हुआ है। (शुभ-अशुभ दोनों तरह के भाव में) पर की अपेक्षा है ही नहीं।

आहाहा ! ऐसी बात है, प्रभु ! अलौकिक बात है !! इस एक शब्द में तो पूरे बारह अंग का सार है ! 'क्रमबद्ध' की सिद्धि में 'यह' आया है : जब प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उस समय पर क्रम में होनेवाली है, तो उसे किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं है ! इसमें से यह आया है :

'**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया**' (अर्थात्) प्रत्येक पदार्थ में जो-जो पर्याय उस-उस समय में होती है, (वह अन्यनिरपेक्षतया होती है)। यहाँ 'क्रमबद्ध' में तो निर्मल पर्याय की बात है। तो निर्मल पर्याय जो होती है, तो उसमें 'कर्ता' आत्मा और निर्मल पर्याय 'कर्म'। उसमें कर्म का क्षयोपशम हुआ तो समकित हुआ, ऐसा नहीं है। ज्ञान में घटना - बढ़ना होता है (वह कर्म के निमित्त से नहीं)।

हमने इस बार वहाँ (ईशरी में) कहा था और पहले भी कहा था कि : जिस समय पर पर्याय होती है, उसे निमित्त की - पर की अपेक्षा ही नहीं है ! (वहाँ) विकार का प्रश्न हुआ था। (मैं ने) कहा कि : विकार (जो होता) है, उसमें कर्म के निमित्त की अपेक्षा है ही नहीं। देखो ! 'पंचास्तिकाय' गाथा - ६२, संस्कृत टीका : ('**स्वयमेव षट्कारकीरूपेणव्यवतिष्ठमानो न कारकांतरमपेक्षते**'।) परकारक की अपेक्षा ही नहीं है। (किसी भी कार्य में,) परकारक की कोई अपेक्षा है ही नहीं। (जब) विकार होने में भी कर्म की अपेक्षा नहीं है, तो प्रभु ! धर्म की पर्याय होने में पर की कोई अपेक्षा ही नहीं है ! आहाहा ! ऐसी बात है !! (लोगों को) बात कठिन लगती है, (किन्तु) मार्ग तो 'यह' है ! यह तो (यहाँ) ढोल बज़ाकर कहने में आती है।

'क्रमबद्ध' की पुष्टि में यह बात ली है। अंदर (शास्त्र) में लिखा है कि नहीं ? देखो : प्रथम शुरू किया है कि - प्रत्येक जीव और अजीव अपने समय में उत्पन्न होनेवाली पर्याय का उत्पादक है, पर (-अन्य) नहीं। और वह भी उसी समय में (होती है), आगे-पीछे नहीं। किसी द्रव्य की, किसी पर्याय को (कोई) आगे-पीछे कर सके -ऐसा (बन सकता ही नहीं।) आहाहा ! (एक द्रव्य की पर्याय को) अन्य द्रव्य की अपेक्षा तो नहीं है; किन्तु स्वद्रव्य भी अपनी पर्याय को आगे-पीछे कर सके, ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। इस 'क्रमबद्ध' का निर्णय करने में 'यह जोड़ (टोटल)' आया है ! (जिस प्रकार) पचम पच्चीस; तो जोड़ क्या आया कि पच्चीस आया। उस प्रकार इस 'क्रमबद्ध' का जोड़ क्या ? कि इसका जोड़ 'यह'।

निगोद के जीव की हीन दशा, वह कर्म के द्वारा नहीं हुई। ऐसा कहते हैं कि, जब तक एकेन्द्रियनिगोद है तब तक कर्म का ज़ोर है। और मनुष्यादि होने के बाद आत्मा का ज़ोर चलता है। (किन्तु) यहाँ तो कहते हैं कि : प्रत्येक समय में अपनी पर्याय का `कर्ता' वह ही वह आत्मा है। निगोद - लहसून, प्याज, काई (इत्यादि) -में अनंत जीव हैं। तथा अनंत जीव में रहे प्रत्येक जीव के दो-दो शरीर - तैजस व कार्मण - साथ में हैं। अँगुली के असंख्यातवें भाग में अनंत जीव हैं, अनंत शरीर भी हैं। एक परमाणु की पर्याय, दूसरे परमाणु की पर्याय के लिये (भले) निमित्त हो; किन्तु उस निमित्त की अपेक्षा से परमाणु में पर्याय हुई, ऐसा नहीं। तथा कर्म के उदय से अनंत निगोद की पर्याय हुई, ऐसा भी नहीं। तथा कर्म के उदय से, अनंत निगोद की पर्याय हुई, ऐसा भी नहीं। निगोद की जो पर्याय हुई, उसी समय पर (वह) होनेवाली थी; वह पर की अपेक्षा के बिना अपने से (हुई है !) (अर्थात्) पर के कर्ता-कर्म की अपेक्षा के बिना, उस पर्याय का `कर्ता' वह जीव है तथा पर्याय उसका `कार्य' है ! आहाहा ! गज़ब की बात भाई !

`मोक्षमार्ग प्रकाशक' में ऐसा आया है कि : नदी में चलते समय, पानी का ज़ोर ज्यादा हो तो (शरीर) पीछे चलता है, वहाँ आत्मा रोक नहीं सकता। नदी का दृष्टांत है; वह तो निमित्त के कथन से कहा है, बाकी (तो) उस समय भी पानी के प्रवाह में जो शरीर पीछे चलता है, वह अपनी पर्याय से, अपने कर्ता-कर्म से उस प्रकार चलता है; पानी के कारण से नहीं। आहाहा !

एक ब्रह्मचारी थे। वे मोटर में बैठे थे। उन्हों ने फिर ऐसा कहा कि : सोनगढ़ ऐसा कहता है कि `हम मोटर द्वारा यहाँ नहीं चल रहें' (किन्तु) मोटर चल रही हो और अंदर बैठे हो तो (हम मोटर द्वारा) चल रहे हैं न ? (किन्तु यहाँ कहा कि :) मोटर चल रही है इसलिये शरीर चल रहा है, ऐसा है ही नहीं ! अंदर शरीर को गति करने में, मोटर की अपेक्षा ही नहीं है। ऐसी बात !! मोटर पहियों द्वारा चलती है... इतनी भी अपेक्षा नहीं है।

जिज्ञासा : (मोटर) पेट्रोल से तो चलती है न...?

समाधान : पेट्रोल से (मोटर) नहीं चलती। (लेकिन) लोग नाम सोनगढ़ का देते हैं और ऐसा कहते हैं कि, सोनगढ़ की मोटर पेट्रोल के बिना चलती है और अपनी मोटर पेट्रोल से चलती है। यहाँ कहते हैं कि : पेट्रोल की पर्याय का `कर्ता' पेट्रोल है। मोटर चलती है, तो उसका `कर्ता' उस मोटर के परमाणु हैं। पेट्रोल से मोटर चलती है, यह बात सही नहीं है ! अर...र..र! ऐसी बात बाहर में चली है : `सोनगढ़ की

मोटर पेट्रोल के बिना चलती है'। अरे ! मोटर सोनगढ़ की है ही नहीं; मोटर मोटर की है।

उस मोटर की चलने की जो पर्याय होती है, उसे अपने ड्राईवर की अपेक्षा नहीं। उसके नीचे पहिये हैं... उनकी अपेक्षा भी मोटर को नहीं है। तथा मोटर में बैठा है, इसलिये उसका (आदमी का) शरीर इस प्रकार गति कर रहा है, ऐसा भी नहीं। उस शरीर की पर्याय का 'कर्ता' उस समय में शरीर के परमाणु हैं। मोटर से वह (शरीर) चलता है (और) शरीर अंदर (मोटर) में बैठा है, ऐसा भी नहीं। अरे..रे ! भाई, सोनगढ़ का नाम लेकर कहते हैं न लोग... (तो भले ही कहो ! वस्तुस्थिति तो यही है)।

यह (यहाँ पर) क्या कहते हैं ? देखो : किसी भी द्रव्य में 'कर्ता' होकर, उस समय में (जो) 'कार्य' होता है, वह '**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया**' (होता है); उसमें अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। आहाहा ! उसमें परपदार्थ की अपेक्षा है ही नहीं।

रोग होता है और दवाई से मिटता है, ऐसी अपेक्षा नहीं है - ऐसा कहते हैं। अरे..रे ! गज़ब बात है !! 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' - में ऐसा (कथन) है : आयुर्वेद है, तो दवाई मिलती है; और दवाई से (रोग) मिटता है - यह कथन तो व्यवहार से किया है। (वास्तव में) ऐसा नहीं है। शरीर के परमाणु में जो रोग होता है, वह अशाता के कारण से हुआ; ऐसा नहीं है। अशाता का (उदय) माने जड़ (कर्म) अन्य चीज़ है और यह (शरीर) अन्य चीज़ है, तो इस रोग के होने में अशाता के उदय की अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा ! ऐसी बात !! सुनना भी भारी पड़ जाये।

आहाहा ! '**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया**' - यह तो महासिद्धांत है ! चौदह ब्रह्मांड का सिद्धांत है ! अनंत तीर्थंकर, अनंत केवली, अनंत संत, अनंत समकितियों ने इस प्रकार मानकर, ऐसा दुनिया से कहा है ! 'कहा है' इस कार्य की कर्ता भी वाणी है।

आहाहा ! '**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया**' (अर्थात्) अन्य द्रव्य से निरपेक्षतया, पर की अपेक्षा के बिना, प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने द्रव्य से हुई है। '**स्वद्रव्य से ही सिद्धि होने से, जीव के अजीव का कर्तापना (कर्तृत्व) सिद्ध नहीं होता।**' (अर्थात्) 'जीव अजीव का कार्य करे', ऐसा सिद्ध नहीं होता।

जीव अपनी पर्याय को करे और पर की (पर्याय को) भी करे तो 'दो क्रियावादी' मिथ्यादृष्टि होता है। 'समयसार' में आता है : अपनी पर्याय को भी करे और पर की भी करे, तो एक द्रव्य दो क्रिया को करे (- ऐसा माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है; उसे जैन की खबर नहीं है। विशेष कहेंगे...

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-८ ता. २८-७-१९७९

पहले का कुछ भाग बाकी है। तो फिर इस एक पंक्ति को फिर से थोड़ा ले लें। बहुत सूक्ष्म बात (है)। अपूर्व है ! 'क्रमबद्ध' इसे कहा कि : प्रत्येक द्रव्य की पर्याय, जिस समय पर जब होनेवाली है, तब होगी। तथा बाद के समय में (जो) होनेवाली होगी, वह (बाद में) होगी। इसमें कोई द्रव्य अपनी पर्याय में भी फेरफार नहीं कर सकता। जब प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय में भी फेरफार - आगे-पीछे नहीं कर सकता तो (फिर) परद्रव्य से इसमें पर्याय हो, ऐसा तो है ही नहीं। यह अपने यहाँ कल चला था।

'**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया**' (यानी) प्रत्येक पदार्थ वर्तमान समय में स्वयं का कर्ता (है)। अर्थात् स्वतंत्र कर्ता होकर जो वर्तमान पर्याय है, वह उसका कर्म अर्थात् कार्य है। कर्ता-कर्म की यह प्रवृत्ति, अन्य द्रव्य से निरपेक्षरूप से है। परद्रव्य निमित्त है, तब वहाँ (उपादान में) वह (कार्य) होता है, ऐसा नहीं है। कथन (भले ही) आये।

दोपहर में कथन आया था न कि : 'कर्म के क्षय से क्षायिक हुआ'। वह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। बाकी क्षायिक - केवलज्ञान पर्याय जब होती है तो (उसे) पर-निमित्त की तो अपेक्षा नहीं है, किन्तु पूर्वपर्याय की (भी) अपेक्षा नहीं है। आहाहा ! ऐसी चीज़ है !! बहुत सूक्ष्म...बापू !

प्रत्येक पदार्थ में अपने स्वकाल में - जन्मक्षण में - उत्पत्ति समय में - अपने समय में पर्याय उत्पन्न होती है। वह आगे-पीछे भी नहीं होती। तथा पर से तो (वह) होती ही नहीं। पर की अपेक्षा ही नहीं। जो पर्याय अपने समय में होनेवाली है, वह 'सत्' है। भले वह (पर्याय) विकारी हो या अविकारी। यहाँ तो अविकारी की बात की है। कुछ समझ में आया ?

षट्कारक के परिणमन में (जो) विकृति है, उससे रहित होना, यह अपने स्वभाव का गुण है। (अर्थात्) षट्कारकरूप से जो विकृत अवस्था पर्याय में होती है, उससे रहित होना, ऐसा अपने में 'भाव' नामका गुण है। पर से रहित होना, यह अपना गुण है। रागरूप होना, यह अपनी गुणदशा नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं : '**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया**' (अर्थात :) जिस समय पर जिस द्रव्य की पर्याय होती है, उसमें अन्य द्रव्य की अपेक्षा ही नहीं है। केवलज्ञान होता है उसमें कर्म के क्षय की अपेक्षा नहीं है। क्षय हो...! क्षय की व्याख्या : जो कर्मरूप परिणमन है, वह दूसरे समय पर अकर्मरूप है वह क्षय। क्षय का अर्थ : कोई चीज़ नष्ट होती है - ऐसा नहीं है। कर्मरूप पर्याय थी, वह अकर्मरूप हुई, उसे 'कर्म का

क्षय' कहने में आया है। तो उस कर्म के क्षय की भी (अपेक्षा) अपने में केवलज्ञान के उत्पन्न होने में या सम्यग्दर्शन होने में (नहीं है)। सम्यग्दर्शन होने में दर्शनमोह के अभाव की अपेक्षा नहीं है। यह तो अपनी चीज़ में करने की योग्यता है। स्वयं की पर्याय अपने से है। उसमें पर की कुछ अपेक्षा (नहीं है)। अथवा यह निमित्त है तो (समकित) हुआ (ऐसा नहीं)। कथन आवें ! उचित निमित्त होता है। प्रत्येक अनादि-अनंत पर्याय में जिस-जिस समय पर, जो पर्याय होनेवाली है; उसमें सामने अनुकूल - उचित निमित्त होता है। किन्तु उचित निमित्त है तो पर्याय होती है, ऐसी अपेक्षा नहीं है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

अपूर्व बात है, प्रभु ! आत्मा का हित कोई अलौकिक है। वह कोई सामान्य तरीके से हो जाता है, (ऐसा नहीं)। आहाहा ! वैराग्य कहा न ? वैराग्य भी तभी होता है, कि जब अपनी पर्याय में, अपनी सम्यग्दर्शन की पर्याय, स्वयं के द्रव्य के अवलंबन से होवें तब। (सम्यग्दर्शन की) पर्याय के समय में शुभ-अशुभ भाव से विरक्त होना - यह वैराग्य है !

ज्ञान में त्रिकाली ज्ञायकभाव की प्रतीति होकर अनुभव होना, अनुभव होकर प्रतीति होना - उसमें परद्रव्य की कोई अपेक्षा या कर्म न रहे तो ऐसा (प्रतीति - अनुभव) हो, (ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है)। कर्म का उदय आये तो विकार होवे, ऐसी सब बातें झूठी हैं। शास्त्र में (ऐसे) कथन आवें... तो वह भी झूठ - व्यवहार है। आहाहा ! श्री राजमलजी ने 'कलश टीका' में कईबार लिखा है : झूठा व्यवहार से कथन है; सत्य नहीं है। सत्य व्यवहार तो अपनी पर्याय अपने से हुई (यह है)। वह भी सद्भूत व्यवहारनय है। अपने द्रव्य से धर्म की पर्याय (जो कि) स्वयं के द्रव्य के आश्रय से हुई, वह भी सद्भूत व्यवहार है। निश्चय से तो उस समय की उस पर्याय को द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं है। निमित्त की अपेक्षा नहीं है। - ऐसी पर्याय 'सत्' है; उसे किसी 'हेतु' की ज़रूरत नहीं है - 'अहेतुक है'।

किसी भी द्रव्य की पर्याय के कर्ता-कर्म भिन्न होवे, ऐसा नहीं है ! वह-वह द्रव्य 'कर्ता' तथा उस-उस द्रव्य की अपनी पर्याय वह 'कर्म' अर्थात् 'कार्य'। (- ये कर्ता-कर्म)। यह कथन भी उपचार से है। दो भाग (-भेद) पड़ गये न...? असल में तो 'कर्म' यानी धर्म की जो निर्विकारी पर्याय होती है, वह स्वयं से होती है; उसे किसीकी अपेक्षा ही नहीं है। पर की अपेक्षा तो नहीं है किन्तु वास्तव में - निश्चय से तो वह 'सत्' है। 'सम्यग्दर्शन' सत् है। (यद्यपि) यह 'सम्यग्दर्शन' द्रव्य के लक्ष से होता है फिर भी, उसे द्रव्य और गुण की (भी) अपेक्षा नहीं है। आहाहा !

ऐसी बात (लोगों को माननी) मुश्किल पड़े ! अरे...रे ! कब समझे ? बापू ! (यह) मनुष्यभव अनंतकाल में मिला है, इसमें अगर 'यह' नहीं समझा तो पूरा मनुष्यपना व्यर्थ हो जायेगा ! और फिर कहाँ जन्म लेगा ? चौरासी लाख योनि में कहीं भी ठिकाना नहीं !

यहाँ कहते हैं : '**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया**' अन्यनिरपेक्ष (अर्थात्) कोई अपेक्षा ही नहीं। आहाहा ! शास्त्र में अपेक्षा का ज्ञान तो बहुत आता है न ? तो कहा (कि) 'निमित्त है' उसका ज्ञान कराने हेतु वह (कथन) है। 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के सातवें अध्याय में है कि : व्यवहार कहा है, वह निमित्त का ज्ञान कराने (हेतु है)। व्यवहार जैसा कहता है ऐसा नहीं है। निमित्त कहता है - व्यवहार कहता है ऐसा नहीं है। किन्तु व्यवहार निमित्त का ज्ञान कराने हेतु कहा है। (साथ में) अन्य चीज़ है उसका ज्ञान (होवे)। लेकिन अन्य चीज़ से दूसरी चीज़ में कुछ (कार्य) हुआ - ऐसी कोई अपेक्षा, वस्तु के स्वरूप में नहीं है।

परमात्मा निज का स्वरूप... अहो..हो ! पूर्णानंद का नाथ, पूर्णस्वरूप है ! इस में एक-एक गुण में प्रभुता की शक्ति प्रभुता से भरी पड़ी है ! ऐसे अनंत गुण, ईश्वरशक्ति से - प्रभुत्वशक्ति से - निज प्रताप से स्वतंत्ररूप से परिणमन करे, ऐसी प्रभुत्व नाम की शक्ति (द्वारा परिणमन करते हैं)। अनंतगुण में प्रभुत्व नाम की शक्ति का रूप है।

आहाहा ! अनंत गुण जितने हैं, उनकी जो पर्यायें (उत्पन्न होती हैं) उसमें (अन्य) गुण की अपेक्षा नहीं है। यह सम्यक्त्व की पर्याय हुई, तो सम्यक्ज्ञान की पर्याय (हो) ऐसी भी अपेक्षा नहीं है। (एक) पर्याय को दूसरी पर्याय की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि (प्रत्येक पर्याय) 'सत्' है। 'सत्' है उसका 'हेतु' नहीं होता। 'समयसार' बंध अधिकार में लिया है : 'द्रव्य' अहेतुक, 'गुण' अहेतुक, 'पर्याय' अहेतुक। ऐसा यहाँ कहते हैं।

आहाहा ! यह समझना... प्रभु ! यह कोई (सामान्य) बात नहीं है कि यह कुछ पढ़ लिया और... ऐसा कहते हैं और वैसा कहते हैं, ऐसे ज्ञान कर लिया, इसलिये वह समझ गया - ऐसी चीज़ नहीं है प्रभु !

'**कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया**' (तो कहते हैं कि:) अपनी पर्याय में, तीन लोक के नाथ की भी बिलकुल अपेक्षा नहीं है। अपने सम्यग्दर्शन में, भगवान तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ प्रभु की अपेक्षा तो नहीं है, लेकिन उनकी वाणी की (-देशना की भी) अपेक्षा नहीं है। और जो शास्त्र बना है, उसकी भी सम्यग्दर्शन की पर्याय में अपेक्षा नहीं है।

वह (सम्यग्दर्शन) पुण्य से भी नहीं होता। पुण्य से अनुकूल निमित्त मिलता है, वह पुण्य से भी नहीं; क्योंकि पुण्य के परमाणु जड़ भिन्न हैं और आनेवाली चीज़ भिन्न है।

आनेवाली चीज़ को शाता का निमित्त है, इसलिये (वह) आई; ऐसी अपेक्षा नहीं है। शरीर में नीरोगता हुई और सरोगता का व्यय हुआ, तो उसमें शातावेदनीय के निमित्त की - निमित्त हो पर उसकी अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार भगवान त्रिलोकीनाथ के दर्शन करने से शुभभाव होता है, ऐसी कोई अपेक्षा नहीं है। आहाहा ! यहाँ तो शुभभाव की बात नहीं है। लेकिन शुभभाव के काल में जानने की पर्याय जो कि अपनी है - ज्ञाता-दृष्टा की पर्याय है - उसमें शुभभाव की अपेक्षा नहीं है और शुभभाव में (भी) भगवान की वाणी और भगवान की अपेक्षा नहीं है ! आहाहा ! ऐसी बात !!

यह तो निवृत्त तत्त्व है ! प्रभु अंदर तो निवृत्त तत्त्व है ! उसमें कोई राग की प्रवृत्ति इत्यादि स्वभाव है ही नहीं। आहाहा ! परद्रव्य से तो निवृत्त है ही, किन्तु राग-दया-दान, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के राग-से भी (यह) तत्त्व निवृत्त है। फिर भी, व्यवहार आता है, तो (भी) व्यवहार की अपेक्षा निश्चय में नहीं है। (शास्त्र में) - भाषा में ऐसा आये कि : जब तक कर्म का ज़ोर है तब तक ज्ञानी को रागादि आ जाते हैं।

दो ज़गह पर भावार्थ में पंडित जयचंद्रजी ने लिखा है न...! धर्मी को स्वद्रव्य के अवलंबन से अपने स्वरूप की प्रतीति-अनुभव-सम्यगदर्शन हुआ - ऐसा कहने में आता है; उसमें भी जो पर्याय सम्यक् हुई, वह षट्कारक से परिणमित होकर, वह (पर्याय) स्वयं कर्ता (होकर) स्वतंत्ररूप से द्रव्य का लक्ष करती है। - ऐसी कर्ता-कर्म की षट्कारक की परिणति, जिस पर्याय में होती है, उसमें पर की अपेक्षा तो नहीं है किन्तु (स्वयं के) द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं है !

(यहाँ कहते हैं कि:) '**(अन्यद्रव्य से निरपेक्षतया, स्वद्रव्यमें ही) सिद्धि होनेसे**' - अपनी पर्याय में स्वद्रव्य से सिद्धि होने से, वह स्वद्रव्य की पर्याय का काल है - जन्मक्षण है। 'प्रवचनसार' गाथा-९९ में (मोती के) हार का दृष्टांत दिया है : १०८ मोती, जिस क्षेत्र में जो है वह वहाँ पर ही है। जिस स्थान में (जो) मोती (है वह) वहाँ ही है; इधर-उधर (- आगे-पीछे) नहीं है। इधर-उधर करेंगे, तो हार टूट जायेगा। इस प्रकार भगवान आत्मा में जिस समय पर जो पर्याय होनेवाली है वह होगी; आगे-पीछे नहीं। आगे-पीछे करने जायेगा, तो द्रव्य की दृष्टि टूट जायेगी। द्रव्य तो कहाँ टूटता है ? द्रव्य की दृष्टि टूट जायेगी। कुछ समझ में आता है ?

ऐसी बात है...बापू ! यह गज़ब बात है। बापू ! यह तो अपूर्व बात है ! यह किसी पक्ष की बात या संप्रदाय की बात नहीं है।

त्रिलोकीनाथ की असंख्य (अकृत्रिम शाश्वत) जिनप्रतिमायें हैं, जिनमंदिर हैं। (वहाँ) समकिती - क्षायिक समकिती इन्द्र भी दर्शन करते हैं। ऐसा विकल्प आता है, तो वहाँ

लक्ष जाता है। ऐसी वस्तु की स्थिति है ! आहाहा ! एक ओर कहना कि : भगवान की प्रतिमा आदि की भी, अरे ! देव-गुरु की वाणी, जो सच्ची है उसकी भी अपेक्षा (सम्यग्दर्शन की) पर्याय में नहीं है, अपना सम्यग्दर्शन अपने से हुआ। और दूसरी ओर ऐसा कहना कि : शाश्वत जिनप्रतिमा के दर्शन क्षायिक समकिती करते हैं। (भाई !) वह विकल्प के समय में विकल्प आता है। (परंतु) यह विकल्प उसके द्वारा (-सम्यग्दर्शन से) हुआ, ऐसा नहीं है।

ऐसा सिद्धांत में है कि : शास्त्र के एक अक्षर में भी फर्क पड़ जाये, तो दृष्टि विपरीत हो जाती है। शास्त्र में एक भी अक्षर से न्याय में फर्क करना, (वह) विपरीत दृष्टि है।

एकावतारी सम्यग्दृष्टि इन्द्र, जब जन्म लेते हैं तो प्रथम भगवान की प्रतिमा के पास दर्शन करने जाते हैं। ऐसा पाठ सिद्धांत में है। जन्म लेते हैं अर्थात् उनकी कोई माता है, (ऐसा) नहीं है। (स्वर्ग) में फूलों की एक शय्या है, उसमें एकदम उत्पन्न हो जाते हैं। अंतर्मुहूर्त में युवान जैसा शरीर उत्पन्न हो जाता है। ऐसा जीव क्षायिक समकिती (इन्द्र) हो तो भी तुरंत कहते हैं : 'तैयारी करो...भगवान के मंदिर में दर्शन करने चलना है!' देव ऐरावत हाथी का रूप धारण करते हैं। इन्द्र ऊपर बैठते हैं। भगवान के दर्शन करने करोड़ों देवों को साथ में ले जाते हैं। अब ये सब ऐसा है तो भी, वह भाव आया... वह पुण्य बंध का कारण है। (यद्यपि) वह भाव आये बिना नहीं रहता, (फिर भी) वह धर्मस्वरूप नहीं है !

(चक्रवर्तीपना और) क्षायिक समकित और तीन ज्ञान लेकर कुछ तीर्थंकर (श्री शांतिनाथ आदि) आते हैं। ९६ हज़ार (स्त्रियों के) साथ शादी करते हैं। हररोज़ - एक-एक दिन में सेंकड़ों रानियों के साथ शादी करते हैं। - वह चारित्र का दोष है। जब तक (पूर्ण) वीतराग न हो, तब तक ऐसा राग आता है। परंतु आता है... वह धर्म है, ऐसा नहीं।

यहाँ तो जहाँ भगवान की भक्ति करके स्तुति की, (वहाँ) धर्म हो गया...! किन्तु उसमें लेशमात्र भी धर्म नहीं है। (धैर्य से) सुन तो सही...! लेशमात्र नहीं माने वह पुण्यानुबंधी पुण्य भी नहीं है। वह तो पापानुबंधी पुण्य है। तथा समकिती के पूजा-भक्ति के राग, वे पुण्यानुबंधी पुण्य हैं। इतना ज्यादा फर्क है ! कुछ समझ में आता है ?

यह यहाँ कहने में आया है। '**(स्वद्रव्य में ही) सिद्धि होनेसे, जीव के अजीव का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है।**' जीव को अपने सिवा पर का कर्तृत्व - करना, पर को रखना - ऐसा सिद्ध नहीं होता। इसलिये जीव 'अकर्ता' सिद्ध होता है - यह निष्कर्षः इस कारण से 'क्रमबद्ध' में अकर्ता सिद्ध होता है। (पर्याय)

क्रमसर होती है, उसमें पर की (कोई) अपेक्षा नहीं है; इस कारण से क्रमबद्ध में 'अकर्ता' सिद्ध होता है। गाथा का शीर्षक ऐसा लिया कि : '**अब आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टांतपूर्वक कहते हैं।**' यह 'अकर्तृत्व' को सिद्ध किया। यह तो आज आठवाँ दिन है। आहाहा ! पार नहीं...प्रभु ! उस गंभीरता का पार नहीं। वीतराग की वाणी और उसके भाव !! सामान्य प्राणी समझ नहीं सकते।

(स्थानकवाली संप्रदाय में) मूर्ति को माने नहीं। मूर्ति के समक्ष जाते नहीं। प्रचार ही ऐसा है - वहाँ (स्थानकवासी में) मूर्ति नहीं है...प्रतिमा है ही नहीं। इसलिये मलाड (मुंबई) में उन लोगों ने विरोध किया। (परंतु) कहाँ एकांत हो जाता है, उसकी लोगों को खबर नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि : शाश्वत असंख्य प्रतिमाएँ हैं... असंख्य मंदिर हैं !

ये मंदिर हैं... तो उसके कारण शुभभाव होता है, ऐसा नहीं है। और वह शुभभाव अपनी कमज़ोरी से, (जब तक पूर्ण) वीतराग न हो तब तक, आये बिना रहता नहीं। फिर भी, वह शुभभाव धर्म नहीं है और धर्म का कारण (भी) नहीं है।

'**अन्य निरपेक्ष**' - उस राग की अपेक्षा के बिना, सम्यग्दर्शन की पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा ! सूक्ष्म बात, भाई ! यहाँ कोई पक्ष नहीं है, संप्रदाय नहीं हैं। यहाँ तो तीन लोक के नाथ भगवान सीमंधरस्वामी फरमाते हैं, वह बात है ! आहाहा ! (विशेष) क्या कहें ? क्या करें ? (गाथा का जो शीर्षक लिया था कि :) '**अब आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टांतपूर्वक कहते हैं**' - (उसे यहाँ पर सिद्ध किया।) 'क्रमबद्ध' में (आत्मा का) 'अकर्तृत्व' सिद्ध किया।

❋ ❋ ❋

भावार्थ : सर्व द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं; वे उन परिणामों के कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसीका किसी के साथ कर्ताकर्मसंबंध नहीं है। इसलिये जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार अजीव अपने परिणामों का ही कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार जीव दूसरे के परिणामों का अकर्ता है।

(भावार्थ पर प्रवचन)

अपनी सादी भाषा में भावार्थकर्ता श्री जयचंद्रजी कहते हैं : '**सर्व द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं।**' तो वाणी का कर्ता भी आत्मा नहीं, प्रभु ! वाणी जब होती है, तब स्वकाल में वचनवर्गणा में भाषारूप परिणमन करना, उस काल में होती है; आत्मा द्वारा नहीं (होती)।

यह तो (अज्ञानी जीवों को) बोलते-बोलते अहंकार आ जाये कि : 'मैं कितना (अच्छा) बोलता हूँ...' 'मैं लोगों को कैसा सुनाता हूँ...।' अरे प्रभु ! सर्व द्रव्यों के परिणाम (सभी के) स्वतंत्र हैं। (तो क्या) तेरी भाषा के कारण उनके परिणाम आते हैं; तथा भाषा की पर्याय तेरे से होती है ? (-ऐसी वस्तुस्थिति ही नहीं है)। आहाहा ! बहुत कठिन काम बापू !

यह तो तीन लोक के नाथ सीमंधर परमात्मा की वाणी है ! संतगण आढ़तिया होकर यह बात करते हैं। वहाँ (सीमंधरस्वामी के पास) भगवान कुंदकुंदाचार्य गये थे। वे कहते हैं कि : '**सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं; वे उन परिणामों के कर्ता हैं वे परिणाम उनके कर्म** (-कार्य) **हैं।**' देखो : द्रव्य का जो परिणाम उस समय में, उस समय होनेवाला हुआ, उसका 'कर्ता' उस द्रव्य को कहा। यहाँ अभी इतना भी भेद है। वरना तो 'परिणाम का 'कर्ता' परिणाम ही है।' आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

'पंचास्तिकाय' ६२वीं गाथा में (ऐसा कहा कि :) विकार के परिणाम षट्कारक द्वारा अपने से होते हैं। (उसमें) अपने कर्म के (उदय की भी) अपेक्षा नहीं है। पर्याय में विकार स्वयं के द्वारा स्वतंत्ररूप से होता है; ऐसा पर्याय का स्वभाव है; उसे पर की अपेक्षा नहीं है। (जब) विकार के षट्कारक के परिणाम में पर की अपेक्षा नहीं है तो निर्विकारी सम्यग्दर्शन - ज्ञान आदि परिणाम (हों, उन्हें पर की अपेक्षा कैसे संभव है ?)

आहाहा ! यह तो धर्म की पहली सीढ़ी...बापू ! यह कठिन बात है। यह सम्यग्दर्शन (क्या) ? और सम्यग्दर्शन का कर्ता कौन ? तथा उसका कार्य क्या ? तथा (वह) किस प्रकार होता है ? और वह दशा कैसी है ? - उस (सम्यग्दर्शन) के बिना, सब शून्य समान है। सम्यग्दर्शन के बिना, प्रतिमा (धारण करना) और साधुपना और २८ मूल गुण और पंचमहाव्रत - सब संसार है ! (भगवान ने) शुभभाव को संसार कहा है।

यहाँ कहते हैं : परिणामों के कर्ता वे-वे द्रव्य हैं तथा वे परिणाम उनके कर्म-कार्य हैं। आहाहा ! 'कर्ता' राग, और 'कर्म' निर्मल पर्याय-समकित - ऐसा नहीं है। निश्चय

से अर्थात् यथार्थरूप से - वास्तव में किसी का किसी के साथ `कर्ताकर्म' संबंध नहीं है। भगवान की वाणी `कर्ता' और सामने (बैठे) श्रोता को ज्ञान हो (वह `कर्म') - ऐसा कुछ नहीं है। ऐसा कहते हैं। अरे...रे ! `इस बात को' कबूल करना (उसमें बहुत पुरुषार्थ चाहिए)।

आहाहा ! यह तो शांतमार्ग वीतराग का है ! श्रीमद्जी (१७ वें वर्ष पूर्व, आंक-१५ में) कहते हैं : `वचनामृत वीतराग के, परम शांतरस मूल, औषध जो भवरोग के, कायर को प्रतिकूल।' गुणवंत ज्ञानी ! अमृत बरसे हैं पंचम काल में... आहाहा ! वचनामृत वीतराग के और परम शांतरस मूल...! परम शांति - रागरहित शांति - यह वीतराग के वचनों का सार है। `औषध जो भवरोग के' वीतराग की इस वाणी में जो भाव कहें, यह भव के रोग का नाश करने की बात है। औषध जो भवरोग के... किन्तु कायर के लिये प्रतिकूल है।

`समयसार' में दो-तीन ज़गह आया है कि : (जो) `शुभभाव' के रुचिवंत हैं, वे नपुंसक - नामर्द - हिजड़े हैं। उन्हें अपने पुरुषार्थ की खबर नहीं है। संस्कृत में `क्लीब' (शब्द) है। शुभभाव की रचना करनेवाला तथा शुभभाव से धर्म होता है - ऐसी मान्यतावाला नपुंसक - हिजड़ा - नामर्द है।

जिज्ञासा : ऐसा कहाँ लिखा है ?

समाधान : (`समयसार') गाथा : ४१-४२-४३ की टीका में है। `**इस जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण न जानने के कारण नपुंसकता से अत्यंत विमूढ़ होते हुये...**' क्या अर्थ किया है कि - इस जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण तो जानना - देखना (है)। भगवान आत्मा का लक्षण कोई राग करना या पर का (कुछ करना) ऐसा है नहीं। तथा शुभभाव से धर्म हो, ऐसा भी उसका लक्षण नहीं है। (परंतु आत्मा का ऐसा लक्षण नहीं जाननेवाले - अज्ञानी लोग नपुंसकरूप से अत्यंत विमूढ़ हैं)। दूसरी ज़गह गाथा-१५४ की टीका में है। `**समस्त कर्मों के पक्ष का नाश करने से उत्पन्न होनेवाले (निजस्वरूप की प्राप्ति) आत्मलाभस्वरूप मोक्ष को इस जगत में कितने ही जीव चाहते हुए भी, मोक्ष की कारणभूत सामायिक की - जो (सामायिक) सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञान की भवनमात्र है,...**' सामायिक और सम्यग्दर्शन तो आत्मा का भवन अर्थात् आत्मा के स्वरूप का परिणमन है, `**एकाग्रतालक्षणयुक्त है, और समयसारस्वरूप है - उसकी प्रतिज्ञा लेकर भी, दुरंत कर्मचक्र को पार करने की नपुंसकता के कारण...**' उस शुभ भाव से पार उतरने का (पुरुषार्थ) नहीं करते और शुभ में रहते हैं, वे नपुंसक हैं।

आत्मा की ४७ शक्तियों में एक वीर्य नाम की (शक्ति) - गुण है। तो वीर्यगुण

का कार्य क्या ? भगवान वहाँ कहते हैं कि : अपने स्वरूप की रचना करे, वह वीर्य। राग की रचना करे वह नपुंसक।

सामायिक की प्रतिज्ञा करे कि - 'हमें (अब) नव कोटिपूर्वक राग का त्याग है।' किन्तु शुभभाव से खिसकते - हटते नहीं, (तो) वे नपुंसक हैं। नपुंसक वहाँ - शुभभाव में रुक जाते हैं।

आत्मा में वीर्य नामका एक गुण है। (उसका) कार्य क्या ? कि : अपनी शुद्ध - पवित्र शक्तियाँ अनंत हैं, उनकी पर्याय में रचना करना। वीर्य के द्वारा शुद्धता की रचना करना - यह वीर्यगुण का कार्य है। 'शुद्ध स्वरूप की रचना करना' वह वीर्य अर्थात् आत्मा का पुरुषार्थ (है)। (जिस) वीर्य से पुत्र-पुत्री उत्पन्न होते हैं, वह तो जड़-मिट्टी-धूल है। यहाँ इस आत्मा (में) पुरुषार्थ नामका एक ऐसा वीर्य है, एक गुण है, जो अपनी अनंती शक्ति - गुण निर्मल हैं, पवित्र हैं उसकी पर्याय में रचना करें; राग की रचना नहीं।

फिर भी, ज्ञानी को राग आता है; किन्तु 'राग का कर्तृत्व मेरा है, और राग मेरे करने लायक है', ऐसा (जानते-मानते) नहीं हैं; एक बात। फिर भी दूसरी बात यह भी है कि, ज्ञानी को भक्ति आदि का राग आता है तो वह परिणमन (खुद का) है, अतः 'इस राग का कर्ता मैं हूँ' ऐसा भी मानता है। (यह बात) ४७ नय के अधिकार में आती है। 'राग करने लायक है' ऐसा नहीं; किन्तु परिणमन होता है, इस कारण से 'कर्ता' कहने में आता है।

आहाहा ! इतनी अपेक्षाएँ...! प्रभु ! प्रभु का पार न मिले। वीतराग मार्ग गंभीर...गंभीर...गंभीर !! आहाहा ! उसके एक-एक पद और एक-एक श्लोक को समझना... बहुत अलौकिक बात है ! बापू ! यों का यों 'समयसार' बांच ले और पढ़ जाये (उससे कोई सिद्धि नहीं होती)। एक व्यक्ति (ऐसा) कहता था कि : स्वामीजी ! आप तो 'समयसार' की बहुत प्रसिद्धि - प्रशंसा करते हों; पर मैं ने तो पंद्रह दिन में 'समयसार' पढ़ लिया। अरे भाई ! एक पंक्ति समझना, एक गाथा और एक पंक्ति समझना... अलौकिक है !

कहते हैं कि : जो कोई प्रतिज्ञा करके कहे कि, हमें अपने स्वरूप में सामायिक करनी है; और सामायिक मुझे मोक्ष का कारण है; ऐसी प्रतिज्ञा लेकर भी शुभभाव से हटता नहीं है; तथा अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति नहीं करता तथा राग की परिणति में पड़ा है (तो वह) नपुंसक है, नामर्द है, हिजड़ा है। जिस प्रकार नपुंसक को वीर्य नहीं होता, तो पुत्र-पुत्री पैदा नहीं होते; उस प्रकार शुभभाव भी नपुंसक है; शुभभावमें से धर्म की प्रजा उत्पन्न नहीं होती। बात बहुत कड़क !

फिर भी, शुभभाव ज्ञानी को भी आता है। (तो भी वह) जानता है कि (यह) मेरी कमज़ोरी है। मेरा (जो) मूलभूत वीर्य है, उसका यह कार्य नहीं है ! अंदर मेरा जो पुरुषार्थ है, उसका यह कार्य नहीं है। क्योंकि, 'वीर्य' तो अंदर त्रिकाल पवित्र है। सारे-अनंत पवित्र गुण के साथ वीर्यगुण पवित्र है। पवित्रता का कार्य तो पवित्रता की रचना करे वह है। और राग की पर्याय में (तो) दुःख उत्पन्न होता है। (अतः) वह कार्य, मेरा - पवित्र-गुण का-पुरुषार्थ का-वीर्य का - नहीं है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई ! थोड़ी बात आ गई 'यह'। 'यही का यही' फिर से आये, ऐसा कोई थोड़ी है ? वह तो आनेवाला हो सो आये।

यहाँ (कहते हैं :) '(**निश्चय से) किसीका किसी के साथ कर्ताकर्मसंबंध नहीं है। इसलिये जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार अजीव अपने परिणामों का ही कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं।**' (अर्थात् कार्य है) '**इसी प्रकार जीव दूसरे के परिणामों का अकर्ता है।**' - ऐसा सिद्ध किया।

❁ ❁ ❁

`इसप्रकार जीव अकर्ता है तथापि उसे बंध होता है; यह अज्ञान की कोई महिमा है' - इस अर्थ का कलशरूप काव्य अब कहते हैं :-

(शिखरिणी)

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः।
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः।।१९५।।

श्लोकार्थ : (स्वरसतः विशुद्धः) जो निजरस से विशुद्ध है, और जिसकी (स्फुरत-चित्-ज्योतिर्भिः छुरित-भुवन-आभोग-भवनः) स्फुरायमान होती हुई चैतन्यज्योतियों के द्वारा लोक का समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है ऐसा जिसका स्वभाव है, (अयं जीवः) ऐसा यह जीव (इति) पूर्वोक्त प्रकार से (परद्रव्य का तथा परभावों का) (अकर्ता स्थितः) अकर्ता सिद्ध हुआ, (तथापि) तथापि (अस्य) उसे (इह) इस जगत में (प्रकृतिभिः) कर्मप्रकृतियों के साथ (यद् असौ बन्धः किल स्यात्) जो यह (प्रगट) बंध होता है (सः खलु अज्ञानस्य कः अपि गहनः महिमा स्फुरित) वह वास्तव में अज्ञान की कोई गहन महिमा स्फुरायमान है।

भावार्थ :- जिसका ज्ञान सर्व ज्ञेयों में व्याप्त होनेवाला है, ऐसा यह जीव शुद्धनय से परद्रव्य का कर्ता नहीं है, तथापि उसे कर्म का बन्ध होता है, यह अज्ञान की कोई गहन महिमा है - जिसका पार नहीं पाया जाता। ।।१९५।।

(कलश पर प्रवचन)

`(**स्वरसतः विशुद्धः**)' भगवान (आत्मा) तो निजरस से विशुद्ध है। आहाहा ! अपनी शक्ति, अपना रस, अपने स्वभाव से तो पवित्र प्रभु आत्मा है। निजरस से विशुद्ध है। तथा `(**स्फुरत-चित्-ज्योतिर्भिः छुरित-भुवन-आभोग-भवनः**)' `- **जिसकी स्फुरायमान होती हुई**' - क्या कहते हैं कि :- भगवान तो शुद्ध चैतन्यघन विशुद्ध है, तथा इसमें जो पर्यायें प्रगट होती हैं (अर्थात्) स्फुरायमान होती हैं, वे पवित्र होती हैं। आहाहा !

ज़रा सूक्ष्म बात ! स्वभाव सर्वज्ञस्वरूपी है। सर्वज्ञस्वभाव का रूप प्रत्येक (गुण) में है। पाठ तो ऐसा है कि : `सर्वज्ञ' नाम का स्वभाव है, अतः उसका रूप प्रत्येक गुण में है। (इस बारे में) बहुत विचार किया था, पर हमें (यह) ठीक से पकड़ में नहीं आ रहा। भगवान की वाणी है इतनी बात...! प्रत्येक के बारे में विचार बहुत किया है, किन्तु (यह) अंदर पकड़ में नहीं आता। (श्रोता :) आपको पकड़ में नहीं आया ? (उत्तर :) नहीं पकड़ में आता बापू ! है ऐसा कहते हैं यहाँ तो... बापू ! बहुत सूक्ष्म विचार करते हैं कि सर्वज्ञ है... उसमें प्रत्येक गुण का रूप क्या ? `चिद्‌विलास' में `रूप' कहा है। अस्तित्वगुण का रूप, प्रमेयत्वगुण का रूप, - वह तो खयाल में आ जाता है। जैसे ज्ञान है तो अस्तित्वगुण भिन्न है। ज्ञानगुण `है', वह अस्तित्वगुण के कारण है, ऐसा नहीं। अस्तित्वगुण भिन्न है। क्योंकि `द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' - `तत्त्वार्थसूत्र' में उमास्वामी का सूत्र है : गुण के आश्रय से गुण नहीं है। गुण का आश्रय द्रव्य है।

आहाहा ! यहाँ तो कहते हैं : चैतन्यज्योति प्रगट होती है, स्फुरायमान होती है। ये जो गुण सर्वज्ञ आदि स्वभाव हैं, वे पर्याय में प्रगट होते हैं। (उसमें) किसी की अपेक्षा नहीं है। (और वे) किसी के कारण से नहीं है। `**स्फुरायमान होती हुई जिसकी चैतन्यज्योतियों के द्वारा लोक का समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है।**' - अपने स्वभाव की पर्याय प्रगट होनेपर (वह) पूरे लोकालोक को जान लेती है। `**व्याप्त हो जाता है**' उसका अर्थ : वह समस्त लोकालोक को जान लेती है। (सर्वज्ञ) किसी चीज़ के कर्ता नहीं, किन्तु कोई चीज़ जाने बिना रह जाये, ऐसा नहीं है। अपने अलावा अन्य चीज़ के (वे) कर्ता नहीं हैं; और (समस्त लोकालोक की) अनंत चीज़ों को (- सर्वद्रव्य-गुण-पर्याय को) जाने बिना रहते नहीं। आहाहा ! ऐसा स्वभाव है, प्रभु !

बहुत कठिन काम है, भाई ! यहाँ तो पूरे दिन निवृत्ति है। वही (तत्त्व-) विचार और रट चलते रहते हैं। कई बार तो सूक्ष्म बात (अंदर में) हो तो भी हमें (स्पष्ट) मालूम नहीं पड़ता। समझ में आया ?

सर्वज्ञत्व - सर्वदर्शित्व, ये अपने गुण हैं। ज्ञानगुण (और) अस्तित्वगुण भिन्न हैं। (फिर भी) अस्तित्वगुण का `रूप' ज्ञानगुण में है। इसका अर्थ क्या ? कि : ज्ञान `है' वह अपने से `है' - ऐसा उसमें अस्तित्व(गुण) का रूप है; (किन्तु) अस्तित्वगुण नहीं। कुछ समझ में आता है ? भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी है तथा अस्तित्वस्वरूपी है; लेकिन अस्तित्वगुण के कारण ज्ञानगुण है - ऐसा नहीं। (किन्तु) अस्तित्वगुण का `रूप' ज्ञानगुण में है। `रूप' का अर्थ : `ज्ञानगुण है' वह अपने अस्तित्व से है। वह अस्तित्वगुण के कारण से है - ऐसा नहीं। यह (सर्वज्ञत्व गुण के रूप की) बात तो उससे भी अधिक सूक्ष्म है, बापू ! वह ज्ञान `सर्व-ज्ञ' है, उसमें सर्व गुण का रूप है। - यह क्या ? इसका पता नहीं लग रहा। यहाँ तो जैसा होता है वैसा कहते हैं। बात तो बहुत सूक्ष्म ! विचारों को बहुत लंबे तक ले गये हैं - आगम में - एक-एक बात में। शास्त्र की एक-एक गाथा, बहुत स्पष्टीकरण करके, हम अंदर में समझते हैं, वैसे ही मान लें, ऐसा नहीं। भाव में भासन होना चाहिये। `ज्ञान है' उसमें अस्तित्वगुण नहीं है, किन्तु अस्तित्वगुण का `रूप' है; यह ठीक है। क्योंकि `ज्ञान...है'। ज्ञान है न...! तो `है' पना अपने से आया। इस प्रकार एक गुण का `रूप' दूसरे गुण में भले हो ! लेकिन `सर्वज्ञ का रूप' क्या है ? - सूक्ष्म पड़ता है, भाई ! भगवान कहते हैं, वह तो यथार्थ (ही) है। उसका पार पाया नहीं जा सकता !!

यहाँ कहते हैं : स्फुरायमान ज्योति जब प्रगट होती है, तो लोकालोक को जानती है। ऐसा कहते हैं : समस्त विस्तार (में) व्याप्त हो जाता है ऐसा जिसका स्वभाव है। जीव का तो ऐसा स्वभाव है ! आहाहा ! अंदर सर्वज्ञस्वभाव है। और पर्याय में सर्वज्ञपना प्रगट हो, यह तो इसका स्वभाव है। प्राप्त की प्राप्ति है ! भगवान पूर्णानंद सर्वज्ञ (स्वभाव) अंदर विद्यमान है। पर्याय में (जो) सर्वज्ञपना आता है, वह वहाँ से आता है। तो उस सर्वज्ञपने में समस्त लोकालोक जानने में आता है। भले ही क्षेत्र शरीर के प्रमाण में इतने में है !

आकाश का अंत नहीं है। आकाश पूरा कहाँ हुआ ? कहाँ पूरा हुआ...! इसके बाद क्या ? (पर उसका अंत ही नहीं है न)। वह भी ज्ञान में आ जाता है। (ज्ञान में) आ जाता है, इसलिये (क्या) आकाश का अंत आ गया ? - ऐसा नहीं है। अनंत को अनंतरूप में जानने में आया। (तो) उस अनंत को जाने वहाँ अंत हो गया ? (-ऐसा नहीं है।) कुछ समझ में आता है ?

आहाहा ! `**ऐसा यह जीव पूर्वोक्त प्रकार से (परद्रव्य का तथा परभावों का) अकर्ता सिद्ध हुआ।**' - अकर्ता सिद्ध हुआ।

अमृतचंद्राचार्य ने `क्रमबद्ध' की टीका भी की और फिर उन्होंने उसके कलश की

भी रचना की। यह `क्रमबद्ध' का कलश है। जिस प्रकार मंदिर बनाकर फिर कलश चढ़ायें; उस प्रकार यह टीका है यह `मंदिर। और यह `कलश' सिर पर (शिखर पर) चढ़ाया !

अलौकिक बात है, बापू ! दुनिया से (निराली)। यह वस्तु ऐसी है कि ऐसी बात करनवाले को (दुनिया) पागल कहे। `परमात्मप्रकाश' में है कि: पागल लोग ज्ञानी को पागल माने; ऐसी यह चीज़ है ! अरे...रे ! वस्तु ऐसी है।

यहाँ पर यह कहा कि `अकर्तापना' कैसे है ? (कि:) अंदर जो शुद्धस्वरूप ज्ञान ज्योति भगवान पूर्ण स्वरूप (है); उसकी शक्तिमें से व्यक्तता - पूर्ण जानने की - आती है। किन्तु वह किसी चीज़ का कर्ता है, और किसी चीज़ से वह केवलज्ञान स्फुरायमान हुआ, ऐसा नहीं है। कर्म के क्षय से केवलज्ञान हुआ, ऐसा नहीं ! (क्योंकि) यह तो (पर की) अपेक्षा हो गई। पहले कहा न... `निरपेक्ष(तत्त्व) है।'

कहते हैं कि - प्रभु ! क्रमबद्ध में `अकर्ता' क्यों कहा ? कि : प्रभु का स्वरूप तो सर्वज्ञस्वभाव है न...! पहले यह कहा न : `निजरस से विशुद्ध है।' अपनी शक्ति से, अपने गुण से पवित्र है। पर के कारण (पवित्र) है, ऐसा नहीं है। अपने रस से विशुद्ध है। और `**स्फुरायमान होती हुई जिसकी चैतन्यज्योतियों के द्वारा**' - चैतन्य की प्रकाशपर्याय हुई, उसके द्वारा - `**लोक का समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है...**' यह व्यवहार से बात करते हैं कि : सर्वज्ञशक्ति है, वह ज्ञान की पर्याय में आई, वह सर्व लोक को जानती है। लोकालोक को जानती है, यह भी व्यवहार है। वास्तव में तो अपनी पर्याय को ही जानती है। कोई (ज्ञान-) पर्याय तो लोकालोक को स्पर्शती ही नहीं है। मगर दुनिया के खयाल में आये कि : स्फुरायमान शक्ति की कितनी शक्ति है ! उसका नाप दिखाने के लिये, `लोकालोक को जानती है' ऐसा बताते हैं। आहाहा ! धर्म की चीज़ ऐसी है, भाई ! क्या करें ?

`**चैतन्यज्योतियों द्वारा**' - चैतन्यज्योतियाँ हैं, एक पर्याय नहीं; अनंती प्रकाशपर्यायें हुई। जहाँ सर्वज्ञ हुआ, तो समस्त चैतन्य की सर्व शक्तियाँ प्रकाशमानरूप हो गई। चैतन्य की एक सर्वज्ञपर्याय जहाँ प्रगट हुई; वहाँ उसके साथ सर्व शक्तियों की शक्ति व्यक्त हो गई। शक्ति की स्फुरायमान चैतन्यज्योतियाँ - जितनी चैतन्यज्योति हैं, उतनी सर्व स्फुरायमान हो गई।

`**ऐसा यह जीव पूर्वोक्त प्रकार से** (**परद्रव्य का तथा परभावों का**) **अकर्ता सिद्ध हुआ, तथापि**' -ऐसा होने पर भी - प्रभु तो ऐसा है (तथापि), `**उसे इस जगत में कर्म प्रकृतियों के साथ यह** (**प्रगट**) **बंध होता है....**' अरे..रे ! ऐसी चीज़ (यह तो) चैतन्यज्योति -

झिलमिलातीज्योति (है)। यह तो चैतन्य की स्फुरायमान ज्योति है ! एक ज्ञान स्फुरायमान नहीं, अपितु चैतन्य की सर्व शक्तियाँ (स्फुरायमान होती हैं)। जिस प्रकार सर्वज्ञपना पूर्ण हुआ उस प्रकार सर्व शक्तियों की पूर्णता, पर्याय में प्रगट हो गई। आहाहा ! ऐसी वस्तु स्थिति !! अरे...रे ! '**तथापि उसे इस जगत में कर्म प्रकृतियों के साथ यह बंध होता है।**' अरे...रे ! उसे कर्म का बंधन !! क्योंकि (**स खलु अज्ञानस्य कः अपि गहनः महिमा स्फुरति**) यह वास्तव में अज्ञान की कोई गहन महिमा (है)। उसके स्वभाव की तो गहन महिमा है, पर उसके अज्ञान की (भी) गहन महिमा (है) !

आहाहा ! ऐसी चीज़ को बंध होता है - यह क्या ? महा प्रभु, चैतन्यज्योति, अंदर शक्ति से स्फुरायमान वस्तु है ! आहाहा ! ऐसी चीज़ है ! (जो) अनंत चैतन्य शक्तियों से बिराजमान - स्फुरायमान, चैतन्यज्योति परमात्मा (है) ! - ऐसी चीज़ को (कर्म) प्रकृतियों का बंध होता है ! अरे...रे ! यह क्या हो रहा है ? यों कहते हैं : '**कर्म प्रकृतियों के साथ जो यह (प्रगट) बंध होता है वह वास्तव में अज्ञान की कोई गहन महिमा (है)।** अरे...रे ! अज्ञान समझाना (पड़े) - यह कैसी बात ? अज्ञान की कोई गहन महिमा है कि ऐसी चीज़ में, इसको कर्म प्रकृतियों का बंध होता है ! जिसमें अनंत चैतन्यज्योति स्फुरायमान (है), अंदर प्रगट है; एक नहीं किन्तु अनंती चैतन्यज्योति प्रगट हैं; - ऐसा परमात्मा, निज स्वरूप; इसे कर्मप्रकृतियों का बंधन हो ! - अज्ञान की यह कोई (गहन) महिमा है।

'**अज्ञान की कोई गहन महिमा है - जिसका पार नहीं पाया जाता।**' ऐसा (भावार्थ) लिखा है। गहन यानी पार न पाया जाए। (परंतु) समकिती तो पार पा जाता है ! लेकिन अज्ञान की ऐसी गहन महिमा है (अर्थात्) वस्तु तो ऐसी चैतन्य स्फुरायमान अनंत शक्ति का पिण्ड प्रभु ! आहाहा ! उसे कर्मबंधन हो, - यह अज्ञान की कोई गहन महिमा है ! अज्ञान का नाश, आत्मा के स्वभाव के आश्रय से हो सकता है।

❋ ❋ ❋

ॐ

श्री समयसार गाथा - ३२०

[श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति टीका]

मूल गाथा :

``दिट्ठी सयं पि णाणं* अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणदि य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव।।''

तात्पर्यवृत्ति :-

तमेव अकर्तृत्वभोक्तृत्वभावं विशेषेण समर्थयति;

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चैव यथा दृष्टिः कर्त्री दृश्यमग्निरूपं वस्तुसंधुक्षणं पुरुषवन्न करोति तथैव च तप्तायः पिंडवदनुभवरूपेण न वेदयति। तथा शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणत जीवो वा स्वय शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति। अथवा पाठांतरं दिट्ठी खयंपि णाणं तस्य व्याख्यानं - न केवलं दृष्टिः क्षायिकज्ञानमपि निश्चयेन कर्मणामकारकं तथैवावेदकमपि। तथाभूतः सन् किं करोति ? जाणदि य बंधमोक्खं जानाति च। कौ ? बंधमोक्षौ। न केवलं बंधमोक्षौ कम्मुदयं णिज्जरं चेव शुभाशुभरूपं कर्मोदयं सविपाकाविपाकरूपेण सकामाकामरूपेण वा द्विधा निर्जरां चैव जानाति इति।

एवं सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्व-भोक्तृत्व-बंध-मोक्षादिकारणपरिणामशून्यो जीव इति सूचितं। समुदायपातनिकायां पश्चाद्गाथाचतुष्टयेन जीवस्याकर्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन सामान्यविवरणं कृतं। पुनरपि गाथाचतुष्टयेन शुद्धस्यापि यत्प्रकृतिभिर्बंधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमित्यज्ञानसामर्थ्यकथनरूपेण विशेषविवरणं कृतं। पुनश्च गाथाचतुष्टयेन जीवस्याभोक्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन व्याख्यानं कृतं। तदनन्तरं शुद्धनिश्चयेन तस्यैव कर्तृत्वबंधमोक्षादिक कारणपरिणाम-वर्जनरूपस्य द्वादशगाथाव्याख्यानस्योपसंहाररूपेण गाथाद्वयं गतं।। इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ मोक्षाधिकार संबंधिनी चूलिका समाप्ता। अथवा द्वितीयव्याख्यानेनात्र मोक्षाधिकार समाप्तः।

---

* `दिट्ठी सयं पि णाणं' की जगह आत्मख्याति-टीका में `दिट्ठी जहेव णमं' ऐसा पाठ है।

किं च विशेष :- औपशमिकादिपंचभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते। तत्रोपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्यायरूपं भवति, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति। तच्च परस्परसापेक्षं द्रव्यपर्यायद्वयात्मा पदार्थो भण्यते।

तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वत्रिविधपरिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्व शक्तिलक्षणं यत्पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रितत्वान्निरावरणं शुद्धपारिणामिकभावसंज्ञं ज्ञातव्यं तत्तु बंधमोक्षपर्यायपरिणतिरहितं। यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं तत्पर्यायार्थिकनयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञमिति। कथमशुद्धमिति चेत्। संसारिणां शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूप जीवत्वभव्याभव्यत्वद्वयाभावादिति।

तत्र त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्यतु यथासंभवं सम्यक्त्वादि जीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्मसामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं। तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तर्व्यक्तिभवति तदायं जीवः सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिज-परमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमित। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिक-क्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञा लभते।

स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथंचिद्भिन्नः। कस्मात् ? भावानारूपत्वात्। शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति। यद्यकांतेन शुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति; न च तथा।

ततः स्थितं-शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वात् मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः।

यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः स शुद्धपारिणामिकपूर्वमेव तिष्ठति। अयं तु व्यक्तिरूप मोक्षविचारो वर्तते।

तथा चोक्त सिद्धान्ते - `निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः' निष्क्रिय इति कोऽर्थः ? बंधकारणभूता या क्रिया रागादिपरिणतिः तद्रूपो न भवति, मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणतिस्तद्रूपश्च न भवति। ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति। कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात्। तथा योगीन्द्रदेवैप्युक्तं - णवि उपज्जइ णवि मरइ बंध ण मोक्खु करेइ। जिउ परमत्थे जोइया जिणवर एउ भणेइ।।

किं च विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणक्षायोपशमिकन्यत्वेनयद्यप्येक-देशव्यक्तिरूपा भवति तथापि ध्यातापुरुषः यदेव सकल निरावरणमखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति, न च खंडज्ञानरूपमिति भावार्थः।

इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमाध्यात्मनद्वयाभिप्रायस्यानिरोधेनैव कथितं सिद्धयतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः ।।३२०।।

[समयसार की गाथा : ३२० - 'तात्पर्यवृत्ति' टीका का हिन्दी अनुवाद]

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्ष को ।।३२०।।

इसी अकर्तृत्व - भोक्तृत्वभाव को विशेषरूप से दृढ़ करते हैं :-

(दिट्ठी सयं पि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव) जैसे चक्षु - कर्ता - दृश्य ऐसी अग्निरूप वस्तु को, जलानेवाले पुरुष के समान, जलाता नहीं है तथा, तप्तायमान लोहपिंड के समान, अनुभवरूप से वेदता (भुगतता) नहीं है; वैसे शुद्ध ज्ञान भी अथवा अभेद से शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी स्वयं शुद्ध उपादानरूप से (अन्य द्रव्यों को) न करता है और न वेदता (अनुभवता) है। अथवा दूसरा पाठ यह है : '**दिट्ठि खयं पि णाणं**' इसका व्याख्यान : मात्र दृष्टि ही नहीं परंतु क्षायिक ज्ञान भी निश्चय से कर्मों का अकारक एवं अवेदक भी है। ऐसा होता हुआ (शुद्धज्ञानपरिणत जीव) क्या करता है ? ('**जाणदि य बंधमोक्खं**') जानता है। किसको ? बंध-मोक्ष को। मात्र बंध-मोक्ष को नहीं, ('**कम्मुदयं णिज्जरं चेव**') शुभ-अशुभरूप कर्मोदय को तथा सविपाक - अविपाकरूप और सकाम - अकामरूप से होनेवाली दो प्रकार की निर्जरा को भी जानता है।

सर्वविशुद्ध - पारिणामिक - परमभावग्राहक शुद्ध - उपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव कर्तृत्व - भोक्तृत्व से तथा बंध-मोक्ष के कारण व परिणाम से शून्य है ऐसा समुदायपातनिका में कहने में आया था। बाद में चार गाथाओं द्वारा अकर्तृत्वगुण के व्याख्यान की मुख्यता से जीव का सामान्य विवरण करने में आया। इसके बाद चार गाथा द्वारा 'शुद्ध को भी प्रकृति के साथ जो बंध होता है वह अज्ञान का माहात्म्य है' इस प्रकार अज्ञान का सामर्थ्य कहने रूप से विशेष विवरण करने में आया। तत्पश्चात् चार गाथा द्वारा जीव के अभोक्तृत्व गुण के व्याख्यान की मुख्यता से व्याख्यान करने में आया। तत्पश्चात् दो गाथाएँ कहने में आई जिसके द्वारा, पूर्व की बारह गाथाओं में शुद्ध निश्चय से कर्तृत्व - भोक्तृत्व के अभावरूप तथा बंध-मोक्ष के कारण व परिणाम के अभावरूप जो व्याख्यान करने में आया था उसीका उपसंहार करने में आया। इस प्रकार समयसार की शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवाली 'तात्पर्यवृत्ति' नामकी टीका में मोक्षाधिकार से संबंधित चूलिका समाप्त हुई। अथवा दूसरी तरह व्याख्यान करें तो यहाँ मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।

पुनश्च विशेष कहने में आता है :-

औपशमिकादि पांच भावों में किस भाव से मोक्ष होता है यह विचार करने में आता है।

वहाँ औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक ये चार भाव पर्यायरूप हैं तथा शुद्ध पारिणामिक (भाव) द्रव्यरूप है। परस्पर सापेक्ष ऐसा जो यह द्रव्यपर्यायद्वय (द्रव्य व पर्याय का युगल) (है) वह आत्मा-पदार्थ है।

वहाँ, प्रथम तो जीवत्व, भव्यत्व व अभव्यत्व इस प्रकार तीन तरह के पारिणामिक भावों में, शुद्धजीवत्व ऐसा जो शक्तिलक्षण पारिणामिकपना वह शुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रित होने से निरावरण और 'शुद्धपारिणामिक भाव' ऐसी संज्ञावाला जानना; वह तो बंधमोक्षपर्याय परिणति से रहित है। परंतु जो दसप्राणरूप जीवत्व और भव्यत्व - अभव्यत्वद्वय वे पर्यायार्थिकनयाश्रित होने से 'अशुद्धपारिणमिकभाव' संज्ञावाले हैं। प्रश्न : 'अशुद्ध' क्यों ? उत्तर : संसारियों को शुद्धनय की अपेक्षा से तथा सिद्धों को तो सर्वथा ही दसप्राणरूप जीवत्व का तथा भव्यत्व - अभव्यत्वद्वय का अभाव होने के कारण।

इन तीनों में, भव्यत्वलक्षण पारिणामिक को तो यथासंभव सम्यक्त्वादि जीवगुणों का घातक 'देशघाती' और 'सर्वघाती' ऐसे नामवाला मोहादिकर्मसामान्य पर्यायार्थिकनय से आच्छादित करता है ऐसा जानना। वहाँ, जब कालादि लब्धि के वश भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होती है, तब यह जीव सहज-शुद्ध पारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय के रूप परिणमन करता है; उस परिणमन को आगमभाषा से 'औपशमिक' 'क्षायोपशमिक' तथा 'क्षायिक' इस प्रकार के भावत्रयरूप कहने में आता है, तथा अध्यात्मभाषा से 'शुद्धात्माभिमुख परिणाम,' 'शुद्धोपयोग' इत्यादि पर्यायसंज्ञा पाता है।

वह पर्याय शुद्धपारिणामिकभावलक्षण शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है। किस कारण से ? भावनारूप होने से। शुद्धपारिणामिक (भाव) तो भावनारूप नहीं है। यदि (वह पर्याय) एकांतरूप से शुद्ध-पारिणामिक से अभिन्न हो, तो मोक्ष का प्रसंग बनने पर इस भावनारूप मोक्षकारणभूत (पर्याय) का विनाश होने पर शुद्धपारिणामिकभाव भी विनाश को प्राप्त हो जाये। परंतु ऐसा तो नहीं बनता। (क्योंकि शुद्धपारिणामिकभाव तो अविनाशी है)।

अतः यह सिद्ध हुआ : शुद्धपारिणामिकभाव विषयक (शुद्धपारिणामिक भाव का अवलंबन लेनेवाली) जो भावना है, उस रूप जो औपशमिकादि तीन भाव हैं, वे समस्त रागादि से रहित होने के कारण शुद्ध-उपादानकारणभूत होने से मोक्षकारण (मोक्ष के कारणरूप) हैं, परंतु शुद्धपारिणामिक नहीं। (अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है)।

जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो शुद्धपारिणामिक है, पहले से ही विद्यमान है। यह तो व्यक्तिरूप मोक्ष का विचार चल रहा है।

इसी प्रकार सिद्धांत में कहा है कि '**निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः**' अर्थात् शुद्धपारिणामिक (भाव) निष्क्रिय है। निष्क्रिय का क्या अर्थ है ? (शुद्धपारिणामिकभाव) बंध की कारणभूत जो क्रिया - रागादि परिणति, उस-रूप नहीं है तथा मोक्ष की कारणभूत जो क्रिया - शुद्धभावनापरिणति, उस-रुप भी नहीं है। इसलिये ऐसा जानने में आता है कि शुद्धपारिणामिक भाव ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं। किसलिये ? क्योंकि ध्यान विनश्वर है। (तथा शुद्धपारिणामिकभाव तो अविनाशी है)। श्री योगीन्द्रदेव ने भी कहा है कि '**ण वि उपज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ। जिउ परमत्थे जोइया जिणवर एउ भणेइ।।**' (अर्थात् हे योगी ! परमार्थरूप से तो जीव

उत्पन्न भी नहीं होता, मरता भी नहीं है तथा बंध-मोक्ष भी नहीं करता - ऐसा श्री जिनवर कहते हैं)।

पुनःश्च इसे स्पष्ट करने में आता है : विवक्षित - एकदेशशुद्धनयाश्रित यह भावना (अर्थात् अभिप्रेत आंशिक शुद्धिरूप यह परिणति) निर्विकार - स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिकज्ञानरूप होनेसे, यद्यपि एकदेश व्यक्तिरूप है तो भी ध्याता पुरुष ऐसी भावना भाता है कि 'जो सकलनिरावरण - अखंड - एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय - अविनश्वर - शुद्धपारिणामिक परमभाव लक्षण निजपरमात्मद्रव्य वही मैं हूँ।' अपितु ऐसी भावना नहीं भाता कि 'खंडज्ञानरूप मैं हूँ।' -ऐसा भावार्थ है।

यह व्याख्यान परस्पर सापेक्ष ऐसे आगम-अध्यात्म के एवं दो नय के (द्रव्यार्थिक - पर्यायार्थिकनय के) जो अभिप्राय है, उसके अविरोधपूर्वक ही कहने में आया होने से सिद्ध है (- निर्बाध है) ऐसा विवेकीजनों को जानना चाहिए।

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-१ ता. २९-७-१९७९

'समयसार' ३२० गाथा। इसकी श्री जयसेनाचार्य की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका है। सूक्ष्म विषय है। गाथा :

'दिट्ठी सयं पि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणदि य बन्धमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव।।'

अकर्तृत्वभोक्तृत्व भाव को विशेषरूप से दृढ़ करते हैं :

सूक्ष्म बात है, भगवान ! भगवान उसे 'आत्मा' कहते हैं कि : जो आत्मा राग-द्वेष, दया-दान, भक्ति-पूजा के भाव का भी 'कर्ता' न हो। आहाहा ! अकर्तृत्वभोक्तृत्व की ऐसी बात !! आत्मा (अपने) सिवा अन्य द्रव्य का कर्ता-भोक्ता कुछ है ही नहीं। लक्ष्मी को, स्त्री को, कुटुंब को, प्रतिष्ठा को अपना मानना तथा उसका कुछ काम करना - यह तो वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है। भगवान ऐसा कहते हैं कि : अपनी पर्याय में जो शुभाशुभ राग होते हैं, उस शुभाशुभ राग का 'कर्ता' बनना - यह मिथ्यादृष्टि है; उसे तो जैन (मत) की खबर नहीं है, 'जैनधर्म' क्या है उसका भान नहीं है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया-दान-व्रत का वेदन करना, वह भी मिथ्यात्वभाव है। ऐसा मार्ग है !! यह यहाँ कहते हैं, देखो :

अकर्तृत्वभोक्तृत्वभाव को विशेष दृढ़ करते हैं। देखो : '**दिट्ठी सयं पि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।**' पहले दृष्टांत कहते हैं : जैसे नेत्र अर्थात् आँख दृश्य ऐसी अग्निरूप वस्तु को, धौंकनी - अग्नि को जलानेवाला-करनेवाला की भाँति, करती नहीं है; (अर्थात्) आँख अग्निरूप वस्तु को करती नहीं है; वैसे आत्मा नेत्र की भाँति, परद्रव्य को करता नहीं है।

आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भगवान ! क्या कहें ? पंचम काल में (यहाँ) तीन लोक के नाथ परमात्मा का विरह हुआ। परमात्मा तो वहाँ (विदेहक्षेत्र में) रह गये। और वर्तमान में केवलज्ञान की उत्पत्ति का विरह हो गया। वस्तुस्थिति ऐसी रह गई - 'प्रभु ! तू ऐसा है।' परमात्मा जिनेश्वरदेव - त्रिकोलीनाथ, एकावतारी इन्द्र और गणधरों की सभा में ऐसा फरमाते थे कि :

प्रभु ! जैसे अग्नि को जलानेवाला नेत्र नहीं है एवं करता (भी) नहीं है। धौंकनी चलानेवाले की माफिक आँख अग्नि को करनेवाली नहीं है। तथा जिस प्रकार तप्त लोहपिण्ड - गर्म लोहा - अग्नि का अनुभव करता है; उस प्रकार आँख अग्नि का अनुभवरूप से वेदन करती नहीं है। (अर्थात्) जैसे तप्त लोहपिण्ड अग्नि का वेदन करता है, अग्नि से एकमेक हो जाता है; वैसे नेत्र परपदार्थ को करता तो नहीं है किन्तु परपदार्थ का वेदन भी नहीं करता। आहाहा ! यह तो दृष्टांत (है)। इसका सिद्धांत :

बात बहुत (गंभीर), बापू ! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है ! अरे ! सुनने को न मिले। बाहर में (तो यही सुनने मिले कि) व्रत करो... तप करो और उपवास करो और यह करो...! (किन्तु प्रभु !) वे तो सारी राग की क्रिया है, अनंतबार की। उसमें कोई धर्म नहीं है। वह तो राग है। पर यहाँ (संप्रदाय में) उसे (इन सब क्रियाओं को) राग समझना ही कठिन है। व्रत करना, तप करना, उपवास आदि के विकल्प - वह तो राग है।

(यहाँ कहते हैं कि :) जैसे नेत्र अग्नि को जलाता नहीं है, वैसे आत्मा राग का कर्ता नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई ! नेत्र का तो दृष्टांत लिया। जैसे नेत्र अग्नि को जलाता नहीं है, वैसे भगवान आत्मा (तो) उसे कहें कि (जो) इस राग का कर्ता नहीं होता। आहाहा !

शरीर-वाणी-मन यह तो जड़-मिट्टी है; उसकी क्रिया उससे - जड़ से होती है। यह हाथ चलता है, भाषा बोलते हैं, यह आत्मा के कारण से कतई नहीं है।

आहाहा ! यहाँ तो परमात्मा अंतर की बात करते हैं। यह मोक्ष अधिकार की चूलिका है। मोक्ष अधिकार पूर्ण हुआ उसकी चूलिका - सिर की चोटी है। कहते हैं

कि : एक बार सुन तो सही, प्रभु ! जिस प्रकार नेत्र अग्नि को जलाते नहीं है, उस प्रकार भगवान आत्मा राग-दया, दान, पुण्य-पाप के भावों को करता नहीं है। आहाहा ! ऐसी बात !

संप्रदाय में यह बात कहाँ थी ? सब जाना है न...! सारी (क्रिया) करते थे न...! २१ साल और चार महीने उसमें निकाले; ४५ वर्ष उसमें (शरीर के जन्म से लेकर संप्रदाय में) निकाले हैं। साढ़े चवालीस (वर्ष) यहाँ हुए।

बापू ! बात तो अलौकिक है, प्रभु ! नेत्र का दृष्टांत देकर संत लोग जगत के समक्ष जाहिर करते हैं कि, परमात्मा त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव का यह फरमान है कि : जैसे नेत्र अग्नि को जला नहीं सकता है, वैसे भगवान आत्मा - यह तो ज्ञानस्वरूप आत्मा है - वह राग को करता नहीं है। और 'राग को करे' वह आत्मा नहीं; वह तो मिथ्यादृष्टि है।

आहाहा ! सूक्ष्म बात है, बापू ! ऐसा कहीं सुनने भी मिले नहीं; (तो) जीव समझे तो कब ? विपरीत मान्यता के कारण भवभ्रमण - चौरासी के अवतार - कर रहा है। इस विपरीत मान्यता का स्वरूप क्या है, इसकी (उसे) खबर नहीं है।

आहाहा ! जैसे नेत्र अग्नि को जलाता नहीं है, वैसे आत्मा अपने सिवा - ज्ञातादृष्टा सिवा - राग-द्वेष, दया-दान, आदि विकल्प को करता नहीं है।

बेंगलोर में अभी १५ लाख का दिगंबर मंदिर हुआ। परंतु उसमें (अगर मंदिर बनवानेवाले को) राग की मंदता हो तो, (वह) शुभभाव है, धर्म नहीं। और उस शुभभाव का 'कर्ता मैं हूँ' - ऐसा मानना, यह मिथ्यात्व है। बहुत सूक्ष्म बात !

जैसे लोहपिण्ड अग्नि से गरम होता है, वैसे नेत्र पर का वेदक नहीं है। (अर्थात्) नेत्र देखता है - जो कुछ होता है, उसे देखता है - किन्तु वेदक नहीं है। (नेत्र दृश्य पदार्थ का) कर्ता नहीं है एवं वेदक (भी) नहीं है। (उसी प्रकार) आत्मा 'कर्ता' नहीं है; ऐसा नेत्र के दृष्टांत से, धौंकनी के दृष्टांत से (समझाया)। तथा 'भोक्ता' नहीं है; यह (लोहपिण्ड के दृष्टांत से समझाया)। जैसे लोहपिण्ड अग्नि से गरम होता है, और (अग्नि का) अनुभव करता है; वैसे आत्मा - चैतन्यमूर्ति भगवान, ज्ञानस्वरूपी परमात्मा - राग व द्वेष को भोगता नहीं है, अनुभवता नहीं है। और (उसका) अनुभव करे - ऐसा आत्मा (होता) नहीं। (राग-द्वेष का अनुभव करे), वह तो मिथ्यादृष्टि है। अरर..र !

अरे प्रभु ! क्या करें ? 'यह' तो भगवान सीमंधर परमात्मा का संदेश है ! महाविदेह में त्रिलोकीनाथ बिराजमान हैं, उनका यह संदेश है : प्रभु ! नेत्र जिस प्रकार पर को करता नहीं है और तप्त लोहपिण्ड की भाँति, अनुभवरूप से (अग्नि का) वेदन करता नहीं

है; उसी प्रकार आत्मा राग का कर्ता नहीं है और भोक्ता नहीं है। ऐसी दूभर बात है !

'**अनुभवरूप से वेदता नहीं है; वैसे शुद्ध ज्ञान भी**' (भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, यह शुद्ध ज्ञान भी) '**अथवा अभेद से शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी**' (राग का कर्ता-भोक्ता नहीं है)।

आहाहा ! सम्यग्दृष्टि शुद्धज्ञान परिणत है ! सम्यग्दृष्टि उसे कहें कि (जो) पुण्य-पाप के मैल द्वारा परिणमित नहीं होता। सम्यग्दृष्टि - प्रथम-चौथी भूमिका से - शुद्ध (ज्ञान) परिणत जीव है !

प्रश्न : 'शुद्धज्ञान परिणत जीव भी' ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर : कि 'त्रिकाली' शुद्धज्ञानस्वरूप है, वह तो राग-द्वेष का कर्ता व भोक्ता नहीं है। लेकिन समकिती शुद्ध(ज्ञान) परिणत जीव है; (उसकी) पर्याय में शुद्धता का परिणमन है; वह भी राग-द्वेष का कर्ता-भोक्ता नहीं है !

फिर से। दो बात ली न...! '**वैसे शुद्ध ज्ञान भी**' - शुद्ध ज्ञान माने त्रिकाली आत्मा - शुद्ध चैतन्यस्वरूप त्रिकाली, यह 'किसी राग-द्वेष को करे या भुगते' ऐसा त्रिकाली वस्तु में नहीं है। तो जिसकी दृष्टि सम्यक् (अर्थात्) द्रव्यस्वभाव की दृष्टि हुई - वह '(**अभेद से**) **शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी**' (राग-द्वेष का कर्ता-भोक्ता नहीं है)। (जैसे) शुद्धज्ञान (अर्थात्) त्रिकाली आत्मा, राग-द्वेष करता नहीं और उसको भोक्ता नहीं; वैसे शुद्ध ज्ञान की जिसे दृष्टि हुई (अर्थात् जो) शुद्धज्ञानपरिणत हुआ - ऐसा 'सम्यग्दृष्टि जीव' भी राग-द्वेष को करता और भोगता नहीं है। आहाहा !

काम इतना भारी - कठिन है, भाई ! मार्ग तो यह है, प्रभु ! क्या हो ? मनुष्यत्व चला जायेगा, बापू ! इस (जन्म) में अगर यह 'सत्य' बात समझ में नहीं आई (तो) इस चौरासी के अवतारों में कहाँ जाकर भटकता रहेगा, क्या कह सकते हैं ? जिस प्रकार आँधी में तिनका उड़े, वह कहाँ जाकर गिरेगा ? उस प्रकार आत्मा क्या चीज़ है, उसकी जिसे दृष्टि नहीं है; वह जीव कहाँ जाकर अवतार लेगा ? निगोद व नरक में जाकर अवतार लेंगे, बापू ! आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि : जैसे नेत्र अग्नि को सुलगाता नहीं है और लोहे का पिण्ड जिस भाँति अग्नि से तप्तायमान है, वैसे नेत्र पर का (कार्य) करता नहीं एवं वेदता नहीं। उसी प्रकार अंदर आत्मा त्रिकाली, शुद्ध, चैतन्यस्वरूप जो सम्यग्दर्शन का विषय है, वह 'आत्मा' राग-द्वेष करता नहीं व राग-द्वेष को भोगता नहीं। यह तो ठीक; किन्तु 'अभेद' विशेष लिया।

प्रश्न : 'अभेद से शुद्धज्ञान (परिणत)' - 'अभेद' क्यों कहा ?

समाधान : जो शुद्धज्ञान त्रिकाल है, ऐसा अंतर अनुभव में अभेद हुआ। राग से भिन्न होकर, अपना (जो) शुद्धज्ञानस्वरूप त्रिकाल है, उसमें एकाग्र होकर अभेद हुआ। इस प्रकार अभेदनय से कहा कि : शुद्धज्ञान जो त्रिकाल है, द्रव्यस्वभाव जो त्रिकाल है, उसके साथ अभेद हुआ।

शुरूमें तो इतना कहा (कि) शुद्ध ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, वह राग-द्वेष का कर्ता व भोक्ता नहीं है। - ऐसा तो द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से लिया। किन्तु अब कहते हैं कि : इस द्रव्य की जिसे दृष्टि हुई - सम्यग्दर्शन हुआ - राग, दया, दान, व्रत, तप के विकल्प से भिन्न होकर (जिसे) अपने स्वरूप की शुद्ध परिणति हुई - यह `शुद्ध परिणति' धर्म है। यह शुद्ध परिणति भी राग की कर्ता व राग की भोक्ता नहीं है। आहाहा ! ऐसा मार्ग है, प्रभु ! कुछ समझ में आता है ? ऐसी बात है !!

जिज्ञासा : रागी होते हुए भी राग का कर्ता नहीं है ?

समाधान : नहीं। कर्ता नहीं है। (राग) करना, इसका कार्य नहीं है। (राग) होता है, तो उसका ज्ञाता है। जाननेवाला - देखनेवाला रहे, इसका नाम धर्म है। आहाहा ! कठिन बात, बापू !

जिज्ञासा : स्वभाव तो (राग का कर्ता) नहीं, किन्तु परिणति भी नहीं ?

समाधान : परिणति भी नहीं। त्रिकाल द्रव्य में तो (राग का कर्तृत्वभोक्तृत्व) नहीं है; किन्तु त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि - सम्यग्दर्शन हुआ (अर्थात्) शुद्ध परिणति हुई - वह भी, राग-द्वेष की कर्ता-भोक्ता नहीं है। प्रभु ! अंदर (शास्त्र में) लिखा हुआ है कि नहीं ?

`**अभेद से शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी**' अर्थात् शुद्धज्ञान की पर्याय जिसे प्रगट हुई, (यानी) जो अनादि से पुण्य व पाप, दया और दान, काम व क्रोध के वेदन का कर्ता था; (जिसने) जैन दिगंबर साधु होकर मुनिव्रत लिया - पंच महाव्रतों का पालन किया; - वह तो (सब) राग है - इस राग का कर्ता होकर मिथ्यादृष्टिपने में अनंतबार नववीं ग्रेवेयक तक गया। यहाँ कहते हैं कि : जिसे उस (राग) तरफ की दृष्टि छूट गई - राग का कर्तापना छूट गया; और `मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ' इस प्रकार परिणत - पर्याय में शुद्धता की दशा प्रगट हुई; जैसे द्रव्य शुद्ध है, वह कर्ता-भोक्ता नहीं है, ऐसे शुद्ध द्रव्य की दृष्टि व शुद्ध परिणति हुई; वह भी राग-द्वेष की कर्ता-भोक्ता नहीं है।

अरर...र ! ऐसी बात अब सुनी भी न जाए, क्या करें बापू ? समझ में आया ? ३२० - गाथा है ! जयसेनाचार्य की टीका है !

`**शुद्धज्ञानपरिणत**' कहा न...! आहाहा ! `मैं तो शुद्धस्वरूप, पवित्र आनंदकंद हूँ' - यह शुद्धपरिणत। पुण्य-पाप का भाव भी मेरा नहीं। पर की तो बात ही कहाँ ? शरीर-

वाणी-धंधा - यह तो जड़ की अवस्था; उनमें तो मेरा कर्ता-भोक्तापना ही नहीं है। किन्तु मेरे में (पुरुषार्थ की) कमज़ोरी के कारण जो रागादि उत्पन्न होते हैं, उसका भी मैं तो कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ। आहाहा ! इसे यहाँ धर्म की प्रथम सीढ़ी - सम्यग्दर्शन - कहने में आता है। ऐसी बात है !!

पाठ ऐसा है कि '**शुद्ध ज्ञान भी...**' यहाँ '**भी**' क्यों कहा ? नेत्र का दृष्टांत दिया है न...? इसलिये 'भी' कहा (कि:) जैसे नेत्र पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है वैसे शुद्ध ज्ञान '**भी**' - त्रिकाली भगवान आत्मा वह 'भी' राग-द्वेष का कर्ता-भोक्ता नहीं है। एक बात। दूसरी : '**अथवा अभेद से**' - ज्ञानस्वरूप भगवान चैतन्यमूर्ति ज्ञातादृष्टास्वभाव से भरा पड़ा प्रभु है। इस अभेद से इसकी एकाग्रता हुई - सम्यग्दर्शन व सम्यक्ज्ञान में अभेद - एकाग्रता हुई - तो '**अभेद से शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी**' - शुद्ध ज्ञानरूप परिणत - पर्याय में निर्मलता प्रगट की। सम्यग्दर्शन - सम्यग्ज्ञान - शांति का अंश और अनंत आनंद - स्वरूप के आनंद का स्वाद भी प्रगट किया। अतीन्द्रिय आनंद का भी स्वाद आया। अतीन्द्रिय आनंद जो (अपने) त्रिकाली ध्रुव में पड़ा था उसके अवलंबन से, पर्याय में अतीन्द्रिय आनंद का परिणमन हुआ और अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव भी हुआ। - इस प्रकार '**शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी**' लिया। (अर्थात्) पहले नेत्र के साथ मिलान करने के लिये '**शुद्धज्ञान भी**' ऐसा लिया। अब अगर 'शुद्धज्ञान' कर्ता-भोक्ता नहीं है, तो उसमें परिणत (-शुद्धज्ञानपरिणत जीव) भी कर्ता-भोक्ता नहीं; ऐसा लिया।

ऐसी बात है, प्रभु ! बहुत धैर्य से - शांतिपूर्वक सुनना। प्रभु ! क्या कहें ?

यहाँ कहते हैं कि : '**शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी स्वयं शुद्ध उपादानरूप से** (**राग को**) **नहीं करता।**' देखो ! भाषा। धर्मी जीव जिसे सम्यग्दर्शन हुआ 'वह' शुद्ध (ज्ञान) परिणत है ! शुभाशुभ राग है वह शुद्ध परिणति नहीं है। आहाहा !

भरत चक्रवर्ती जैसे छह खंड के राज में डूबे हो तब भी; अंदर में (उन्हें जो) शुद्ध परिणति हुई है, उस कारण से वह शुद्ध परिणति राग-द्वेष को करती नहीं है। आहाहा !

जैसे शुद्ध द्रव्यस्वभाव ध्रुव, ध्रुव चीज़ जो भगवान आत्मा नित्य ध्रुव है, वह तो दया-दान-व्रत के परिणाम का कर्ता-भोक्ता नहीं है। किन्तु (जिसे) शुद्ध परिणति हुई, द्रव्यदृष्टि हुई, सम्यग्दर्शन हुआ; (अर्थात्) शुभाशुभ भाव अशुद्ध है, उससे भिन्न होकर, अपने स्वभाव की शुद्ध दशा हुई; वह भी राग का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

आहाहा ! गाथा सूक्ष्म है, भाई ! आज तो अभी शुरू की है। यह तो बाहर से बहुत लोग आये हैं, तो उन्हें खयाल में आये कि चीज़ कोई दूसरी है। भाई ! बापू !

वीतराग परमात्मा का पंथ (तो) जगत से निराला है। जगत के साथ उसका कोई मेल नहीं।

आहाहा ! यहाँ कहते हैं कि '**स्वयं शुद्ध उपादानरूप से**' - क्या कहा ? भगवान आत्मा, शुद्धचैतन्यघन, आनंदकंद, ध्रुव की ओर दृष्टि होने से शुद्धपरिणत हुआ, तो वह शुद्ध उपादान हुआ। राग-द्वेष (होते) थे, वह अशुद्ध उपादान। और यह शुद्ध परिणत हुआ वह शुद्ध उपादान। आहाहा !

'**स्वयं शुद्ध उपादानरूप से**' - कौन ? कि : जो त्रिकाली शुद्धस्वरूप भगवान है, उसका अनुभव हुआ। राग के विकल्प से रहित आत्मा के आनंद का वेदन हुआ (वह)। जैसे 'त्रिकाली शुद्ध ज्ञान' कर्ता-भोक्ता नहीं है, वैसे 'शुद्ध परिणतिवाला' भी राग का और द्वेष का कर्ता-भोक्ता नहीं है। क्यों ? कि : स्वयं शुद्ध उपादानरूप से (रागादि का) कर्ता नहीं है। पर्याय में होता है, परंतु (उसका) शुद्ध उपादान (रूप से) कर्ता-भोक्ता नहीं है।

आहाहा ! प्रभु ! यह तो वीतराग की अमृतवाणी है। आजकल तो बाहर से सारी क्रिया-कांडकी प्रवृत्ति चलती है। और बस ! उसीमें पूरा धर्म (हुआ) मान लेते हैं ! यहा कहते हैं : सुन प्रभु ! इस समय महाविदेहक्षेत्र में वीतराग त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ जिनेश्वर की सभामें, एकावतारी इन्द्र वाणी सुनने के लिये आते हैं। वहाँ 'यह बात' परमात्मा कहते थे। 'यह बात' कुंदकुंदाचार्य आढ़तिया बनकर जगत में जाहिर करते हैं कि :

'**स्वयं शुद्ध उपादानरूप से न करता है...**' - यह क्या कहा ? '**अभेद से शुद्धज्ञान परिणत जीव भी**' (यानी) जिसे शुद्ध परिणति हुई - सम्यग्दर्शन हुआ - 'वह' शुद्ध उपादानरूप से (रागादि का) कर्ता नहीं है। अशुद्ध उपादान से रागादि होते हैं; किन्तु शुद्ध उपादान के कारण (वह उसका) कर्ता-भोक्ता नहीं है। आहाहा !

उपादान क्या और निमित्त क्या ? यह भी अभी (लोगों को) पता नहीं है। पर्याय में शुद्ध उपादान (है) तब एक अशुद्ध उपादान भी है। विकार जब उत्पन्न होते हैं, वह अशुद्ध उपादान है। और फिर उससे (विकार से) हटकर सम्यक् धर्म हुआ तो शुद्ध उपादान हुआ। केवल उपादान नहीं लिया। '**स्वयं शुद्ध उपादानरूप से**' आठ साल की बालिका - चैतन्य भगवान आत्मा - जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तो वह शुद्ध उपादान से (पाता है)। वह बालिका फिर शादी भी करे; पर वह (जो) अंदर विकल्प आया, उसका (शुद्ध उपादानरूप से,) कर्ता-भोक्ता, वह (बालिका) नहीं है। आहाहा ! ऐसी बात किसे सुहाये ? बात (तो) ऐसी है, प्रभु !

'**स्वयं शुद्ध उपादानरूप से**' - पहले जो द्रव्यस्वभाव - त्रिकाली शुद्ध ज्ञान कहा उस पर अपनी दृष्टि पड़ी और पर्याय में अनुभव हुआ तो निर्विकल्प अनुभव होने से,

स्वयं शुद्ध उपादान से - पर्याय में शुद्ध उपादान से - अशुद्ध उपादान का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

प्रश्न : ऐसा कैसे कहा ?

समाधान : अंदर शुद्ध उपादान से `कर्ता' नहीं है। और अशुद्ध उपादान `पर्याय' में होता है। जब तक (पूर्ण) वीतराग न हो जाये, तब तक ज्ञानी को भी अशुद्ध उपादान में रागादि होते हैं। परंतु शुद्ध उपादान के ज़ोर से वह (ज्ञानी) उसका (रागादि का) कर्ता - भोक्ता नहीं है। आहाहा ! एक-एक शब्द में (बहुत गंभीरता) !! `स्वयं शुद्ध उपादान' - स्वयं - किसी की अपेक्षा बिना (जो) सम्यग्दर्शन - ज्ञान हुआ; अपनी निर्मल परिणति (हुई); वह स्वयं के शुद्ध उपादान से (हुई)।

ये जो व्रत व तप के विकल्प उठते हैं, वह तो राग है। उपवास करना व बाहर के (- व्यवहार के) ये सारे विकल्प, वह भी राग है। (यह तो) अनंतबार किया है। `मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायो; पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।' आतमज्ञान के बिना, वे पंचमहाव्रत के परिणाम हैं वे दुःख और आस्त्रव हैं। अरेरे...रे ! यहाँ तो अभी (लोग) पंचमहाव्रत को धर्म मानते हैं ! (किन्तु) यहाँ कहते हैं कि - अनंत बार मुनिव्रत धारण किया (फिर भी) आत्मज्ञान बिना लेश मात्र सुख नहीं पाया। वे महाव्रत के परिणाम भी राग है और दुःख है। क्योंकि, वहाँ `लक्ष' पर की ओर है। अपने त्रिकाली स्वरुप की ओर `दृष्टि' नहीं है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

`स्वयं शुद्ध उपादानरूप से (अन्य द्रव्यों को) न करता है और न वेदता (अनुभवता) है।' जब धर्मी होता है; धर्म की प्रथम सीढ़ी - सम्यग्दर्शन होता है; तब से शुद्ध परिणति के कारण, अथवा शुद्ध उपादान के कारण, वह राग का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

जिज्ञासा : (क्या) यह बात क्षणिक उपादान की है ?

समाधान : पर्याय की बात की न...! यह बात परिणति की चल रही है न...! **`शुद्धज्ञानपरिणत जीव भी'** ऐसा कहा न...! पहले दो-चार बार कहने में आ गया कि : **`शुद्धज्ञानपरिणत जीव'** - पर्याय में शुद्धरूप से परिणत हुआ जीव, वह भी स्वयं शुद्ध उपादानरूप से (रागादि को) नहीं करता। द्रव्यस्वभाव से तो राग-द्वेष का कर्ता नहीं, किन्तु शुद्ध परिणति से भी राग-द्वेष का कर्ता नहीं है।

आहाहा ! क्या हो ? प्रभु का (यहाँ) विरह हुआ। परमात्मा रहे नहीं। केवलज्ञान की उत्पत्ति रही नहीं। फिर लोगों ने अपनी कल्पना से - स्वच्छंद से मार्ग चलाया। (सनातन) मार्ग कोई दूसरा है। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा हैं, वे यहाँ कहते हैं :

शुद्ध त्रिकाली ज्ञानस्वरूप (भगवान आत्मा) है वह (राग-द्वेष का) कर्ता-भोक्ता नहीं

है। (वह) शुद्ध ज्ञानस्वरूप में अभेद हुआ (अर्थात्) जो अनादि से राग-द्वेष में भेदरूप होकर वहाँ रुक गया था, वह अपने शुद्धस्वरूप चिदानंद प्रभु में अभेद हुआ। देखो ! 'अभेद से शुद्धज्ञान परिणत जीव'। - यह शुद्धज्ञान परिणति हुई कैसे ? (किः) इस त्रिकाली ज्ञायकभावरूप जिस आत्मा का आश्रय करने पर, (उसके) अवलंबन से शुद्ध उपादान पर्याय में निर्मल वीतरागी आनंद आया, वीतरागी समकित हुआ, वीतरागी ज्ञान हुआ, - इस चौथे गुणस्थान में... वह शुद्धपरिणत जीव, वही स्वयं उपादान - पर्याय में शुद्ध उपादान की बात है - शुद्ध उपादानरूप से (रागादि को) करता नहीं है और वेदन भी करता नहीं है। आहाहा ! यह तो गंभीर भाषा है। ३२० - गाथा की (यह) टीका बहुत गंभीर है !

आहाहा ! (रागादि को) करता नहीं है और वेदता नहीं है। '**दिट्ठी सयं पि णाणं।**' - यह तो पहले दृष्टि की अपेक्षा से बात कही कि : वस्तु जो त्रिकाली है वह भी (रागादि की) कर्ता-भोक्ता नहीं है। तथा उसकी (वस्तु की) दृष्टि - सम्यग्दृष्टि हुई, वह भी उसे (रागादि को) करती - भोगती नहीं है।

प्रश्न : यह तो दृष्टि अपेक्षा से कहा, किन्तु ज्ञान अपेक्षा से ?

समाधान : '**दिट्ठी सयं पि णाणं**' - मात्र दृष्टि ही नहीं। (अर्थात्:) सम्यग्दर्शन हुआ वह दृष्टि अकेली ही राग-द्वेष की कर्ता-भोक्ता नहीं है - इस प्रकार (दृष्टि) अकेली नहीं किन्तु साथ में ज्ञान हुआ वह भी राग-द्वेष का कर्ता-भोक्ता नहीं है। देखो (पाठ) : '**दिट्ठी सयं पि णाणं,**' इसका व्याख्यान : मात्र दृष्टि ही नहीं परंतु क्षायिक ज्ञान भी' (अर्थात्) भगवान का जो केवलज्ञान है, परमात्मा 'णमो अरिहंताणं' जिसे क्षायिक केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह 'क्षायिक ज्ञान भी' (रागादि का कर्ता-भोक्ता नहीं है)।

यहाँ 'भी' क्यों कहा - समझ में आया ? यहाँ एक तो शुद्ध ज्ञान के दृष्टिवंत भी (रागादि के) कर्ता-भोक्ता नहीं हैं; तथा शुद्ध वस्तु (रागादि को) करती - भोगती नहीं है। अतः शुद्ध वस्तु की दृष्टि का परिणमनवाला (जीव) कर्ता-भोक्ता नहीं है। - यह दृष्टि की अपेक्षा से कहा। परंतु क्षायिक ज्ञान 'भी' (-केवलज्ञान परमात्मा अरिहंतदेव त्रिलोकीनाथ) निश्चय से कर्मों का अकारक एवं अवेदक भी है।

आहाहा ! तीन बोल लिये : पहले त्रिकाली शुद्ध ज्ञान लिया। फिर शुद्ध ज्ञान की परिणतिवाले - दृष्टिवाले लिये। अब अकेली दृष्टि नहीं, किन्तु केवलज्ञानी परमात्मा को क्षायिक ज्ञान हुआ अर्थात् ऐसी शुद्ध परिणति द्वारा शुद्ध द्रव्य के अवलंबन से निर्मल सम्यग्दर्शन - ज्ञान परिणति हुई, इसके द्वारा क्षायिक केवलज्ञान हुआ, वह केवलज्ञान भी (रागादि का) कर्ता - भोक्ता नहीं है। उनकी वाणी (ॐ ध्वनि) खिरती है, उस वाणी के कर्ता - भोक्ता वे नहीं हैं। - ऐसा कहते हैं।

भगवान की वाणी `ॐ' ध्वनि निकलती है। इस समय महाविदेह में `ॐ' ऐसी आवाज़ निकल रही है। ऐसी (छद्मस्थ जैसी अक्षरात्मक) भाषा तीर्थंकर की नहीं होती; क्योंकि (वे) वीतराग हो गये हैं तथा सर्वज्ञ हो गये (इसलिये) वाणी एकाक्षर - ॐ ध्वनि - निकलती है। `ॐ ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे, रची आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे'

ऐसा यहाँ कहते हैं कि `क्षायिक ज्ञान भी निश्चय से कर्मों का अकारक एवं अवेदक भी है।' आहाहा ! कितने प्रकार लिये : दृष्टि की अपेक्षा से द्रव्यस्वभाव है, वह भी राग का कर्ता-भोक्ता नहीं है। दृष्टि की अपेक्षा से शुद्धज्ञानपरिणति स्वयं उपादानरूप से (राग की) कर्ता-भोक्ता नहीं है। अब शुद्ध ज्ञान - क्षायिकज्ञान केवलज्ञानी परमात्मा उस वाणी (दिव्यध्वनि) के तथा शरीर चलता (योगकंपन) है, उसके भी कर्ता-भोक्ता भगवान नहीं हैं। भगवान को राग-द्वेष तो है ही नहीं; अतः राग-द्वेष के कर्ता-भोक्ता नहीं हैं।

आहाहा ! लोगों ने ऐसा (वस्तु स्वरूप) सुना नहीं और पैसे में अंदर घुस गये (एकमेक हो गये) हैं। वे तो मर गये। वह (पैसा) तो जड़-मिट्टी है, वे कहाँ आत्मा के हैं ? `उन्हें मैं पैदा करता हूँ और मैं खर्च करता हूँ' - इस प्रकार जड़ का स्वामी होता है; वह मिथ्यादृष्टि है; जैन नहीं है।

जिज्ञासा : भले ही मिथ्यादृष्टि हो, पर पैसेवाला तो है न ?

समाधान : पैसेवाला है ही नहीं। यह तो एकबार नहीं कहा था...! अगर एक `वाला'* पैर में निकल आये तो चिल्लाने लगता है ! तो तुझे तो कितने `वाले' लगे हैं ? - स्त्रीवाला... पैसावाला... आबरूवाला... धूलवाला... मकानवाला, (ऐसे) कितने `वाले' चिपके (हैं) तुझे ? - यह पागलपन है !

भगवान ! वीतराग का मार्ग `यह' है। `परमात्मप्रकाश' में दुनिया को पागल कहा है। ज्ञानी धर्मात्मा तत्त्व की सत्य बात जब कह रहे हों, तब पागल लोगों को धर्मी पागल जैसे लगते हैं। यह क्या कहते हो ! सारे दिन करते हैं, फिर भी करता नहीं है, ऐसा कहते हैं ! दुकान पर बैठकर व्यापार करते हैं और... यह करते हैं और यह करते हैं... खानेपीने का करते हैं, पानी पीते हैं, यह करते हैं...! कुछ भी नहीं करता, सुन तो सही ! करता है... करता है ऐसी मान्यतावाले को जब धर्मी जीव वीतराग की सत्य बात कहे, तब पागल जीव को, धर्मी पागल (जैसे) दिखते हैं। कहेगा कि यह पागल जैसी बातें हैं। हम तो पूरे दिन कर सकते हैं न - देखो यह हाथ हिलाया। भाषा बोली।

* मलिन पानी पीने के कारण होनेवाला रोग जिसके कारण पैर से लम्बा कीड़ा निकलता है।

रोटी के टुकड़े हम कर सकते हैं। (पर यहाँ कहते हैं कि) लेशमात्र नहीं कर सकता। सुन तो सही; रोटी का वह टुकड़ा दाढ़ के द्वारा भी नहीं हो रहा। रोटी का टुकड़ा (उसके) अपने द्वारा होता है। (लेकिन) उसे (अज्ञानी को) तत्त्व की खबर नहीं है। आत्मा रोटी का टुकड़ा करे, ऐसा अज्ञानी - मिथ्यादृष्टि मानता है। उसे जैनधर्म की खबर नहीं है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई ! पागल लोगों को धर्मात्मा पागल जैसे लगते हैं। क्योंकि वे बात करे कि : किसी (अन्य) का कुछ कर नहीं सकते। एक रजकण को हिला नहीं सकते। यह चश्मा यहाँ से यहाँ आ गया, उसे आत्मा कर नहीं सकता। पैर जो जमीन पर चल रहे हैं, वे पैर जमीन को स्पर्श नहीं करते, और जमीन को स्पर्श किये बिना ही पैर चलते हैं। - ऐसी परमात्मा की पुकार है। (पर ये बातें अज्ञानी को) पागल जैसी लगे कि : हम चलते हैं न ! जमीन को छूते हैं। ज़मीन को बिना छूए ही पैर चल रहे हैं ? यहाँ परमात्मा की - वीतराग सर्वज्ञ की पुकार है कि : पैर जो चल रहा है, वह जमीन को छुए बिना चल रहा है। (पर ऐसा कहने वाले) पागल लगे। आहाहा ! आँख की यह पलक झपकती है, वह जड़ से चलती है; आत्मा से नहीं। वह जड़ की दशा है, वह तो मिट्टी-पुद्गल की पर्याय है। उसे आत्मा करे, इसकी तो यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो अंदर में जो पुण्य-पाप के विकल्परूप जो राग होता है, उसका भी कर्ता-भोक्ता (सम्यक्-)दृष्टिवंत नहीं है। लेकिन शुद्ध ज्ञान, जो क्षायिक ज्ञान, केवलज्ञानी को जो हुआ वह भी वाणी आदि का कर्ता-भोक्ता नहीं है। वाणी वाणी के कारण (निकलती है)। भगवान की दिव्यध्वनि - ॐ ध्वनि - निकलती है; उस वाणी के कर्ता भी भगवान नहीं हैं। आहाहा ! भगवान की वाणी (के निमित्त) से कोई धर्म समझते हैं, तो वाणी द्वारा समझे हैं ऐसा भी नहीं है। आहाहा ! मार्ग ऐसा है !! वह (मार्ग) यहाँ कहा।

(रागादि का कर्ता-भोक्ता) वह दृष्टि की अपेक्षा से तो नहीं, यह बात तो हो गई, परंतु क्षायिक ज्ञान 'भी' अर्थात् केवलज्ञान भी (कर्ता-भोक्ता नहीं है)। शुद्धज्ञानपरिणत तो पहले लिया है। पहले शुद्धज्ञान त्रिकाली लिया, फिर शुद्धज्ञानपरिणत लिया, वह दृष्टि की अपेक्षा से कथन (किया)। अब ज्ञान की अपेक्षा से लें। '**दिट्ठी सयं पि णाणं**' दिट्ठी (दृष्टि) की बात हो चुकी। अब '**सयं पि णाणं।**' 'दिट्ठी' - इसका अर्थ तो हुआ इतना। अब '**सयं पि णाणं**' स्वयं ज्ञान - सर्वज्ञ का ज्ञान - भी वाणी का कर्ता नहीं है; उसे तो राग-द्वेष नहीं है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है। भगवान को योग में प्रदेश का कंपन होता है, किन्तु (वे) उस कंपन के कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा, वे वाणी के तो कर्ता नहीं हैं; किन्तु जब तक चौदहवाँ गुणस्थान न आये, तब तक अयोग

नहीं होता, तो असंख्य प्रदेश में योग - कंपन होता है। - अंदर असंख्य प्रदेश में कंपन होता है, उस कंपन के भी कर्ता-भोक्ता (भगवान) नहीं हैं।

अरे...रे ! सत्य तो कहाँ रह गया ! और कहाँ असत्य के मार्ग की ओर खींचकर 'हम धर्म करते हैं' और 'धर्म हो रहा है', ऐसे भ्रम में अनंत-अनंत काल चला गया !

मात्र 'दृष्टि' की अपेक्षा से नहीं, 'परंतु क्षायिक ज्ञान भी निश्चय से कर्मों का अकारक एवं अवेदक भी है।' आहाहा ! भगवान के चार कर्म (अघाती) बंधते हैं। उनके 'कर्ता', तथा वह छूटते हैं तो उनके 'भोक्ता' वे (भगवान) नहीं हैं। कर्म आठ हैं न...! (किन्तु) अरिहंत भगवान के चार (घाति) कर्म का नाश है, चार (अघाति) बाकी हैं। उन चार कर्मों के कर्ता व भोक्ता वे भगवान नहीं हैं।

'**ऐसा शुद्धज्ञान परिणत जीव क्या करता है ?**' पहले लिया न ? शुद्धज्ञान परिणत धर्मी। जो शुद्ध चैतन्यद्रव्य है, उसकी परिणति शुद्ध हुई और सम्यग्दर्शन हुआ। उस सम्यग्दर्शन में शुद्ध पर्याय हुई। वह शुद्ध पर्याय क्या करती है ? शुद्धज्ञानपरिणत जीव क्या करता है ? - '**जाणदि य बंधमोक्खं**' आहाहा..हा..हा ! गज़ब बात है, प्रभु ! - 'जानता है।' किसको ? - बंध-मोक्ष को। आहाहा !

शुद्धज्ञानपरिणत - समकिती जीव - चौथे गुणस्थान से (हैं)। श्रावक (तो) पंचम गुणस्थान (वर्ती) होते हैं। (ऐसे) सच्चे श्रावक की बात है। जो सच्चा श्रावक होता है, उसे तो पहले सम्यग्दर्शन होता है; बाद में श्रावक की पाँचवे (गुणस्थान) की दशा उत्पन्न होती है। किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि चौथे (गुणस्थान) से लेकर शुद्धज्ञानपरिणत जीव क्या करता है ? यह (रागादि का) कर्ता - उसकी तो ना कही। तो अन्य क्या करता है? - विशेष है कुछ ? - हाँ बंध-मोक्ष का - मात्र बंध का ही नहीं, भाव बंध-मोक्ष का भी - कर्ता नहीं है और भोक्ता भी नहीं है।

स्वयं का शुद्ध स्वभाव जो परमात्मस्वरूपी है, अनादि से परमात्मस्वरूपी ही है। अगर परमात्मस्वरूपी न होवे, तो पर्याय में परमात्मा(पना) आयेगा कहाँ से ? बाहर से आयेगा ? लटक रहा है कहीं ? - प्राप्त की प्राप्ति है। अंदर पड़ा (विद्यमान) है। अंदर से आता है। छोटी पीपर होती है, (वह) कद में छोटी है, रंग में काली है तथापि अंदर रस में चौंसठ पहरी चरपराहट है। उस पीपर में सोलह आना (-पूर्ण) तीखास व हरा रंग भरा हुआ है। उस प्रकार भगवान आत्मा में सोलह आना आनंद व ज्ञान भरे पड़े हैं। जैसे चौंसठ पहरी (पीपर) को जैसे-जैसे घोटते हैं, वैसे-वैसे (तीखास व रंग) बाहर आते हैं; वैसे भगवान आत्मा में पूर्ण सर्वज्ञता, सर्वदर्शीपना व पूर्ण आनंद भरा है; ऐसी जिसकी दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन - ज्ञान हुआ, वह शुद्धज्ञान परिणत जीव, बंध व मोक्ष

को केवल जानता ही है; बंध को करता नहीं है व मोक्ष को करता नहीं है। जो बंध हुआ, उसका कर्ता नहीं है; और बंध जो छूट रहा है, उसका (भी) कर्ता नहीं है।

अरे...रे ! ऐसा है ! है कि नहीं अंदर (पाठ में) ? मात्र `**जानता है। किसको ?**' कि : `**बंध-मोक्ष को।**' आहाहा ! शुद्धज्ञानपरिणत धर्मी जीव अर्थात् सम्यग्दर्शनपरिणत जीव, बंध व मोक्ष को करता नहीं है। (वह) बंध-मोक्ष का कर्ता नहीं है इतना ही नहीं (लेकिन कहते हैं कि :) `**कम्मुदयं णिज्जरं चेव**' - `**शुभ-अशुभरूप कर्मोदय को**' (जानता है)। शुभ-अशुभभाव जो होते हैं, उसका भी कर्ता-भोक्ता ज्ञानी-धर्मी नहीं है। बंध-मोक्ष का तो कर्ता नहीं है, परंतु कर्म का उदय आया और उसे स्वयं से शुभ भाव हुआ, उसके (ज्ञानी) कर्ता - भोक्ता नहीं हैं।

आहाहा ! ऐसा मार्ग है !! पागल जैसा लगे ऐसा है। पूरे दिन हम यह करते हैं न ! हम विषयों का सेवन करते हैं न ! लेकिन कौन सेवन करता है ? प्रभु ! तुझे पता नहीं है। इस शरीर की दशा शरीर से होती है, आत्मा से नहीं। ये पाँचों इन्द्रियाँ जड़ हैं, उस जड़ की पर्याय जड़ के द्वारा होती है, आत्मा के द्वारा नहीं। प्रभु ! तुझे इतना भी पता नहीं है। यहाँ तो इससे आगे बढ़कर (कहते हैं कि) शुभ-अशुभ भाव के भी (ज्ञानी) कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। कुछ समझ में आता है ?

आहाहा ! `**कम्मुदयं णिज्जरं**' शुभ-अशुभरूप कर्मोदय को तथा सविपाक - अविपाक निर्जरा के (जो) चार प्रकार हैं, उन चारों प्रकार को ज्ञानी नहीं करते। कौन से चार प्रकार ? - सविपाक, अविपाक, अकाम और सकाम। इन चार प्रकार से निर्जरा है। इन चारों को ज्ञानी - धर्मी नहीं करते।

सविपाक (निर्जरा) का अर्थ क्या ? कि : कर्म का उदय आया है, उस कारण से जो विपाक आता है; निर्जरित हो जाता है, वह सविपाक। कर्म का उदय आया है, वह विपाक होकर खिर जाता है। तथा अविपाक माने अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में आया; तो जो रागादि हैं उनका नाश हो जाता है, उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। फिर से, सविपाक माने धर्म की ओर स्वयं का पुरुषार्थ न हो और कर्म का उदय आया, (और वह खिर जाये।) (अविपाक:) पुरुषार्थ धर्म तरफ का हो, उसे भी कर्म का उदय आया वह। सविपाक : कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं; इसके कर्ता ज्ञानी नहीं हैं। फिर से :

`**शुद्धज्ञान परिणत (जीव) भी**' ऐसा लिया न...! अर्थात् सम्यग्दर्शन हो गया (ऐसा जीव) क्या करता है ? ऐसा लिया है न ? तो कहते हैं कि : जानता है। किसको ? (कि:) बंध-मोक्ष को। बंध-मोक्ष को जानता है (पर उसका) कर्ता नहीं है। वे बंध-मोक्ष के

कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। - इतना ही है ? (तो कहते हैं) कि : इसके अलावा कर्म के उदय को भी जानते हैं और देखते हैं। उदय आया (उसे) जानते हैं। राग आया, तो जानते हैं; (किन्तु) कर्ता नहीं। आहाहा..हा..हा !

सविपाक (निर्जरा): जैसे कि, यहाँ मनुष्यगति है, तो अंदर अन्य गति का भी उदय विपाक आता है, तो (वह) खिर जाता है, तो उदय विपाक में नहीं आता, खिर जाता है। इन सभी को सविपाक कहते हैं।

अविपाक (निर्जरा): अपने स्वभावसन्मुख होकर, स्वभाव की शांति में आकर कर्म का जो उदय खिर जाता है, उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं।

जिज्ञासा : समय के पूर्व ?

समाधान : समय के पूर्व भी निर्जरा ही होती है। उस समय उसका निर्जरा का - खिरने का ही काल है। समय के पूर्व कहो; तो भी खिरने का उसका काल था।

सविपाक, अविपाक समझ में आया ? भगवान ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि आठ कर्म बताये हैं। उसके भेदाभेद एकसौ अड़तालिस प्रकृति हैं। उसमें से कुछेक प्रकृतियाँ तो उदय में आकर खिर जाती हैं। जैसे मनुष्यगति है, तो नरकगति व तिर्यंचगति का उदय हो, तो वह गति खिर जाती है; आयुष्य नहीं। गति खिर जाती है, तो उसे सविपाक निर्जरा होती है। और पुरुषार्थवश अंदर उदय खिर जाता है; - (अर्थात्) स्वयं के स्वभावसन्मुख होकर, आनंद का लाभ लेकर, जो उदय आता है वह खिर जाता है; - उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। परंतु (ज्ञानी) उस सविपाक को जानते हैं और अविपाक को भी जानते हैं; कर्ता नहीं हैं। आहाहा ! (ज्ञानी) सविपाक को भी नहीं करते (और) अविपाक को भी नहीं करते। अरे...रे ! यह तो अभी शुरूआत हो रही है, हं ! यह तो अभी पूरा पृष्ठ भरा है। धीरे-धीरे आयेगा। धीरे-धीरे (पचाना) !

धर्मी कर्म के उदय को जानते हैं, उस उदय को करते नहीं। अथवा शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के राग आये उसके कर्ता नहीं हैं। तथा सविपाक - अविपाक निर्जरा को जानते हैं। कर्म का उदय - विपाक स्वयं की योग्यता से आया और खिर जाता है। जैसे कि यहाँ मनुष्यगति है और वहाँ तिर्यंचगति का उदय आया, तो (गति हं ! आयुष्य नहीं) वह खिर जाता है, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। उसका भी 'कर्ता' आत्मा - ज्ञानी नहीं है। (वे तो) सविपाक निर्जरा को जाननेवाले हैं। आहाहा !

अब किसी न किसी दिन इस बात को समझना तो पड़ेगा कि नहीं ? भले सूक्ष्म पड़े। मतलब सूक्ष्म पड़े और कठिन पड़े... लेकिन प्रभु ! अपूर्व बात है। नाथ ! तेरे घर की बात कोई अपूर्व है, तुने उसे सुनी नहीं है, नाथ ! आहाहा ! त्रिलोकीनाथ की पुकार

है। सर्वज्ञ - सर्वदर्शी तीर्थंकरदेव की वाणी की पुकार है। (उस) वाणी के भी कर्ता नहीं हैं - उन्हीं की ही पुकार है कि :

धर्म परिणत जीव को शुभभाव उदय में आये, उदय आता है; किन्तु (वे) कर्ता नहीं बनते, (धर्मी को) भक्ति के, दया के, दान के विकल्प आते हैं, परंतु कर्ता नहीं बनते। इसी तरह अशुभ उदय आते हैं। सम्यग्दृष्टि को भी ज़रा आर्त्तध्यान हो जाये, थोड़ा रौद्रध्यान हो जाये, विषयवासना आ जाये, किन्तु (वे) उसके कर्ता-भोक्ता नहीं हैं। जानते हैं, होता है (उसे) जानते हैं। क्योंकि भगवानआत्मा ज्ञानस्वरूपी है। चैतन्यप्रकाश की बाढ़ (है)। भगवान चैतन्यप्रकाश की बाढ़ से व नूर से भरा पड़ा है। वह ज्ञानस्वरूपी प्रभु (ज्ञान के अलावा) क्या करे ? कुछ समझ में आया ? अरे...रे ! उसने कभी भी (अपना मूलस्वरूप) सुना नहीं। आहाहा ! आगे आयेगा.....

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-२ ता. ३०-७-१९७९

३२० - गाथा। `समयसार' में मूल पाठ इस प्रकार है : `**दिट्ठी जहेव।**' यहाँ `**दिट्ठी सयं पि**' ऐसा लिया है। `**जहेव**' का मतलब है `जिस प्रकार'। जैसे नेत्र हैं वे पर के कर्ता नहीं हैं व पर के भोक्ता नहीं हैं। (धौंकनी / भाथी) जिस प्रकार अग्नि को दहकाती है, उस प्रकार यह भगवान आत्मा पर का कुछ करता नहीं है। जिस प्रकार लोहपिण्ड (अग्नि से) गरम हो जाता है, उसके भाँति नेत्र पर का कोई भोक्ता नहीं है, उसी प्रकार आत्मा (पर का - रागादि का कर्ता-भोक्ता नहीं है)।

आहाहा ! आत्मा उसे कहें (कि) जिसे आत्मा की दृष्टि - अनुभव हो। (अर्थात्) `मैं' शरीर-वाणी तो नहीं, कर्म नहीं, विकार नहीं, किन्तु एक समय की पर्याय जितना भी `मैं' नहीं। `मैं तो त्रिकाली ज्ञायक, आनंद का घन, चिदानंद परमात्मस्वरूप हूँ।' ऐसा अंतर्वेदन दृष्टि में आये, उसका नाम धर्म और सम्यग्दर्शन। अभी यह धर्म की प्रथम शुरूआत है। इसके बिना, कभी भी धर्म होता नहीं।

यहाँ तो दो बात ली है कि : वह धर्मी जीव दृष्टि की अपेक्षा से, रागादि का कर्ता नहीं है। तथा क्षायिक ज्ञान जो केवलज्ञान है, वह भी पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है। आत्मा जैसा शुद्ध है (ऐसा) ज्ञानपरिणतजीव, जो धर्मी है (वह राग को करता नहीं है और वेदता नहीं है)। `**मात्र दृष्टि ही नहीं परंतु क्षायिकज्ञान भी निश्चय से कर्मों का**

अकारक एवं अवेदक भी है।' ज्ञान शब्द से आत्मा, व ज्ञान शब्द से क्षायिकपर्याय - इस प्रकार दो अर्थ लिये हैं।

अब अपने यहाँ यह आया है : '**शुद्धज्ञानपरिणत जीव**' (अर्थात्) जिसने भगवानआत्मा - शुद्धचैतन्यघन - की दृष्टि की और उसका परिणमन हुआ, ऐसे सम्यग्दृष्टि को यहाँ शुद्धज्ञान परिणत (जीव) कहने में आया है।

सूक्ष्म बात है, भाई ! सम्यक् अर्थात् सत्य, पूर्णानंद का नाथ परमात्मस्वरूप। उसकी दृष्टि हुई, तो उसमें सम्यग्ज्ञान भी हुआ ! ऐसे सम्यग्दृष्टि को यहाँ ज्ञानपरिणत कहने में आता है। शुद्धज्ञानपरिणत पर्याय। द्रव्य तो शुद्ध है, उसकी दृष्टि हुई, तब वह शुद्धता पर्याय में भी है। अब यहाँ तो दृष्टि के साथ जो आत्मा शुद्धज्ञानपरिणत हुआ, वह क्या करता है ? कि : '**जाणदि य बंधमोक्खं**' आहाहा ! शुद्धज्ञानस्वरूप प्रभु ! पहले यह करना है कि, 'मैं तो चैतन्य ज्ञायक चिदानंद पूर्ण (हूँ)' ऐसा अनुभव करके सम्यग्ज्ञान करना। धर्मी का यह सर्व प्रथम कर्तव्य है। 'भगवानआत्मा' ज्ञानस्वभावी है। इस कारण से, वह शुद्धज्ञानपरिणत जीव-धर्मपरिणत जीव, पर्याय में जानता है। किसको ? (कि:) बंध-मोक्ष को। जो बंध है, उसे भी ज्ञानी जानते हैं। (परंतु) बंध को नहीं करते। थोड़ा (अस्थिरता का) राग है। राग से बंधन भी है। उस बंध को - राग को ज्ञानी जानते हैं; बंध को करते नहीं। आहाहा ! अब ऐसी बातें !! '**जाणदि**' किसको ? - बंध को। अरे ! बंध को क्या मोक्ष को भी (जानता है)। आहाहा ! शुद्ध परिणत आत्मा मोक्ष को करते नहीं हैं। वे तो जो मोक्ष होता है, उसे जानते हैं। ऐसी बात है !!

यहाँ तो आत्मा के कृषिपंडित की बात चल रही है। आत्मा खेती जिसने की - 'मैं तो शुद्ध चिदानंद आत्मा आनंदघन हूँ' ऐसी जिसकी दृष्टि और अंतर्ज्ञान हुआ, तो ऐसे ज्ञानी का कर्तव्य व भोक्ता (भोक्तृत्व) क्या ? तो कहते हैं कि : बंध का भी कर्ता नहीं और बंध का भोक्ता भी नहीं, वह बंध को जाननेवाला है। क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु ! वह तो बंध होता है उसे जानता है, कर्ता नहीं है। तथा मोक्ष होता है, उसे जानता है, कर्ता नहीं है। आहाहा ! गज़ब बात है, भाई ! कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! चैतन्य-नाथ प्रभु मात्र ज्ञानमयी स्वभाव से भरा हुआ भंडार, अनंत-अनंत पवित्र गुण का गोदाम आत्मा, अनंत-अनंत शक्तियोंका संग्रहालय - संग्रह का स्थान वह भगवान आत्मा, अनंत-अनंत स्वभाव का सागर प्रभु, प्रथम उसकी जिसे दृष्टि हुई, उसे किसीकी अपेक्षा नहीं है। इस द्रव्य का आश्रय लिया, तो दृष्टि हुई सम्यक्। और उसके साथ ज्ञान की परिणति हुई। वह शुद्धज्ञानपरिणत जीव कैसा है ? - यह बात चल रही है। तो कहते हैं कि : बंध का कर्ता नहीं व भोक्ता नहीं। आहाहा ! इस प्रकार मोक्ष

का (भी) कर्ता नहीं है; जानता है कि, मोक्ष हुआ। आहाहा ! गज़ब बात है !!

आठ लाख दिये हैं तो (भी) धर्म नहीं हुआ, ऐसा कह रहे हैं। बेंगलोर में मंदिर बनाऊँ तो धर्म हो गया, ऐसा नहीं है। (श्रोता :) बड़ा मंदिर बनाया है। (उत्तर :) कौन बनाये ? बनाया ही नहीं है। बना तो उसकी - परमाणु की पर्याय से बना है। आहाहा ! (अन्य) कौन बनाये, प्रभु !?

यहाँ तो कहते हैं कि : आत्मा मोक्ष को भी करता नहीं, मोक्ष को जानता है। बंध-मोक्ष को मात्र जानता है, इतना ही नहीं, `**कम्मुदयं णिज्जरं चेव**' - धर्मी तो शुभ-अशुभरूप कर्मोदय को (भी) जानता है। जब तक (पूर्ण) वीतराग नहीं (हुए) हैं, तो शुभ कर्म का उदय आने पर शुभभाव भी होते हैं, अशुभभाव भी होते हैं। वे कर्म के उदय को जाननेवाले रहते हैं। धर्मी सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती छह खंड के राज्य में हो, ९६ हज़ार स्त्रियाँ हों, फिर भी वे अपने में (जो) शुभ-अशुभभाव आते हैं उन्हें जानते हैं, करते नहीं।

आहाहा ! ऐसा मार्ग !! इसके बिना जन्म-मरण का अंत नहीं आयेगा, प्रभु ! चौरासी के अवतार... आहाहा ! कहाँ नरक और निगोद और....!

यहाँ कहते हैं कि : प्रभु ! इस आत्मा का शुद्धज्ञान जो त्रिकाली शुद्धज्ञान, इसकी परिणति - पर्याय में `शुद्धज्ञान' सम्यग्दर्शन से हुआ; तो वह `शुद्धज्ञानपरिणत जीव' (भले) छह खंड के राज्य के बीच दिखें; (तथापि) `चक्रवर्ती छह खंड को नहीं साधते, अखंड को साधते हैं।' सोगानी में (- `द्रव्यदृष्टि प्रकाश' में) है न !

(श्री निहालचंद्रजी सोगानी ने) यहाँ (सोनगढ़ में) समकित पाया था। यहाँ हमारे पास आये। अन्य का - योगी-जोगी - सभी का अभ्यास बहुत किया। शास्त्र का अभ्यास करते-करते भी कहीं भी (आत्मा का) पता न लगा, तो यहाँ आये। आये तो (मैं ने) इतना कहा : भाई ! ये विकल्प, जो दया-दान आदि के उठते हैं उनसे प्रभु तो अंदर भिन्न है। आहाहा ! सोगानी। उनका `द्रव्यदृष्टि प्रकाश'! ...यहाँ कमरे में, यहाँ रसोईघर में (-समिति के कमरे में) आत्मध्यान में समकित हुआ। (मैं ने) इतना कहा कि : `राग से भिन्न `प्रभु' अंदर है।' तो पूरी रात - शाम से लेकर सुबह तक ध्यान लगाया। राग से भिन्न, राग से - विकल्प से भिन्न करते-करते सुबह होने से पहले निर्विकल्प सम्यग्दर्शन लेकर उठे ! बहुत शक्ति थी... बहुत ! आखिर में शांति से देह छोड़कर स्वर्ग में चले गये।

यहाँ कहते हैं कि : शुद्धज्ञानपरिणत जीव मोक्ष को भी जानता है, किन्तु मोक्ष को करता नहीं है। ये सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ के भाव दिखा रहे हैं : प्रभु तो चैतन्यस्वरूप है न ! `वह चैतन्यस्वरूप' करे क्या ? - वह तो हो रहा है उसे जाने - देखें। (दूसरा)

करे क्या ? आहाहा..हा !

भगवान ने यह नेत्र का तो दृष्टांत दिया। 'नेत्र' क्या करें ? (ज़मीनमें से) मिट्टी खोदकर गड्ढ़ा करे ? (या) यों...यों करके गड्ढ़ा भरे ? आँख मकान बना सके ? (या) यों...यों करके मकान तोड़ देवे ? - (कुछ न करे !) मकान बनता है, व मकान टूटता है, उसे नेत्र देखता है। ऐसे भगवान आत्मा (देखता - जानता है)। नेत्र का तो दृष्टांत दिया है : '**दिट्ठी जहेव**' अथवा '**दिट्ठी सयं**'। आहाहा !

बहुत (गंभीर) बात, बापू ! प्रभु का मार्ग !! लोगों ने बाहर में - भक्ति और पूजा और मंदिर और रथयात्रा और.... इन सब में - धर्म (होना) मनवा लिया ! वह कोई धर्म नहीं है। करोड़ों - अरबों रुपये खर्च करे तो भी (धर्म नहीं है), परंतु वह तो जड़ है... मिट्टी है मिट्टी। रुपये आत्मा के हैं ऐसा मानना यही मिथ्यात्व है। अजीव (पदार्थ) 'जीव के हैं,' ऐसी मान्यता ही भ्रम व अज्ञान है। आहाहा..हा !

यहाँ तो कहते हैं कि : ज्ञानी राग को भी नहीं करता, मोक्ष को नहीं करता। मोक्ष होता है, उसे जानते हैं। आहाहा..हा..हा ! ऐसी बात है, भाई ! '**कम्मुदयं**' ज्ञानी कर्मोदय को जानते हैं। है...! शुभ-अशुभ भाव - उनको जानता है, (इनको) अपना मानकर (उसका) कर्ता है और भोक्ता है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! '**कम्मुदयं**' शुभ-अशुभ कर्मोदय को जानता है।

अब, सविपाक-अविपाक निर्जरा। यहाँ तक तो चल चुका है कल। 'सविपाक' क्या ? कि : जैसे कर्म का उदय मनुष्यगति का है, (चार गति की प्रकृति है न ?) तो अंदर तिर्यंचगति का उदय भी है, तो वह उदय खिर जाता है, इसका नाम सविपाक निर्जरा कहते हैं; अविपाक नहीं। अर्थात् यहाँ अंदर जो गति है, वह तो मनुष्यगति है। यह मनुष्यदेह है, वह यह 'गति' नहीं है। यह तो जड़ है। यह मनुष्यगति नहीं, मनुष्यगति के अंदर (आत्मा में) जो योग्यता है - मनुष्य होने की योग्यता है, यह 'गति' इस गति का विपाक है, और दूसरी गति का विपाक आता है। लेकिन इस एक गति में दूसरी गति आती है; तो (वह) विपाक (होकर) खिर जाती है। इसका नाम सविपाक निर्जरा कहने में आता है। यह होती है; इसे भी ज्ञानी तो जानते हैं। सविपाक निर्जरा करुँ, ऐसा भी नहीं।

आहाहा ! 'चैतन्य' क्या करे ? 'नेत्र' क्या करे ? इस प्रकार भगवान चैतन्य-नेत्र ! जगत दृश्य और प्रभु दृष्टा ! जगत ज्ञेय और प्रभु ज्ञाता ! वह 'ज्ञाता' क्या करे ? ज्ञाता ज्ञेय को जाने। इसमें भी अपनी मोक्ष-पर्याय को भी जाने, करे नहीं - ऐसा कहते हैं। आहाहा..हा ! गज़ब बात है, भाई ! बंध-मोक्ष (करे नहीं)।

अब, निर्जरा : सविपाक निर्जरा - गति का कर्म का उदय आता है। गति तो

मनुष्यगति है। (किन्तु) दूसरी प्रकृति का उदय तो आता है और वह खिर जाता है, उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। उसे भी ज्ञानी जानते हैं। अविपाक निर्जरा - अपने स्वभावसन्मुख होकर जो पुरुषार्थ में स्थित रहे, तब राग का खिर जाना; इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। (अर्थात्) पुरुषार्थ से - स्वयं का पुरुषार्थ - स्वभावसन्मुख हुआ, तो जाननेवाला - देखनेवाला रहता है, तब कर्म का जो उदय है; रागादि आते हैं, वे खिर जाते हैं, वह अविपाक निर्जरा। वह गति आदि की सविपाक तथा रागादि की अविपाक निर्जरा। धर्मी का पुरुषार्थ अपने स्वरूपसन्मुख है, तो राग के सन्मुख नहीं है; तब राग आता है तो खिर जाता है। इसे अविपाक निर्जरा कहने में आता है। (ज्ञानी) इस अविपाक निर्जरा को भी जानते हैं, करते नहीं। आहाहा !

यहाँ तो (लोग) पूरे दिन... मैं पैसेवाला हूँ, इतने यहाँ खर्च करे और वहाँ करे और इधर करे और बड़ा व्यापार और उद्योग... घात करता है अपना ! यहाँ तो कहते हैं कि : व्यापार और पैसों को तो आत्मा कर नहीं सकता। किन्तु आत्मा में कर्म का जो उदय आता है, इसमें वर्तमान गति में भिन्न गति का उदय खिर जाता है, उसका भी कर्ता आत्मा नहीं है। तथा राग आया, पुरुषार्थ से विपाक में उसका खिर जाना - इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। इस अविपाक निर्जरा को भी (ज्ञानी) करते नहीं हैं। धर्मी राग का तो कर्ता नहीं है। आत्मा दया-दान-व्रत के परिणाम का कर्ता नहीं है। (परिणाम) आते हैं, (किन्तु उसका) कर्ता नहीं है। उसकी निर्जरा हो जाती है। स्वयं के स्वभावसन्मुख दृष्टि है, उससे वह अविपाक निर्जरा होती है, इसे भी जानते हैं। आहाहा ! यह गाथा अलौकिक है। दो बातें तो कल चली थी। अब,

ज्ञानी सकाम निर्जरा व अकाम निर्जरा - दोनों को जानते हैं। सकाम निर्जरा : अभी जो अविपाक कहा वह सकाम जाति की है। अपने पुरुषार्थ से स्वभावसन्मुख होकर स्थिर हुआ, तब राग का जो नाश होता है, इसे सकाम निर्जरा कहने में आती है। स्वभावसन्मुख होकर अपनी भावना में जो रत है, वहाँ जो रागादि खिर जाते हैं, उसे सकाम निर्जरा कहने में आती है। इसे भी (ज्ञानी) जानते हैं, देखते हैं। आहाहा..हा..हा !

यहाँ तो पूरे दिन पर का मैं ने यह किया, और मैं ने किया... मैं ने किया... वह भी अभी तो पर का। अरे प्रभु ! क्या करे ? प्रभु ! क्या करता है ? तू तो ज्ञाता है न ! आँख तो जानने का (ही) काम करती है न, प्रभु ! इस प्रकार आत्मा (ज्ञाता-दृष्टा मात्र है)।

(१९७६) '७६ की बात है कि वढ़वाण (शहर) में एक भाई नदी में गड्ढ़ें करे और तालाबमें से पानी लाये और गड्ढ़ें पानी से भरे। नदी के किनारे पर वे अपने हाथों

से बगीचा बना रहे थे, मैं ने कहा कि : आत्मा यह (कार्य) कर सकता है ? यह तुम क्या कर रहे हो ? तुम यह गड्ढ़ा कर सकते हो ? पानी ला सकते हो ? पेड़ों को पानी पिला सकते हो ? यहाँ तो कहते हैं : ये (काम) तो नहीं; किन्तु अंदर में शुभ राग आया उसका भी कर्ता-भोक्ता आत्मा नहीं। वह तो निर्जरित हो जाते हैं। आहाहा ! अति गहन ! जन्म-मरण रहित होने की चीज़ (-विधि) वीतरागमार्ग में कही, ऐसी (अन्य) कहीं भी नहीं है। सर्वज्ञ परमात्मा ने 'यह' कहा ऐसी चीज़ अन्यत्र कहीं नहीं है। इनके संप्रदाय में (-दिगंबर में) जन्म लिया, उन्हें भी खबर तक नहीं है !

यहाँ सकाम निर्जरा - समझ में आया ? - स्वयं के स्वभावसन्मुख - पुरुषार्थ से राग की जो निर्जरा हो गई, इसका नाम सकाम (निर्जरा)। अकाम निर्जरा : यह ज्ञानी को भी होती है। अकाम (निर्जरा) क्या ? - ज्ञानी हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, आत्मा का भान है। दुकान में बैठे हैं, कपड़े का धंधा है या कोई भी धंधा (हो), तो उसमें बड़ा ग्राहक आ गया - दो-चार हज़ार की कमाई करवानेवाला - तो एक समय का खाना छोड़कर शाम को (खायेंगे)। लड़का आया कि पिताजी भोजन तैयार है। (तब कहे कि) शाम को चार बजे (खायेंगे)। अभी ग्राहक है। भूख तो है फिर भी अभी उन्होंने वह (भोजन) छोड़ दिया, तो इसका नाम अकाम निर्जरा है। चार बजे आहार लिया। भावना तो नहीं है, लेकिन पर के कारण से हुआ; तो यह अकाम निर्जरा। इस अकाम निर्जरा को भी ज्ञानी तो जानते हैं।

श्री जयसेनाचार्य ने इस ३२० - गाथा (की टीका की) रचना करके गज़ब काम किया है ! आहाहा ! कहते हैं कि : ज्ञानी को भी अकाम निर्जरा होती है। अरे ! यह क्या ? ठीक समय पर दस बजे भोजन करने की तैयारी... और पिताजी (या कोई स्वजन) आदि की मृत्यु हो गई। तो ज्ञानी उस समय आहार न करे और फिर शाम को करे.... चार बजे। इतनी देर क्षुधा सहन की। यह अकाम हुई। कोई भावना नहीं थी, किन्तु प्रसंग ऐसा पड़ गया तो इस प्रकार हुआ। यह अकाम निर्जरा होती है। इस अकाम निर्जरा को भी ज्ञानी जानते हैं। कुछ समझ में आया ?

भाई ! मार्ग कोई दूसरा है। यूँ का यूँ कह देना और पढ़ देना यह एक चीज़ है। अंतर में समझना - अंतर्दृष्टि करना - यह कोई अलौकिक चीज़ है। आजकल तो सभी संप्रदायों में गड़बड़ हो गई है : व्रत करो, उपवास करो, मंदिर बनाओ, पूजा करो, यात्रा करो ! (किन्तु) यह तो सारी राग की क्रियाएँ हैं। और पर की क्रिया - जड़ की क्रिया का 'कर्ता' हो जाये कि 'मैं ने यह मंदिर बनवाया' - (यह) मिथ्यात्व है। आहाहा !

जिज्ञासा : मंदिर भी बनाये और मिथ्यात्व भी (होवे) ?

समाधान : कौन बनाये ? इसकी पर्याय में उस समय क्रमसर इन परमाणु में जन्मक्षण अर्थात् उत्पत्तिकाल है, तो उत्पत्ति होती है। इसे अन्य कोई बनाये, (ऐसा) तीन काल में नहीं होता। मंदिर (बनाने) में (जिसने) आठ लाख दिये, तो (उसके) चालीस लाख पैदा हो गये ! (लेकिन) किसे कमाई हुई ? लक्ष्मी किसकी है, प्रभु ? इसमें यदि कदाचित् शुभभाव हो तो वह भी पुण्य-बंध का कारण है और (यदि) वह शुभ (भाव) का 'कर्ता' हो जाये तो वह मिथ्यादृष्टि है। अर...र..र ! ऐसी बात है !

(यहाँ कहते हैं कि:) भगवानआत्मा, अनंत शक्ति से भरा हुआ, एकमात्र ज्ञानस्वरूपी जल से भरा है ! ऐसे प्रभु (की) जिसे दृष्टि हुई और शुद्ध ज्ञान की परिणति प्रगट हुई, ऐसा शुद्धज्ञानपरिणत (जीव) बंध-मोक्ष को करता नहीं है, किन्तु जानता है; तथा सविपाक - अविपाक निर्जरा को भी जानता है। (पाठ में) है '**दो प्रकार की निर्जरा को भी जानता है।**'

आहाहा ! बहुत कठिन भाषा। आचार्यों ने गज़ब के काम किये हैं। लोगों को सुनने मिले नहीं, और सुनने मिल जाये तो फटाक से पकड़ में नहीं आये (कि) यह क्या बात कह रहे हैं। पूरा दिन करते हैं और दुकान में बैठते हैं... ऐसा करो, यह लाओ, इसकी तैयारी करो, यह माल लाओ, ऊपर से उतारो ये कपड़े, पाँच लाख के नये कपड़े ऊपर भर रखें हैं.... वे कपड़े, ऊपर से लाओ, ग्राहक को दो ! (यहाँ) कहते हैं कि : उन कपड़ों को उतारकर नीचे रखना... यह (काम) आत्मा कर ही नहीं सकता। उन कपड़ों को दूसरों को (ग्राहक को) देता है... तो (आत्मा) दे ही नहीं सकता। अरे ! यह तो ठीक... किन्तु औरों को पैसा देता है... तो उन पैसों को आत्मा दे ही नहीं सकता। पैसा जड़ है... अजीव की क्रिया होती है। तो (अगर ऐसा) माने कि 'मैं ने दूसरों को पैसे दिये' तो वह तो अजीव की क्रिया का स्वामी होकर मिथ्यादृष्टि हुआ। (श्रोता :) रुपयें भी दें, और अपनी गिनती मिथ्यादृष्टि में भी करायें ? (उत्तर :) रुपये कहाँ इसके (अधिकार में) थे ? - इसके थे कहाँ ? रुपये तो अजीव के हैं। जो रुपये हैं, वे तो अजीव के हैं। नोट हो, रुपया हो, सोना हो, हीरा-माणिक हो, (वे तो सब अजीव के हैं)। (इन्हें) कौन दे और कौन ले ? यहाँ कहते हैं कि : हीरों का देना-लेना तो आत्मा कर नहीं सकता; क्योंकि वह तो जड़ की पर्याय है। लेकिन आत्मा में राग आता है, उसका भी कर्ता-भोक्ता आत्मा नहीं है। और (उसका) कर्ता-भोक्ता माने तो वह आत्मा नहीं। आहाहा..हा..हा ! ऐसा (वस्तु-)स्वरूप है !

अब भाषा एकदम गहराई से ली है : '**सर्व विशुद्ध**' - भगवानआत्मा सर्वविशुद्ध है और '**पारिणामिक - परमभावग्राहक**' है। आहाहा ! त्रिकाली परम स्वभावभाव, जो नित्यानंद

ध्रुव प्रभु, उसे यहाँ पारिणामिक भाव कहते हैं। ऐसा पारिणामिक - परमभावग्राहक - ऐसा पारिणामिक त्रिकाली भाव - पर्याय नहीं; राग तो नहीं, पुण्य तो नहीं किन्तु एक समय की पर्याय भी नहीं; - `सर्वविशुद्ध - पारिणामिक - परमभावग्राहक' भगवानआत्मा का पारिणामिक सहज स्वभाव, ऐसा `परमभावग्राहक,' (अर्थात्) ऐसे परमभाव को जाननेवाली - `**शुद्धउपादानभूत**' - वह त्रिकाली चीज़ है। वह शुद्धउपादानभूत है। यहाँ पर्याय की बात नहीं है। जो त्रिकाली द्रव्य है, वह शुद्धउपादानभूत है। इसमें पर की अपेक्षा बिना अनंत गुण भरे पड़े हैं; वह शुद्धउपादान है, ध्रुव उपादान है।

आहाहा ! `**सर्वविशुद्ध - पारिणामिक - परमभावग्राहक**' पारिणामिक ऐसा परमभाव - सहजात्मस्वरूप ऐसा परमभाव - ज्ञायकभाव, ऐसा सहज पारिणामिकभाव, इसका ग्राहक, अर्थात् ऐसे परमभाव को जाननेवाले - `**शुद्धउपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिकनय से**' यानी कि शुद्धउपादानभूत त्रिकाल, इसे शुद्धद्रव्यार्थिकनय से - शुद्ध द्रव्य का प्रयोजन है जिसे, ऐसे शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से (तो यह) `**-जीव कर्तृत्व - भोक्तृत्व से (शून्य है)।**'

आहाहा ! भगवान आत्मा, चैतन्यपरिणामी, परमभावस्वभाव ! आचार्य को भी कहने में भाषा कम पड़ती है... क्या कहते हैं ? इतने शब्दों का प्रयोग किया है - प्रभु ! तू सर्वविशुद्ध परमात्मस्वरूप हो। शुद्धपारिणामिक सहज स्वभावभाव तेरा स्वरूप है। वह शुद्धउपादानभूत है। निमित्त नहीं, अशुद्धउपादान नहीं; इसी तरह पर्याय का - क्षणिक का शुद्धउपादान, वह भी नहीं। आहाहा ! द्रव्य का शुद्धउपादानभूत (अर्थात्) जिसमें से आनंद का ग्रहण हो, ऐसी चीज़ को यहाँ शुद्धउपादान कहते हैं। जिसमें से अतीन्द्रिय आनंद का ग्रहण हो, अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आये - ऐसी चीज़ को `शुद्धउपादान' कहते हैं। ऐसी चीज़ को हां। वेदन होना तो पर्याय में है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं !! वीतरागमार्ग अलौकिक है।

प्रभु ! अंदर सर्वविशुद्ध चैतन्यघन प्रभु, वह पारिणामिक - परमभाव वस्तु (है)। `परमभाव' है वह क्षायिकभाव नहीं; उदयभाव नहीं; उपशमभाव नहीं। केवलज्ञान है वह क्षायिकभाव (है)। वह भी अंतर (वस्तु) में नहीं है। आहाहा ! वह (वस्तु) तो पारिणामिक - परमभावग्राहक ! (जो) केवलज्ञान है, उसे - पर्याय को भी पारिणामिकभाव कहने में आता है। किन्तु यह प्रभु त्रिकाल है; वह तो परमभाव है; परमपारिणामिकभाव है। आहाहा..हा..हा ! ऐसा (परमभाव) ग्राहक; (अर्थात्) इसे जाननेवाली (यानी कि) ऐसे परमपारिणामिक भाव की ग्राहक - पकड़नेवाली शुद्धद्रव्यार्थिकनय से (जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से शून्य है)। शुद्धउपादानभूत अर्थात् त्रिकाली ध्रुव ऐसा भगवानआत्मा, पूर्ण ध्रुव जीव - शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से (अर्थात्) शुद्धद्रव्य जिसका प्रयोजन है, ऐसे नय से - कर्तृत्व-भोक्तृत्व से शून्य है। राग का कर्ता व मोक्ष का कर्ता(पना) -

इससे भी शून्य है। आहाहा..हा..हा !

कठिन बात है, भाई ! इसे सुनना तो पड़ेगा। ये जैन (कुल) में जन्म लिया (इन्हें जैनमार्ग की खबर तक नहीं है।) इस समय तीन लोक के नाथ परमात्मा तो महाविदेह में बिराजमान हैं, उनकी वाणी 'यह' है। कुंदकुंदाचार्य संदेश लेकर आये। परमात्मा 'ऐसा' फरमाते हैं। वे तो अनुभवी - चारित्रवंत थे, एकभवतारी, मोक्ष में जानेवाले। किन्तु कहने में ऐसा आये कि 'जिनवर ऐसा कहते हैं।' 'यह' कहता है कौन ? कि : भगवान 'ऐसा' कहते हैं। जिनेश्वरदेव 'ऐसा' कहते हैं कि :

तेरा आत्मा अंदर सर्वविशुद्ध - पूर्ण है। परमपारिणामिक, परम सहज स्वभावभाव (है)। उसे जाननेवाली ऐसी त्रिकाल शुद्धउपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिकनय से, (अर्थात्) शुद्धद्रव्य को जानने का जिसका प्रयोजन है, ऐसे नय से, जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से शून्य है। भगवानआत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्व से शून्य है।

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि अंदर शुद्धद्रव्यार्थिकनय (शुद्धस्वरूप) पर पड़ी है, चतुर्थ गुणस्थान से। अभी श्रावक(पना) व मुनि(पना) तो बहुत दूर रहा ! बापू ! श्रावक तो पंचम गुणस्थान, मुनि तो छठा गुणस्थान - वह दशा तो कोई अलौकिक बात है ! यहाँ तो अभी सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में हैं। वे भी शुद्धद्रव्यार्थिकनय से स्वयं को - त्रिकाली को परमपारिणामिकभाव - शुद्ध मानते हैं। तथा उस पारिणामिकभाव को माननेवाला कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित है। राग के कर्तृत्व व राग के भोक्तृत्व से तो रहित है; किन्तु बंध-मोक्ष के कर्ता व भोक्ता(पने) से भी रहित है।

यहाँ '**जाणदि**' कहा है न ? कुछ समझ में आता है ? बंध-मोक्ष से, कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा बंध-मोक्ष के कारण (से प्रभु रहित है)। क्या कहते हैं ? - बंध का कारण जो मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, योग - इनसे भी प्रभु तो भिन्न - रहित है। तथा मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - इससे भी प्रभु तो रहित है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ? सूक्ष्म अधिकार है भाई !

कहते हैं : भगवानआत्मा पूर्णानंद प्रभु ! जिसे उसकी दृष्टि हुई, जिसे इसका ज्ञान हुआ, वह बंध-मोक्ष का कर्ता नहीं है व बंध-मोक्ष का भोक्ता भी नहीं है। (प्रभु) बंध-मोक्ष के कारण (से भी रहित है)। इस बंध-मोक्ष के कारण कौन से बताये ? (कि:) बंध का कारण - मिथ्यात्व, कषायादि - से भी रहित; तथा मोक्ष का कारण - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - से भी रहित; - यह (वस्तु) तो बंध-मोक्ष के कारण से रहित है; और बंध के परिणाम व मोक्ष के परिणाम से शून्य (है)।

ये परिणाम समझे न ? - वह तो कारण कहा था (कि) मोक्ष के कारण से शून्य

(है); परंतु यहाँ तो कहते हैं कि : मोक्ष की पर्याय से शून्य (है)। मोक्ष भी परिणाम है न ! तो जो त्रिकाली वस्तु है वह उससे रहित है, शून्य है।

आहाहा..हा..हा ! कठिन (बहुत ऊँची) है गाथा, बापू ! ऐसी बात समझने - सुनने न मिले। `यह' तो परमात्मा की परम सत्य पुकार है। जिनेश्वरदेव की सभा में इन्द्र आते हैं, इन्द्रानी आती है; एकभवतारी इन्द्र, उनकी पटरानी, भी एकभवतारी - एक भव के बाद मोक्ष जानेवाली, भगवान के पास सुनने आती है। (इनके) समक्ष `यह बात' भगवान वहाँ (महाविदेह) में कहते हैं।

आहाहा ! `**सर्वविशुद्ध - पारिणामिक**' कहा है; `परिणामिक' ऐसा नहीं कहा। `पारिणामिक' कहा। `सहज स्वभाव' कहा। परमभावग्राहकनय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से तथा बंध-मोक्ष के कारण से रहित है। मोक्ष का कारण जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - उसके कर्ता(पने) से (-कर्तृत्व से) शून्य है। मोक्ष का कारण जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उससे भी वस्तु शून्य है। द्रव्यार्थिकनय से - जो दृष्टि का विषय है वह - मोक्ष के कारण से शून्य है। आहाहा ! सुना नहीं है कभी भी ये सब।

जिज्ञासा : सुनानेवाले कभी मिले नहीं तो क्या करें ?

समाधान : बाहर में व्यापार-धंधे के लिए कैसे चारों ओर खोजने चल देता है ?

(यहाँ कहते हैं:) अंदर का धंधा करनेवाला प्रभु - `शुद्धज्ञानानंद, सर्वविशुद्ध, परमस्वभावभाव मैं हूँ।' ऐसा व्यापार करनेवाला - बंध-मोक्ष के कारण से शून्य है। आहाहा ! वस्तु जो त्रिकाल है, उसमें मोक्ष-पर्याय की शून्यता है। त्रिकाली चीज़ जो कि सम्यग्दर्शन का विषय है, वह बंध के कारण व मोक्ष के कारण से शून्य है। यह तो ठीक, लेकिन अब (कहते हैं कि) बंध के परिणाम व मोक्ष के परिणाम से भी शून्य है। आहाहा ! कर्तृत्व - भोक्तृत्व से तो शून्य है, बंध-मोक्ष के कारण से शून्य है तथा बंध-मोक्ष के परिणाम से (भी शून्य है)। वर्तमान मोक्ष के परिणाम - केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंत आनंद, अनंत वीर्य-पुरुषार्थ, ऐसे परिणाम - से भी वस्तु तो शून्य है। द्रव्य में वह है ही नहीं; वह तो पर्याय में है। बंध-मोक्ष के कारण हैं वे तो पर्याय में हैं। मोक्ष पर्याय में है। मोक्ष का कारण पर्याय में है। तो मोक्ष व मोक्ष का कारण - इन पर्याय से, द्रव्य शून्य है। सम्यग्दर्शन का विषय जो द्रव्य है, वह मोक्ष के परिणाम से भी शून्य है। आहाहा ! दोनों में फर्क है हं ! बंध-मोक्ष के `कारण' व बंध-मोक्ष के `परिणाम' - ऐसे लेना। प्रभु त्रिकाली, आनंद का नाथ, बंध-मोक्ष के कारण से तो शून्य है परंतु बंध-मोक्ष के परिणाम से भी शून्य है। इससे पहले कारण कहा था : मोक्ष के कारण व बंध के कारण से द्रव्यभाव शून्य है। फिर कहा कि : बंध के परिणाम मिथ्यात्व आदि वर्तमान, तथा मोक्ष के इन

परिणाम केवलज्ञान आदि - इन परिणामों से शून्य है।

आहाहा ! घर के (व्यापार-धंधे के) बहीखाता पलटे तो पूरे दिन यों-यों पलटता रहे ! (किन्तु) इन (भगवान के) बहीखातों में (आगमों में) क्या है (इसे समझने की दरकार नहीं करता) सर्वज्ञ वीतराग-दिगंबर संतों के बिना, `यह बात' कहीं भी नहीं है। उनके संप्रदाय में जन्म लेनेवालों को (दिगंबर जैनों को) भी खबर नहीं है !

प्रभु ! त्रिकाली ज्ञायकभाव ध्रुव है, जो परमस्वभावभाव है, जो शुद्धउपादानभूत है, जो शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय है, वह बंध-मोक्ष के कारण से रहित है तथा बंध व मोक्ष के परिणाम से रहित है। मोक्ष के परिणाम - केवलज्ञान आदि; बंध के परिणाम - मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग; ये (वस्तु में नहीं है)।

`योग' है वह परिणाम है। वह बंध का कारण है। और बंध-परिणाम ही वास्तविक योग है; वह कंपन, वस्तु में नहीं है। योग का कंपन है, वह बंध के कारण में है; और वह परिणाम स्वयं बंधरूप है। तो इस परिणाम से तथा परिणाम के कारण से प्रभु तो रहित - शून्य है।

आहाहा ! जिसमें दृष्टि देनी है अर्थात् जिस पर सम्यक्‌दृष्टि देनी है, वह चीज़ बंध-मोक्ष के रहित है, तथा बंध-मोक्ष की पर्याय से रहित है। परिणाम कहो या पर्याय कहो (एकार्थ है)।

आहाहा ! ऐसी बात !! अब इसके विचार में रहना (चाहिए; परंतु जीव) बाहर में मुफ्त में समय गँवाता रहता है ! लेकिन `स्वयं कौन है' इसके विचार व निर्णय का तो कोई ठिकाना नहीं है ! चीज़ कोई अलग ही है, भाई ! अरे..रे ! यह मनुष्यभव है... इसमें अगर `यह बात' समझ में नहीं आई, तो बिना धागे की सूई, जैसे खो जाती है; वैसे बिना सम्यग्ज्ञान का जीव चौरासी (लाख योनि के चक्कर) में खो जाता है। पर सूई धागे समेत हो, और चिड़िया (अगर) अपने घोंसले में ले जाये, तो (भी) मालूम पड़ जाता है कि वह धागा हमारा... वह सूई वहाँ है। इसी प्रकार अगर सम्यग्ज्ञानरूपी धागा पिरोया हो, तो वह चौरासी में खो नहीं जायेगा; चौरासी के अवतारों से मुक्त हो जायेगा। `अष्टपाहुड़' में (सूत्रपाहुड़ - गाथा : ३ में) दृष्टांत है : जैसे बिना धागे की सूई हो तो वह खो (नष्ट हो) जाये और धागा समेत होवे तो खो (नष्ट हो) न जाये। वैसे त्रिकाली (आत्मा) बंध-मोक्ष के परिणाम से रहित तथा उसके कारण से रहित (है) - ऐसा सम्यग्ज्ञान में इसका (आत्मा का) यदि ज्ञान न हो तो (तू) चौरासी के अवतार में खो जायेगा ! कहाँ जन्म लेगा ? - कहाँ नरक व निगोद के अवतार, तिर्यंच-पशु के अवतार ! वहाँ दुनिया की सिफारिश काम नहीं आयेगी कि - हमको तो बहुत लोग धर्मी

कहते थे न ? (लोग) धर्मी कहते थे परंतु (वास्तव में) थे या नहीं ? दुनिया (धर्मी) कहती है (तो) इससे क्या हुआ ?! कुछ समझ में आता है ? हमारी भारी इज्जत थी न ? - इज्जत थी तो क्या हो गया ?! तेरी चीज़ बड़ी (महान) है। इसकी तो तुझे दृष्टि और ज्ञान नहीं है। सर्वोत्कृष्ट महिमावंत; (जिसकी) महानता का पार नहीं है, प्रभु ! जिसके मुकाबले केवलज्ञान की पर्याय भी एक तिनके के समान है। अरे ! समकिती को मोक्ष के मार्ग की पर्याय उत्पन्न हुई, वह ऐसा कहता है कि : केवलज्ञान की पर्याय की तुलना में हम तो तृणवत् हैं। तो फिर द्रव्य के सामने तो पर्याय की (गिनती ही क्या ?) आहाहा ! केवलज्ञान की पर्याय के सामने मोक्षमार्ग की सम्यग्दर्शन आदि पर्याय तृणवत् है। आहाहा ! त्रिकाली द्रव्य में तो वह (केवलज्ञान-) पर्याय (भी) नहीं। इसकी तो क्या बात !!

आहाहा ! सूक्ष्म बात है, यहाँ प्रभु ! समझ में न आये तो रात को (चर्चा में) पूछ लेना। संकोच न करना कि - हम पूछेंगे तो हमारा (मानभंग हो जायेगा) कि, हमें नहीं आता ! यहाँ तो बात आत्मा को प्राप्त करने की है न !

आहाहा ! भगवान आत्मा सहजानंद प्रभु, पूर्णानंद का नाथ जो सम्यग्दर्शन का विषय है, सम्यग्दर्शन का ध्येय है - वह परमपारिणामिक स्वभावभाव कर्ता-भोक्ता(पने) से रहित है; बंध-मोक्ष के कारण से रहित है; बंध-मोक्ष के परिणाम से भी रहित है; राग से रहित है; मोक्ष के कारण से रहित है; मोक्ष की पर्याय से रहित है।

कभी सुनी नहीं है ऐसी 'यह' बात (है)। प्रभु की बात ऐसी है, बापू ! यह कोई साधारण बात नहीं है। त्याग-ग्रहण (करना) या यह पूजा कर दी और यह मंदिर बना दिया और भक्ति की और दस लाख-बीस लाख (दान में) खर्च कर दिये और... हो गया धर्म ! - धूल में भी (धर्म) नहीं हुआ। (बाह्य धर्म - प्रभावना के) काम किये न ! - ये कार्य कैसे ?

यहाँ तो अंदर द्रव्य में मोक्ष की पर्याय के कारण-कार्य तक नहीं है। आहाहा ! कारण परमात्मा मोक्ष की पर्याय से शून्य है। 'नियमसार' में बहुत आता है 'कारणपरमात्मा'। कारणपरमात्मा - भगवानआत्मा - त्रिकाल कारणजीव - त्रिकाल कारण प्रभु - त्रिकाल कारणपरमात्मा, (वह) तो राग के कर्ता-भोक्ता(पने) से शून्य है; (इतना ही नहीं) परन्तु बंध के कारण से शून्य है और बंध के परिणाम से शून्य है; मोक्ष के कारण से शून्य है और मोक्ष के परिणाम से शून्य है। आहाहा..हा !

- ऐसा समुदायपातनिका में कहने में आया था। प्रथम गाथा में ऐसा कह चुके हैं। यह तो चूलिका है। कुछ समझ में आता है ? इसके बाद चार गाथा द्वारा जीव के अकर्तृत्वगुण का व्याख्यान किया। पहले आ चुका है। '**सामान्य विवरण करने में आया।**

इसके बाद चार गाथा द्वारा `शुद्ध को भी प्रकृति के साथ जो बंध होता है, वह अज्ञान का माहात्म्य है'। - इसे थोड़ा समझाना पड़ेगा। विशेष बाद में आयेगा...

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-३ ता. ३१-७-१९७९

`समयसार' ३२० - गाथा। जयसेनाचार्य की टीका है। यह टीका अमृतचंद्राचार्य की नहीं है। `समयसार' की दो टीकाएँ हैं। - (एक) अमृतचंद्राचार्य की (रची हुई) तथा दूसरी जयसेनाचार्य की। (यहाँ तक) आये हैं : `**शुद्ध को भी प्रकृति के साथ जो बंध होता है, वह अज्ञान का माहात्म्य है।**' क्या कहते हैं ? (कि:) भगवान आत्मा तो शुद्ध चैतन्य अतीन्द्रिय अमृत का सागर है। यह आत्मा शुद्ध वस्तु-पदार्थ शुद्ध पूर्णानंद आत्मा है। पुण्य-पाप के भाव तो आस्त्रवतत्त्व - बंधतत्त्व के कारण अर्थात् बंधरूप हैं। वे तो (आत्मा से) भिन्न चीज़ है। जिसे आत्मा कहते हैं, वह आत्मा तो पवित्र, शुद्ध चिदानंद - सच्चिदानंदघन है। तो ऐसी चीज़ में यह प्रकृति का बंध कहाँ से आ गया ? कहते हैं : जो भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप है, अबंधस्वरूप है; जिसमें परिपूर्ण शुद्धता भरी है; जो गुण से भरा पड़ा है; उसे प्रकृति के साथ बंध होता है, वह अज्ञान का माहात्म्य है। आहाहा..हा !

(अज्ञानी को) स्वरूप का ज्ञान नहीं है। शुद्धस्वरूप का ज्ञान नहीं है। `मैं कौन हूँ' इसकी ख़बर नहीं है। ये दया-दान-व्रत के परिणाम मेरे हैं, (उनसे) मुझे लाभ होता है - ये सब (ऐसी मान्यतावाले) अनात्मा को आत्मा मानते हैं। अनादि से अज्ञान के कारण इस चीज़ (आत्मा) की ख़बर नहीं है।

आत्मा ऐसी शुद्ध चीज़ है ! फिर भी, इसे प्रकृति का बंध क्यों होता है ? तो (कहते हैं कि :) वह अज्ञान का माहात्म्य है।

`अनादि से मैं पवित्र आत्मा आनंदमूर्ति प्रभु हूँ।' मैं पर की क्रिया - जड़ की क्रिया तो नहीं करता; किन्तु दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम भी `मेरे' में नहीं हैं। और `मैं' उसका कर्ता-भोक्ता भी नहीं। - ऐसा प्रभु शुद्ध आत्मा जो सम्यग्दर्शन का विषय - ध्येय (है) - उसे इस प्रकृति का बंध क्यों ? ऐसा कहते हैं। आहाहा ! (भगवान आत्मा) मुक्तस्वरूप है, अबंधस्वरूप है - उसे पर्याय में इस राग और कर्म के निमित्त का संबंध - बंध क्यों ? कि : `**अज्ञान का माहात्म्य है।**' प्रभु ! `अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' अपनी

चीज़ अंदर शुद्ध चैतन्यघन - आनंदकंद - यह चीज़ तो है बंधरहित - शुद्ध। पर इसके ज्ञान बिना, (अर्थात्) अज्ञान के कारण, इसे राग का व प्रकृति का संबंध होता है। आहाहा ! बहुत सूक्ष्म बात, भाई !

- '**इस प्रकार अज्ञान का सामर्थ्य कहनेरुप से विशेष विवरण करने में आया।**' यह तो आ चुका है। यह तो इसका उपसंहार है। '**तत्पश्चात् चार गाथा द्वारा जीव के अभोक्तृत्व गुण के व्याख्यान की मुख्यता से व्याख्यान करने में आया।**'

भगवान आत्मा अशुभ भावों का तो भोक्ता नहीं है। विषय-वासना, क्रोध, मान, माया, लोभ, जगत की अनेक प्रकार की इच्छाएँ, इन (सब)का तो वह (आत्मा) भोक्ता नहीं है; परंतु वह रागादि - दया, दान, व्रत के परिणाम, इन (सब) का भी भोक्ता नहीं है। आहाहा ! वह अतीन्द्रिय आनंदमय प्रभु ! (उसे) तो अतीन्द्रिय आनंद का भोक्ता कहना, वह भी कर्ता-कर्म का उपचार है। तो राग का भोक्ता (तो उपचार से भी नहीं है)। व्रतादि के - तपादि के विकल्प आदि आते हैं... पर उसका भोक्ता आत्मा है (- ऐसा नहीं)।

प्रश्न : यहाँ तो दाल-चावल-रोटी हमेशा खाते हैं न ?

समाधान : खाते नहीं हैं। वह क्रिया तो जड़ की होती है। यहाँ तो वह बात ही नहीं है। वह खाने-पीने की क्रिया, रोटी-दाल-चावल-सब्जी की जो क्रिया होती है, वह तो जड़ की जड़ में होती है। आत्मा के द्वारा नहीं होती। आत्मा तो अज्ञानभाव में राग-द्वेष का भोक्ता कहने में आता है; लेकिन पर का भोक्ता तो है ही नहीं। स्त्री के शरीर का भोक्ता आत्मा हो - ऐसा तीन काल में नहीं है। अज्ञानी, स्त्री का लक्ष करके जो राग व प्रेम करता रहता है, (उस) राग व प्रेम का वह भोक्ता अज्ञानी है। आत्मा उसका भोक्ता भी नहीं।

जिसे अंतर में दृष्टि व प्रतीति में परमात्मस्वरूप आत्मा आया; उसे - समकिती को भी - जो व्रतादि के, परमात्मा की भक्ति, प्रतिमा - जिनबिंब - जिनभवन (प्रति) वंदन - आदर के भाव आते हैं वह उसके भोक्ता के रूप में नहीं आते; कर्तारूप होकर नहीं आते; (किन्तु पुरुषार्थ की) कमज़ोरीवश आते हैं; उसे (वह समकिती) बंध का कारण जानता है। (व्रत-भक्ति-वंदन के भाव) आये बिना रहे नहीं और (उन्हें) बंध का कारण जानना ? तो कहते हैं कि : भोक्तृत्व का अभाव बताया। प्रथम बारह गाथाओं में शुद्ध निश्चय से परमात्मा, कर्ता (कर्तृत्व) भोक्ता (भोक्तृत्व) अभावरूप (अर्थात्) राग का कर्ता व राग का भोक्ता - उसके अभावस्वरूप (है)। वह चीज़ ही ऐसी है ! आहाहा ! दुनिया से निराली है, प्रभु ! यह चीज़ ऐसी है।

अनंत काल में एक सेकंड के लिए भी (इस चीज़ को) समझा नहीं और चार

गति में भटकते-भटकते अनंत काल बीत गया। आहाहा ! 'अनंत काल से भटक रहा, बिना भान भगवान' - (निज स्वरूप के) भान बिना अनंत काल से (जीव) परिभ्रमण करता है। 'मैं क्या चीज़ हूँ ?' यह समझे बिना - इसके अज्ञान के कारण - चार गति में भटकता है।

कहते हैं कि : (राग के) कर्ता-भोक्ता (पने) से रहित (है), यहाँ तक तो ठीक, आगे और कड़क बात आती है : '**बंध-मोक्ष के कारण**' - बंध का कारण जो मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, योग - इनसे भी आत्मा रहित है। आत्मा उस बंध के कारण का कर्ता नहीं है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई ! ३२० - गाथा ! यह (आत्मा) बंध के कारण का कर्ता तो नहीं, किन्तु मोक्ष के कारण का भी कर्ता नहीं। आहाहा ! ऐसी चीज़ अखंडानंद प्रभु शुद्ध चैतन्यपिण्ड, वीतरागमूर्ति आत्मा अंदर है। आहाहा ! आत्मा वीतराग चैतन्यप्रतिमा है। वह चीज़ (आत्मा) बंध के कारण का भी कर्ता नहीं तथा मोक्ष का कारण जो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस पर्याय का कर्ता भी वह चीज़ (आत्मा) नहीं। कुछ समझ में आया ?

कड़क बात है, भाई ! पहले तो मूल चीज़ (का भान होना ही) कठिन है। इसके बाद स्वरूप में रमणता होती है। आत्मा के आनंद का भान हुआ फिर स्वरूप में रमणता, आनंद में रमणता हो इसका नाम चारित्र है। चारित्र कोई क्रियाकांड या महाव्रत या नग्नपने का नाम चारित्र नहीं है।

(यहाँ) यह तो प्रथम में प्रथम (चौथे गुणस्थान की) दशा में कहते हैं कि : बंध-मोक्ष के कारण व परिणाम (- बंधरूप परिणाम व मोक्षरूप परिणाम) उसका भी कर्ता-भोक्ता आत्मा नहीं है। बहुत संक्षिप्त शब्दों में लिया है।

बंध-मोक्ष के (कारण का कर्ता-भोक्ता आत्मा नहीं है)। मोक्ष का कारण 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह सच्ची पर्याय है। उसका भी कर्ता-भोक्ता आत्मा नहीं है। क्योंकि वह पर्याय है; द्रव्य (उसका) कर्ता नहीं है; पर्याय का कर्ता पर्याय है। और मोक्ष का कारण जो मोक्षमार्ग - उसका - पर्याय का भी 'कर्ता' द्रव्य-वस्तु जो शुद्धचैतन्यघन है (वह) नहीं है।

अरे...रे ! ये तो नहीं किन्तु 'बंध-मोक्ष के परिणाम' (भी वस्तु में नहीं है)। पहले 'बंध-मोक्ष का कारण' कहा था। अब 'बंध-मोक्ष के परिणाम'। इस कारण का कार्य जो भावबंध; तथा कारण मोक्षमार्ग का कार्य मोक्ष; - ये बंध-मोक्षरूप परिणाम (वस्तु में नहीं है)। पहले बंध-मोक्ष के कारण का निषेध किया (था)।

आहाहा ! वीतराग का मार्ग !! यह कोई अलौकिक चीज़ है। कहते हैं कि :

पहले सम्यग्दर्शन की शुरूआत में भी निर्विकल्प आनंद का नाथ प्रभु, द्रव्यस्वभाव जो वस्तु है, जो सम्यग्दर्शन का विषय-ध्येय है - वह चीज़ (आत्मा) तो मोक्ष की पर्याय का भी कर्ता नहीं है। आहाहा ! उस वस्तु का, त्रिकाली आनंद के नाथ का दृष्टि में स्वीकार हुआ - वह दृष्टि (ही) सम्यग्दर्शन (है); पर इस सम्यग्दर्शन की पर्याय का भी कर्ता द्रव्य नहीं है। आहाहा ! ऐसा मार्ग है !

जिज्ञासा : यह शिक्षण शिबिर इस बात को कहने के लिए आयोजित किया है ?

समाधान : (लोग) आये हैं तो यह लिया - बात ठीक है। यह (बात) तो ४५ वर्षों से चल रही है। (श्वेतांबर) संप्रदाय छोड़ने के बाद ४५ चातुर्मास यहाँ हुए हैं। शिबिर भी काफी संख्या में (हुई), बहुत सालों से चल रही है। (श्रोता :) आपकी करुणा है। (उत्तर :) (शिबिर) चल रही है उसका आयोजन तो प्रमुख करते हैं। हम तो कुछ (नहीं करते)। प्रमुख करते हैं, ऐसे कहना, यह भी निमित्त से (कथन है)। बाहर की पर्याय को कौन करे ? शिक्षणशिबिर में समझाना... अरे प्रभु ! यह कौन करे ? कठिन बात है, प्रभु ! यह भाषा है वह तो जड़ की है। समझने में भाषा निमित्त है और भाषा है तो इसे समझने से ज्ञान हुआ - ऐसा भी नहीं है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई !

यहाँ तो (आत्मा) बंध-मोक्ष के परिणाम के अभावरूप है। बंध-मोक्ष के कारण के अभावस्वरूप प्रभु है। परंतु बंध-मोक्ष का कार्य, जो परिणाम अर्थात् बंध का कारणरूप कार्य 'बंध' और मोक्ष के कारण से (होनेवाला) कार्य 'मोक्ष' - इस मोक्ष और बंध के परिणाम से आत्मा शून्य है। आहाहा ! 'पर्याय से शून्य है' ऐसा दिखाना है। पर्याय ऊपर तैरती है; मोक्ष की पर्याय भी द्रव्य में प्रवेश नहीं करती। आहाहा ! मोक्ष का मार्ग - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र... निश्चय हं। व्यवहार तो राग है; मोक्षमार्ग तो एक ही, निश्चय वही मोक्षमार्ग है - ऐसे मोक्षमार्ग की पर्याय भी द्रव्य में प्रवेश नहीं करती। द्रव्य के आश्रय से मोक्षमार्ग (-पर्याय) उत्पन्न हुई होने पर भी, वह पर्याय अंदर (द्रव्य) में प्रवेश नहीं करती। ऊपर-ऊपर तैरती है।

अरे...रे ! ऐसा मार्ग !! जैनी अब क्रियाकांड में घुस गये ! पूरे दिन मंदिर और पूजा और भक्ति... बस ! हो गया धर्म। धूल में भी धर्म नहीं है। धूल का अर्थ क्या ? (कि:) उन्हें (इस क्रियाकांड से) पुण्यानुबंधी पुण्य भी नहीं (बंधता)। क्योंकि इसमें धर्म मानना यह मिथ्यात्व है। और मिथ्यात्व (सहित के) शुभभाव से (जो) कुछ पुण्य होता है, वह पापानुबंधी पुण्य है। इस शुभभाव का फल (जब) भविष्य में मिलेगा, तब उसमें रुचि करके वहाँ घुस जायेगा। (-एकत्व करेगा)।

समकिती को भी पुण्य का भाव आता है। समकिती को भी पूजा के, भक्ति के,

जिनभवन बनवाने के, जिनभवन के दर्शन के, प्रतिमाजी के दर्शन करने के (भाव) आते हैं; पर वे भाव राग हैं, राग का कर्ता आत्मा नहीं; भोक्ता भी आत्मा नहीं। (भाव) आते हैं - उसका तो आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। ज्ञाता-दृष्टा है तो राग आता ही नहीं, और समकिती को भक्ति-पूजा (के भाव और कार्य) होते ही नहीं - ऐसा नहीं। (पुरुषार्थ की) कमज़ोरी से आते हैं। जब तक (पूर्ण) वीतरागता नहीं होती, तब तक अशुभ से बचने के लिये - सम्यग्दर्शन का विषय (जो) द्रव्य, (उस) पर दृष्टि होने पर भी - कमज़ोरीवश शुभ भाव आते हैं। पर वे जानते हैं कि यह बंध का कारण है। - ऐसा जानकर ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं। आहाहा ! ऐसी बात है, भाई !

जिनभवन - प्रतिमा शाश्वत है, उसे स्थानकवासी संप्रदायवालों ने उड़ा दी कि 'है ही नहीं'। तथा (अन्य संप्रदायवालों ने) जैन प्रतिमा की भक्ति को धर्म मान लिया। - दोनों मिथ्यादृष्टि हैं। - यह बात सच है, भाई !

यहाँ तो कहते हैं कि : मिथ्यादृष्टि के जो परिणाम हैं वे बंध का कारण हैं, वे भी आत्मा में नहीं हैं। उसका कर्ता आत्मा है ही नहीं। वह तो पर्याय में पर्याय कर्ता होती है। मिथ्यादर्शन - विपरीत श्रद्धा जो है वह भी षट्कारक से परिणत होने से पर्याय में मिथ्यात्व होता है। षट्कारक का अर्थ कि: मिथ्या श्रद्धा का कर्ता मिथ्या श्रद्धा; मिथ्या श्रद्धा का कर्म मिथ्या श्रद्धा; मिथ्या श्रद्धा का साधन मिथ्या श्रद्धा; मिथ्या श्रद्धा करके रखना वह संप्रदान; मिथ्या श्रद्धा से मिथ्या श्रद्धा हुई; मिथ्या श्रद्धा के आधार से मिथ्या श्रद्धा हुई। (पर्याय में मिथ्या श्रद्धा) इस आत्मा के आधार से नहीं; पर के आधार से नहीं। आहाहा ! गज़ब की बातें, बापू !

आहाहा ! धन्य भाग्य कि जिसे परम सत्य सुनने मिले ! 'भवि भागन वच जोगे...' नहीं आता ? 'भवि भागन जोग' - भविजनों के भाग्य के योग से परमात्मा की दिव्यध्वनि खिरती है। दिव्यध्वनि का सार ही 'यह' है।

कहते हैं कि : '**बंध-मोक्ष के कारण व परिणाम के अभावरूप जो व्याख्यान करने में आया था, उसीका उपसंहार करने में आया। इस प्रकार समयसार की शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवाली 'तात्पर्यवृत्ति' नामकी टीका**' - जयसेनाचार्य की टीका कैसी ? - '**शुद्धात्मानुभूतिलक्षण**' - इस समयसार की संस्कृत टीका का नाम ही यह है। शुद्ध भगवान आत्मा की अनुभूति (अर्थात्) अनुभव करना, विकल्प छोड़कर निर्विकल्प अनुभव करना। निर्विकल्प के अनुभव का अर्थ : निर्विकल्प वस्तु है, उसका निर्विकल्प अनुभव पर्याय में करना। कुछ समझ में आया ? तो कहते हैं कि : '**शुद्धात्मानुभूतिलक्षण**' - इस 'तात्पर्यवृत्ति' टीका का यही लक्षण है। पूरी संस्कृत टीका का लक्षण यह है - 'शुद्धात्मानुभूति'। आहाहा ! भगवानआत्मा

पूर्णानंद का नाथ - उसका अनुभव - इस स्वभाव के अनुसार होकर अपनी परिणति में आनंद का अनुभव होना यह 'शुद्धात्मानुभूति' (और) यही समयसार की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका का सार है, (अर्थात्) इस 'तात्पर्यवृत्ति' का तात्पर्य 'यह' है। आहाहा ! '**तात्पर्यवृत्ति नामकी टीका में मोक्षाधिकार से संबंधित चूलिका समाप्त हुई।**' मोक्षअधिकार जो चला था और फिर सर्वविशुद्ध में आया, वह मोक्षअधिकार की चूलिका है - चोटी - शिखर। ऊपर कलश चढ़ाते हैं न...? यह टीका मोक्षअधिकार का कलश है ! '**चूलिका समाप्त हुई।**' '**अथवा दूसरी तरह से व्याख्यान करें तो, यहाँ मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।**' - मोक्षअधिकार की व्याख्या यहाँ पूरी हुई। '**पुनश्च विशेष कहने में आता है :**'

'**औपशमिकादि पाँच भावों में किस भाव से मोक्ष होता है (यह विचार करने में आता है)।**' पाँच भाव हैं : उदय भाव, उपशम भाव, क्षायोपशमिक भाव, क्षायिक भाव और पारिणामिक भाव - परम पारिणामिक भाव। पाँच भावोंमें से (उदय भाव आदि) चार भाव पर्याय में हैं और एक (पारिणामिक) भाव द्रव्य में है। द्रव्य जो वस्तु भगवान पूर्णानंद का नाथ द्रव्य स्वरूप (है) वह परम पारिणामिक भाव है; और ये रागादि होते हैं ये उदय भाव हैं, ये पर्याय में हैं। तथा उपशम समकित और चारित्र होता है वह भी पर्याय में होता हैं। तथा क्षयोपशम ज्ञान, दर्शन व चारित्र होते हैं वे भी पर्याय में हैं। और क्षायिक समकित, केवलज्ञान आदि होते हैं वे (भी) पर्याय में हैं। वह पर्याय चार प्रकार की हैं : एक उदय भाव की पर्याय, एक उपशम भाव की, एक क्षायोपशम भाव की, एक क्षायिक भाव की। अब पाँच भावोंमें से किस भाव से मोक्ष होता है ? उपशम-औपशमिक : राग का नीचे बैठ जाना, जैसे पानी में मैल नीचे बैठ जाता है वैसे विकार का दब जाना तथा शांति की उत्पत्ति होना। सम्यग्दर्शन शांति है। उस शांति का उत्पन्न होना, वह उपशम भाव है; (राग - विकार) दब गया है। - इस उपशम भाव को मोक्ष का कारण कहने में आया है। क्षायोपशमिक माने कुछेक प्रकृतियों का उदय भी है तथा कुछेक का क्षय भी है। उपशम अर्थात् सत्ता में रही प्रकृति, उसे उपशम कहते हैं। उदय में रही (प्रकृति की) बात (जो) है, उसे यहाँ मत लेना। क्षय+उपशम (अर्थात्) कुछेक प्रकृतियों का आत्मा के अवलंबन से क्षय किया है तथा कुछेक प्रकृतियाँ दब गई हैं, अनुदयरूप है, उसे यहाँ क्षयोपशम कहते हैं। यह क्षायोपशमिक भावरूप पर्याय मोक्ष का कारण है। तथा क्षायिक भाव : राग का नाश हो जाना, केवलज्ञान प्रगट होना, क्षायिक समकित प्रगट होना; क्षायिक केवलज्ञान प्रगट होना यह (सब) क्षायिक। यहाँ तो मोक्षमार्ग लेना है। केवलज्ञान होने के पहले जो भाव होता है (वह लेना है)। तथा उदय : राग, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम यह उदयभाव है। अशुभ भाव भी उदय है और शुभ भाव भी विकार (है),

उदय है। - ये चारों भाव पर्यायरूप हैं, ये चारों भाव आत्मा की अवस्था - पर्याय - दशारूप है; आत्मद्रव्यरूप नहीं है।

आहाहा ! बनियों को धंधे (व्यापार) के मारे निवृत्ति - फुर्सत कहाँ ? अभी एक (विदेशी) इतिहास का एक लेख आया है। पिता-पुत्र इतिहास के बड़े जानकार हैं। पिताश्री की उम्र ६७ वर्ष की है। लिखा है कि : जैनदर्शन का सार अनुभूति (है)। जैनदर्शन तो अनुभूति (स्वरूप) भाव है। आत्मा की अनुभूति करना वह जैनदर्शन है। राग करना यह जैनदर्शन नहीं। बाद में थोड़ा (ऐसे) लिखा है, अरे ! ऐसा जैनधर्म बनियों के हाथ में आया और बनियों को व्यापारादि से फुर्सत नहीं मिलती। उसने तो बहुत पढ़ा; अन्य मत का (एवं) जैनधर्म का। बहुत अभ्यास किया है कि जैनधर्म क्या है ? कि : राग से भिन्न आत्मा की अनुभूति करना, वीतरागी पर्याय का वेदन करना, वीतरागी पर्याय को उत्पन्न करना - इसका नाम जैनधर्म। पर ऐसा जैनधर्म बनियों को मिल गया ! बनियों को व्यापार से फुर्सत नहीं। बनिया मतलब नाम मात्र के बनिया नहीं परंतु जो-(जो) व्यापार करे (वह बनिया)। आजकल तो जैनों में भावसार भी हैं, क्षत्रिय भी हैं, वे (भी) व्यापार में घुस गये। (अतः) उन्हें निर्णय करने का समय नहीं है। आहाहा ! ऐसा लिखा है।

(यहाँ कहते हैं किः) (उदय आदि) चार भाव पर्यायरूप हैं; आत्मा द्रव्य-वस्तु है। इसमें यह (पर्याय) नहीं है। आहाहा ! पर्याय में दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम जो उदय भाव (हैं) वे विकाररूपी पर्याय हैं। उपशम, क्षायोपशम, क्षायिक ये निर्विकारी - निर्दोष वीतरागी पर्याय हैं। - ये चार भाव पर्यायरूप हैं तथा शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है।

यहाँ त्रिकाली शुद्ध 'परम पारिणामिक' शब्द न लेकर 'शुद्ध पारिणामिक' शब्द कहा। वरना है तो 'परम पारिणामिक भाव', परंतु 'परम पारिणामिक' बार-बार कहते हैं; अतः यहाँ 'शुद्ध पारिणामिक' लिया।

त्रिकाली शुद्ध पारिणामिक, सहज प्रभु, त्रिकाली, द्रव्यस्वभाव, ध्रुवस्वभाव, नित्यस्वभाव, सच्चिदानंदस्वभाव, सत् शाश्वत ज्ञानानंद त्रिकाल स्वभाव - उसे यहाँ 'शुद्ध पारिणामिक भाव' (कहा), वह द्रव्यरूप है। और यह (उदय - उपशमादि) चार भाव पर्यायरूप हैं। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

यह **'परस्पर सापेक्ष'** (अर्थात्) पर्याय और द्रव्य (यानी कि :) चार प्रकार के जो पर्यायरूप भाव (हैं वे) और एक द्रव्य - त्रिकाली द्रव्य, भगवान (आत्मा), पूर्णानंद सहजात्मस्वरूप - परस्पर सापेक्ष (हैं)। (अर्थात्) ये चारों पर्यायें द्रव्य की (हैं) और द्रव्य में पर्याय है, यह (इस तरह) सापेक्ष (है)। (अर्थात् :) ऐसा द्रव्य और पर्याय यानी द्रव्य त्रिकाली और पर्याय वर्तमान - दोनों मिलकर आत्मपदार्थ है। कर्म का संबंध (है) इसलिये आत्मा में व्यवहार

है, ऐसा भी नहीं है।

यह (उदय आदि भाव) चार पर्याय हैं, और द्रव्य है (वह) पारिणामिक स्वभावभाव - शुद्ध पारिणामिक है - दोनों मिलकर `द्रव्य' प्रमाण का विषय है। (जब कि) सम्यग्दर्शन के विषय(भूत) `द्रव्य' (त्रिकाली - पर्याय बिना का) है। और यहाँ समस्त द्रव्य तथा पर्याय दोनों मिलकर (जो) `द्रव्य' कहा वह तो प्रमाण का विषय है।

प्रमाणज्ञान अखंडज्ञान होने पर भी वह प्रमाणज्ञान पूज्य नहीं है। (ऐसा) `नयचक्र' में आया है कि : पारिणामिक भाव-द्रव्य-त्रिकाली तथा चार प्रकार की पर्यायरूप परिणाम - इसका जो ज्ञान एक साथ में है, वह (ज्ञान) प्रमाण (है)। इस प्रमाण (ज्ञान) में पर्याय का निषेध नहीं है, अतः प्रमाण (ज्ञान) पूज्य नहीं है। पूज्य तो निश्चयनय (है) वह है। आहाहा ! निश्चयनय तो ज्ञान का अंश है। परंतु ज्ञान के अंश का (जो) विषय है, उसे यहाँ निश्चयनय कहा। वस्तु को निश्चयनय कहा। कुछ समझ में आया ?

`समयसार' ग्यारहवीं गाथा में आया न...! `**भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' - हम भूतार्थ को शुद्धनय कहते हैं। अन्यथा नय तो ज्ञान का अंश है। पर उस ज्ञान के अंश का विषय जो है, उसे ही हम शुद्धनय कहते हैं। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव, भूतार्थ, नित्यानंद-प्रवाह प्रभु, नित्य...नित्य...नित्य...नित्य... नित्यप्रवाह, ध्रुव इसे यहाँ शुद्धनय कहने में आता है। `**व्यवहारोऽभूयत्थो**' - (जो उदय - उपशमादि) चार पर्याय हैं (वे) अभूतार्थ हैं। अभूतार्थ अर्थात् `नहीं है'; उसे गौण करके `नहीं है' ऐसा कहा।

यहाँ तो कहा : (पर्याय व द्रव्य) दोनों मिलकर द्रव्य है। और वहाँ ग्यारहवीं गाथा में ऐसा कहा कि : पर्याय जो चार प्रकार की हैं, वह असत्य है, अभूतार्थ है। - किस अपेक्षा से ? कि : त्रिकाली की दृष्टि कराने के लिये पर्याय को गौण करके, `नहीं है' ऐसा कहने में आया। पर्याय नहीं है, ऐसा नहीं। `पर्याय नहीं है' ऐसा माने तो निश्चयाभासी - वेदांत हो जाये। और पर्याय को मुख्य करके (पर्याय)दृष्टि करे तो भी मिथ्यादृष्टि रह जाये। (अतः) पर्याय को गौण करके, त्रिकाली भगवान पूर्णानंद के नाथ ध्रुव को मुख्य करके उसे निश्चय कहा। पर्याय को - क्षायिक भाव की पर्याय समकित आदि को - गौण करके अभूतार्थ - असत्य कही। सत् त्रिकाली वस्तु को सत्य कहा, (उसे) मुख्य करके निश्चय कहा। `निश्चय को मुख्य कहा' ऐसा नहीं; `मुख्य को निश्चय कहा'। तथा उसे (पर्याय को) गौण करके असत्य कहा। यहाँ कहते हैं : उस (प्रमाणज्ञान की) पर्याय में दोनों (- द्रव्य व पर्याय) परस्पर आत्मा-पदार्थ है। (अर्थात् वह परस्पर सापेक्ष ऐसा द्रव्यपर्याय द्वय (-द्रव्य व पर्याय का युगल) वह आत्मा-पदार्थ है)।

`नियमसार' ३८ - गाथा में ऐसा कहा कि : त्रिकाली शुद्धस्वरूप भगवान, पर्याय

बिना का, वह निश्चय से वास्तव में आत्मा है। पर्याय मात्र परद्रव्य है। और स्वद्रव्य - त्रिकाली भगवान आत्मा - वही वास्तव में आत्मा है। वास्तव में वही आत्मा है और (जहाँ) पर्याय को आत्मा कहने में आया, वह अभूतार्थ और उपचार से।

आहाहा ! कुछ समझ में आता है ? भाई ! यह तो वीतराग का कालेज है। अगर थोड़ी-बहुत समझ होवे तो कालेज में जाता है। यह तो वीतरागी कालेज है। आहाहा ! अलौकिक वस्तु ऐसी है !!

कहते हैं कि : वास्तव में आत्मा तो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य, जिसे शुद्ध पारिणामिक कहा, वह (है); परंतु पर्याय को मिलाकर प्रमाण का विषय बनाकर आत्मा कहा। कुछ समझ में आया ?

`**वहाँ, प्रथम तो जीवत्व**' - आत्मा का जीवत्व, अंदर शक्तिपना, आनंदपना, शुद्धस्वभाव त्रिकाली जीवत्वपना; और `**भव्यत्व**' - मोक्ष होने लायक भव्य जीव; और `(**अभव्यत्व**'-) मोक्ष नहीं होने लायक अभव्य; `**इस प्रकार तीन तरह के पारिणामिक भावों में**' ये तीन प्रकार के पारिणामिक भाव हैं।

यहाँ तो भव्य को भी पारिणामिक भाव कहा। तथा मोक्ष में इस (भव्यत्वरूप) पारिणामिक भाव का नाश है। - क्या कहा ? चीज़ (आत्मा) में भव्य-अभव्यपना ही नहीं है। जो भव्यत्व अर्थात् योग्यता थी, वह प्रगट हो गई; (अत:) वहाँ सिद्ध में भव्यत्वपना नहीं है।

यहाँ यह कहा है कि : (जीवत्व), भव्यत्व और अभव्यत्व - तीन प्रकार के पारिणामिक भाव कहें। इस प्रकार तीन तरह के पारिणामिक भावों में `शुद्ध जीवत्व ऐसा जो शक्तिलक्षण' (वह त्रिकाल है)। अर्थात् इन तीनों में - जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व में - जो `शुद्ध जीवत्वशक्ति' (है, वह) त्रिकाल है। शुद्ध परम आनंदमूर्ति प्रभु सहजस्वभाव है, उसमें पर्याय की अपेक्षा नहीं; उसमें क्षायिकभाव के भाव की अपेक्षा नहीं। - इस प्रकार `**शुद्ध जीवत्व ऐसा जो शक्तिलक्षण पारिणामिकभावपना**' शक्तिरूप से जो जीवत्व (अर्थात्) त्रिकाली जीवपना - कारण जीव - कारण परमात्मा है। शक्तिरूप का अर्थ यह है कि : कारण परमात्मा जो स्वभावस्वरूप है, `**वह शुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रित होने से**' वह शुद्धद्रव्य (है)। जो नय शुद्धद्रव्य का आश्रय लेता है, उसे लक्ष में लेता है वह शुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रित होनेसे वह `**निरावरण**' जीवत्वशक्ति त्रिकाल है। (अर्थात्) चैतन्यमूर्ति प्रभु तो निरावरण है; उसमें आवरण भी नहीं और अनावरण भी नहीं। (उसे) अनावरण की अपेक्षा नहीं और आवरण की अपेक्षा नहीं, ऐसी चीज़ है। आहाहा..हा !

- क्या कहते हैं ? (कि:) जो भगवान आत्मा अनादि - अनंत शुद्धपारिणामिक भाव, सहज भाव, ध्रुव भाव, नित्य भाव, सामान्य भाव, अभेद भाव, अबंध भाव (है) वह

शुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रित होनेसे निरावरण - सकल निरावरण (है)। आहाहा ! राग से संबंध और आवरण तो पर्याय में है, वस्तु में है ही नहीं। प्रभु ! वस्तु है न आत्मा !

वह शुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रित शुद्ध जीवत्व ऐसा जो शक्तिलक्षण (है, वह) किसका ? कि : पारिणामिकपने का। आहाहा ! त्रिकाली पारिणामिक का जो 'शुद्ध जीवत्व', ऐसा जो शक्तिलक्षण, स्वभावलक्षण, शक्तिलक्षण, सत् का - सत्पने का लक्षण ध्रुव (है)। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू ! 'जिन' की बात !! आहाहा ! श्रीमद्जी 'मोक्षमाला' (वर्ष १७वाँ, शिक्षापाठ - १०७)में कहते हैं कि : 'जिनेश्वर तणी वाणी जाणी तेणे जाणी छे।' (जिनेश्वर की वाणी जिसने जानी उसने जानी है।) बापू ! बाकी सब कुछ व्यर्थ (खोखला) है! जैनकुल में जन्म लेने पर भी जिनवाणी क्या है ? यह समझे नहीं; यों ही चला जायेगा चार गति में भटकने को। श्रीमद् राजचंद्र समकिती थे। आत्मज्ञान हुआ था। गृहस्थाश्रम में बंबई में जवाहरात का लाखों रुपयों का बहुत बड़ा व्यापार था, लेकिन अंतर में आत्मज्ञान हुआ था। जैसे नारियल में (अंदर) गोला भिन्न रहता है, वैसे समकिती का (आत्म-)गोला राग से भिन्न रहता है। सूखे नारियल होते हैं (उसमें से गिरीगोला) बाहर तो निकला नहीं है पर अंदर काँचली (नारियली) से अलग हो गया है, अंदर भिन्न है; वैसे सम्यग्दृष्टि का आत्मा राग के संबंध से अंदर भिन्न हो गया है। इस चीज़ का नाम सम्यग्दर्शन कहें। अभी तो सम्यग्दर्शन किसे कहें इसका (लोगों को) पता नहीं है। सम्यग्दर्शन किस तरह उत्पन्न हो इसकी ख़बर तक नहीं है ! और (इसके बिना) बाहर में ये क्रियाकांड, व्रत और नियम - यह धूल-मिट्टी (व्यर्थ) है।

आहाहा ! यहाँ आचार्य महाराज पुकार करते हैं... परमात्मा की पुकार 'यह' है कि : '**शुद्ध जीवत्व ऐसा जो शक्तिलक्षण**' स्वभावलक्षण, गुणलक्षण, सत् का सत्त्व, भाव का भावपना - आत्मभाव है, उसका भावपना - शुद्ध जीवत्वशक्तिलक्षण (है वह बंध-मोक्षपर्याय परिणतिरहित है)। आहाहा..हा !

जितना समझ में आये उतना समझना बापू ! यह तो परमात्मा का भंडार है। साधारण आदमी, ऊपर-ऊपर से थोड़ा अभ्यास करे... और समझ ले कि 'हमें बहुत ज्ञान हो गया।' (तो वह यथार्थ ज्ञान नहीं है।) सम्यग्ज्ञान कोई अलौकिक चीज़ है, भाई !

आहाहा ! जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - तीन प्रकार के पारिणामिक भाव है। ये उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक (भाव) नहीं है। शुद्ध जीवत्व ऐसा जो शक्तिलक्षणपारिणामिक(भाव)पना (है) वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनयाश्रित (अर्थात्) शुद्ध द्रव्य के आश्रय से, जो नय शुद्ध द्रव्य को देखता है उसके आश्रय से (है)। वस्तु निरालंब है। और

(उसे) `शुद्ध पारिणामिक भाव' - ऐसी संज्ञावाला जानना। शुद्ध जीवत्व ऐसी शक्तिरूप पारिणामिकपना - वह `शुद्ध पारिणामिक भाव' है। आहाहा ! प्रभु त्रिकाल, त्रिकाल शुद्धस्वरूप - शक्तिरूप जो गुण है - उसे `शुद्ध पारिणामिक भाव' ऐसी संज्ञावाला जानना। वह नाम इसका है।

श्रोता : किसका (नाम) ?

उत्तर : आत्मा का। आत्मा जो शुद्ध जीवत्वशक्तिस्वरूप त्रिकाल है, उसे शुद्ध पारिणामिकपना कहने में आता है, उसे `शुद्धपारिणामिक' संज्ञा (अर्थात्) `शुद्ध पारिणामिक' ऐसे नाम से कहने में आता है।

आहाहा ! `समयसार' १४४ - गाथा में कहा है न...! कि : यह आत्मा पूर्णानंद का नाथ प्रभु (है) उसका सम्यग्दर्शन (यानी) उसकी दृष्टि हुई, अनुभव हुआ तो उस पर्याय को `सम्यग्दर्शन' नाम से कहने में आता है। जिस प्रकार (यहाँ) इस पारिणामिक भाव को संज्ञा-नाम कहने में आया है। गाथा : **`सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं। सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो'** ।।१४४।। `मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ' ऐसे विकल्पों से भी रहित जो सम्यग्दर्शन का विषय, उसे विषय बनाकर सम्यग्दर्शन हुआ, उसे `सम्यग्दर्शन' नाम देने में आता है। **`व्यपदेश'** है न...? व्यपदेश कहो या नाम कहो। तब तो उसे `सम्यग्दर्शन' ऐसे नाम से कहने में आता है। (उसमें) व्यवहारश्रद्धा का भाव तो है ही नहीं; वह तो राग है; उसकी तो बात भी नहीं है। आहाहा ! अपना स्वभाव जो एक समय में पूर्णानंद, विद्यमान, पूर्ण (है) उसकी अनुभूति, उसका अनुभव, वेदन में आनंद का आना - इसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान संज्ञा-नाम कहने में आता है। कुछ समझ में आया ? देखो ! टीका की तीसरी पंक्ति : **`मात्र इस एक को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का नाम मिलता है।'**

यहाँ तो `संज्ञा' कहा न...? व्यवहार समकित की तो बात ही कहाँ है ? वह तो है ही नहीं। वह (तो) राग है। `भगवान आत्मा' शुद्ध जीवत्वशक्तिस्वरूप पारिणामिकभाव, त्रिकाल परम पारिणामिक भाव है, (और) उसका अनुभव वह `पर्याय' (है); इस अनुभव को `सम्यग्दर्शन' नाम तब मिलता है कि जब स्वरूप की अनुभव-दृष्टि होती है।

जिज्ञासा : इससे पहले सम्यग्दर्शन नाम भी नहीं पाते ?

समाधान : नहीं। नाम भी नहीं पाते।

अरे ! क्या करें ? देव-गुरु-शास्त्र को मानते हैं... नव तत्त्व को मानते (हैं), (अतः) हमें समकित तो है। अब व्रत आदि चारित्र ले लो ! - (ऐसा) समकित धूल में भी नहीं हो सकता। एक पंडित (ऐसा) मानता था न...! वह कहता था कि : दिगंबर में जन्म

लिया उन सब को समकित तो है, अब चारित्र ले लो।

श्रोता : ऐसी बात किसी अपेक्षा से की होगी न ?

उत्तर : किसी भी अपेक्षा से बात (हो), (ये बात) सारी झूठी हैं।

यहाँ तो ('समयसार' गाथा -) १४४ की टीका में कहा न... (कि:) जो वास्तव में समस्त नयपक्षों द्वारा खंडित नहीं होने से जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है ऐसा है, वह समयसार है; वास्तव में इस एक को ही (मात्र) एक को ही (अर्थात्) शुद्ध जीव परमात्मा भगवानस्वरूप - इस एक को ही, नय से रहित - नयपक्षपात से रहित सम्यग्दर्शन हुआ - इसे सम्यग्दर्शन - ज्ञान नाम मिलता है। आहाहा ! जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है वह समयसार है। वास्तव में इस एक को ही... (एक को ही (सम्यग्दर्शन-ज्ञान नाम मिलता है)।

आहाहा ! भाई ! यह तो परमात्मा त्रिलोकीनाथ की धारा है। परमात्मा जो फरमाते थे वह बात 'यह' है। वास्तव में एक को ही - किस एक को ? (कि:) विकल्प से रहित अंदर निर्विकल्प अनुभव हुआ (अर्थात्) 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, अखंड हूँ' ऐसे विकल्प से भी रहित हुआ, तब जो सम्यग्दर्शन हुआ - इस एक को ही, अन्य कोई नहीं, ऐसी सम्यग्दर्शनपर्याय को - मात्र एक को ही - सिर्फ सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का नाम प्राप्त है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान समयसार से अलग नहीं है। (इस प्रकार) उस पर्याय को (द्रव्य से) अभेद (करके) कहने में आया है। है तो द्रव्य से भिन्न पर्याय; परंतु पर्याय का लक्ष (जो) पर की तरफ था वह अंतर में गया, इस अपेक्षा से अभेद कहने में आया, आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

यह यहाँ कहा - '**शुद्धपारिणामिक भाव ऐसी संज्ञावाला जानना;...**' जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - तीनों में 'जीवत्वशक्ति' जो त्रिकाल है, वह शुद्ध पारिणामिक भाव से है; वह पारिणामिक भाव द्रव्य का स्वभाव है, इसे पारिणामिकभाव का नाम - संज्ञा मिलती है। है...? '**शुद्धपारिणामिक भाव ऐसी संज्ञावाला जानना;...**' ऐसा उसे नाम मिलता है। आहाहा ! शुद्धपारिणामिक स्वभाव, त्रिकाली भगवान, पूर्ण प्रभु - इसमें दया, दान, (आदि के) राग का तो अभाव है, वह तो चीज़ से बाहर रहे। (परंतु) जिसमें क्षायिक समकितपर्याय हुई, इसका भी जिसमें अभाव है; ऐसा शुद्ध पारिणामिक भाव, त्रिकाली जीवत्वशक्ति, जीव का जीवपना, कारण जीव, कारण परमात्मा - उसे 'शुद्धपारिणामिक भाव' ऐसी संज्ञावाला जानना।

आहाहा ! ऐसी सब भाषा !! ऐसा मार्ग !! बहुत बिखर गया, बापू ! वीतराग परमात्मा की उपस्थिति (यहाँ) नहीं है। केवलज्ञान (धारी) परमात्मा की उपस्थिति नहीं है। (यहाँ) विरह हुआ। प्रभु वहाँ (महाविदेह में) रहें। (तत्त्व में) फेरफार बहुत हो गया है।

सच्ची बात को झूठी साबित करनेवाले बहुत लोग हो गये हैं। और झूठी बात को सच्ची बात माननेवाले बहुत हो गये हैं। `चोर कोतवाल को दंड देता है।' कोतवाल तो पकड़ ले, परंतु (उलटा) चोर कोतवाल को (पकड़े) ! क्योंकि चोर बहुत हो गये और कोतवाल एक। पचीस-पचास-सौ चोरों ने मिलकर (कोतवाल को) पकड़ लिया। जयसेनाचार्य की संस्कृत टीका में पाठ है : `कोतवाल है, उसे चोर पकड़ता है।' वास्तविक - तत्त्वदृष्टि (जिसके पास) है उसे लोग गलत - अज्ञानी ठहराते हैं ! आहाहा ! क्या लिखावट !! आचार्यों ने काम (गज़ब) किया है !! आहाहा ! जगत के प्रति करुणा !! देख-देखकर खेद हुआ, अरे...रे ! प्रभु ! तुझे क्या हुआ है ? प्रभु ! तू कहाँ जाता है ? तेरे किये का जोड़ - परिणाम क्या आयेगा ? पढ़ता है उसका परिणाम परीक्षा के समय आता है (वैसे) प्रभु ! तेरा परिणाम क्या आयेगा ? तू कहाँ जायेगा नाथ ? तेरी चीज़ क्या !! तेरी चीज़ की तुझे ख़बर नहीं है, और पर चीज़ को तू अपनी मान (रहा है) ! वह परचीज़ - संयोग तेरा पीछा नहीं छोड़ेगा। उस संयोग से तुझे भटकना पड़ेगा। आहाहा !

यहाँ तो परम पारिणामिक स्वभाव की ही दृष्टि करानी है। भव्य, अभव्य और जीवत्व में `जीवत्वशक्ति' जो त्रिकाली पारिणामिक स्वभावभाव है, उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है, इस (जीवत्वशक्ति को) पारिणामिक भाव संज्ञा का नाम मिलता है। (और) इस पारिणामिकभाव की अनुभूति - भाव को सम्यग्दर्शन नाम मिलता है। इस त्रिकाली को पारिणामिक नाम - संज्ञा मिलती है। तथा उसके अनुभव को सम्यग्दर्शन नाम मिलता है। कुछ समझ में आया ? आहाहा ! यह (जीवत्वशक्ति) तो बंध-मोक्ष-पर्याय परिणतिरहित है। यह जीवत्वशक्ति - त्रिकाल परम स्वभावभाव - वह तो बंध और मोक्ष-पर्याय की परिणति से रहित है। (उसमें) बंध-मोक्ष तो नहीं है; परंतु (वह) बंध-मोक्ष की पर्याय से (भी) रहित है। मोक्ष की पर्याय से भी वह वस्तु तो रहित है। आहाहा ! परंतु अब दूसरी बात लेनी है; ज़रा सूक्ष्म पड़ेगा।

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-४ ता. १-८-१९७९

'समयसार' ३२० - गाथा। जयसेनाचार्य की टीका। यहाँ (तक) आये हैं कि : त्रिकाली आत्मा में जीवत्वशक्ति अथवा पारिणामिक स्वभाव - जीवत्वशक्ति जो परमात्मस्वरूप - उस पर, चारों ओर से (-सर्व पर तरफ से) दृष्टि हटाकर, पहले श्रद्धा जोड़नी।

सूक्ष्म बात है, प्रभु ! इसके बिना, उपदेश में (कोई) ऐसा ले कि : व्यवहार व्रत और तप और भक्ति करते-करते (श्रद्धा सम्यक्) होगी, तो वह तो मिथ्या उपदेश है।

यहाँ '**प्रथम तो जीवत्व**' - भगवान आत्मा का आत्मपना, जीव का जीवपना, शुद्ध, त्रिकाली, परम स्वभावभाव, ध्रुवभाव, नित्यभाव, सामान्य भाव - वह जीवत्व शक्ति है।

'**भव्यत्व**' - मोक्ष होने लायक जीव, इसे भव्यत्व कहते हैं। भले वह निगोद में हो; कभी (वहाँ से) निकले भी नहीं; तो भी उसे भव्यत्व का भाव कहने में आता है।

'**अभव्यत्व**' - जिसका कभी भी मोक्ष नहीं होता (- मोक्ष पाने की योग्यता नहीं है)। समस्त क्रिया करें, अर्थात् पंच महाव्रत की; २८ मूल गुण की; निर्दोष आहार (ले), अर्थात् उसके लिये चौका लगाया हो तो ले नहीं; - ऐसी व्यवहार-क्रिया भी साफ (हो, फिर भी) वह तो पुण्यबंध का कारण है। ऐसी क्रिया, ऐसा अभव्यजीव (भी) करता है।

- इन तीनों प्रकार को - इन तीनों को पारिणामिक भाव कहते हैं।

'**शुद्ध जीवत्व ऐसा जो शक्तिलक्षण पारिणामिकपना**' - शुद्ध मुक्तस्वरूप, अंतर में मुक्तस्वरूप ऐसी जो शुद्धजीवत्वशक्ति, अबंधस्वरूप ऐसी जीवत्वशक्ति - उस पर नज़र अर्थात् (उसके) निधान को देखने में दृष्टि देना, यह धर्म की प्रथम-पहली सीढ़ी है। अपूर्व बात है, भाई ! इसके बिना, सारे व्रत और तप और नियम शून्य समान हैं, संसार हैं। ३२० - गाथा (अमृतचंद्राचार्य की टीका) फिर भावार्थ में देखो : '**मिथ्यात्व है वह ही संसार है।**'

जिज्ञासा : मिथ्यात्व के जाने के बाद भी दो-चार भव होते हैं !

समाधान : मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का अभाव ही होता है। समुद्र में एक बिंदु की क्या गिनती ? समकित होने के बाद एक-दो-चार भव करने पड़े (तो भी) उसकी गिनती क्या ? समुद्र में बिंदु की गिनती क्या ? इस प्रकार भगवानआत्मा जिसने अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करके मिथ्यात्व का नाश किया, उसके अगर एक-दो-चार भव (बाकी) हो (तो) इसकी गिनती क्या ? और जब तक मिथ्यात्व है, अर्थात् 'मैं निमित्त की क्रिया कर सकता हूँ, शरीर-वाणी-मन की, राग की, दया-दान-व्रत की क्रिया

ये परिणाम यह मेरा कर्तव्य है' तब तक तो संसार - समस्त संसार में भटकने के भाववाला - है।

यहाँ कहते हैं कि : जीवत्वशक्ति आदि तीन प्रकार के पारिणामिक भावों में '**शुद्ध जीवत्व ऐसा जो शक्तिलक्षण पारिणामिकपना वह शुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रित**', अर्थात् शुद्ध द्रव्यस्वभाव, जो त्रिकाल (है) उसके आश्रित '**होनेसे निरावरण और 'शुद्ध पारिणामिकभाव' (ऐसी संज्ञावाला जानना)।**' वह निरावरण है। आहाहा ! वस्तु जो है अर्थात् जीव वस्तु जो है, द्रव्य है, तत्त्व है वह तो त्रिकाल निरावरण है। आहाहा ! द्रव्यस्वभाव; जो भगवान आत्मा का है, जो जीवत्वशक्ति जो कि पारिणामिकभाव से त्रिकाल है; ऐसा जो आत्मा - राग से तो भिन्न, लेकिन पर्याय से भी भिन्न - ऐसे त्रिकाली भाव को निरावरण और शुद्ध पारिणामिक भाव ऐसी संज्ञावाला जानना।

कल बताया था न...! १४४ - गाथा ('समयसार') : अपना चैतन्यस्वरूप पूर्ण प्रभु, उसका अनुभव करके सम्यग्दर्शन और ज्ञान होता है तब तो वह सम्यग्दर्शन और (सम्यक्) ज्ञान नाम को पाता है। 'व्यपदेश' कहा था न ? नाम ही तब पाता है। इसके बिना, देव-गुरु की श्रद्धा और नव तत्त्व की श्रद्धा - इसे सम्यक् नाम नहीं मिलता। आहाहा ! वह तो उसकी परलक्षी श्रद्धा है। देव-गुरु की श्रद्धा भी राग है। क्योंकि : वह पर तरफ का झुकाव - लक्ष है। तथा 'राग से लाभ होता है' ऐसा मानना तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा ! पहली (मूल बात समझनी) बहुत कठिन है।

ऐसा यहाँ कहते हैं कि : शुद्ध पारिणामिक भाव जो त्रिकाली ऐसी संज्ञावाला है, नामवाला (है); वही स्वीकार करने योग्य है, दृष्टि में श्रद्धा करने योग्य है और ज्ञान में ज्ञेय बनाने योग्य है।

आहाहा ! अब ऐसी बातें !! यह भाषा ही कोई अलग जाति की है। अनंत काल से भटक रहा है। (जीव ने) चौरासी के अवतार (अनंते किये) कल दोपहर में 'नियमसार' (गाथा - ४२ की टीका में) आया था न...! एक करोड़ साढ़े सत्तानवे लाख करोड़ कुल (हैं)। इन कुलों में भी अनंतबार उत्पन्न हुआ। और (८४ लाख) योनि में भी अनंतबार उत्पन्न हुआ। जहाँ सिद्ध भगवान बिराजते हैं वहाँ भी निगोद के जीव हैं। वहाँ (सिद्धालय में) 'णमो सिद्धाणं...' (कहते हैं वे) परमात्मा बिराजते हैं; उनके क्षेत्र में निगोद (के जीव) अनंते हैं। आहाहा ! क्षेत्र बदल जाये - नीचे से ऊपर जाये, क्षेत्र ऊँचा हुआ - इसलिये लाभ हो जाये, ऐसा नहीं है। कुछ समझ में आया ? इस प्रकार शुक्ल लेश्या से नववीं ग्रैवेयक चला जाये इसमें कुछ (सार्थकता) नहीं है; उससे कुछ धर्म नहीं है; और धर्म का कारण भी नहीं है। 'धर्म का कारण' तो शुद्ध पारिणामिक भाव, त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वभाव

(है), इसका नाम यह है। वह श्रद्धा में स्वीकार करने योग्य है। और धर्म करना हो तो उसे ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय बनाना योग्य है। ज्ञान की पर्याय में परप्रकाशक - (मात्र) अन्य को ज्ञेय बनाया - तो वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा ! राग को अपना मानना और राग से - दया, दान से - धर्म मानना, यह तो मिथ्यात्व है। किन्तु उस पर को जानना - ज्ञान की पर्याय में मात्र पर को जानना - ऐसा केवल पर प्रकाशकपना (है वह) ज्ञान नहीं है, (बल्कि) वह मिथ्याज्ञान है। क्योंकि : ज्ञान का स्वभाव तो स्व-पर प्रकाशक है। (फिर भी) स्व-प्रकाश को छोड़कर मात्र पर-प्रकाश में रहा (अतः वह मिथ्याज्ञान है)। आहाहा ! बहुत सूक्ष्म बात, बापू ! उस पर-प्रकाशकपने को भी छोड़कर, वर्तमान ज्ञान में स्वस्वरूप भगवानआत्मा, पूर्णानंद के नाथ को ज्ञेय बनाकर, ज्ञान करना (इसका नाम) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। बाकी बातें - थोथा है।

जिज्ञासा : हमें तो धर्म करना है, इन बातों से क्या मतलब ?

समाधान : धर्म 'यह' है ! अन्य धर्म क्या ? बाहर में भटक रहे हैं ! 'धर्म' तो निर्मल - वीतरागी पर्याय है। तो धर्म की यह वीतरागी पर्याय किस प्रकार हो ? (किः) वह त्रिकाली - पारिणामिक स्वभाव जो वीतरागमूर्ति प्रभु है, (उस) वीतरागमूर्ति, ध्रुव, चैतन्य, पारिणामिक स्वभाव के अवलंबन से सम्यग्दर्शन होता है। अन्य किसी के अवलंबन से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहाहा ! सूक्ष्म बात, भाई ! अरे बापू ! (यह) अपूर्व बात (है)।

जिज्ञासा : हमें सम्यग्दर्शन नहीं (किन्तु) धर्म चाहिए !

समाधान : सम्यग्दर्शन (है) वही धर्म है। धर्म का मूल यह है। '**चारित्तं खलु धम्मो**' (परंतु) धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।

आहाहा ! सूक्ष्म बात, प्रभु ! दुनिया को कठिन पड़े। (अज्ञानी के) ज्ञान में (स्व-) वस्तु आती नहीं है, अनादि से पर आता है। अगर वह (स्व) वस्तु ही ज्ञान में आ जाये, तो अतीन्द्रिय आनंद का वेदन हो जाये, तो सम्यग्दर्शन हो जाये। सम्यग्दर्शन होनेपर अतीन्द्रिय आनंद का वेदन हो जाये। भले ही फिर अस्थिरतावश रागादि हो; परंतु दृष्टि ने अपने स्वरूप को पकड़ लिया।

(जैसे) गोह (-चंदन गोह) होती है न...! वह दीवार पर चिपक जाती है। चोर लोगों को (मकान के भीतर) बाहर से जाना (चढ़ना) हो तो उसे वे लोग दीवार पर फेंकते हैं। वहाँ वह ऐसी चिपक जाती है कि उसे पकड़कर चोरलोग मकान पर चढ़े तो भी वह अपनी पकड़ को नहीं छोड़ती। इस प्रकार भगवान तीन लोक का नाथ सच्चिदानंद प्रभु ! उसके ऊपर श्रद्धा की ऐसी जमावट कर दे कि उसके अवलंबन से चारित्र - स्वरूप में (स्थिर) होकर, वीतराग होकर केवलज्ञान हो जाये।

आहाहा ! (ऐसा) मार्ग वीतराग का, बापू ! लोगों को ज़रा ऐसा भी लगे... क्रियाकांड में (धर्म) माननेवालों को तो ऐसा लगे कि अरे...रे ! यह तो एकांत है। प्रभु ! एकांत है, (पर) है तो वास्तविक - सम्यक् एकांत ! शुद्ध चैतन्य परमात्मस्वरूप भगवान, निश्चय शुद्धचिदानंदरूप, परमात्मस्वरूप - इसका अवलंबन दृष्टि में आता है, तब सम्यग्दर्शन होता है। यह पारिणामिक भाव का आश्रय है। वह 'शुद्ध पारिणामिक' ऐसी संज्ञावाला है। वह शुद्धपारिणामिक सहज स्वभाव लक्षणवाला नाम है। इसे स्पर्श करना है, श्रद्धा में लेना है और ज्ञान में ज्ञेय बनाना है। वह चीज़ शुद्धपारिणामिक स्वभाव नामवाली है। आहाहा ! '**वह तो बंधमोक्षपर्याय परिणति से रहित है।**' वह शुद्ध पारिणामिक स्वभाव - ध्रुव जो कि सम्यग्दर्शन का विषय (है), (ऐसे) इस द्रव्य पर दर्शन (श्रद्धा) की जमावट होती है। वह द्रव्य तो बंध-मोक्ष की पर्याय से रहित है। कुछ समझ में आता है ? आहाहा ! ऐसी बात !! बंध-मोक्ष पर्याय परिणति रहित है।

'**परंतु जो दसप्राणरूप**' - 'अशुद्ध पारिणामिक भाव - (है) वह पर्याय है। पहले द्रव्यार्थिकनय का विषय बताया। अब पर्यायार्थिक - वर्तमान व्यवहारनय का विषय बताते हैं : 'दसप्राणरूप जीवत्व' - ये पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वास और आयुष्य - ये दस प्राण, ये अशुद्ध प्राण अंदर योग्यता - यह शरीर नहीं, अंदर पर्याय में दस प्राण की योग्यता - यह अशुद्ध पारिणामिक भाव है। आहाहा ! क्या कहा ? यह शरीर तो जड़-मिट्टी; वह दस प्राण नहीं है। पर्याय में जो पाँच इन्द्रिय की योग्यता - क्षयोपशम आदि तथा मन-वचन-काया की योगसंपन्नतारूप, तथा श्वास व आयुष्य की योग्यता - ये जो दस प्राण हैं, वे अशुद्ध भावप्राण हैं; अशुद्ध पारिणामिक भाव है; वह आश्रय करने योग्य नहीं है। मन, वचन और कायादि प्राण है उनका आश्रय करना योग्य नहीं है; वह अशुद्ध पारिणामिक भाव है। आहाहा ! गज़ब बात है !! शरीर - वाणी - मन (यह) चीज़ तो बाहर रह गई। देव-गुरु-शास्त्र भी बाहर रह गये। अंदर में जो अशुद्ध पारिणामिक भाव - दस प्राण, ये दस प्राण भी अशुद्ध पारिणामिक भाव हैं, (ये भी आश्रय करने योग्य नहीं है)। (यहाँ पर) पारिणामिक की व्याख्या चल रही है; वरना यह है तो अंदर उदयभाव। इसे यहाँ अशुद्ध पारिणामिक भाव में डाला। पाँच इन्द्रियों का क्षयोपशम आदि है, यह भले क्षयोपशम है; फिर भी इन सबको उदयभाव में गिनने में आता है। (वह) आत्मिक स्वभाव नहीं है। तथा उसे यहाँ अशुद्ध पारिणामिक कहने में आया है। वह भी आश्रय करने योग्य नहीं है।

आहाहा ! जिसे प्रथम में प्रथम धर्म (अर्थात्) सम्यग्दर्शन (पाना हो इसके लिये यह बात है।) चारित्र की तो (बात) बाद में (है)। वह तो कहीं (दूर) रह गया। वह चारित्र

तो कोई अलौकिक चीज़ है !! मुनिराज को तो उसमें जैसे समुद्र में बाढ़ आती है, वैसे अतीन्द्रिय आनंद की बाढ़ आती है। सम्यग्दर्शन होने से अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है। सच्चे मुनिराज जो सच्चे संत हैं; उन्हें तो पर्याय में अतीन्द्रिय आनंद की बाढ़ आती है। छलक-छलककर अतीन्द्रिय आनंद उमड़ता है। स्वभाव में अतीन्द्रिय आनंद का समंदर भरा पड़ा है, ऐसी मुनिदशा में तो पर्याय में अतीन्द्रिय आनंद के हिलोरे (उठते हैं)। - इसका नाम मुनिदशा है। आहाहा ! सूक्ष्म बात, बापू ! वर्तमान (संप्रदायों में चल रही स्थिति) के साथ मिलान करे तो बहुत कठिन लगे। परंतु वस्तु (स्थिति) तो यह है !

आहाहा ! (जो) दस प्राणरूप जीवत्व 'अशुद्ध पारिणामिक' है, वह शुद्ध पारिणामिक यानी दृष्टि (श्रद्धा) का विषय नहीं है। इस दस प्राण का - जीव का (जीवत्व का) आश्रय करने योग्य नहीं है। मन, वचन और काया की योग्यता, ये भी आश्रय करने योग्य नहीं है।

देखो ! '**जो दसप्राणरूप जीवत्व और (भव्यत्व-) अभव्यत्वद्वय, वे पर्यायार्थिकनयाश्रित होने से**' ये तीन भेद अवस्था की दृष्टि से कहने में आते हैं। ऐसा '**अशुद्धपारिणामिकभाव**' पर्याय में है तो सही। भव्यत्व और अभव्यत्व ये पर्यायार्थिक नयाश्रित है। तीनों भेद पर्याय के आश्रय से हैं। अभेद - त्रिकाली भगवान के स्वाश्रय से तो शुद्ध पारिणामिक भाव है। आहाहा ! पर्यायार्थिक तीन भाव - दश प्राण, भव्यत्व और अभव्यत्व - आश्रय करने योग्य नहीं है - ऐसा कहते हैं। अपनी पर्याय में भव्यत्व - मोक्ष होने की योग्यता - है, इस पर्याय का भी आश्रय करने लायक नहीं है।

आहाहा ! यह श्लोक बहुत ऊँचा ! ज़रा सुनो तो सही। यहाँ ४५ वाँ चातुर्मास है। यह शिक्षणशिबिर ३२ साल से चल रही है। पहले बच्चें आते थे। फिर बड़े (भी) आने लगे। इसमें यह बात (रखी) है, प्रभु ! सीखने में सीखना यह है कि : मेरी चीज़ है त्रिकाली। (यह) चीज़ आश्रय करने लायक है। तथा जो दस प्राणरूप जीवत्व - भव्यत्व (-अभव्यत्व) - ये अशुद्ध पारिणामिकभाव, पर्यायार्थिकनयाश्रित हैं (वे आश्रय करने योग्य नहीं हैं)। शुद्ध पारिणामिकभाव, त्रिकाल द्रव्याश्रित है; द्रव्यार्थिकनय का विषय है; अर्थात् त्रिकाली शुद्ध पारिणामिक भाव 'द्रव्यार्थिकनय' का विषय है और दस प्राण, भव्यत्व और अभव्यत्व - यह 'पर्यायनय' का वर्तमान विषय है, अतः वह हेय है। पर्यायनय का विषय है... 'है' (तो सही); पर जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, उसे उसका लक्ष छोड़ना पड़ेगा।

आहाहा ! ऐसी बात है, बापू ! क्या हो ? बाहर की प्रवृत्ति और क्रियाकांड में (लोग) घिर गये और उसे मान लिया (धर्म) ! - इसमें 'यह' बात !! आहाहा ! आगे

आयेगा अभी : `प्रभु तो निष्क्रिय है। मोक्ष के परिणाम की क्रिया से रहित है' आगे आयेगा, योगीन्द्रदेव की गाथा : `मोक्ष का मार्ग व मोक्ष की पर्याय से प्रभु तो निष्क्रिय है। इस परिणाम की क्रिया उसमें नहीं है, ऐसा द्रव्यस्वभाव है; आहाहा ! कठिन बात है, भाई !

`(**जो दसप्राणरूप जीवत्व और भव्यत्व - अभव्यत्वद्वय**) **वे पर्यायर्थिकनयाश्रित होनेसे** `**अशुद्धपारिणामिक भाव' संज्ञावाले** (**हैं**)**।**' देखो ! पहले यह कहा था कि : शुद्ध द्रव्यार्थिकनयाश्रित स्वभावभाव त्रिकाल निरावरण और शुद्ध पारिणामिक भाव संज्ञावाला जानना। इसका नाम शुद्ध पारिणामिक (भाव है)। (अब कहा कि :) यह दस प्राण, भव्यत्व और अभव्यत्व ये अशुद्ध पारिणामिक नामवाले हैं। पर्यायार्थिकनय के तीन भेद, ये अशुद्ध पारिणामिक भाव नामवाले हैं।

ऐसा मार्ग !! कभी सुना न हो। यह चीज़, क्या कहते हैं, बापू ? यह तो जयसेनाचार्यदेव की टीका हज़ार वर्ष पूर्व की है। दिगंबर मुनि जयसेनाचार्य, जगत के सामने ज़ाहिर करते हैं। प्रभु का फरमान ऐसा है कि : प्रभु ! द्रव्यार्थिकनय का विषय जो शुद्ध पारिणामिक नामवाला है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। और यह अशुद्ध भाव पर्यायनय का विषय है, वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। इसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसके आश्रय से तो राग उत्पन्न होता है। वह संसार है। कुछ समझ में आता है ? थोड़ा-थोड़ा समझना प्रभु ! यह तो तीन लोक के नाथ वीतराग तीर्थंकरदेव का पेट (मर्म) है। सूक्ष्म विषय है यह। आहाहा ! प्रभु ! क्या कहें ?

इस पारिणामिक के दो भेद : एक शुद्ध पारिणामिक (यानी वस्तुस्वरूप), और एक पर्यायस्वरूप। वस्तु-स्वरूप जो त्रिकाल है, उसे `शुद्ध पारिणामिक भाव' (कहने में आया है)। और पर्याय में जो दस प्राण (- पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, श्वास और आयुष्य); भव्यत्व और अभव्यत्व - ये तीन भेद हैं, वह पर्यायार्थिकनय का विषय (है) उसे `अशुद्ध पारिणामिक (भाव)' कहने में आया है। आहाहा ! ऐसी भाषा !!

प्रश्न : `अशुद्ध' क्यों कहते हो ? पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, श्वास, आयुष्य; भव्यत्व और अभव्यत्व - इन्हें आप `अशुद्ध' क्यों कहते हो ? भव्यत्व व अभव्यत्व यह तो `पर्याय' नय का विषय है, (ऐसा कहना)। और एक तरफ `जैनसिद्धांतप्रवेशिका' - में ऐसा कहना कि : भव्यत्व आत्मा का `गुण' है, तो वह `अशुद्ध' कैसे (है) ? दसप्राण - भव्यत्व - अभव्यत्व को `अशुद्ध पारिणामिक' क्यों कहा ? पर्यायनय का विषय है न...! - इसे अशुद्ध पारिणामिक क्यों कहा ? (तो कहते हैं कि :)

आहाहा ! `**संसारियों को शुद्धनय...**' से नहीं है। क्या कह रहे हैं ? कि : संसारी प्राणी को शुद्धनय से दस प्राण और भव्यत्व - अभव्यत्व नहीं है। आहाहा ! सुन तो सही

प्रभु ! संसारी जीव को (भी) शुद्धनय से अंदर से वह है ही नहीं। शुद्धनय का विषय करने से इस संसारी जीव को अपने में दस प्राण, भव्यत्व और अभव्यत्व है ही नहीं। 'भव्यत्व' (भी) नहीं। गज़ब बात है।

'जैनसिद्धांतप्रवेशिका' में 'भव्यत्व' को जीव का गुण कहा है। है तो (वह) पर्यायनय का विषय। अगर 'गुण' होवे तो उसका नाश नहीं होता। सिद्ध में 'भव्यत्व' नहीं रहता !

अशुद्ध पारिणामिक भाव संसारी को है। इसे 'अशुद्ध' क्यों कहा कि : शुद्धनय का विषय, जो वस्तु है इसमें, यह (जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व) इसे (संसारी को भी) नहीं है। शुद्ध नय की दृष्टि से संसारी को जब आत्मा जानने में आता है, तब इस 'आत्मा' में वे तीनों अशुद्ध पारिणामिक भाव नहीं हैं। अरे ! ऐसी व्याख्या !! संसारी को शुद्ध नय से (इन तीनों का अभाव है)। अनंत संसारी प्राणी हो... अरे ! अभव्य जीव हो, इसमें अभव्यत्वपने की पर्याय तो पर्याय में है। भव्यपना (है) वह भी पर्याय में है। (वस्तु में नहीं है)। आहाहा !

भगवंत ! एक बार सुन तो सही... प्रभु ! तेरे घर की बात। बाहर की क्रिया-कष्ट करने से लाभ होता हो, तो अनंतबार ऐसा किया है। अनंतबार वनवास में रहा, कायाक्लेश (किया)। - (वे) सब बालव्रत और बालतप हैं। ऐसा पाठ है। अंदर भगवान पूर्णानंद के नाथ के अवलंबन के बिना और सम्यग्दर्शन बिना, वे सब बालव्रत और बाल तप है। अरे...रे ! बनियों को धंधे के मारे फुर्सत न मिले इसलिये निर्णय कब करें ? एकाध घंटा मंदिर या उपाश्रय में (श्वेताबंर साधु - साध्विओं के रहने का स्थान) जाये, वहाँ जाकर बैठे, ऐसे भक्ति करके, उठ के चला जाये; इससे क्या हो गया ? सत्य क्या है ? - इसके निर्णय की फुर्सत नहीं है। बाहर की प्रवृत्ति के मारे फुर्सत नहीं है कि अंदर क्या चीज़ है ?

यहाँ कहते हैं कि : संसारी जीव को, शुद्ध नय से, वे दस प्राण(रूप) जीवत्व और भव्यत्व - अभव्यत्व, आत्मा में है ही नहीं। आहाहा ! 'शुद्ध नय' का विषय जो भगवान आत्मा, उसमें वे दस प्राण, भव्यत्व और अभव्यत्व अंदर है ही नहीं। अभव्य(त्व) और भव्य(त्व) तो 'पर्याय' का विषय है। दस प्राण - मन, वचन, काया, (श्वास, आयुष्य); और पाँच इन्द्रियों का विकास - भावेन्द्रिय - यह भी 'पर्यायनय' का विषय है; 'अशुद्ध पारिणामिक भाव' का विषय है। वह 'चैतन्य' का विषय नहीं है।

आहाहा ! ऐसी बातोंवाला जैनधर्म !! अब फुर्सत मिले नहीं। गाँवों में और शहर में पूरे दिन बाहर की प्रवृत्ति... इसमें मुश्किल से (जाये) सुनने (पर) ऐसा (सत्य) मिले नहीं और जिंदगी (यूँ ही) चली जायेगी, बापू ! आहाहा ! आयुष्य पूरा हो जाये फिर

जाये चौरासी में भटकने। वह कीड़े-कौए-कुत्ते, नरक और निगोद के भव... बापू ! अनंते किये। और जब तक यह मिथ्यात्व भाव है... इस मिथ्यात्व के गर्भ में अनंते भव करने की ताकत है। अन्य क्रियाएँ लाख करे, व्रत और तप; पर वह `धर्म है' ऐसी मान्यतावाले मिथ्यात्वपने के (भाव के) गर्भ में, अनंत भव करने की ताकत है। वह तो यहाँ कहा न कि : `मिथ्यात्व (है) वही संसार है।' वह राग-क्रिया - दया, दान, व्रत की क्रिया - मेरी है और उससे मुझे लाभ होगा, तथा मैं पंच महाव्रत का पालन करता हूँ, तो उससे मुझे लाभ होगा यह (मान्यता) मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व ही संसार है। आहाहा ! ऐसी बात, प्रभु ! संतलोग करुणा करके जगत को जागृत करते हैं। राग व निमित्त प्रवृत्ति पर है, (इसमें) भगवान ! तू लूट जाता है ! कुछ समझ में आया ?

यह `अशुद्ध पारिणामिक' नामवाले (दस प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व) - इनका `शुद्धनय से' अभाव होने से संसारियों को नहीं है। आखरी शब्द लेना : `**संसारियों को शुद्धनय की अपेक्षा से तथा सिद्धों को तो सर्वथा ही दसप्राणरूप जीवत्व का तथा भव्यत्व - अभव्यत्वद्वय का अभाव होने के कारण**' अर्थात् सिद्धों को तो सर्वथा ही दस प्राणरूप जीवत्व का, भव्यत्व का और अभव्यत्व का अभाव होने से, (तथा) शुद्ध नय की दृष्टि से दस प्राण, भव्यत्व, अभव्यत्व का संसारी प्राणियों में भी अभाव है।

आहाहा ! कुछ समझ में आता है ? सूक्ष्म बात है, भगवान ! लेकिन तेरे घर की बात है नाथ ! आहाहा ! प्रभु तू कौन है ? किसे आत्मा कहें ? (तो) कहते हैं : वह आत्मा परम पारिणामिक स्वभावभाव है; उसे आत्मा कहते हैं। आया था न...! `नियमसार' ३८ गाथा में (कि:) वास्तव में आत्मा तो इसे कहें। पर्याय में चार ज्ञान आदि हैं, फिर भी (वह) आत्मा नहीं है। वह (आत्मा) तो बिना पर्याय का है। अरे ! केवलज्ञान की पर्याय भी व्यवहार आत्मा है। त्रिकाली वस्तु, जो भगवान पूर्णानंद का नाथ - वह निश्चयआत्मा - सच्चा आत्मा वह है।

आहाहा ! ऐसी बातें हैं !! कई लोगों ने तो जिंदगी में सुनी तक न हो। और कौन जाने... यह तो निश्चय की बातें ! हमें तो बस व्यवहार चाहिए पूरा ! (परंतु) `यह' व्यवहार है न...! (लेकिन) व्यवहार करके उसकी कर्ताबुद्धि (होना) वह मिथ्यात्व है। वे दया, दान, और व्रत के परिणाम का `कर्ता होना' वह भी मिथ्यादृष्टि है। और यह मिथ्यात्व वही संसार है। बाहर से नग्न व त्यागी हुआ पर अंदर में राग की - पुण्य की क्रिया, व्यवहार की क्रिया, तप की - उपवास की क्रिया (है) `वह धर्म है' - ऐसा माननेवाला, मिथ्यादृष्टि है।

शुद्ध नय से दस प्राण और भव्यत्व - अभव्यत्व का अंतर में - अंदर आत्मा में

अभाव है। अर्थात् संसारियों को अंतरात्मा में शुद्ध नय से (उन तीनों का) अभाव है। पर्याय में भले हो। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? शुद्ध नय से संसारियों को - `शुद्ध नय से' एक बात, और सिद्धों को तो `सर्वथा' ही वर्तमान में दस प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व का अभाव अर्थात् सिद्धों को तो पर्याय में भी (इन) तीनों का अभाव है। और संसारी प्राणी को द्रव्य में - त्रिकाली में इनका (तीनों का) अभाव है। कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! ऐसा उपदेश !! दिगंबर संतों ने तो जगत को जगाया है...जाग रे नाथ ! जाग ! तीन लोक का नाथ परमात्मा प्रभु तू है ! राग की क्रिया और निमित्त की क्रिया में तू सो गया है (वहाँ) तेरे प्राण का नाश होता है। पर्याय में नाश होता है...हं ! द्रव्य तो नाश कभी होता ही नहीं। चोट इस पर्याय में लगती है, प्रभु ! जिस तरह छूरी चले, उस तरह राग की - दया-दान-व्रत-भक्ति की क्रिया मेरी है (ऐसी मान्यता से) प्रभु ! तेरी पर्याय में छूरी चल जाती है, चोट करती है।

संसारी प्राणियों को शुद्ध नय से दस प्राण नहीं है तथा भव्यत्व-अभव्यत्व आदि भी नहीं हैं। कुछ समझ में आया ? भाई ! समझने की चीज़ `यह' है ! भाई -बापू ! बाकी तो हैरान हो गया। पाँच-छह करोड़ (रुपये हो तो) इसमें (आत्मा में) क्या आया ? अरे ! वह ऐसा मानेगा कि `हम सेठ हैं,' (पर) `सेठ' कहलाने में हेठा (नीचे) जा रहा है।

प्रभु तो कहते हैं कि : आत्मा तो अंदर दस प्राण रहित (है)। शुद्ध नय की दृष्टि से अर्थात् सम्यग्दर्शन की दृष्टि के विषय से, वे दस प्राण - पाँच इन्द्रियाँ - भावेन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, (श्वास, आयुष्य) - जिसमें नहीं है, ऐसा अकायिकशरीर भगवान आत्मा (है) ! संसारी प्राणियों के भी अंतर में, अंतर की दृष्टि के विषय में ये (दस प्राण) नहीं हैं। और सिद्धों को तो (वे) वर्तमान पर्याय में भी नहीं हैं।

- क्या कहा ? यह समझ में आया ? (कि :) संसारी प्राणी को अंदर में, अंतर द्रव्यस्वरूप जो भगवान पूर्णानंद का नाथ (विद्यमान है), जो सम्यग्दर्शन का विषय है, उसमें ये दस प्राण - पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, श्वास और आयुष्य - है ही नहीं। तथा भव्यत्व-अभव्यत्व भी अंदर में नहीं है। आहाहा ! गज़ब बात है !!

एक व्यक्ति ने यह प्रश्न किया था (कि:) `जैनसिद्धांतप्रवेशिका' में तो `भव्यत्व' को गुण कहा है, तो (क्या) गुण का नाश होता है ? बापू ! उस `गुण' का अर्थ : `पर्याय की योग्यता' है। वह भव्यजीव की योग्यता है, अभव्य की योग्यता नहीं है। किन्तु द्रव्यस्वभाव तो दोनों का समान है। `सिद्धसमान सदा पद मेरौ' - आता है न...! `चेतनरूप अनूप

अमूरति, सिद्धसमान सदा पद मेरौ ! मोह महातम आतम अंग, कियौ परसंग महातम घेरौ। ग्याकला उपजी अब मोहि, कहौ गुन नाटक आगम केरौ।' आहाहा ! तात्त्विक साधन करके शरीररहित हो जाता है।

यह यहाँ कहते हैं : अशुद्ध पारिणामिक संज्ञावाले भाव को `अशुद्ध' क्यों कहा ? कि : संसारी जीव को द्रव्यदृष्टि में - द्रव्य में वह (`अशुद्ध पारिणामिक' संज्ञावाला भाव) है ही नहीं, अतः (उसे) `अशुद्ध' कहा। और सिद्धों को तो वर्तमान पर्याय में भी नहीं है, अतः उसे `अशुद्ध' कहा। `अशुद्ध पारिणामिक' क्यों कहा ? - दस प्राण, भव्यत्व-अभव्यत्वद्वय भी `अशुद्ध' पारिणामिक (भाव) है। संसारी जीव की `दृष्टि' (अगर) अंदर (स्वभाव को) देखे, तो वस्तु में वह भव्य-अभव्य और दस प्राण है ही नहीं। वह तो पर्याय में है; अंदर (वस्तु) में है ही नहीं। और सिद्धों के तो पर्याय में (भी) नहीं है। द्रव्य में तो सबों के नहीं है। आहाहा ! अभवीजीव हो या भवी... पर उसके द्रव्य में तो वे दस प्राण, भव्यत्व व अभव्यत्वपना है ही नहीं। भव्यत्व भी सिद्ध में तो नहीं है, ऐसा कह रहे हैं। (सिद्ध की) पर्याय में भी भव्यत्व नहीं है। क्योंकि : मोक्ष होने की योग्यता तो प्रगट हो गई। अब `भव्यत्व' कहाँ रहा ? कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! दिगंबर संतों भावलिंगी - अंतर के अनुभवी लोग, जिनके अतीन्द्रिय आनंद उमड़ता है, उनके यह लेख हैं। जगत को बैठना (रुचना) अति दूभर !

`जीवत्व का और भव्यत्व-अभव्यत्वद्वय का अभाव होने से' - किसको ? (किः) संसारी प्राणियों को `शुद्ध नय' से (ये तीनों) `द्रव्य' में नहीं है; और सिद्धों को `द्रव्य' में तो नहीं बल्कि `पर्याय' में भी नहीं है। `सर्वथा' शब्द लिया है न...? संसारियों के द्रव्य में नहीं है और सिद्धों के पर्याय व द्रव्य दोनों में नहीं है। आहाहा !

`सम्यग्दर्शन' का विषय बताने के लिये `यह' बात चल रही है। प्रथम - सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है ? (इसकी बात) अनंतकाल में कभी भी सुनी नहीं है। प्रगट करी नहीं है। और सम्यग्दर्शन हो तो कैसी दशा होती है ? उसकी प्ररूपणा - उपदेश कैसा होता है ? (ख़बर नहीं है)। सम्यग्दृष्टि के उपदेश में ऐसा उपदेश कभी भी नहीं आ सकता कि - व्रत और तपश्चरण करने से, शुभ भाव करते-करते कल्याण हो जायेगा ! ऐसा उपदेश आये (ही) नहीं। और (अगर) ऐसा उपदेश आता है तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। वह तो मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि : अशुद्ध प्राण जो रागादि है, उससे अंतर में शुद्ध स्वभाव का लाभ होगा; जो भाव अंतर में नहीं है, उस भाव से अंतर का लाभ होगा; - (यह) भ्रम है। कुछ समझ में आया ?

`प्रवचनसार' गाथा - १७२ में `अलिंगग्रहण' के २० बोल है न...? `अलिंगग्रहण' -

छह अक्षर, लेकिन बोल - २० है ! इसमें पहला बोल ऐसा लिया है कि : इन्द्रिय का विषय आत्मा का नहीं है। इन्द्रिय से जानने में आये वह आत्मा नहीं है। इन्द्रिय का प्रत्यक्षपना वह आत्मा नहीं है। तथा अन्य के द्वारा, अनुमान द्वारा जानने में आये ऐसा भी वह नहीं है। और वह आत्मा स्वयं अनुमान करे और जानने में आये, ऐसा भी नहीं है। तब छठे बोल में ऐसा लिया कि : अपने स्वभाव से जानने में आनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञाता है।

'सारे व्याख्यान हो चुके हैं। व्याख्यान प्रकाशित होंगे। उसमें यह सब आयेगा : ४७ नय, ४७ शक्ति, ६ अव्यक्त - ४९ वीं गाथा, अलिंगग्रहण के २० बोल, श्रीमद् के (१० बोल -) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं है वह, इत्यादि हैं। ये सारे व्याख्यान चार महीने के हैं; वे आयेंगे (पुस्तकरूप में)।'

यहाँ कहते हैं : 'भव्यत्व' भी द्रव्यस्वभाव में नहीं है। गज़ब बात है !! एक तरफ 'भव्यत्व' को 'जैनसिद्धांतप्रवेशिका' में गुण कहें। इसका तो प्रश्न उठा (कि) गुण है, तो सिद्ध में (वह) है नहीं, तो 'भव्यत्व' गुण कैसे रहा ? लेकिन बापू ! वह 'गुण' नहीं है। भाई ! वह 'पर्याय की योग्यता' है। भव्य में पर्याय की योग्यता है। अभव्य में (वैसी) पर्याय की योग्यता नहीं है। द्रव्य तो वैसा ही है। (अर्थात्) द्रव्य में तो भव्य और अभव्य पर्याय की योग्यता अंदर में नहीं है, ऐसी चीज़ है ! 'जैनसिद्धांतप्रवेशिका' में 'भव्यत्व' को 'गुण' कहा है, इस 'गुण' शब्द का अर्थ वहाँ 'पर्याय' लेना। भव्यत्व एक पर्याय है। उस पर्याय का तो सिद्ध में नाश हो जाता है। सिद्ध में भव्यत्व नहीं है। भव्यपना सिद्ध में नहीं है। जिसको मोक्ष होने लायक 'भव्यत्व' है, वे तो मोक्ष में गये; तो (अब) वह भव्यत्व कहाँ रहा ? मोक्ष होने योग्य है तो मुक्त हो गये, (तो फिर) 'मोक्ष होने योग्य है' - ऐसा भव्यत्व (कहाँ) रहा ?

जिज्ञासा : वह कौन से गुण की पर्याय है ?

समाधान : अधर की (स्वतंत्र) पर्याय है। आहाहा ! एक ज़गह तो चला है : कर्म में जब विकार होता है - कर्म की पर्याय; किस गुण की पर्याय विकार (रूप) हुई है ? ऐसा कहते हैं कि पर्याय का स्वभाव है। वह गुण नहीं है। ऐसा पाठ 'चिद्‌विलास' में है।

श्रोता : कैसा पाठ है ?

उत्तर : वह ऐसा है कि : कर्म की पर्याय किस गुण की पर्याय है; कोई गुण है या नहीं ? कर्म की पर्याय है, (तो) परमाणु है उसमें (ऐसा) गुण है ? कि : गुण नहीं है। कर्म की पर्याय स्वतंत्र होती है। दो बोल हैं। आत्मा की पर्याय में (जो) विकार

होता है, तो विकार का कोई गुण है अंदर ? कि : नहीं। पर्याय में विकार तो, गुण के बिना, स्वतंत्ररूप से होता है। आहाहा ! विकार(रूप) पर्याय किस गुण की ? कि : गुण तो सब निर्मल हैं। उसकी पर्याय में (विकार) कहाँ से आये ?

जिज्ञासा : अब तक तो (आपश्री द्वारा) दो पर्यायें नई निकली - `क्रमबद्धपर्याय' और `कारणशुद्धपर्याय', पर (अब) यह `अधरपर्याय' (स्वतंत्र पर्याय) नई निकली ?

समाधान : `कारणशुद्धपर्याय' तो त्रिकाली है। है नई, बापू ! कारणशुद्ध पर्याय (के विषय में) - दो हज़ार के साल में बहुत स्पष्टता की थी। सूक्ष्म बात है, प्रभु ! जिस प्रकार शुद्ध चैतन्य ध्रुव नित्य है; उसकी पर्याय में भी `कारणपर्याय' ध्रुव - उत्पाद - व्यय बिना की कारण पर्याय - त्रिकाल है। आहाहा ! सुना तक नहीं कभी - कारण पर्याय और क्रमबद्धपर्याय। यह नई बात है। ३५ वर्ष पहले कारण पर्याय को स्पष्ट किया है। ये सारी बातें `नियमसार' की १५ वीं गाथा में है। देखो ! कि - यह जो आत्मा है, वह विकाररहित है, कर्मरहित है; परंतु वह ध्रुव है। और ध्रुव की पर्याय में भी एक कारण पर्याय ध्रुव है। उत्पाद-व्यय बिना की वह कारण पर्याय ध्रुव है। `नियमसार' शास्त्र में है। ऐसा अन्यत्र कहीं नहीं है। यह तो वीतराग की वाणी है, भाई ! `कारणशुद्ध पर्याय' (है) वह त्रिकाली (आत्मा) नहीं। त्रिकाली तो सही, परंतु पर्याय में त्रिकाली। आहाहा ! कुछ समझ में आया ?

जिज्ञासा : पर्याय, (फिर भी) वह त्रिकाली कैसे ?

समाधान : त्रिकाली पर्याय ध्रुव। जिस प्रकार समुद्र है - नक़शा बनाने में आया था। वहाँ (स्वाध्यायमंदिर, सोनगढ़ में) है अभी। बाहर प्रस्तुत करना था। दो पंडितों से पूछा था... पर (उनको) कुछ ख़बर नहीं। (पंडितों ने) कहा कि : `कारणपर्याय तो आत्मा की बात है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है।' बापू ! यहाँ वह बात नहीं है। `यह तो पर्याय है।' तो उन्हों ने ऐसा कहा कि : `पारिणामिकभाव की पर्याय है, शुद्ध पारिणामिक भाव की पर्याय है।' वह (कारण पर्याय की) बात कहाँ से ली, उसका पता (पंडितों को) लगा नहीं। जब (`नियमसार' पर के प्रवचन) गाथा १ से १९ के छपे तब उसमें वह नक़शा छपनेवाला था; (लेकिन) छोड़ दिया सब। बाहर में ये पंडित लोग नहीं समझेंगे तो अन्य साधारण व्यक्ति (तो) समझेंगे नहीं। आत्मा जो है, वह त्रिकाली ध्रुव है; तो उसकी पर्याय भी त्रिकाली ध्रुव है। क्योंकि, धर्मास्ति-अधर्मास्ति-आकाश-काल जो है, उनके द्रव्य भी पारिणामिक, गुण भी पारिणामिक और पर्याय भी पारिणामिक भाव से त्रिकाल, एक समान है। (तो) आत्मा में एक-सी ऐसी पर्यायें कहाँ आई ? रागादि हुए, उसमें कम-ज्यादा होता है; और राग अनादि शांत रहता है। फिर राग सादि अनंत नहीं रहता;

तो पर्याय एकरूप न रही। (धर्मास्ति आदि) चार द्रव्य में तो एकरूप पारिणामिकभाव की (पर्याय) त्रिकाली है; तो इस (जीव) द्रव्य में (भी) त्रिकाली एकरूप (पर्याय) होनी चाहिए कि नहीं ? कुछ समझ में आता है ? ये सारी दलीलें दी हैं। 'नियमसार' १ से १९ गाथा के प्रवचनों का एक पुस्तक है, उसमें यह सब लिया है।

एक तो 'क्रमबद्ध' की (बात समझना) मुश्किल पड़े। एक के बाद एक, वही होनेवाली (ही) होगी, इसका नाम क्रमबद्ध। - यह बात न बैठे... पसीना उतर जाये ! उस पर फिर यह 'कारणपर्याय' बाद में बाहर आई। 'नियमसार' में है : 'कारणपर्याय ध्रुव है।' जिस प्रकार धर्मास्ति - अधर्मास्ति की पर्याय एक समान अनादिअनंत (है)। परंतु आत्मा में तो यह रागादि है और राग कम हो जाता है, मोक्षमार्ग होता है और मोक्ष होता है, तो पर्याय एक समान न रही। (अतः आत्मा में भी) ऐसी एकसमान (पर्याय) होनी चाहिए। तो ध्रुव के साथ एकसमान पर्याय - उत्पाद-व्यय बिना की - (है), वह 'कारणपर्याय' ध्रुव - अनादि अनंत कहने में आती है। सूक्ष्म विषय है, भाई ! ज़रा !

यहाँ तो कहते हैं कि : 'भव्य और अभव्यत्व' - वह तो, अंदर में जो जीवत्व - वस्तुत्व - द्रव्यत्व है, उसमें तो शुद्ध नय के विषय से है ही नहीं। और सिद्धों को तो वर्तमान (पर्याय) में भी नहीं है। अतः उसे 'अशुद्ध पारिणामिक' कहने में आता है। विशेष कहेंगे....

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-५ ता. २-८-१९७९

'समयसार' ३२० - गाथा। उसकी जयसेनाचार्य की टीका है। यहाँ (तक) आये हैं। इस आत्मा के स्वरूप में शुद्ध जीवत्वशक्ति है, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है, वह सत्य (भूतार्थ) है। वह शुद्ध पारिणामिक भाव है, निरावरण है। (उसे) 'शुद्ध पारिणामिक' संज्ञावाला जानना। वह तो बंध-मोक्षपर्याय से रहित है।

परंतु (जो) दस प्राणरूप जीवत्व - पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, श्वास और आयुष्य है, वह है नहीं, ऐसा नहीं है; वह व्यवहार से है। (उसे) 'अशुद्ध पारिणामिक' कहा। दस प्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व (ये) पर्यायार्थिक नयाश्रित होने से अर्थात् तीनों ही पर्यायाश्रित हैं, इसका अर्थ व्यवहाराश्रित है। परंतु वह व्यवहार का विषय नहीं

है, झूठा है - ऐसा नहीं। कुछ समझ में आया ? पर्याय है। अशुद्ध भाव - अशुद्ध पारिणामिक भाव है। भव्यत्व की योग्यता है। अभव्यत्व की योग्यता है। है वह अशुद्ध पारिणामिक भाव, फिर भी वह व्यवहारनय का विषय है। पर्यायनय का विषय है। `सारा विषय व्यवहार का नहीं है' ऐसा नहीं। यह तो `घी का घड़ा' कहना, यह असद्भूतव्यवहार। पर वह घड़ा पर्याय है, वह मिट्टी की पर्याय है, वह व्यवहार है; वह पर्यायनय का विषय है। कुछ समझ में आया ? आहाहा ! ऐसी बात (अन्यत्र) कहाँ, प्रभु ?

कहते हैं कि : जो दस प्राण है, वह अशुद्ध पारिणामिक भाव अर्थात् व्यवहारनय का विषय है। अशुद्ध पारिणामिक कहो या व्यवहार कहो। यहाँ अशुद्धनिश्चय कहो या व्यवहार कहो। व्यवहारनय का विषय है। जैसे `घी का घड़ा' यह व्यवहार झूठा है; किन्तु यह व्यवहार झूठा नहीं है। `यह' व्यवहार है ! वह दस प्राणरूप जीवत्व-भव्यत्व-अभव्यत्व (वह) पर्यायनयाश्रित है। पर्यायनय कहो या व्यवहारनय कहो। `द्रव्य' है वह निश्चयनय का विषय है। `पर्याय' व्यवहारनय का विषय है। कोई भी पर्याय - पहले (जो) चार पर्यायें उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक पर्यायें ली, (वे) चारों पर्याय (भी) - यह सब व्यवहारनय का विषय है। किन्तु व्यवहारनय का विषय अंदर (द्रव्य) में है ही नहीं (- ऐसा नहीं)। जैसे `घी का घड़ा' (है) वह तो है नहीं; वैसे यह दस प्राण और भव्य और अभव्य की योग्यता पर्याय में है ही नहीं, ऐसा नहीं। कुछ समझ में आया ?

तो `अशुद्ध' क्यों कहा ? (कि:) संसारियों को शुद्ध नय से, अर्थात् त्रिकाली दृष्टि से, (वह) दस प्राण आदि नहीं है। वह व्यवहारनय से है, पर्याय नय से है। परंतु `त्रिकाली' शुद्ध नय का विषय होने से `अशुद्ध पारिणामिक भाव' संज्ञावाला वह (भाव) संसारी को `शुद्धनय' से, तथा सिद्धों को तो `सर्वथा' (नहीं है)। - क्या कहते हैं ? संसारियों को `शुद्ध नय' से भव्यत्व और अभव्यत्व (नहीं है); पर्याय में है, अर्थात् भव्यत्व और अभव्यत्व मात्र पर्याय में है। (परंतु) शुद्ध नय का विषय देखते हुए, संसारी जीव में भी दस प्राण, भव्यत्व और अभव्यत्व - ये जो `अशुद्ध पारिणामिकभाव' जो कि व्यवहारनय का विषय (है), वह त्रिकाली में नहीं है। आहाहा ! संसारियों को (ये तीनों ही) शुद्ध नय से नहीं हैं। आहाहा ! संसारी जीव भव्य-अभव्य है और (इसके) दस प्राण है... `है' यह अपेक्षा से पर्याय नय का विषय है। (वह) विषय झूठा है, ऐसा नहीं। जैसे `घी का घड़ा' झूठा है वैसे `पर्यायनय का यह विषय' झूठा है - ऐसा नहीं ! नय के अनेक प्रकार हैं, भाई ! असद्भूतव्यवहारनय के विषय की बात थी। यह तो अंतर की पर्यायनय है - इसकी बात यहाँ है। कुछ समझ में आया ?

किसी का प्रश्न है। एक पत्र आया है निजी। तो उसका स्पष्टीकरण समझ लो !

प्रश्न : ऐसा है कि : व्यवहारनय को तो सर्वथा झूठा कहा न ?

उत्तर : किस अपेक्षा से (झूठा) कहा... भाई ! घातीकर्म अपनी (-आत्मा की) पर्याय का घात करते हैं, वह असद्भूतव्यवहार (-कथन) है। परंतु स्वयं की पर्याय का घात स्वयं से होता है, यह पर्यायनय का विषय है। वह व्यवहारनय का विषय है। क्योंकि : (उदय-उपशमादि जो) चार पर्यायें ली, वह व्यवहारनय का विषय (है)। क्षायिकभाव (भी) व्यवहारनय का विषय (है)। तो `व्यवहारनय का विषय है नहीं' ऐसा नहीं। `घी का घड़ा' जैसे झूठा है, वैसे `क्षायिकभाव' - व्यवहारनय का विषय `झूठा' है, ऐसा नहीं।

एक (मुमुक्षु) का पत्र आया है। नाम - पता नहीं लिखा। `एक खोजक' ऐसा करके व्यक्तिगत पत्र आया है। है, वे अंदर (सभा में) बैठे हैं। कि - व्यवहार झूठा... झूठा करके यह सब क्या एकांत हो गया सर्वथा...! भाई ! व्यवहार तो वह (`घी का घड़ा'), यह झूठा (है); परंतु `पर्याय' (है) वह झूठा व्यवहार नहीं है। कुछ समझ में आया ? `व्यवहार झूठा है' तो वह कौन सा व्यवहार झूठा है ? कि : `स्वयं की (-आत्मा की) पर्याय का घातीकर्म घात करते हैं,' वह व्यवहार झूठा है। पर `अपनी पर्याय में घात होता है' वह झूठा नहीं है। - वह है !

जिज्ञासा : कुछेक व्यवहार सच्चे हैं और कुछेक व्यवहार झूठे हैं ?

समाधान : सब व्यवहार है। सद्भूतव्यवहार है और असद्भूतव्यवहार है। `अध्यात्मनय' में आत्मा में जो राग आता है, वह जानने में आये - उसे असद्भूत उपचारव्यवहारनय कहते हैं। और उस राग के समय भी जो सूक्ष्म (- अबुद्धिपूर्वक का) राग खयाल में नहीं आता, (क्योंकि) उपयोग स्थूल है, समकिती का भी उपयोग स्थूल है (अतः इस प्रकार का) राग खयाल में नहीं आता, वह राग असद्भूत अनुपचार है। पर (वह व्यवहार) है। यह असद्भूत और सद्भूत व्यवहारनय के दो-दो भेद हैं। यह तो अभी अध्यात्म के (नय की बात है)... हं ! आगम के नय तो फिर बहुत (भेद-प्रभेदवाले) हैं। आगम का नय तो पर को भी व्यवहार कहता है। यह (अपनी पर्याय) तो अध्यात्म का नय (है)।

यह यहाँ कहते हैंः वह `अशुद्ध पारिणामिक' क्यों ? कि : संसारियों को दस प्राण है, भव्यत्व की पर्याय है, अभव्यत्व की पर्याय है; वह `व्यवहारनय' से है। अशुद्ध पारिणामिक कहो या व्यवहारनय कहो... परंतु `है' पर्यायनय से ! (वह) पर्यायनयाश्रित होने से अशुद्ध पारिणामिक भाव संज्ञावाला है। `अशुद्ध पारिणामिकभाव' है ! उसका विषय है ! जैसे `घी के घड़े' का विषय नहीं है, झूठा है; वैसे `यह झूठा है' ऐसा नहीं है। कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! `सिद्धों को तो सर्वथा ही' (अशुद्ध पारिणामिक भाव नहीं है)। अर्थात्

सिद्धों को तो (वह) द्रव्य में भी नहीं और पर्याय में भी नहीं। (परंतु) संसारी प्राणियों को भव्यत्व की योग्यता और अभव्यत्व की योग्यता है। वह पर्यायनय का 'विषय' है; सिद्धों को 'वह' नहीं है। और संसारियों को 'शुद्धनय की अपेक्षा से' नहीं है। अरे...रे ! इतना कुछ अब (समझना) ! जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - ये तीनों पर्यायनय का विषय है। परंतु है ! जैसे वह 'घी का घड़ा' झूठा है इस प्रकार 'यह' झूठा नहीं है। कुछ समझ में आया ?

पत्र आया है गुप्तरूप से। (एक विद्वान का) सुनकर किसी को एकांत लगा है इसलिये एक भारी प्रश्न आया है। ऐसा कि : 'यह विद्वान सारा व्यवहार झूठा...झूठा...झूठा ही करते रहते हैं।' परंतु 'सारा व्यवहार झूठा हो तो क्षायिकभाव भी झूठा हो।' - (वह) व्यवहारनय का विषय... है !

आहाहा ! सूक्ष्म बात है। यह निर्णय करने की फुर्सत बनियों को न मिले ! ये लोग सुनने के लिये आये हैं। देश छोड़कर, स्वदेश छोड़कर, घर की सुविधाएँ छोड़कर, इस समय हज़ारों लोग बाहर से आये हैं। उनके घर में (जैसी) सुविधाएँ हैं ऐसी सुविधाएँ यहाँ तो नहीं; फिर भी बाहर से आये हैं।

श्रोता : यह (आपका मंगलकारी प्रवचन) सब से बड़ी सुविधा है।

उत्तर : यह सुविधा है ! बात तो ऐसी है, भगवान ! सही बात है। आहाहा ! देखो तो सही ! दस भावप्राण - पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काया, श्वास और आयुष्य - ये दस प्राण - और भव्यत्व-अभव्यत्व (ये) तीनों 'पर्यायनय' का विषय है।

'इन तीनों में, भव्यत्वलक्षण पारिणामिक को तो यथासंभव सम्यक्त्वादि जीवगुणों का (अर्थात् पर्यायों का) घातक 'देशघाती' और 'सर्वघाती' ऐसे नामवाला मोहादिककर्मसामान्य पर्यायार्थिकनय से आच्छादित करता है...' यह सर्वथा असद्भूत व्यवहारनय की पर्याय है। यह 'देशघाती' और 'सर्वघाती' आत्मा को आच्छादित करते हैं - यह असद्भूत पर्यायनय का विषय है। जैसे 'घी का घड़ा' है, वैसे यह विषय है। परंतु अंदर में (जो) घात होता है - वह पर्याय नय का विषय है। वह स्वयं के द्वारा भावघात होता है।

'प्रवचनसार' १६ वीं गाथा में है : 'द्रव्यघाती घात करे' (करता है) यह तो असद्भूतव्यवहार का कथन है। एक द्रव्य अन्य द्रव्य का घात करे, यह बात निमित्त का ज्ञान कराने के लिये असद्भूतव्यवहारनय से कही है। पर उसका अर्थ यह नहीं है कि 'पर्याय में घात होता ही नहीं है,' वह घात होता है।! 'भावघाती' स्वयं से है ! भावघाती स्वयं से घात (होता) है; वह भी पर्यायनय का विषय और व्यवहारनय का विषय है; परंतु वह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। सद्भूत - पर्याय में है। मिट्टी के घड़े की

पर्याय है... बस ! वह पर्याय है न... `घड़ा'। `पर्याय' (है) वह व्यवहार है। `घड़ा कुम्हार ने किया' यह असद्भूतव्यवहार है। परंतु `मिट्टी में घड़े की पर्याय हुई' यह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। वह व्यवहार झूठा है, ऐसा नहीं। व्यवहार के रूप में व्यवहार `पर्यायनय' का विषय है !

यहाँ कहते हैं : `इन तीनों में भव्यत्वलक्षण पारिणामिक को तो यथासंभव सम्यक्त्वादि जीवगुणों का (अर्थात् समकित - चारित्र आदि गुणों का, गुण यानी पर्याय का) घातक' `देशघाती' और `सर्वघाती' ऐसे नामवाला मोहादिक कर्मसामान्य पर्यायार्थिकनय से आच्छादित करता है।' - यह असद्भूतव्यवहारनय से `पर्याय' को आच्छादित करता है, ऐसा कहने में आता है। `परद्रव्य स्वयं की (-आत्मा की) पर्याय का घात करे' ऐसी बात नहीं है। परंतु `परद्रव्य घात करता है' - ऐसा असद्भूतव्यवहारनय के विषय से कहने में आया है। पर उस समय अपनी पर्याय में (जो) `भावघात' हुआ है; वह भी व्यवहारनय और पर्यायनय का विषय (है); लेकिन वह `सत्य' है ! जिस प्रकार `घातीकर्म से घात' यह असद्भूत है; उस प्रकार `अपना घात हुआ' यह असद्भूत नहीं है। (अर्थात्) `स्वयं से जो घात हुआ' वह असद्भूत नहीं है !

सद्भूतनय के दो प्रकार हैं : एक तो स्वयं का ज्ञान राग को जाने, यह सद्भूत उपचारनय है। जानती है अपनी पर्याय, परंतु राग को जाने, यह सद्भूतउपचार व्यवहारनय है। और वह ज्ञान की पर्याय, ज्ञान (है) वह आत्मा है - वह ज्ञान की पर्याय आत्मा है; वह सद्भूतअनुपचारनय है।

जिज्ञासा : `राग को जाने' यह उपचार ?

समाधान : वह उपचार और यह अनुपचार। परंतु `वह' है !

श्रोता : अपनी पर्याय को जानता है ?

उत्तर : पर्याय को जाने। परंतु `राग को जाने' (ऐसा) कहना, यह सद्भूतउपचार है। और `ज्ञान है वह आत्मा है' ऐसा भेद हुआ, वह सद्भूत (अनुपचार) है। पर्याय तो है न... ज्ञान है न... (यह) सद्भूत है कि नहीं ? (यह) असद्भूत नहीं है ! जैसे `घातीकर्म घात करते हैं' यह असद्भूत है। जैसे `मिट्टी का घड़ा, कुम्हार द्वारा हुआ' यह असद्भूत है परंतु `मिट्टी में (घड़े की) पर्याय हुई है' यह सद्भूत (अर्थात्) यह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। कुछ समझ में आया ?

वह (सम्यक्त्वादि पर्याय) आच्छादित होती है, यह असद्भूतव्यवहारनय (है)। परंतु स्वयं की पर्याय में `भावघात' हुआ (अर्थात्) ज्ञान-दर्शन-आनंद की पर्याय हीन हुई, यह भी व्यवहार है, पर्याय का विषय है; पर वास्तव में तो वह सद्भूतव्यवहारनय (है)। बस

इतना...! पर `वह' है ! स्वयं की पर्याय में स्वयं से घात होता है। ऐसा है ! स्वयं की पर्याय में (स्वयं के द्वारा) स्वयं का घात हो, यह व्यवहारनय का विषय है। पर (वह) `विषय है ही नहीं' ऐसा नहीं। यहाँ (जो कहा कि:) मोहादि कर्म सामान्य पर्याय को आच्छादित करते हैं, (यह असद्भूतव्यवहारनय का कथन है)। अहो...हो !

`तत्त्वार्थ राजवार्तिक' की - `तत्त्वार्थसूत्र' की अपेक्षा से पंडित टोडरमलजी ने `तत्त्वार्थ(श्रद्धान) को सम्यग्दर्शन कहा' वह तो वहाँ जो सम्यग्दर्शन कहा, वह ज्ञानप्रधानता से (कहा) है। तत्त्वार्थ में सात लिये हैं न...? `मात्र आत्मा की श्रद्धा' यह द्रव्य-प्रधान कथन (है), अध्यात्मदृष्टि से कथन (है)। `तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' यह फिर ज्ञान-प्रधान से कथन है।

दूसरी बात : जो पर्याय होती है वह भी आत्मा में संयोग से हुई, ऐसा कहने में आता है। पर्याय का संयोग हुआ।

श्रोता : संयोग - वियोग ?

उत्तर : पर्याय व्यय होती है, (यह) वियोग। है तो वह उसकी उसमें। `पंचास्तिकाय' में है कि : यह जो द्रव्य है उसमें निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, यह भी संयोग है। वस्तु में नहीं है। पर्याय (उत्पाद हो), यह संयोग हुआ और पर्याय व्यय होती है, यह वियोग हुआ। अर्थात् संयोग-वियोग `पर्याय' में है। वह पर्याय में है, यह यथार्थ है ! (किन्तु) `पर' का संयोग-वियोग, यह यथार्थ नहीं; व्यवहार से भी यथार्थ नहीं। ऐसा (पर का संयोग-वियोग) असद्भूतव्यवहार से कहा न...? -उस असद्भूत का अर्थ ही `झूठा' है, वह झूठा है ! परंतु यह (संयोग-वियोग जो पर्याय में है वह) झूठा नहीं है! कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! `नियमसार' में पर्याय को परद्रव्य कहा, परभाव कहा। निर्मलपर्याय को (भी) परद्रव्य और परभाव और हेय कहा। (फिर भी) वह पर्याय है तो सही। पर्यायनय का विषय, व्यवहारनय का विषय `सत्' है ! सद्भूतव्यवहारनय का विषय है ! जिस प्रकार `मिट्टी का घड़ा कुम्हार ने किया' उस प्रकार नहीं। (क्योंकि) वह तो उस प्रकार से है ही नहीं। समझ में आया कुछ ?

आहाहा ! प्रभु ! कितनी बार तो ऐसा कहते हैं (कि) अरे प्रभु ! आपके नय इन्द्रजाल है। इन्द्रजाल की माफिक नय (हैं) ! कभी कुछ कहो... कभी किसी अपेक्षा से... `कलश' में (नय को) इन्द्रजाल कही है। पर (जहाँ) जिस अपेक्षा से जो कहा वह यथार्थ है !

जिज्ञासा : क्या यह बात इन्द्रजाल सरीखी है ?

समाधान : लगे... अज्ञानी को लगे, ऐसा कहते हैं। वरना है तो यथार्थ। इन्द्रजाल जैसी लगे। कभी तो यूँ कहे कि, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करे नहीं। यहाँ कहा कि, घातीकर्म (आत्मा की) पर्याय का घात करे, तो ऐसा आया कि, परद्रव्य ने परद्रव्य का किया। (लेकिन) वह (कथन) असद्‌भूतव्यवहार का है। किन्तु अपनी पर्याय में स्वयं से जो घात हुआ, वह `भावघाती' अपने से है; यह सत्य है। घात हुआ ही नहीं है, (ऐसा नहीं)। घात अपने से हुआ, यह यथार्थ है; वह व्यवहारनय का विषय है। आहाहा ! किस अपेक्षा से कहाँ क्या कहा... किस नय की बात है ? - यह समझे नहीं और एकांतरूप से खींचता रहे तो वह भी गलत है। बाकी तो `द्रव्य' है, वह निश्चय है और `पर्याय' मात्र - केवलज्ञान, क्षायिकभाव-पर्याय भी - व्यवहार है। परंतु वह `व्यवहार' विषय है ! वह असद्‌भूतव्यवहार की माफिक (नहीं है)। कुछ समझ में आया ?

[(श्रोता) : बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया।] पत्र आया है निजी। ऐसा कि : `व्यवहार सरासर झूठा (कहना) एकांत है, हमें बात जमती नहीं है।' - क्या है ? भाई ! `व्यवहार झूठा है' वह तो `पर का पर से होना' यह झूठा नय है। (अर्थात्) `घड़ा कुम्हार से हुआ' यह झूठ है। परंतु `घड़ा मिट्टी से हुआ' यह झूठ नहीं है। पर्याय तो है। व्यवहार तो है। पर्याय मात्र को व्यवहार कहते हैं - `पंचाध्यायी'। पर्याय मात्र - क्षायिक भाव, अरे ! सिद्धपर्याय भी - व्यवहार है। द्रव्य में दो हिस्से करना - एक संसारी पर्याय और एक मोक्षपर्याय, इस तरह दो भेद हो गये - यह व्यवहार हो गया। पंचाध्यायी में है। `पंचाध्यायी' की शैली ज़रा सूक्ष्म है इसलिये ज्यादा बाहर नहीं आता।

यहाँ तो यह पर्यायनय का विषय है, ऐसा कहा। और अशुद्ध पारिणामिक को भी पर्यायनय का विषय कहा। ऊपर आया न...! **`पर्यायार्थिकनयाश्रित होने से `अशुद्ध पारिणामिक भाव' संज्ञावाले हैं।'** भव्यत्व और अभव्यत्व भी पर्यायनय का विषय है। भव्यत्व व अभव्यत्व `पर्याय' है तो सही ! कुछ समझ में आया ?

ऐसे देखो तो `भव्यत्व' को तो `जैनसिद्धांतप्रवेशिका' में `गुण' कहा है। (अगर) `गुण' होवे तो उसका कभी भी नाश नहीं होता, (परंतु) सिद्ध में `भव्यत्व' नहीं रहता। वह तो पर्यायनय की अपेक्षा से भव्यत्व और अभव्यत्व है। अंदर त्रिकाली गुण भव्यत्व का है - ऐसा नहीं। वह पर्याय की अपेक्षा से कहा। भव्यत्व और अभव्यत्व - अशुद्धपारिणामिक - पर्यायनय का विषय है। समझ में आये इतना समझो भाई ! आहाहा ! बहुत सूक्ष्म, बापू ! ऐसा है।

यहाँ कहते हैं : `घातीकर्म ने आत्मा की पर्याय का घात किया' यह असद्‌भूतव्यवहारनय से। (जैसे) `कुम्हार ने घड़ा किया' यह असद्‌भूतव्यवहारनय से (है वैसे।) परंतु `मिट्टी से

घड़ा हुआ,' यह सद्भूतव्यवहारनय है। वैसे 'आत्मा द्वारा स्वयं की पर्याय में घात हुआ,' यह यथार्थ है; व्यवहारनय का यह विषय यथार्थ है। आहाहा ! ऐसा मार्ग वीतराग का अजीबोगरीब मार्ग !

जिज्ञासा : आज आपने 'व्यवहार' को सत्यार्थ बताया !

समाधान : है कि नहीं ? 'अशुद्ध पारिणामिकभाव' है कि नहीं ? और 'पर्यायनय का विषय' है कि नहीं ? अंदर (पाठ) में लिखा है कि नहीं ? भव्यत्व और अभव्यत्व - अशुद्ध पारिणामिक - यह पर्यायनय का विषय (ऐसा) आया न ? तो 'पर्यायनय' का विषय भव्यत्व और अभव्यत्व है कि नहीं ? जैसे 'घी का घड़ा' (है) उस प्रकार 'यह' नहीं है। उसी तरह 'घातीकर्म' ने घात किया' ऐसा नहीं। भव्यत्व और अभव्यत्व वह अपने से 'पर्यायनय' से है।

आहाहा ! 'द्रव्य में नहीं है' यह अलग बात है। द्रव्य में वह दस प्राण नहीं है। भव्यत्व - अभव्यत्व - पर्यायनय का विषय - यह (भी) द्रव्य में नहीं है। और इसीलिए ११ वीं गाथा 'समयसार' में व्यवहार को 'अभूतार्थ' कहा। लेकिन व्यवहार (है) वह असत्य है, ऐसा नहीं। (उसे) गौण करके असत्यार्थ कहा। अन्यथा तो पर्याय मात्र झूठ हो जाये। अर्थात् क्षायिकभाव - सिद्धपर्याय, वह भी झूठ हो जाये, वह असत्य हो जाये। यहाँ (११वीं गाथा में) तो पर्याय को (जो) असत्य कहा, वह तो वहाँ से (पर्याय से) दृष्टि हटाने के लिये (उसे) गौण करके (पर्यायमात्र को असत्यार्थ कहा)। और वहाँ (शुद्धनय के विषयभूत पदार्थ की) दृष्टि कराने, मुख्य वह निश्चय, और उसे सत्यार्थ कहा। परंतु 'पर्याय सर्वथा असत्यार्थ है, पर्यायें सभी हैं ही नहीं' (ऐसी मान्यता से) तो वेदांत हो जाता है। (अर्थात्) पर्याय नहीं है, व्यवहार नहीं है और व्यवहारनय का विषय 'पर्याय' नहीं है। यह तो वेदांत हो जाता है। निश्चयाभासी - वेदांती हो जाता है।

यहाँ कहते हैं : 'उन तीनों में, भव्यत्वलक्षण पारिणामिक को तो यथासंभव (अर्थात् समकित को मिथ्यादर्शन - दर्शनमोह तथा चारित्र को चारित्रमोह, इस तरह यथासंभव) सम्यक्त्वादि (-समकित तथा चारित्र आदि) जीवगुणों का (अर्थात् जीव की पर्याय का) घातक 'देशघाती' और 'सर्वघाती'.... है न...! मतिज्ञान का घात करे वह देशघाती है और केवलज्ञान का घात करे, वह सर्वघाती है। पर वह 'देशघाती और सर्वघाती घात करते हैं' ऐसा कहना, यह तो सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। (क्योंकि) घात स्वयं से है। घात है ही नहीं, (ऐसा नहीं)। (घात) पर्याय में हं....! पर्याय की बात है। द्रव्य में तो (घात) है ही नहीं ! ऐसा कहेंगे। **'ऐसे नामवाला मोहादिक [(- ज्ञानावरणीय, मोहनीय आदि) कर्म सामान्य पर्यायार्थिकनय से आच्छादित करता है]** ऐसा कथन असद्भूतव्यवहारनय से है।

(संप्रदाय में) इसी बात का एतराज है न ? - `ज्ञानावरणीय ज्ञान का घात करता है।' वहाँ ईशरी में भारी सवाल हुआ था न...? (वहाँ मैं ने कहा था कि:) ज्ञानावरणीय - परद्रव्य - अपना (ज्ञान का) घात बिल्कुल नहीं करता। अपनी योग्यता से, अपने कारण से वहाँ (ज्ञान की) विशुद्धि होती है और हीनता होती है !

यहाँ मोहादि (यानी) मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय - चार घातीकर्म लिये हैं; तो ज्ञान का ज्ञानावरणीय घात करता है, समकित का दर्शनमोहनीय घात करता है, दान-लाभ का अंतराय घात करता है। - यह असद्भूतव्यवहारनय (है)। वह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिये (ऐसा) कहा (है)। कुछ समझ में आया ? `**देशघाती' और `सर्वघाती' ऐसे नामवाला मोहादिकर्मसामान्य पर्यायार्थिकनय से आच्छादित करता है।` -** व्यवहारनय से ढकता है।' असद्भूतव्यवहारनय से कहो या पर्यायार्थिक से कहो। -`**ऐसा जानना।**' आहाहा !

`**वहाँ, जब कालादि लब्धि के वश**' - यह भी पर्याय है। वहाँ `नियमसार' में अपने यहाँ आ गया : क्षयोपशमभाव और काललब्धि सात बोल आये न...! काल, करण, देशना, विशुद्धि (आदि) - ये क्षयोपशमभाव है। और क्षयोपशमभाव में काललब्धि को समाविष्ट किया है। वह काललब्धि - क्षयोपशमभाव द्रव्य में नहीं है। वह क्षयोपशमभाव `पर्याय' में है। `कलश' टीकाकार तो कहते हैं कि : काललब्धि से (समकित) होता है, प्रयत्न से नहीं होता। मात्र काललब्धि ली। और ये मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने (`नियमसार' में) काललब्धि को क्षयोपशम में डाल दिया। और ऐसा कहा कि : वह भाव `द्रव्य' में नहीं है ! आहाहा !

ऐसी कठिन बातें हैं ! समझना चाहे उसके कान में तो पड़े, प्रभु ! बाकी तो अनंतबार अन्य (सब) किया। अब भाई ! ये द्रव्य और पर्याय क्या चीज़ है ? (इसका यथार्थ निर्णय करना) और फिर पर्याय का आश्रय छोड़कर द्रव्य का आश्रय करना। तो `पर्याय है' इसका आश्रय छोड़ना या `न हो' इसका आश्रय छोड़ना ? आहाहा !

यहाँ ऐसा कहते हैं : पहले घाती कहा निमित्त से। तथा अंतर में स्वयं के कारण से घात होता है, यह अशुद्ध उपादान से। वह (घाती कर्म) तो निमित्त है। (परंतु) `निमित्त' पर का कुछ नहीं करता। (फिर भी, ऐसा) असद्भूतव्यवहारनय से कहने में आये। क्योंकि, यहाँ (आत्मा में) घात स्वयं से होता है, तो वहाँ निमित्त कौन है ? इसका ज्ञान कराने के लिये कहा है। (वास्तव में) निमित्त घात नहीं करता ! तो `घात करता है' फिर भी ऐसा क्यों कहा कि `घात नहीं करता' ? तो कहते हैं कि : `**पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से आच्छादित करता है, (ऐसा जानना)।**' है न... सामने पन्ना (शास्त्र का)...! किस शब्द का अर्थ हो रहा है, (यह बराबर खयाल में रहना चाहिए !)

अब (कहा) : `**कालादि लब्धि के वश...**' इसका मतलब ? हम तो शुरू से ही यह कहते हैं कि, भाई ! `समय आने पर होगा' - `समय आने पर होगा' - यह बात तो ठीक है, परन्तु `समय आने पर होगा' - इसका ज्ञान किसको होता है ? कहा न...! ६३ वर्ष पहले ७२ के साल में बहुत बात (चर्चा) चली : `भगवान ने जैसा देखा होगा वैसा होगा;' (यह) बात तो बराबर है; परंतु `भगवान है जगत में ? एक समय में तीन काल तीन लोक देखने की, एक समय की एक गुण की, एक ऐसी पर्याय जगत में है' - इसका स्वीकार है पहले ? आहाहा ! `इस बात का स्वीकार हो' तब तो उस सर्वज्ञ की सिद्धि (है) ! पर्याय के लक्ष से (उनकी सिद्धि) नहीं होती, पर के लक्ष से नहीं होती। `स्वयं का सर्वज्ञस्वभाव त्रिकाल है' (ऐसा स्वीकार करने पर, इसकी सिद्धि होती है।) इसका मतलब सर्वज्ञ की सिद्धि, (स्वयं के) द्रव्य के आश्रय से होती है ! उस समय तो इतना कहा था कि : ज्ञान में घुस (-समा) जाये, तब सभी की (अर्थात्) यथार्थ प्रतीति होती है। उस वक्त तो अभी यह शास्त्र देखा भी नहीं था - हाथ में आया नहीं था। जो (बात) `प्रवचनसार' की ८० वीं गाथा में चल रही है (वह) पढ़ी भी नहीं थी। (परंतु) यही भाव अंदर से आया था ! `**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं**' - जो कोई अरहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने - `**सो जाणदि अप्पाणं**' - ऐसा वहाँ लिया है। अन्यथा (तो) परद्रव्य को जाने, वह स्वद्रव्य को जाने - ऐसा नहीं है। किन्तु `परद्रव्य' को जाना किस लिये ? कि: वह क्या चीज़ है ? और मेरी चीज़ ऐसी (ही) है ! ऐसा (निर्णय करें)। इस प्रकार का जीव वहाँ लिया है। आहा..हा..हा ! जैसे द्रव्य-गुण-पर्याय भगवान के हैं, ऐसे ही द्रव्य-गुण मेरे हैं; (ऐसा) पर्याय में निर्णय करता है। तो (ऐसे निर्णय में), (स्वयं के) त्रिकाली ज्ञायकभाव की दृष्टि हो जाये ! कुछ समझ में आता है ?

(कहते हैं :) केवलज्ञान (है) वह व्यवहारनय का विषय है। तो (क्या) वह केवलज्ञान है नहीं ? - व्यवहारनय का वह विषय झूठा है, ऐसा है ? जैसे `घी का घड़ा' झूठा है वैसे `केवलज्ञानपर्याय' झूठी है, ऐसा है ? (- ऐसा नहीं है !) वह (केवलज्ञानपर्याय) व्यवहारनय का विषय है ! वह तो `पर्याय का आश्रय करने योग्य नहीं है' इस अपेक्षा से, सभी पर्याय को `नियमसार' गाथा - ५० में परद्रव्य, परभाव, पर, हेय कहा। (लेकिन वास्तव में क्या वह) परद्रव्य है ? - वह है तो अपनी पर्याय। किन्तु जिस प्रकार परद्रव्यमें से (-परलक्ष से), (स्वयं की) निर्मलपर्याय नहीं होती, उस प्रकार (पर्याय के लक्ष से-) पर्यायमें से नई (पर्याय) नहीं होती। इस वज़ह से, अपनी पर्याय को परद्रव्य समान कहकर, पर्याय को परद्रव्य कहा। और जिसमें से शुद्ध पर्याय आती है, उसे स्वद्रव्य कहा।

श्रोता : विधि यह है ?

उत्तर : यह विधि है !

श्रोता : सम्यग्दर्शन जब होगा, तब इसी विधि से (होगा) ?

उत्तर : 'यह' विघि है ! कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! इसमें (टीका में) 'कालादि' शब्द पड़ा है न..? मात्र 'काल' नहीं, कालादि। ये लब्धियाँ पाँच हैं : काल, क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्यता। - यह तो व्यवहारनय का विषय है। कलश (टीका)कार कहते हैं (कि) - काललब्धि के बिना (सम्यग्दर्शन) नहीं होता। यत्न से नहीं होता। यह तो इस अपेक्षा से कि, उन्हें 'काललब्धि' सिद्ध करनी थी।

श्रोता : टोडरमली ने (तो) कहा कि, 'काललब्धि कोई चीज़ ही नहीं है।'

उत्तर : उड़ा दिया - काललब्धि और भवितव्य कुछ है ही नहीं, उसमें तो ऐसा कहा। यही तो हमारे यहाँ ७२ के साल से बात चल रही है। 'काललब्धि का ज्ञान किसको ?' कहा : काललब्धि तो है, (परंतु) 'काललब्धि से होता है, ऐसी धारणा करनी है ?' धारणा तो अनंतबार की। किन्तु 'काललब्धि' से होता है, ऐसा ज्ञान किसको होता है ? (कि:) जिसने द्रव्य पर दृष्टि की और पर्याय में आनंद आया, समकित हुआ; तब उसे खयाल आया कि 'मेरी काललब्धि पक गई है।'

समझ में आये इतना समझना, प्रभु ! मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई ! आहाहा ! महाविदेह में तीर्थंकर तीन लोक के नाथ, परमात्मा बिराजते हैं, उनका मार्ग, उनका उपदेश कोई अलौकिक है !!

'कालादि लब्धि' यह भी पर्यायनय का विषय है। आहाहा !

श्रोता : यह कौन सा व्यवहार है ?

उत्तर : इसे सद्भूत कहने में आता है। बहुत - विशेष विचार तो काफी किया है परंतु सब कुछ तो पकड़ में नहीं आता, भाई !

श्रोता : आपको पकड़ में नहीं आता ?

उत्तर : क्षयोपशम बहुत थोड़ा है, भाई ! यह तो दुनिया की अपेक्षा से क्षयोपशम कहने में आये। आहाहा ! कहाँ संतों के क्षयोपशम !! एक बार कहा नहीं था कि : यह सर्वज्ञपना आत्मा में है तो सर्वज्ञ का रूप अनंत गुण में है। ऐसा पाठ है। तो 'अस्तित्वगुण में सर्वज्ञगुण का रूप क्या ? बहुत विचार किया पर बैठा नहीं। अंदर में बैठना चाहिए न ? और बैठे बिना - भावभासन के बिना हाँ करे कहाँ से ? अंदर भावभासन होना चाहिए न ? भगवान जाने... ! कहा प्रभु ! सर्वज्ञ का रूप अनंत गुण में है : अस्तित्व

में है, वस्तुत्व में है, प्रमेयत्व में है। सर्वज्ञगुण में अस्तित्व गुण है, यहाँ तक तो अभी ठीक; परंतु अस्तित्वगुण में सर्वज्ञ का रूप कैसे ? बहुत विचार किया था। काफी साल पहले की बात है। दिमाग में नहीं आया। प्रभु तेरा विषय गहन है !! प्रभु तेरी बात अगम्य (तो) नहीं है, लेकिन गम्य होने में अलौकिक पुरुषार्थ चाहिए ! आहाहा !

यहाँ कहते हैं : '**कालादि लब्धि के वश भव्यत्वशक्ति की (व्यक्ति होती है)।**' देखो ! भव्यत्वशक्ति पर्याय में है। भव्यत्वशक्ति व्यवहारनय में है। उसकी व्यक्ति, यह भी व्यवहारनय है। यहाँ विषय पर्यायनय का चल रहा है न...! दो बार पर्यायनय आया। 'अशुद्ध पारिणामिक' यह पर्यायनय तथा 'घातिकर्म घात करे' यह पर्यायनय। - दो आये कि नहीं इसमें ? कुछ समझ में आया ?

थोड़ा मगर (यथार्थ) समझना। प्रभु ! यह तो सत्य-मार्ग है। आहाहा ! यह तो त्रिलोकीनाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि का सार है। यह कोई किसी पक्ष की बात नहीं है। पंथ, जो जैनपंथ है, इसकी क्या रीति है, इसकी 'यह' बात है !

'**कालादि लब्धि के वश भव्यत्वशक्ति**' - यह भी योग्यता हुई, वह छूटकर व्यक्ति हुई, (अर्थात्) शक्ति की व्यक्ति होती है; यह भी पर्यायनय का विषय है। (भव्यत्व-) शक्ति की व्यक्ति हुई। तो सम्यग्दर्शनादि प्रगट हुआ और केवलज्ञान हुआ। और सिद्ध हो जाने के बाद तो भव्यत्व रहा नहीं। अर्थात् शक्ति की व्यक्ति हो गई। पर्याय में जो योग्यता थी, वह उसमें (सिद्धदशा में) पूर्ण प्रगट हो गई। शक्ति की व्यक्ति हुई। (भव्यत्व) शक्ति है वह भी व्यवहारनय का विषय है। क्योंकि, भव्यत्वशक्ति, जीवत्वशक्ति और अभव्यत्वशक्ति, द्रव्य में तो है नहीं। अर्थात् शुद्धनय का जो विषय है, उसमें तो ये तीनों ही नहीं हैं। आहाहा !

'**तब यह जीव सहज - शुद्ध पारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान - ज्ञान - अनुचरणरूप पर्याय के रूप परिणमन करता है।**' सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि की योग्यता थी, उसमें से (जो) व्यक्त - प्रगट हुई; वह किसके आश्रय से (हुई) कि : सहज - शुद्ध - पारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य के (आश्रय से हुई)।

यह तो पहले द्रव्य की बात की और फिर इसकी श्रद्धा की बात करते हैं : भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति क्या ? कि: सम्यग्दर्शन आदि। पर अब सम्यग्दर्शन आदि माने क्या ? कि : सहज-शुद्ध-पारिणामिकभावलक्षण - त्रिकाली परमात्मा - (निजपरमात्मद्रव्य का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय के रूप में परिणमन करना यह)।

किसीने प्रश्न किया था कि : शुद्ध को 'परम' क्यों कहा ? 'शुद्धपारिणामिक' क्या ? तो उत्तर यह है कि : शुद्ध कहो या परम कहो। शुद्ध का अर्थ परम है। किसी ज़गह

`परम' और किसी ज़गह `शुद्ध' कहते हैं। परम भाव शुद्ध कहो या सहज परम पारिणामिकभाव कहो (एकार्थ है)।

(यह) जीव सहज - शुद्ध पारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य ! आहाहा ! सकलनिरावरण-अखंड एक-प्रत्यक्षप्रतिभासमय-अविनश्वर-शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य ! यहाँ शुद्धपारिणामिकभाव लिया है, आखिरी पंक्ति। शुद्ध कहो या परम कहो। यह शब्द पहले आया है। देखो ! `शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षण' ऐसा लिया है। `परमभाव' कहो (या) `शुद्धपारिणामिक' कहो (एक ही है)।

यहाँ तो कहते हैं : **`सहज-शुद्ध पारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य'** - निज परमात्मा ! वह `पर' नहीं। अर्थात् (अन्य) सर्वज्ञ-वीतराग, वे नहीं; क्योंकि उनका लक्ष करने से तो राग होता है। आहाहा ! निजपरमात्मद्रव्य ! कैसा ? कि : `सहज-शुद्ध-पारिणामिकभावलक्षण'। वह निजपरमात्मद्रव्य ! उसका यह लक्षण : `सहज-शुद्ध-पारिणामिकभाव'। और लक्ष्य : `निजपरमात्मद्रव्य'।

अब क्या कहते हैं ? ऐसे `निजपरमात्मद्रव्य का सम्यक्श्रद्धान' - यह भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति हुई, यह व्यक्ति `सम्यग्दर्शन', यह पर्याय है। `भव्यत्वशक्ति' - वह भी पर्याय में - पर्यायनय से है। ऐसी शक्ति की व्यक्तता - यह जो निजपरमात्मद्रव्य की प्रतीति(रूप) `सम्यग्दर्शन', यह भी पर्याय का विषय है। यह कहते हैं : `सम्यक्श्रद्धान - सम्यक्ज्ञान - सम्यक्अनुचरणरूप पर्यायरूप से परिणमन करता है।'

समझ में आये इतना समझना ! समझ में न आये तो रात्रि में (चर्चा में) प्रश्न करना। लेकिन संकोच मत करना। समझने के लिये सब पूछे, भाई ! यह तो वीतराग - मार्ग (है), बापू ! (संप्रदाय में ऐसा विषय) चलता न हो, इसलिये ज़रा सूक्ष्म लगे। परंतु संकोच किये बिना पूछना। संकोच नहीं रखना। समझ में न आये वह बराबर से पूछना। भाई ! यह तो प्रभु का मार्ग है ! और प्रभु का मार्ग वह आत्मा का मार्ग है !

यहाँ कहते हैं : सहज - शुद्ध पारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य का `सम्यक्श्रद्धान' यह भव्यत्वशक्ति की व्यक्तता (है)। भव्यत्व की इस योग्यता का `फल' व्यक्त हुआ। है तो वह भी पर्याय। है तो वह भी व्यवहारनय का विषय। `भव्यत्व (शक्ति)' पर्याय है। वह व्यवहारनय का विषय (है)। और `शक्ति की व्यक्तता' वह भी पर्याय - व्यवहारनय का विषय (है)। परंतु वह यथार्थ है ! जिस प्रकार `घातिकर्म ने घात किया,' उस प्रकार यह (बात) नहीं है। जैसे `घी का घड़ा' कहा, वैसे यह नहीं है। यह तो एक विशेष शक्ति की व्यक्तता अर्थात् जो भव्यत्वशक्ति की योग्यता पर्याय में थी (इसकी व्यक्तता) है। कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! इस सहज - शुद्ध पारिणामिक-परमभावलक्षण `निजपरमात्मद्रव्य' की ओर झुकने से जो सम्यग्दर्शन होता है, उसकी तरफ झुकने से जो सम्यग्ज्ञान होता है और उसकी तरफ झुकने में लीनता होती है वह अनुचरण - चारित्र (है)। अर्थात् सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र - इस निजपरमात्मद्रव्य की प्रतीति, निजपरमात्मद्रव्य का ज्ञान और निजपरमात्मद्रव्य में लीनता इसका नाम चारित्र है। दूसरा कोई विकल्प - महाव्रत के विकल्प, यह कोई चारित्र नहीं है ! कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! `भव्यत्वशक्ति' यह पर्यायनय का विषय है। इस `शक्ति की व्यक्तता' यह भी पर्यायनय का विषय है। परंतु इस पर्यायनय का विषय प्रगट हुआ कहाँ ? किस तरह से ? कि : सहज - शुद्धपारिणामिक(भाव)लक्षण निजपरमात्मद्रव्य की प्रतीति, ज्ञान और रमणता (हो तब)।

आहाहा ! देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा और नौ तत्त्व के भेदवाली श्रद्धा (यह) कोई (सम्यग्दर्शन नहीं है !) (परंतु) नौ तत्त्व की अभेद श्रद्धा यह सम्यग्दर्शन है। उमास्वामीकृत `तत्त्वार्थसूत्रः' `**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्दर्शनं**' - यह अभेद - एक वचन है। संस्कृत टीका में सात तत्त्व का नाम लिया लेकिन एकवचन लिया। क्योंकि, भेद नहीं ! कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! भगवान आत्मा सहज - शुद्ध पारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य की श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप पर्याय से परिणमन करता है। `पर्याय से परिणमन करता है' यह भी व्यवहारनय का विषय पर्याय है। पर वह है ! वह व्यवहारनय आश्रय करने लायक नहीं है, वह दूसरी चीज़ है, लेकिन वस्तु (अर्थात् पर्याय) है ! भव्यत्व की योग्यता भी है और इसकी व्यक्तता भी पर्याय है। - ये दोनों विषय भी व्यवहारनय के हैं। वह किसके आश्रय से प्रगट होता है, यह फिर दूसरी (ही) चीज़। परंतु वह प्रगट होता है, `द्रव्य के आश्रय से,' परंतु वह `पर्याय' है; वह व्यवहार है। `मोक्षमार्ग' व्यवहार है। `मोक्ष' व्यवहार है। आहाहा ! वह `पर्याय' है न ? पर वह है ! मोक्ष का मार्ग - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - पर्याय है। यह पर्याय पर्याय के आश्रय से प्रगट नहीं होती; द्रव्य के आश्रय से (प्रगट) होती है। द्रव्य के आश्रय से (प्रगट) हुई, यह `शक्ति की व्यक्तता' पर्याय है। `पर्याय से परिणमन करता है।' सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय से परिणमन करता है। इसे आगम से क्या कहना ? अध्यात्म से क्या कहना ? यह बात (आगे कहेंगे....)

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-६ ता. ३-८-१९७९

`समयसार' ३२० - गाथा। जयसेनाचार्य की टीका है। यहाँ तक आया है। `भव्यत्व' और `अभव्यत्व' ये दो चीज़ हैं। इसमें `भव्यत्व' (है) यह स्वयं की पर्याय में योग्यता है। त्रिकाली गुण नहीं। `अभव्यत्व' भी पर्याय में योग्यता है, गुण नहीं। `अभवी' भी वस्तुस्वरूप से (तो) परमपारिणामिक ज्ञायकभाव की मूर्ति है ! ज्ञायक परम स्वभाव चिदानंद की मूर्ति है ! पर उसकी पर्याय में अभव्यता - अयोग्यता है। और भव्य के भी अंतर में तो वह पूर्णानंद-पूर्ण शुद्ध-सहज शुद्ध-पारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य वस्तु है।

आहाहा ! पैसा - शरीर ये तो सब मिट्टी में गया। ये तो मिट्टी है। कर्म भी मिट्टी - जड़। पुण्य व पाप के भाव भी अचेतन और अजीव... !

जिसे कल्याण करना हो, उसे तो इस सहज-शुद्ध-त्रिकाली ज्ञायकभाव के सन्मुख होने से, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट होती है। वह मोक्ष का मार्ग है। अर्थात् पूर्ण दुःख से मुक्त होने का वह मार्ग है। मोक्ष माने (सर्व) दुःख से मुक्त होना। मोक्ष शब्द पड़ा है न...? अस्ति अपेक्षा से `अनंत आनंद का लाभ' वह मोक्ष। `अतीन्द्रिय आनंद का पूर्ण लाभ' वह मोक्ष। उसका उपाय : `**सहज - शुद्ध-पारिणामिकभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य (के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय के रूप परिणमन करना)**'।

आहाहा ! यह (बात) कैसे बैठे ? दृष्टि कहाँ... (है) ? अनादि से पर्याय में (ही) इसके सारे खेल हैं। एक समय की पर्याय में खेल है। `पर्याय' को अंतर्मुख करके, क्या चीज़ है, ऐसे स्वसन्मुख कभी भी हुआ नहीं। पर्याय को अनादि से परसन्मुख करके चार गति में भटकता है। इस पर्याय को स्व(द्रव्य) के सन्मुख करना (यही एक मात्र मोक्ष का मार्ग है !) कौन सा `स्व' ? कि : `निजपरमात्मद्रव्य'। इसके सन्मुख पर्याय को करना, (यह धर्म है)। बाकी व्रत, तप, भक्ति, मंदिर और पूजा ये सारे भाव `शुभराग' हैं, यह कोई धर्म नहीं है और धर्म का कारण भी नहीं है ! ऐसे शुभभाव) ज्ञानी को भी आते हैं, पर वह संसार है, बंध का कारण है। मोक्ष का कारण तो निजपरमात्मद्रव्य (है) ! इसके अंतर्सन्मुख होकर; यानी कि संयोग के लक्ष से विमुख होकर, राग के लक्ष से विमुख होकर, पर्याय के लक्ष से भी विमुख होकर; निजपरमात्मद्रव्य के सन्मुख होने पर जो (सम्यक्) श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र होते हैं, वे निर्मल - वीतरागी पर्याय है, वह मोक्ष का मार्ग है ! बाकी सब बातें हैं। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

यहाँ तक अपना आया कि : निजपरमात्मद्रव्य का सम्यक् श्रद्धान अर्थात् जैसा वह

परमपारिणामिकस्वभाव - द्रव्य है, इसके स्वसन्मुख होकर, यथार्थ प्रतीति होना, आनंद की दशा का लाभ होना, यह `सम्यग्दर्शन' है। अतीन्द्रिय ज्ञान की परिणति में ज्ञान व आनंद होना, इसका ज्ञान होना और त्रिकाली का ज्ञान होना (यह `सम्यग्ज्ञान' है)। और त्रिकाली में (रमणता सो अनुचरणरूप सम्यक्चारित्र है)। - `इसरूप' पर्याय परिणमन करती है। यह पर्याय है।

आहाहा ! ऐसी बातें हैं !! अरे...रे ! अनंत काल से भटक रहा है और अनादि से ऐसा का ऐसा - भटकने के परिणाम सहित का जीव है। उसे कुछ समझ नहीं आता कि - चीज़ क्या है ? अभी तो खयाल में नहीं आता ! अंदर परिणमन करना यह तो (फिर) दूसरी चीज़ है। यह क्या कहते हैं और क्या है ? यह भी खयाल में नहीं आता ! (यहाँ) तो कहते हैं कि : खयाल में आने के बाद भी स्वसन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है (यह तो कोई अपूर्व बात) है।

आहाहा ! उस पर्याय से परिणत - निजपरमात्मद्रव्य तो त्रिकाल है, उसके सन्मुख होकर पर्याय से परिणत - मोक्षमार्ग पर्याय है, और मोक्ष भी पर्याय है। आहाहा ! `पर्याय' किसे कहना ? (कि:) मोक्ष भी पर्याय है और मोक्षमार्ग भी पर्याय है। और संसार (है) वह भी विकारी पर्याय है। स्त्री-कुटुंब-परिवार-मकान, ये कोई संसार नहीं है; वे तो `परचीज़' है। `राग मेरा है, परचीज़ मेरी है, मैं उसका हूँ' ऐसा मिथ्यात्वभाव, यह `संसार' है ! यह संसार, आत्मा की विकारी पर्याय है। संसार कोई बाहर में नहीं रहता। तो यह जो विकारी पर्याय है, उसका लक्ष छोड़कर - त्रिकाली भगवान परमानंद की मूर्ति की श्रद्धा, ज्ञान व उसमें केलि करना, वह पर्याय है, उस पर्यायरूप - आत्मा परिणमित होता है, तब उसे मोक्ष का मार्ग प्रगट होता (है)। कल यहाँ तक तो आया था।

(अब कहते हैं :) `**वह परिणमन**' (अर्थात्) परिणमन कहो, पर्याय कहो, अवस्था कहो, दशा कहो - यह सारा परिणमन-दशा, जो त्रिकाली चैतन्य के अवलंबन से हुई, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र(रूप) शुद्ध परिणति है। वह कोई बाह्य वेष - स्वाँग में नहीं है। इस द्रव्य में पर्याय, ऊपर परिणमन करती है... द्रव्य के ऊपर... किन्तु द्रव्य में प्रवेश नहीं करती इसलिये पर्याय का परिणमन है, ऐसा कहा `पर्याय परिणमन करती है'। कौन ? (कि :) द्रव्य जो त्रिकाली वस्तु है, उसके सन्मुख होकर (पर्याय परिणमन करती है)।

चाहे तो दया-दान-व्रत-पूजा के विकल्प हो, तो भी वह सब संसार है, राग है। अरे ! यह तो कैसे बैठे ? भटकता हुआ अनादि से दुःखी है। वह वहाँ से हटकर, अंदर त्रिकाली द्रव्य पर दृष्टि करके जो पर्यायरूपी परिणमन हुआ - उस परिणमन को क्या कहना ? (तो) ऐसा कहते हैं कि `वह परिणमन' आगमभाषा से (औपशमिकादि भावत्रय

कहने में आता है)।

अरे...रे ! यह तो अभी एक के अंक में जो गोला खींचते हैं, इसकी बात है। मात्र शून्य (गोला) अलग है, और एक के अंक का शून्य अलग है। मात्र शून्य गोल होता है और एक अंक के शून्य को गोल करके लंबा किया जाता है। यह तो अभी एक अंक के शून्य की बात है।

अरे...रे ! प्रभु ! तू चौरासी के अवतार में भटकता हुआ दुःखी-दुःखी है। ये सारे पैसेवाले और राजा सब दुःख ही दुःख से ग्रसित है। बेचारे एकांत दुःखी हैं। उन्हें भान नहीं है। इसलिये मान लेते हैं कि हम कुछ सुखी हैं। राग व अज्ञान में रुक गये हैं। वे दुःख में हैं। परंतु दुःख का उन्हें भान नहीं है कि यह दुःख है। आहाहा ! आत्मा के आनंद से विपरीत दशा (ही) दुःखरूप है। इस दुःखरूप दशा का विच्छेद करने का उपाय - त्रिकाली भगवान शुद्ध सहजात्मस्वरूप की (दृष्टि करना यह है)।

(`सहजात्मस्वरूप') यह वाक्य श्रीमद्‌जी का है। मंत्र औरों को देते हैं न... जब `सहजात्मस्वरूप' अथवा एकबार उन्होंने ऐसा कहा `सर्वज्ञदेव परमगुरु।' मंत्र में कहा `सर्वज्ञदेव परमगुरु'। वह सर्वज्ञदेव `यह'। सर्वज्ञ दिव्य शक्ति का भंडार भगवान (आत्मा)।' यह `परमगुरु' है।

दो हज़ार साल से अफ्रीका में दिगंबर मंदिर नहीं था। सब से पहला मंदिर नैरोबी में पंद्रह लाख का बना है ! अरे ! यह (आत्मा, इसे) करे ? यह तो परमाणु की क्रिया बननेवाली है सो बनती है। इसमें बनानेवाले का भाव हो, तो (वह) शुभभाव है। इतनी बात है। भाव से नहीं बनता। और बनता है तो इसके कारण भाव हुए ऐसा भी नहीं। आहाहा ! ऐसी बात !! अरे... रे ! कभी भी सत्य बात सुनी नहीं।

अरे...रे ! अनंत काल से नरक व निगोद के दुःख का पार नहीं ! प्रभु तो ऐसा कहते हैं कि पहले नरक की स्थिति दस हज़ार (वर्ष) की; उसके एक अंतर्मुहूर्त का दुःख... प्रभु तुझे क्या कहें ? करोड़ों जीभों द्वारा और करोड़ों भवों तक करें तो भी कह न पाये, इतना दुःख है; बापू ! वहाँ तू अनंत बार गया है। और अभी (अगर) मिथ्यात्व रहेगा तो अनंतबार जायेगा।

(कहते हैं कि :) आत्मा के गुण कितने ? कि : अनंत मुख करे, और एक-एक मुख में अनंत जीभ करे, तो भी कह न सके, इतने सारे वे गुण हैं ! आहाहा ! भगवानआत्मा में गुण की संख्या (इतनी है कि), अनंत मुख - मुँह बनाये और एक-एक मुँह में अनंती जीभ (हो)... आहाहा ! तो भी गुण की संख्या कही न जाये, प्रभु ! इतना महान प्रभु ! नाथ ! (तू है, फिर भी) तुझे तेरी सूझ-बूझ तो है नहीं ! और जिसमें (कुछ)

माल न मिले, उसकी तुझे सूझ-बूझ और प्रवीणता !!

यहाँ कहते हैं कि : प्रभु जब अपने स्वरूप सन्मुख होकर पर्यायरूप - सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र वीतरागीपर्यायस्वरूप - परिणमन करता है, (तो) उस परिणाम को आगम भाषा से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ऐसा भावत्रय कहा जाता है। आगमभाषा से भावत्रय। आहाहा ! पर उस परिणामरूप परिणाम परिणमन करता है। अनंत आनंद के सन्मुख होकर (जब) पर्यायरूप परिणमन करता है, तब वह जो निर्मल (परिणाम) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (रूप) हुए, उसे आगमभाषा से तीन भाव - उपशमभाव-क्षयोपशमभाव-क्षायिक भाव - कहने में आया है।

`नियमसार' में (उदय आदि) चार भाव को विभाव कहा है। उसमें से तीन भावरूप परिणमन (- औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक) ये विशेष पर्याय हैं; अतः इसको विभाव कहा; विकार नहीं। जो विशेष दशा - त्रिकाली भगवान (के आश्रय से) - होती है, वह विभाव भाव अथवा विशेष भाव। - ये जो (औपशमिकादि) तीन भाव `मोक्ष का मार्ग' है, उसे आगमभाषा से तीन भाव कहने में आये हैं। यह `भावत्रय' कहलाता है।

`**अध्यात्मभाषा से...**' आहाहा ! आगमभाषा व अध्यात्मभाषा अलग है। `**अध्यात्मभाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणाम,...**' (`शुद्धोपयोग' इत्यादि पर्यायसंज्ञा पाता है)।' कर्म के निमित्त की अपेक्षा से उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक (है)। तो अपनी पर्याय में - उससे (कर्म से) उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक - नहीं होते; अपने से होते हैं। पर इसमें उस (कर्म के) निमित्त का भी उपशम (आदि) है इसलिये इस अपेक्षा से आगमभाषा से इन तीन भावों को मोक्ष का मार्ग कहा। पर (इसे) अध्यात्मभाषा से शुद्धात्माभिमुख अर्थात् भगवान पूर्णानंद का नाथ (आत्मा), इसके सन्मुख के परिणाम (कहने में आता है)।

आहाहा ! सूक्ष्म बात है, भाई ! जन्म-मरण से रहित होने की यह अलौकिक चीज़ है, बापू ! बाकी तो जन्म-मरण करता ही रहे। नरक-निगोद के भव कर करके उसका हाल बेहाल हो गया है ! - पर्याय में हं ! द्रव्य से तो भगवान जैसा है वैसा त्रिकाल अंदर पड़ा है।

इस द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होना - यह मोक्षमार्ग है। - इसे अध्यात्मभाषा से `शुद्धात्माभिमुख परिणाम' कहने में आता है। (तथा) भगवान आत्मा पूर्णानंदस्वरूप के अभिमुख (होने) से जो परिणाम हुए, उसे आगमभाषा से उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक कहने में आता है। अध्यात्मभाषा से `शुद्धात्माभिमुख' - त्रिलोक के नाथ के सन्मुख - परिणाम हुए। अर्थात् जो परिणाम राग-सन्मुख थे, वे परिणाम त्रिलोक के नाथ के सन्मुख हुए। इस शुद्धात्माभिमुखता को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - मोक्षमार्ग कहने में आता है। आहाहा !

इसमें वे व्रत और तप व भक्ति के विकल्प तो कहीं दूर रह गये, वे तो पाप... संसार है पूरा ! यह सूक्ष्म बात, भाई ! कहा था न...! (`पापरूप को पाप तो, जाने जग सारा; पुण्यतत्त्व भी पाप है, कहे अनुभवी बुध कोई।') पाप को पाप तो सब कहते हैं परंतु अनुभवीजन पुण्य को पाप कहते हैं। योगीन्द्रदेव (`योगसार' में) ऐसा कहते हैं। और (`समयसार' में) पुण्य-पाप अधिकार के आखिर में आता है कि : पुण्य को पाप क्यों कहा ? कि : जब शुभभाव उत्पन्न होता है, तब पवित्र भगवान अखंडानंदमें से - स्वरूप से पतित होता है। - जयसेन आचार्य की संस्कृत टीका पुण्य-पाप (अधिकार के) आखिर में है। प्रभु ! यह तो पाप का अधिकार चल रहा है न... इसमें आपने यह क्या डाला ? किः वह (पुण्य) निश्चय से पाप ही है। आहाहा ! सुन तो सही ! दया-दान-व्रत-भक्ति-भगवान की पूजा के भाव - ये सारे भाव राग हैं - वे स्वरूप से पतित करते हैं, वहाँ राग के कारण (अपने से) खिसक जाता है, अतः राग को पाप कहने में आता है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं : `शुद्धात्माभिमुख' - आत्मा अखंड आनंद प्रभु ! उसके सन्मुख होकर जो परिणति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (रूप) हुई; (उसे) आगमभाषा से तीन भाव कहा। और अध्यात्मभाषा से (उसे) `शुद्धात्माभिमुखपरिणाम' कहा। - शुद्धस्वरूप के अभिमुख परिणाम हुए। आहाहा !

दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा के परिणाम ये सब तो राग हैं, वे तो परसन्मुखता से उत्पन्न हुए हैं; अर्थात् पर के द्वारा नहीं, लेकिन परसन्मुखता से (हुए हैं)। और यह (शुद्धात्माभिमुख परिणाम) स्वद्रव्य से उत्पन्न हुए, ऐसा नहीं; किन्तु (स्व-) द्रव्य के सन्मुख (होने) से उत्पन्न हुए हैं। आहाहा ! (उस परिणमन को) `शुद्धात्माभिमुख परिणाम' कहें। आहाहा ! `शुद्धोपयोग' कहें। स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान व रमणता - निर्विकल्प आनंददशा, इसे `शुद्धोपयोग' कहें।

आहाहा ! `नियमसार' की ५०-गाथा में परिणाम को भी परद्रव्य कहा। (शुद्धात्माभिमुख) परिणाम को परद्रव्य कहा। `मोक्षमार्ग के परिणाम' ये भी परद्रव्य। अर्थात् स्वद्रव्य नहीं इसलिये परद्रव्य। क्योंकि (जो) शुद्ध परिणाम उत्पन्न हुए, उनके आश्रय से शुद्ध परिणाम उत्पन्न नहीं होते। (शुद्धि की) वृद्धि नहीं होती। (जो) शुद्ध परिणाम नये उत्पन्न होते हैं वे द्रव्य के आश्रय से होते हैं। शुद्धात्माभिमुख होने से शुद्ध (परिणाम) उत्पन्न होते हैं। `मोक्षमार्ग' के आश्रय से नये शुद्ध परिणाम उत्पन्न नहीं होते। इस कारण से, वे जो शुद्धात्माभिमुख परिणाम हैं, उनको भी `परद्रव्य' कहने में आया है, और `परभाव' कहने में आया है। कुछ समझ में आया ?

`परभाव' के तो बहुत अर्थ हैं : शरीर-वाणी-मन-लक्ष्मी-स्त्री आदि की पर्याय परभाव है। ये तो तेरे से बिल्कुल भिन्न हैं। तेरा और उसका कोई संबंध ही नहीं है। फिर कर्म के भाव (जो) अंदर हैं, वे भी परभाव हैं। कर्म के भाव : राग-द्वेष का भाव नहीं। अर्थात् `कर्म का उदय' यह कर्म का भाव, यह पर भाव। तीसरा, पुण्य-पाप के भाव ये परभाव। अनंत गुण का पिण्ड प्रभु ! इसमें से भिन्न विचार-विकल्प करना कि : `यह गुण है...' यह (भी) परभाव है। चौथा, `निर्मल पर्याय' यह (भी) परभाव। अरे...रे ! वह परभाव ! इसे यहाँ `शुद्धात्माभिमुख (परिणाम) कहा और `शुद्धोपयोग' कहा। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

`समयसार - कलश' टीका में २५२-श्लोक में आता है न...? स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव। - क्या कहा ? (कि:) अखंडानंद पूर्ण प्रभु - वह `स्वद्रव्य'। और इस द्रव्य में विकल्प उठाना कि : यह द्रव्य है, यह गुण है - वह `परद्रव्य'। अभेद में भेद-कल्पना अर्थात् अभेद में `यह गुण है और यह ऐसा है' (ऐसी) भेद-कल्पना, इसे `परद्रव्य' कहा।

आहाहा ! अभी तो शरीर परद्रव्य, कर्म परद्रव्य, स्त्री परद्रव्य, पैसा परद्रव्य - यह बैठता नहीं अर..र ! ये सब करोड़पति हैं, पैसा...धूल..धूल ! करोड़पति माने पैसों का पति, अर्थात् जड़ का पति। भैंस का पति भैंसा होता है, ऐसे अजीव का पति अजीव हो जाये। (ऐसा अगर बैठे नहीं, तो यह) मिथ्यात्व है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं : **`शुद्धात्माभिमुख परिणाम, `शुद्धोपयोग' इत्यादि (पर्यायसंज्ञा पाता है)'** इसे मोक्षमार्ग कहो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो, शुद्धात्माभिमुख कहो। शुद्धोपयोग-शुभ नहीं - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र शुद्धोपयोग है।

दया-दान-व्रत-तप का विकल्प, यह बाह्य त्याग का भाव (- राग अगर मंद कर रहा हो तो) शुभ उपयोग है। (पर इस क्रिया का) अभिमान करे तो (वह) मिथ्यात्वभाव है। और राग की मंदता का भाव भी परभाव है; और पाप है, संसार है। आहाहा..हा ! वह `शुद्ध उपयोग' संसार का नाश करनेवाला है। `शुभभाव' संसार है। गज़ब बात है, प्रभु ! क्या करें ?

जिज्ञासा : शुभभाव को `पाप' (तो) मत कहो, महाराज !

समाधान : यहाँ तो `पाप' कहा न अभी ! `कलश टीका' देखनी है ? पहले एक बात योगीन्द्रदेव की तो कही - पाप को पाप तो सब कहें, परंतु अनुभवीजन पुण्य को भी पाप कहें। क्योंकि, `पुण्य' दुर्गति का कारण है; चैतन्य की गति का कारण नहीं ! `मोक्षपाहुड़' १६ वीं गाथा में तो भगवान कुंदकुंदाचार्य ने ऐसा कहा : प्रभु ! मेरे सामने

देखेगा और तुझे भाव होगा यह दुर्गति है। अर..र..र ! ऐसा तीन लोक के नाथ पुकार रहे हैं। ऐसा संतजन - कुंदकुंदाचार्य आदि की पुकार है कि : हम परद्रव्य हैं, हमारी ओर तेरा लक्ष जायेगा तो तुझे राग होगा; और राग तो चैतन्यगति का विरोधी (भाव) है, (अतः) दुर्गति होगी। आहाहा ! कठिन काम है ! भगवान ऐसा फरमाते हैं और कुंदकुंदाचार्य ऐसे (ही) फरमाते हैं। अरे...रे ! महाप्रभु (आत्मा) बिराजते हैं। उसका उपयोग 'शुद्धउपयोग' है। बाकी पर तरफ का - परद्रव्य का उपयोग, वह शुभ और अशुभ दोनों 'अशुद्ध उपयोग' है। स्त्री-कुटुंब-परिवार-लक्ष्मी की ओर लक्ष जाना यह पाप-अशुभ परिणाम (है), और देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आदि के परिणाम यह शुभ (परिणाम है) - ये दोनों अशुद्ध अर्थात् शुभ और अशुभ दोनों अशुद्ध (उपयोग हैं)। स्वयं की चीज़ अंदर पूर्णानंद का नाथ प्रभु - इसके सन्मुख होकर, जो मोक्षमार्ग के परिणाम हुए, उसे यहाँ 'शुद्ध उपयोग' कहा है। शुद्धात्माभिमुख (परिणाम) कहे हैं। (चैतन्य-) उपयोग कहा है। मोक्ष का मार्ग कहते हैं। निर्मल परिणाम कहते हैं। निर्मल परिणति कहते हैं। निर्मल पर्याय कहते हैं। आहाहा !

अरे...रे ! बाकी तो 'नियमसार' में (ऐसा) आया है कि : स्वधर्म परित्याग। स्वधर्म का त्याग किया ? यह पर का त्याग - कपड़े इत्यादि छोड़कर - मैं ने त्याग किया, इसमें (स्व)धर्म का त्याग किया। अर्थात् पर का त्याग करके माने कि 'हमने त्याग किया' तो पर का त्याग तो आत्मा में है ही नहीं। (क्योंकि) पर के त्याग - ग्रहण से तो प्रभु शून्य है; (फिर भी) 'इसका त्याग मैं ने किया... इतना त्याग किया...' (इसमें तो इसने) मिथ्यात्व का पोषण किया ! आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि : ये सारे भाव - विकार-शुभाशुभभाव - वह अशुद्ध उपयोग है। वह संसार है। आहाहा ! जिसमें संसार व संसार के भाव नहीं है ऐसी चीज़ जो भगवान आत्मा है, इसकी ओर झुकना (अर्थात्) परिणाम को उस तरफ झुकाने से जो परिणाम उत्पन्न हुए उन्हें 'शुद्धात्माभिमुख परिणाम' कहते हैं और 'शुद्ध उपयोग' कहते हैं। बाकी जो दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा आदि के भाव हैं वे अशुभ उपयोग हैं, मलिन हैं, बंध के कारण हैं। (शुभभाव) आये... सम्यग्दृष्टि को भी ऐसे भाव आये... परंतु (वे उसको) बंध का कारण मानता है। (परंतु) अज्ञानी मानता है कि (वह) धर्म का कारण है।

यहाँ यह कहा : '**इत्यादि पर्यायसंज्ञा पाता है।**' ऐसी यह भाषा देखो ! - शुद्धपारिणामिक (भाव) संज्ञा प्राप्त होती है। अशुद्ध पारिणामिक (भाव) संज्ञा प्राप्त होती है। (गाथा -) १४४ में कहा 'सम्यग्दर्शन नाम पाते हैं।' वह नाम कहो या संज्ञा कहो। वे '**इत्यादि पर्याय संज्ञा पाता है।**' वह पर्याय नाम पाती है। मोक्ष के मार्ग का नाम 'पर्याय' को प्राप्त होता है। वह पर्याय है ! आश्रय करने योग्य नहीं है ! अर्थात् उसके अवलंबन से - आश्रय

से लाभ हो, ऐसा नहीं। पर्याय का आश्रय करने जायेगा तो विकल्प - राग (ही) उत्पन्न होगा। आहाहा !

ऐसा कहते हैं कि : `पर्याय संज्ञा पाते हैं।' आहाहा ! अंतर में अपूर्व मोक्षमार्ग (के लिये) अनंतकाल में, कभी भी (कुछ) किया नहीं है। और अनंतकाल में जो किया वे सब भटकने के भाव किये। अब जब उससे विरुद्ध भाव हुए, अर्थात् शुद्ध चैतन्यसन्मुख होकर (जो) परिणाम हुए, उस परिणाम को (शुद्धात्माभिमुख परिणाम) पर्याय संज्ञा नाम प्राप्त होता है।

आहाहा ! ऐसी बात !! अब लोग समझे नहीं तो फिर यों ही कहे न... सोनगढ़ की बात... एकांत है... एकांत है ! इस कारण से (कहते हैं) कि `ये (सोनगढ़वाले) व्यवहार से लाभ होता है इसकी तो (बिलकुल) ना ही करते हैं। (और हम) इतना सारा त्याग करे... इतना-इतना सहन करें... उपवास करें।' (किन्तु) व्यवहार के अभाव से (लाभ) होता है, इसकी ज़गह `व्यवहार से लाभ होता है' (ऐसी मान्यता) मिथ्यादृष्टि है।

श्रोता : तो व्यवहार छोड़ देना ?

उत्तर : कौन छोड़ सकता है ? पहले दृष्टि में छोड़ना। बाद में तो स्वरूप में शुद्ध उपयोग स्वरूप में जमे, तो शुभ उपयोग छूट जाता है। प्रथम शुभ उपयोग की रुचि छोड़ना और त्रिकाली की रुचि करना। फिर स्वरूप में जमकर अस्थिरता के भाव का त्याग करना। यह कथन भी कथन नाम मात्र का है। शुद्ध उपयोग में जमते हैं, तो अशुद्ध उपयोग उत्पन्न ही नहीं होता; तो `इसका त्याग किया' ऐसा कथन नाम मात्र का है। आहाहा ! अभी यह बात समझ में न आये और (अन्यत्र) सुनने मिले नहीं। आहाहा !

अब कहते हैं : `**वह पर्याय**' - वह कौन सी पर्याय ? (कि :) जो चैतन्य भगवान पूर्णानंद के सन्मुख हुई। सब से विमुख हुई। - द्वेष करके नहीं। अर्थात् स्वद्रव्य भला है और परद्रव्य बुरा है, ऐसे नहीं; (क्योंकि) वह तो राग-द्वेष है। `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में आता है। यह तो स्वद्रव्य की ओर झुकते जाना और परद्रव्य ओर-से हट जाना। - यह परद्रव्य से विमुखता (है)। परद्रव्य (प्रति) द्वेष है ऐसा नहीं। लेकिन परद्रव्य (प्रति) जो लक्ष है, वह छूट जाना; और अपनी (तरफ) लक्ष लगा देना ! आहाहा !

`**वह पर्याय शुद्ध पारिणामिकभावलक्षण शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है।**' आहाहा ! अरे प्रभु ! तेरी जो मोक्षमार्ग की अपूर्व पर्याय प्रगट होती है, वह भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है ! ज्यादा (कठिन) न लगे इसलिये (ऐसा कहा)। अन्यथा तो `सर्वथा' भिन्न है ! (श्री निहालचंद्रजी) सोगानी ने `सर्वथा भिन्न' लिखा है। है तो ऐसा ही ! दो बिल्कुल भिन्न हैं ! द्रव्य में पर्याय नहीं और पर्याय में द्रव्य नहीं ! परंतु लोगों को कठिन लगे,

इसलिये यहाँ `कथंचित् भिन्न' कहा। पर्याय का द्रव्य में बिल्कुल - सर्वथा अभाव (है, ऐसा समझना...) ज़रा दूभर लगे।

वह मोक्षमार्ग की पर्याय, शुद्ध उपयोग की पर्याय, शुद्धात्माभिमुख की पर्याय, `त्रिकाली द्रव्य' से भिन्न है ! अर..र..र ! अभी शरीर भिन्न, राग भिन्न और पुण्य-पाप-लक्ष्मी और धूल और ये सारे तमाशे, ये भिन्न... इतना अभी बैठे नहीं उसे। (तो) यहाँ `(जो) धर्म की पर्याय प्रगट हुई, वह द्रव्य से भिन्न है' (-ऐसा कैसे बैठे ??)

यह कहते हैं यह देखो : (`कथंचित् भिन्न है)। किसलिये ?' शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा; इसकी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र (की पर्याय) अर्थात् जो आनंद की पर्याय अंदर आई, वह पर्याय - वस्तु से कथंचित् भिन्न है। वह पर्याय द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। परद्रव्य - शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, कुटुंब, परिवार - ये सब तो (अपने से बिल्कुल) भिन्न हैं; राग तो द्रव्य से भिन्न है; (परंतु) निर्मलपर्याय से भी (द्रव्य) भिन्न है। आहाहा..हा ! उसकी (स्वयं की) मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय जिसमें अतीन्द्रिय आनंद आता है, मोक्ष के मार्ग का अर्थ : अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव (जिस पर्याय में) आता है, (वह पर्याय भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है)। अतीन्द्रिय आनंद मतलब, जब इन्द्रों के इन्द्रासन में, करोड़ों अप्सराओं में सुख नहीं है; किन्तु वह सब दुःख है, वह प्राणी दुःखी है। (पर) यह सुख जब सम्यग्दर्शन - सम्यग्ज्ञान हुआ तो अतीन्द्रिय सुख अर्थात् अतीन्द्रिय आनंद अंदरमें से आया। इस अतीन्द्रिय आनंद की पर्याय भी किसी अपेक्षा से त्रिकाली द्रव्य से भिन्न है। वह (पर्याय) `अंश' है और त्रिकाली `अंशी' है।

निश्चय से तो `चिद्‌विलास' में वहाँ तक कहा है कि : इस `पर्याय' का द्रव्य भिन्न, क्षेत्र भिन्न, काल भिन्न, भाव भिन्न। - क्या कहा ? आहाहा ! यहाँ विकारी पर्याय की तो बात ही नहीं है। और शरीर-वाणी की क्रिया आत्मा की, यह बात भी यहाँ नहीं है, वह तो जड़ की (क्रिया) है। परंतु भगवानआत्मा की जो मोक्ष के मार्ग की पर्याय, जो अंदर में हुई है, उस पर्याय को कथंचित् भिन्न कहा। क्योंकि, पर्याय है वह एक `अंश' है। यहाँ `चिद्‌विलास' में वह द्रव्य (`अंशी' और बाकी का `अंश') भिन्न; द्रव्य अर्थात् वह वस्तु है। त्रिकाली से वह पर्याय भिन्न, उसके प्रदेश भिन्न। जितनेमें से पर्याय उत्पन्न होती है उतने वे प्रदेश। द्रव्य-प्रदेश से वे (पर्याय के) प्रदेश का अंश भिन्न है। है तो असंख्य प्रदेश; किन्तु असंख्य प्रदेश के दो प्रकार : जितनेमें से मोक्षमार्ग की पर्याय उत्पन्न हुई, वह क्षेत्र भिन्न है और ध्रुव जितने में रहता है, वह क्षेत्र भिन्न है ! कुछ समझ में आता है ? वह पर्याय जो मोक्ष के मार्ग की है, उस पर्याय को (भी) द्रव्य कहें।

कहा था न...! `नियमसार' में : (पर्याय) परद्रव्य। (पर्याय को) द्रव्य कहा। उसका

(पर्याय का) क्षेत्र (भिन्न)। द्रव्य जो स्वभाव - वस्तु है, उससे `पर्याय-द्रव्य' भिन्न; पर्याय का `क्षेत्र' भिन्न और पर्याय का `काल' भिन्न (- पर्याय एक समय की और यह वस्तु त्रिकाल।); और पर्याय का `भाव' भिन्न (- द्रव्य स्वभाव से पर्याय का भाव भिन्न)।

श्रोता : स्वभाव भी भिन्न ?

उत्तर : शुद्ध पर्याय है न...! भिन्न है, त्रिकाली वस्तु से पर्याय भिन्न है। (अगर) दोनों एक हो जाये तो, (अर्थात् :) अगर पर्यायअंश में द्रव्य आ जाये तो, द्रव्य `अंश' हो जाये। और पर्याय इसमें (द्रव्य में) आ जाये तो, पर्याय `द्रव्य' हो जाये ! परंतु ऐसा (कभी बनता) नहीं। आहाहा !

`कलश-टीका' (श्लोक -) २५२ में तो ऐसा लिया है कि : `स्वद्रव्य' माने निर्विकल्पवस्तु। वस्तु जो निर्विकल्प - अभेद अर्थात् पर्याय भी जिसमें नहीं है, वह निर्विकल्प द्रव्य - वह स्वद्रव्य। `स्वक्षेत्र' अर्थात् आधारमात्र वस्तु का प्रदेश; स्वक्षेत्र यानी गुण का आधारमात्र प्रदेश - वह स्वक्षेत्र। `स्वकाल' यानी वस्तु मात्र की मूल अवस्था। `स्वभाव' यानी वस्तु की मूल की निज (सहज) शक्ति - गुण।

अब, परद्रव्य माने सविकल्प भेद-कल्पना। सिर्फ भेद नहीं (परंतु) सविकल्प भेद-कल्पना। शरीर-वाणी-मन तो परद्रव्य हैं; लक्ष्मी आदि धूल तो परद्रव्य हैं; तेरा और उसका कोई संबंध ही नहीं है। उसकी तो हम यहाँ तो बात ही नहीं करते। यहाँ तो राग को परद्रव्य कहा; उसकी भी बात हम नहीं कहते। पर यहाँ तो पूरा द्रव्य जो अखंड - अभेद है, उसमें विकल्प उठाना अर्थात् अभेदमें से भेद का विकल्प उठाना - यह परद्रव्य है। आहाहा ! राजमलजी की टीका है ! दो टीका है, दूसरी (भी) एक टीका है। यहाँ (हमने) तो सारे - हज़ारों ग्रंथ देखे हैं, एक-एक (ग्रंथ) कितनी बार... एक बार नहीं किन्तु बहुत बार, सब (ग्रंथ) देखे हैं। अरे...रे ! यहाँ कहते हैं कि : `परद्रव्य' किसे कहें ? - शरीर तो परद्रव्य है, कर्म परद्रव्य है, स्त्री-कुटुंब परद्रव्य है, लक्ष्मी परद्रव्य है, मकान परद्रव्य है, ज़मीन परद्रव्य है, - उसकी तो बात (ही) तू छोड़ दे ! क्योंकि, `वह परद्रव्य मेरा है' ऐसी मान्यता तो भ्रम-मिथ्यात्व-अज्ञान है। परंतु यहाँ तो कहते हैं कि : `राग' परद्रव्य है, उसे भी छोड़ दे ! यहाँ तो अखंड द्रव्य में विकल्प से भेद-कल्पना करना वह (भी) परद्रव्य है। कुछ समझ में आया ? क्या कहा ? (कि:) परद्रव्य अर्थात् सविकल्प भेद-कल्पना। विकल्प उठाना कि `यह द्रव्य है' यह भेद-कल्पना; वह परद्रव्य हो गया। अरे...रे ! कैसे बात बैठे ? अरे ! उसे जन्म-मरण से रहित होने का भाव (कैसे हो)? प्रभु ! अरे...रे ! अनादि से चौरासी के जन्म-मरण के भाव करता है... मरकर नरक और निगोद...! आहाहा ! यहाँ तो कहते हैं : प्रभु अखंडानंद है, उसमें

सविकल्प - विकल्प से भेद उठाना - भेद-कल्पना उठाना, वह `परद्रव्य' है (-उसे भी छोड़ !)

अब, परक्षेत्र अर्थात् वस्तु का जो आधारभूत प्रदेश अर्थात् निर्विकल्पवस्तु - जीव के असंख्य प्रदेश; उस प्रदेश (में सविकल्प भेद-कल्पना, वह परक्षेत्र)। `सविकल्प भेद-कल्पना' - इसमें वज़न यहाँ पर है। मात्र भेद-कल्पना नहीं, किन्तु सविकल्प भेद-कल्पना। अर्थात् असंख्य प्रदेश है इसमें... यह प्रदेश और यह प्रदेश, ऐसे भेद-कल्पना - सविकल्प भेद-कल्पना - यह परक्षेत्र। परप्रदेश बुद्धिगोचररूप से कहने में आता है। बुद्धिगोचर माने बुद्धिपूर्वक मानना-जानना - (भेद-)कल्पना - यह परक्षेत्र।

अब, परकाल (यानी) द्रव्य की मूल की निर्विकल्प अवस्था, अवस्था यानी त्रिकाली लेना, जो त्रिकाली चीज़ है, वह स्वकाल है; वही अवस्थान्तर - भेदरूप कल्पना - परकाल कहलाती है। त्रिकाली चीज़ है। `अवस्थ' वह अवस्था। वहाँ पर्याय नहीं लेना। त्रिकाली वस्तु स्वकाल है। और इसमें वर्तमान पर्याय को भिन्न करना वह परकाल है।

अर...र..र ! यहाँ तो सराफ की दुकान पर बैठे हो (तो ऐसा माने कि) अच्छी तरह सराफ़ी चले... हमारी दुकान बहुत अच्छी चल रही है !

श्रोता : उसमें आनंद आता है !

उत्तर : आनंद आता है दुःख का ! अपने घर की बात नहीं बताई थी ? बुआ का लड़का था हिस्सेदार था। व्यापार-धंधे में उसे बहुत ममता (थी)। उसे तो `मैं करुँ... मैं करुँ,' `यह सब मैं करता हूँ' - ऐसा अभिमान बहुत। पूरे दिन यह किया और यह किया... यह माल आया और यह लाओ। तो मैं ने तो एकबार कह दिया कि `यह सारी होली क्या मचा रखी है ! तुम मर के पशु होंगे।' हम बनिये हैं इसलिये मांस-अंड़े इत्यादि का (भोजन) तो है नहीं इसलिये नरक में (तो) नहीं जायेंगे। संवत् १९६६ की बात है। कहा था : `बापू ! मरकर मनुष्य होंगे, ऐसा मुझे नहीं लगता और मरकर देव होंगे, ऐसा भी मुझे नहीं लगता। तुम्हारे लिये तो एक पशु (गति ही) है।' चिल्ला सकते थे, पर (वे) कभी बोलते नहीं थे। `भगत' है, बोलते हैं, बोलने दो।' (ऐसा कहकर सुन लेते थे)।

आहाहा ! यहाँ कहते हैं : `परकाल' किसे कहना ? - यह अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, दिन और रात - ये तो परकाल है; वे नहीं। यहाँ तो त्रिकाली चीज़ है वह `स्वकाल'। और इसमें एक समय की पर्याय का भेद करना वह `परकाल'।

ऐसा मार्ग है, बापू ! वीतराग शासन ! विवक्षित बात - `परकाल' है न ? निर्विकल्प अवस्था माने वस्तु... हं ! त्रिकाली। उस वस्तु से अवस्थान्तर आंतर-भेद अर्थात् एक समय

की पर्याय का भेद - वह `परकाल'।

अब, परभाव माने द्रव्य की सहज शक्ति, भगवान(आत्मा) की अनंत गुण-शक्ति, आत्मा में अनंत गुण जो कि अनंत मुख व अनंत जीभ से न कहे जा सके - ऐसे और उतने गुण; वे सारे गुण-शक्ति के पर्यायरूप अनेक अंश द्वारा भेद-कल्पना, (उसे `परभाव' कहने में आता है)। यहाँ फर्क इतना किया : अनेक अंश द्वारा भेदकल्पना अर्थात् एक गुण की कल्पना करना - यह `परभाव' है। आहाहा !

अरे..रे ! वीतराग का मूल मार्ग !! परमात्मा जिनेश्वरदेव ने क्या कहा ? - इसका (लोगों को) अभी पता नहीं है ! तो फिर वस्तु का परिणमन (तो किस दिन होनेवाला है ?) क्या कहते हैं ? क्या शैली है ! (गुण-भेद-कल्पना) वह `परभाव' ! आहाहा ! राग तो परभाव है ही, अर्थात् दया-दान-व्रत के परिणाम तो परभाव है ही; परंतु आत्मा अनंत गुण का पिण्ड है, उसमें एक गुण की (भेद) कल्पना करना कि, `यह ज्ञान है...' `यह दर्शन है' - यह `परभाव' है ! आहाहा ! राजमलजी की टीका है !

श्रोता : सोनगढ़ में ऐसे ही शास्त्र छपते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : **`यह मुझे पता नहीं है कि यह (शास्त्र) कहाँ से छपा है ? हमें कुछ मालूम नहीं है ! यहाँ तो उपदेश के अलावा दूसरा क्या होता है, वह तो दुनिया जाने। बाईस लाख पुस्तकें छपी हैं, यह (बात) कोई कहे तो हम सुनते हैं। हम किसीसे कुछ कहते नहीं हैं - करो या छपवाओ... कुछ नहीं।' बहिन की** (पूज्य बहिनश्री चंपाबेन की बहिनों के बीच चलनेवाली तत्त्वचर्चामें से संकलित की गई) **पुस्तक `बहिनश्री के वचनामृत' जब हाथ में आया तो देखकर तब कहा था कि : `यह पुस्तक एक लाख छपवाओ।'** (ऐसा) यह पहले में पहले कहा। **`वह पुस्तक तो अलौकिक है ! इसके अलावा इतनी - बाईस लाख पुस्तकें (प्रकाशित हुई); ये मकान (-मंदिर आदि) बने; (लेकिन) हमने किसीसे कुछ कहा नहीं, मकान बनाओ... यहाँ पैसे (लगाओ)... बिल्कुल कोई बात नहीं। (हम तो सिर्फ) उपदेश देते हैं, सुनना है तो सुनो। इसके अलावा (हमारी कोई) प्रवृत्ति नहीं है।'**

यहाँ कहते हैं कि : उस शुद्ध पारिणामिक की जो पर्याय है, वह द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। क्यों भिन्न है ? - यह विशेष कहेंगे।

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-७ ता. ४-८-१९७९

'(समयसार)' ३२०-गाथा की जयसेनाचार्य की टीका है। यहाँ तक आये हैं : जो आत्मा अपने स्वभावसन्मुख होकर जिस शुद्धोपयोग से अपने को प्राप्त करता है, वह शुद्धोपयोग - शुद्ध (आत्मा) अभिमुख; भगवान ! वह पर्याय; क्या चीज़ है ? पर्याय और द्रव्य का क्या संबंध है ? यह सूक्ष्म बात (है) ! क्या कहा ? कि : प्रभु चैतन्यस्वरूप, ध्रुव, अतीन्द्रिय आनंद अमृत के सागर से परिपूर्ण भरा (है)। ऐसी (जो) चीज़ (शुद्धात्मा), इसके सन्मुख होने से जो अभिमुख परिणाम उत्पन्न होते हैं, अर्थात् द्रव्य-सन्मुख, और पर से - पर्याय से भी विमुख होकर, वह पर्याय अंतर्मुख जाती है, तो उस पर्याय को अध्यात्मभाषा से 'शुद्धात्माभिमुख (परिणाम)' और 'शुद्धोपयोग' कहने में आया। (तथा) उसे आगमभाषा में उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक (भावत्रय) कहने में आया। अब यहाँ कहते हैं कि 'वह पर्याय' - यह जो शुद्धोपयोग(रूप) पर्याय, द्रव्य स्वभाव भगवान पूर्ण प्रभु के सन्मुख हुई यह पर्याय - '**शुद्धपारिणामिकभावलक्षण शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है।**' आहाहा !

शरीर, वाणी, मन की तो बात ही कहाँ है ? वे तो परवस्तु (हैं)। वह अपने कारण से आती है, जाती है। पुण्य-पाप के भाव की यहाँ बात नहीं है। इसे तो ('समयसार') संवर अधिकार में (ऐसा कहा कि :) पुण्य-पाप के भाव 'आधार' और आत्मा 'आधेय', या आत्मा 'आधार' और पुण्य-पाप 'आधेय' - ऐसा नहीं है। वहाँ इतना लिया कि : पुण्य-पाप के भाव का क्षेत्र भी भिन्न ! आहाहा..हा ! स्त्री, कुटुंब, परिवार का क्षेत्र तो (सर्वथा) भिन्न (है); उसकी बात तो यहाँ है नहीं; उसके साथ तो (आत्मा का) कोई संबंध ही नहीं। अंदर जो पुण्य व पाप के सिर्फ भाव होते हैं, उनकी भी परसत्ता में गिनती करके परक्षेत्र माना है। - वह परसत्ता है, अपनी स्वसत्ता नहीं है। आहाहा..हा ! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजादि का भाव होता है, परंतु वह स्वसत्ता में अभिन्न नहीं है, अर्थात् स्वसत्ता से एकदम भिन्न है। वहाँ संवर अधिकार (गाथा : १८१-१८३) में तो ऐसे कहा कि : उपयोग उपयोग में है। जाननक्रिया आधार और आत्मा आधेय - ऐसा लिया। वहाँ तो (ऐसा कहा कि :) जाननक्रिया(रूप) जो पर्याय वह द्रव्य से अभिन्न है। क्योंकि : जाननक्रिया के आधार से आत्मा जानने में आता है। इस कारण से जाननक्रिया - शुद्धोपयोग - शुद्ध (आत्म) अभिमुख परिणाम के साथ आत्मा को अभिन्न गिनने में आया है और विकार को भिन्न करके (उसका) क्षेत्र भिन्न, सत्ता भिन्न, स्वरूप भिन्न (सिद्ध किया है)। अर्थात् : आत्मा और राग - दोनों को बीच कोई (परमार्थभूत) आधार-आधेय संबंध नहीं है। आहाहा..हा !

प्रश्न : इस जाननक्रिया को आधार क्यों कहा ?

उत्तर : इस जाननक्रिया से जो चीज़ (- आत्मा) जानने में आई है वह चीज़ तो अनादि (है) परंतु अंतर्मुख होकर, वह (चीज़) जानने में आई। (अतः) वह जाननक्रिया आधार है; क्योंकि उसके आधार से जानने में आई।

सूक्ष्म बात है, भाई ! वहाँ (संवर अधिकार में) तो जाननक्रिया जो धर्म - पर्याय, उसे आत्मा के साथ अभिन्न कही और यहाँ भिन्न कहते हैं। और अपेक्षा से कथंचित् भिन्न कहते हैं। - क्या कहते हैं देखो ! पर्याय जो निर्मल पर्याय (अर्थात्) मोक्षमार्ग की पर्याय, जो शुद्ध उपयोग और वीतरागी पर्याय जो मोक्ष का कारण, वह 'वीतरागी पर्याय,' शुद्धपारिणामिकभावलक्षण 'शुद्धात्मद्रव्य' से कथंचित् भिन्न है।

जयसेनआचार्य की अपेक्षा थोड़ी ज्ञानप्रधान कथन की है, अतः 'कथंचित् भिन्न' कहा। (जबकि) अमृतचंद्र आचार्य तो ('प्रवचनसार') गाथा - १७२, 'अलिंगग्रहण' बोल - १९ में ऐसा कहते हैं कि : भगवानआत्मा, पर्याय से भेदलक्षणवाला, वह पर्याय का स्पर्श तक नहीं करता। अर्थात् पर्यायरूप विशेषभाव का द्रव्य स्पर्श नहीं करता। आलिंगन नहीं करता। आहाहा ! पर्याय द्रव्य का आलिंगन नहीं करती और द्रव्य पर्याय का आलिंगन नहीं करता। सूक्ष्म बात है, भाई ! वह शुद्ध (पर्याय), जो धर्म (रूप) सम्यग्दर्शन - सम्यग्ज्ञान की शुद्धोपयोग पर्याय, वह पर्याय आत्मा का स्पर्श नहीं करती। बिल्कुल स्पर्श नहीं करती, ऐसा कहा। और यहाँ कथंचित् भिन्न कहा। इस प्रकार अपेक्षा से कथन है।

यहाँ कहा कि : प्रभु आत्मा जो नित्यानंद ध्रुव, उसके सन्मुख होकर जो मोक्षमार्ग के परिणाम होते हैं, इस अपेक्षा से, यहाँ सामान्य मोक्षमार्ग की पर्याय कहनी है न...! इस अपेक्षा से, थोड़ा कथंचित् भिन्न कहा। पर जहाँ समुच्चय से लेना है : अलिंगग्रहण में, (वहाँ) तो अमृतचंद्राचार्य ऐसा कहते हैं कि : पर्याय का भेद-पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती और द्रव्य पर्याय का स्पर्श नहीं करता।

भाई ! ऐसा गहन विषय है। यहाँ राग-विकार की बात नहीं है। शरीर, वाणी, मन और कर्म की भी नहीं। (वे तो) जगत के स्वतंत्र पदार्थ (हैं, जो) स्वयं परिणमित हो रहे हैं। पैसे जड़, मकान, इज्जत वे तो परमाणु की पर्याय; स्वयं से परिणमन करती है। पत्नी का आत्मा भी स्वयं से पर्याय का परिणमन करता है, वे कोई किसी के संबंध से नहीं है। आहाहा ! विकार का भी आत्मा के साथ संबंध नहीं है। क्यों(किः) विकार की सत्ता भिन्न है। प्रभु माने आत्मा। आत्मा को यहाँ प्रभु कहते हैं। कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! अब यहाँ निर्मल पर्याय को (द्रव्य से) कथंचित् भिन्न कहा। और वहाँ

(अलिंगग्रहण के) १९ वें बोल में (कहा कि :) पर्याय का द्रव्य स्पर्श नहीं करता। पर्याय का - निर्मल पर्याय का भी द्रव्य आलिंगन नहीं करता। (द्रव्य - पर्याय का) ऐसा सर्वथा भेद किया। और (वहाँ) २० वें बोल में तो ऐसा लिया कि : स्वयं की पर्याय में वेदन आता है; वह पर्याय (भी) द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। द्रव्य जो त्रिकाली वस्तु है, उसका वह पर्याय स्पर्श नहीं करती। वह पर्याय ही आत्मा है। क्योंकि वेदन में पर्याय आती है। आनंद की पर्याय वेदन में आती है। द्रव्य कोई वेदन में नहीं आता।

जिज्ञासा : पर्याय वेदन करती है ?

समाधान : करती है (कहो) या आती है कहो, एक ही बात है। द्रव्य का वेदन नहीं है ! द्रव्य तो ध्रुव है।

सूक्ष्म विषय है, भाई ! तत्त्व को समझना बहुत (दुष्कर है)। जैनदर्शन कोई अलौकिक चीज़ है। इस (जैनकुल) में ऊपरटपके (ऊपर-ऊपर से) जन्म ले लिया... और जन्म से पूजा की और भक्ति की और मंदिर बनवाया और व्रत किये... (पर) वह कोई चीज़ नहीं है। वह कोई धर्म नहीं है !

श्रोता : चीज़ नहीं (है) इसलिये धर्म नहीं है, ऐसा ?

उत्तर : अपनी पर्याय में वह चीज़ नहीं है। अर्थात् वे रागादि अपनी पर्याय में वास्तव में हैं ही नहीं; अतः वह धर्म ही नहीं है।

परंतु (यहाँ तो कहते हैं कि :) अपना शुद्ध स्वरूप शुद्धपारिणामिकभावलक्षण, शुद्धपारिणामिक त्रिकाली स्वभावभावलक्षण, शुद्धात्मद्रव्य (के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप जो) मोक्षमार्ग की - धर्म की पर्याय (वह शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है)।

'तत्त्वार्थसूत्र' में 'सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (कहा) वे तीनों पर्याय हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' में पर्यायप्रधान कथन है। यहाँ कहते हैं : वे (तीनों) पर्याय शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न हैं। आहाहा ! और (श्री निहालचंद्र) सोगानीजी ने ('द्रव्यदृष्टि प्रकाश' के बोल-२६५ में ऐसा) लिया है कि : पर्याय द्रव्य से सर्वथा भिन्न है। तो आचार्य का 'वह' कथन; और (सोगानीजी का) 'यह' ! इनका (सोगानीजी का कथन) भी यथार्थ है। उन्होंने परम निश्चय से - अमृतचंद्र आचार्य की शैली से - कहा है। कुछ समझ में आया ? अलौकिक बात है, बापू !

दुनिया में यह पैसे मिले, यह तो पूर्व के पुण्य से मिलता है। वे कोई पुरुषार्थ से नहीं मिलते। बहुत व्यवस्थित राग करे तो पैसा मिले, ऐसा नहीं है। वह तो पूर्व के पुण्य के परमाणु पड़े हो, वे खिरने लायक हो जाये, तब पैसा देखने में आता है। देखने में आता है कि 'ये मेरे पास आये'; पर वे उसके हैं नहीं।

यहाँ तो दया, दान, भक्ति का राग भी आत्मा की पर्याय में नहीं है। आहाहा ! आत्मा की पर्याय जो धर्म - पर्याय है वह `पर्याय' द्रव्य से कथंचित् भिन्न है।

यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय कहनी है न...? सामान्य पर्याय की व्याख्या नहीं है। यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय की व्याख्या है। (अतः इसे) कथंचित् भिन्न कही। और `अलिंगग्रहण' में तो द्रव्य पर्याय का स्पर्श नहीं करता; यह बाद में लेंगे। पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती; यह २० वें (बोल) में है। १९ वें (बोल) में वे कहते हैं कि : पर्यायविशेष जो धर्म - पर्याय... हं ! वह पर्याय, द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। आहाहा ! `स्पर्श नहीं करती' का अर्थ `सर्वथा भिन्न' हो गया। कुछ समझ में आया ? आज का विषय सूक्ष्म है, प्रभु ! आहाहा ! कहते हैं कि : `पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती' तो वहाँ क्या सर्वथा भिन्न हो गई ! और २० वें (अलिंगग्रहण के) बोल में ऐसा कहा कि : वेदन में जब आनंद की पर्याय आती है, उस पर्याय-वेदन का द्रव्य स्पर्श नहीं करता। अर्थात् द्रव्य जो त्रिकाली है, वह वेदन का स्पर्श नहीं करता। (अर्थात्) वेदन में वह द्रव्य आता ही नहीं। अरे...रे ! ऐसी बातें हैं !! कि : प्रत्यभिज्ञान का कारण जो यह है, वह पहले था, वह रहेगा, ऐसा जो प्रत्यभिज्ञान का कारण - द्रव्य, वस्तु त्रिकाली, यह शुद्धपारिणामिकभावलक्षण, शुद्धात्मद्रव्य ! यह अनुभवी जीव को पर्याय में - (अनुभव की पर्याय का) - यह द्रव्य स्पर्श नहीं करता। बहुत सूक्ष्म विषय (है), भाई ! अनुभूति का द्रव्य स्पर्श ही नहीं करता। अनुभूति - पर्याय स्वतंत्र है। यहाँ कहा : `कथंचित् भिन्न।' और वहाँ (अलिंगग्रहण में) तो (कहा कि:) `पर्याय सर्वथा भिन्न है। वह पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। द्रव्य पर्याय का स्पर्श नहीं करता।' - यह १९-२० वाँ बोल है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? त्रिकाली ज्ञायकभाव, जो शुद्ध चैतन्यघन, जो सम्यग्दर्शन का विषय, वह `द्रव्य' ! - उसका, सम्यग्दर्शन की `पर्याय' स्पर्श नहीं करती। और जो `द्रव्य' है, वह (सम्यग्दर्शन की) `पर्याय' का स्पर्श नहीं करता। आहाहा..हा !

अमृतचंद्राचार्य का कथन बहुत ही सूक्ष्म है ! जयसेन आचार्य की टीका में कुछेक ज़गह व्यवहार साधन और निश्चय साध्य - ऐसा निमित्त से कथन है। यहाँ तो कड़क बात है। समझ में आये इतना समझना प्रभु ! यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ परमेश्वर वीतराग ने कहा वह मार्ग है। यह कोई साधारण तरीके से समझ में आ जाये, ऐसी चीज़ नहीं है। अभी तो इसका बाह्य व्यवहार भी समझ में नहीं आता, तो निश्चय की तो बात क्या ?

यहाँ तो कहते हैं कि : निश्चय जो सम्यग्दर्शन - ज्ञान पर्याय है वह द्रव्य से - त्रिकाली भगवान से कथंचित् भिन्न है। मोक्षमार्ग की पर्याय लेनी है न...? और (वहाँ) `अलिंगग्रहण' में तो पर्याय - द्रव्य की सामान्य व्याख्या है। अतः पर्याय का द्रव्य स्पर्श नहीं करता

और द्रव्य का स्पर्श पर्याय नहीं करती। - यह २० वाँ (बोल) लिया। आहाहा ! केवलज्ञान की पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। यह कैसी बातें, बापू ! यहाँ तो मोक्षमार्ग की पर्याय की बातें हैं। और जहाँ `अलिंगग्रहण' में सामान्य पर्याय की व्याख्या आई वहाँ तो उस पर्याय विशेष का आलिंगन द्रव्य को नहीं है। अर्थात् पर्याय-वेदन में द्रव्य नहीं आता। वेदन में - अनुभव में जो पर्याय आती है, वह पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। द्रव्य उसका (पर्याय का) स्पर्श नहीं करता। क्योंकि द्रव्य का वेदन है ही नहीं। द्रव्य जो त्रिकाली - ध्रुव चीज़ है, उसका वेदन तो ज्ञानी और अज्ञानी - किसी को नहीं है। आहाहा..हा ! सूक्ष्म विषय है, भाई ! और सोगानीजी ने तो ऐसा कहा कि : `द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न है।' उस सामान्य बात से `सर्वथा भिन्न' कहा। और यहाँ तो मोक्षमार्ग की अपेक्षा से `कथंचित् भिन्न' कहा। कुछ समझ में आया ? और `पंचास्तिकाय' में तो ऐसा लिया कि : भगवान जो द्रव्यस्वभाव, जो त्रिकाली, आनंद का नाथ प्रभु; उसमें जो पर्याय निर्मल आती है, वह भी `संयोगी' है। उसमें (द्रव्य-)स्वभाव में वह पर्याय नहीं है। आहाहा ! ये संयोग-वियोग पर्याय में आते हैं !

बाहर का स्त्री-कुटुंब का संयोग, वह तो परचीज़ है; उसके साथ (तो आत्मा का) कोई संबंध नहीं है। (किन्तु) अपना आत्मा, भगवान पूर्णानंद प्रभु; इसमें जो धर्म की पर्याय - इसके अवलंबन से प्रगट होती है - वह पर्याय, द्रव्य से भिन्न है। द्रव्य में उस पर्याय का संयोग हुआ है। स्त्री-परिवार का संयोग होता है और मर जाये तब वियोग होता है; इसकी तो बात ही कहाँ है ? वह तो कोई तेरी चीज़ नहीं है, तेरे साथ नहीं है।

आहाहा ! यहाँ तो कहते हैं कि : मोक्ष का मार्ग जो पूर्ण दशा का कारण है, उस पर्याय की यहाँ बात है। मोक्ष की पर्याय की बात यहाँ नहीं ली। यहाँ तो शुद्धात्माभिमुख परिणाम, जिसे `शुद्धोपयोग' कहते हैं, जिसे आगमभाषा से `उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक' कहते हैं; और अध्यात्मभाषा से `शुद्धात्माभिमुख' `शुद्धोपयोग' कहते हैं; उस पर्याय (की बात है)।

`वह पर्याय' - ऐसी भाषा ली है। `वह पर्याय' ऐसा शब्द है। समुच्चय - सभी परंतु यह (मोक्षमार्ग की) पर्याय (`कथंचित् भिन्न है')। भगवान तेरी महिमा का पार नहीं प्रभु ! पर तेरी चीज़ की महिमा तुझे समझ में नहीं आती। यहाँ तो कहते हैं कि : जिस पर्याय में द्रव्य का माहात्म्य आया, उस पर्याय का द्रव्य स्पर्श नहीं करता। आहाहा ! छूता नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं कि : यह स्त्री का भोग करता है; तो (स्त्री के) शरीर को तो (उसका) शरीर छूता तक नहीं। उसने जड़ को छूआ तक नहीं। एक शरीर दूसरे शरीर का कभी भी स्पर्श ही नहीं करता। - वह तो बहुत स्थूल बात हो गई। कुछ

समझ में आया ?

(`समयसार') तीसरी गाथा में आया न...! कि : प्रत्येक पदार्थ अपने गुण व पर्यायरूपी धर्म अर्थात् स्वभाव का स्पर्श करता है। किन्तु वह पर्याय परपदार्थ की पर्याय का कभी भी स्पर्श नहीं करती !

श्रोता : स्पर्श नहीं करती - इसका भावार्थ ?

उत्तर : दोनों भिन्न-भिन्न है।

श्रोता : उस-रूप नहीं होती - ऐसा भावार्थ है ?

उत्तर : उस-रूप है ही नहीं, भिन्न-भिन्न है !

आहाहा ! `धवला' में तो पर्याय को विसदृश - विरुद्ध कहा है। और गुण-द्रव्य को सदृश - अविरुद्ध कहा है। अर्थात् द्रव्य को अविरुद्ध कहा है और पर्याय को असदृश - विरुद्ध कही है। क्योंकि उत्पाद-व्यय यानी एक समय की पर्याय उत्पन्न होती है और पूर्व की पर्याय व्यय होती है, अतः वह तो विसदृश हुई और त्रिकाल रहनेवाला ध्रुव सदृश है। तो उस विसदृश का स्पर्श सदृश नहीं करता। और विसदृश है वह सदृश का स्पर्श नहीं करता। आहाहा..हा ! मार्ग तो देखो ! तीन लोक के नाथ की यह पुकार है।

सर्वज्ञदेव परमेश्वर एक ओर `पंचास्तिकाय' में ऐसा कहे : `पज्जयविजुदं दव्वं' - पर्याय बिना का द्रव्य होता ही नहीं। वह तो पर से भिन्न करने के लिये `पज्जयविजुदं दव्वं' ऐसा पाठ है। तथा दूसरी ओर यहाँ तो (ऐसा कहा कि :) पर्याय से द्रव्य भिन्न है। आहाहा !

हीरे में चमक उठी। वह चमक, हीरे का स्पर्श नहीं करती। और हीरा चमक का स्पर्श नहीं करता। यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु ! सुन तो सही ! हीरा चमक का स्पर्श नहीं करता। उसे (हीरे को) जब घिसा जाता है, (तब) उसकी नीचे की सतह है, जो घिसी जा रही है, उसे उस हीरे की पर्याय स्पर्श नहीं करती। और (नीचे की चीज़ की) पर्याय, उसका (हीरे का) स्पर्श नहीं करती। - यह तो बहुत स्थूल बात है।

(इसी भाँति) जड़ कर्म का उदय है, वह आत्मा की पर्याय को नहीं स्पर्शता। आत्मा में राग हो, क्रोध हो, पर उस पर्याय को कर्म छूता तक नहीं। और कर्म की पर्याय उसे (विकारी) पर्याय को) स्पर्श नहीं करती। और वह विकारी पर्याय कर्म का स्पर्श नहीं करती।

आहाहा ! यहाँ तो इससे आगे ले गये कि : मोक्ष का मार्ग है, जो अपूर्ण मोक्ष-पर्याय - पूर्ण नहीं इस अपेक्षा से - (वह भी कथंचित् भिन्न है)। क्योंकि उसका व्यय हो जायेगा अर्थात् जब मोक्ष होगा तब इस (मोक्षमार्ग की) पर्याय का व्यय होगा। यह

अपेक्षा लेनी है कि, इस पर्याय को अगर सर्वथा अभिन्न कहो तो उस पर्याय का (तो) नाश हो जाता है, तो साथ में द्रव्य का भी नाश हो जाये !

आहाहा ! ऐसी बातें !! बापू ! मार्ग बहुत सूक्ष्म ! इसका अभ्यास चाहिए। आहाहा ! अनादि से चौरासी के अवतार कर-करके भटक के मर गया। वे नरक के - निगोद के दुःख.. बापू ! प्रभु ऐसा कहते हैं कि अरे ! जघन्य स्थिति प्रथम नरक की दस हज़ार वर्ष की है। तेरे नरक के दुःख... मैं कैसे कहूँ ? वह वेदन... उस दुःख की व्याख्या (करने की) ताकत हमारी वाणी में नहीं है। यहाँ ज़रा-सी गरम हवा आये तो ठीक न लगे भाईसाहब को ! और वहाँ तो, ऐसी गरम हवा से, अनंत गुनी गर्मी पहली नरक में है। लुहार के जवान लड़के ने लाख मन (वज़न) के लोहे के गोले को, छह महीने तक पीट-पीटकर मजबूत किया हो, ऐसे लाख मन के गोले को (यदि) वहाँ रखे, तो वह पानी की माफिक पिघल जाये; इतनी तो वहाँ गर्मी है, प्रभु !

जिज्ञासा : आप याद दिलाते हो। हमें तो याद नहीं आता !

समाधान : वह तो कहा था न... वह वादिराज का। वादिराजमुनि भावलिंगी संत। आत्मानुभव में आनंद में केलि करते (थे)। शरीर में कोढ़ आया। राजा ने श्रावक से कहा कि : हम कितने सुंदर और पुण्यवंत हैं ! और तेरे गुरु को तो कोढ़ है। तेरे गुरु कोढ़ी हैं ! (तब) श्रावक ने कहा : अन्नदाता ! मेरे गुरु को कोढ़ नहीं है।

श्रोता : झूठ बोल दिया ?

उत्तर : यह झूठ नहीं है। वह राजा (अपनी) महिमा कर रहा था कि : हमारा शरीर सुंदर है और ऐसा है और वैसा है। इसलिये उसकी महिमा तोड़ डाली। और कहा : दरबार ! शांत रहो। मेरे गुरु को कोढ़ नहीं है। उसने आकर (गुरु से) बात कही (कि) प्रभु ! मैं ने तो बड़े दरबार के पास ऐसा कहा है कि : 'मेरे गुरु को कोढ़ नहीं है।' (परंतु) प्रभु ! कोढ़ तो है। मुनिराज कहते हैं कि : शांति रखो, भाई ! सब ठीक हो जायेगा। जैनशासन का - धर्म का प्रताप है। तुम जैसा बोले हो वैसा होगा। फिर प्रभु की स्तुति करते-करते (मुनिराज ने कहा :) हे नाथ ! मैं पूर्व के दुःखों को याद करता हूँ, पूर्व के दुःख स्मरण में आते हैं। तो छुरियाँ चलती हैं। आयुधों के घाव उठ आते हैं। आत्मा में चोंट लगती है। आहाहा ! मुनिराज भावलिंगी संत हैं। अल्पकाल में मोक्ष जानेवाले हैं। पंचपरमेष्ठी में सम्मिलित हुए हैं। ऐसे संत, नाथ से - प्रभु से कहते हैं : प्रभु ! मैं पूर्व के, नरक के व निगोद के दुःख याद करता हूँ, वे जब स्मृति में आते हैं, तो खयाल (आता) है कि वहाँ कैसे दुःख थे !

आहाहा ! यह तो खयाल भी कहाँ ? कुछ पता तक नहीं है ! जड़ जैसे !

कुछ दो-पाँच-दस करोड़ मिले, तो बस हो गया... ऐसे फूलकर वहाँ घुस गया।

यह तो बड़ा राजा। उससे श्रावक ने कहा कि, `मेरे गुरु को कोढ़ नहीं है।' तू (ऐसा) समझे कि तेरा (राजा का) ऐसा सुंदर शरीर और पूरा निरोगी ! और हमारे गुरु रोगी ! तो (शासन-) भक्ति के प्रेम में (कहा कि) `कोढ़ है ही नहीं।' (वहाँ से आकर) गुरु के पास (जाकर) कहा : प्रभु ! मैं तो ऐसा कहकर आया हूँ। (गुरु ने कहा :) शांति रखो, बापू ! (मुनिराज ने स्तवन में ऐसा कहा :) भगवान ! प्रभु ! जब आप माता के गर्भ में पधारते हो तब नगर के किले सोने के और कँगूरे रतन के हो जाते हैं। नाथ ! तब तो आप पधरामणी (आगमन) माता के पेट में होती है ! प्रभु ! आपने हमारे हृदय में पधरामणी की (है तो) नाथ ! इस शरीर में रोग रह नहीं सकता। आहाहा ! यह तो कुदरती बन गया... हं ! वे इस तरह (स्तुति) करे और (ऐसा) हो ही जाये, ऐसा नहीं। क्योंकि भगवान की प्रार्थना करना यह तो शुभ राग है, तो शुभ राग से रोग मिट जाये क्या ? (- ऐसा नहीं है)। परंतु उस काल में उस (रोग) के मिटने की पर्याय होनेवाली थी ! (मुनिराज ने) प्रभु से कहा : प्रभु जहाँ आप जन्म लेते हो वहाँ सोने के किले और रतन के कँगूरे... नाथ ! उस गाँव की ऐसी शोभा !! प्रभु ! मैं आपका ध्यान करता हूँ, तो आप इस (कोढ़वाले) शरीर में (पधारेंगे) और यह रोग रहेगा ? - ऐसा बोले नहीं। पर हमारा प्रभु यह रहा ! हमारी चीज़ कैसी ? शरीर तो हमारी चीज़ ही नहीं। तो (वह) कैसी हो जायेगी ? - ऐसे प्रार्थना करते-करते वेदन का स्मरण हुआ... प्रभु ! हम तो वर्तमान में थोड़े आनंद का वेदन करते हैं... (और) प्रभु ! आपको तो पूर्ण आनंद का वेदन (है)। लेकिन मेरे पूर्व के भवों के दुःख स्मृति में आते हैं, तो आयुध के घाव उठ आते हैं, प्रभु ! उन दुःखों के स्मरण से (ही इतना दुःख), तो (वह) दुःख कितना ? इसका उन्हें खयाल आया। (परंतु) यहाँ तो (लोगों को) अभी कितना दुःख... उसका खयाल - ख़बर भी नहीं है। नरक में व निगोद में कितना दुःख है ? यह बात कभी विचार में भी नहीं लाया। खयाल में भी नहीं है ! यह तो (मुनिराज को) खयाल में आया है कि - नरक में इतना दुःख !! जैसी स्थिति है वैसी खयाल में आई है। आहाहा ! तो कहा कि : प्रभु जहाँ आपका जन्म होता है, पेट में आते हो वहाँ ऐसा होता है ! प्रभु ! आप जहाँ पधारते हो वहाँ ऐसा होता है ! तो हमने आपको ध्यान में ग्रहण किया... आपको यहाँ (स्वयं में) बिराजमान किया... आप हमारे अंदर आ गये... और प्रभु ! इस शरीर में क्या (कोढ़) रहेगा ? तो फटाक से कोढ़ दूर हो गया। परंतु राजा ने `कोढ़ है' ऐसा कहा था, वह झूठ था ऐसा पुरवार न हो, इसलिये ज़रा (कोढ़ का दाग रहा) कि `बात तो सच्ची थी,' परंतु श्रावक ने भक्ति के

प्रेम से (वैसा) कहा था तो वैसा फल आ गया।

जिज्ञासा : भक्ति के कारण कोढ़ मिट गया ?

समाधान : वैसे तो लाख भक्ति करे तो भी कोढ़ न मिटे ! उसकी मिटने की योग्यता थी। कुछ समझ में आया ?

सीताजी की अग्निपरीक्षा की न...? रामचंद्रजी बोले कि : सीताजी ! आप रावण के पास गई थी, इसलिये लोगों में विरोध हो गया है। हम राज्य में (आपको) रख नहीं सकेंगे। परीक्षा दो। - जलती हुई अग्नि में प्रवेश करो ! फिर आपको घर ले जाऊँगा। हमें राज्य करना है और हमें उसकी व्यवस्था (करने की है)। प्रजा को ऐसा लगे कि, यह स्त्री तो रावण के पास गई थी और अभी (उसे) राम रख रहे हैं ! मुझे अभी राग का भाव है, उस अपेक्षा से कहता हूँ। (अगर) भाव न हो, तो हमें कुछ नहीं है, आहाहा ! सीताजी ने अग्नि की परीक्षा दी। सीताजी ने 'णमो अरिहंताणं... णमो सिद्धाणं...' करके अग्नि में प्रवेश किया। (वहाँ) कुदरतीरूप से एकदम अग्नि पलटकर कमल हो गया ! आहाहा ! वह तो बाहर की चीज़ की (ऐसी ही) स्थिति बननेवाली थी तो बन गई।

आहाहा ! यह एक अँगुली, दूसरी अँगुली का स्पर्श नहीं करती। यह हाथ यहाँ (गाल पर) है वह हाथ गाल का स्पर्श नहीं करता। इस (हाथ) ने गाल का स्पर्श भी नहीं किया। पर का संग देखकर (अज्ञानी) लोगों को भ्रम हो जाता है। लोगों को चीज़ की (वस्तुस्थिति की) खबर नहीं है। कुछ समझ में आता है ? यहाँ तो (ऐसा) कहते हैं कि : पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती।

अरे ! इन सब ने कभी सुना तक नहीं होगा। (अन्यत्र) कहीं यह बात नहीं है। रात्रि में किसी ने पूछा नहीं था ? किसी भाई ने प्रश्न किया। फिर बोले कि 'बात तो सच्ची है।' कहा कि, भगवान ! बात तो सच्ची है, बापू ! तू भगवान है, प्रभु ! तेरी चीज़ तो भगवान स्वरूपी है। वह भगवानस्वरूप, पर्याय में मोक्ष के मार्ग की पर्याय का स्पर्श नहीं करता। आहाहा ! भेदविज्ञान की पराकाष्ठा ! भिन्न करने की पराकाष्ठा !

वहाँ 'अलिंगग्रहण' के २० वें बोल में कहा कि : प्रभु ! हम तो आनंद का वेदन करते हैं। उसमें (इस वेदन का) स्पर्श द्रव्य नहीं करता, छूता नहीं है। प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा (जो सामान्य) द्रव्य; इसके आलिंगन बिना की पर्याय मेरी है। क्या कह दिया यह ? कि : प्रत्यभिज्ञान का कारण जो, ध्रुव चीज़, जो कल थी वह आज है, और आज है वह कल रहेगी - ऐसी त्रिकाली वस्तु, ज्ञायकस्वरूप भगवानआत्मा, उसकी स्वयं की पर्याय में वेदन है; तो उस 'पर्याय का वेदन (है) वही मैं आत्मा हूँ।' मेरी पर्याय के वेदन में मेरा द्रव्य आया नहीं, आता नहीं। आहाहा ! ध्रुव का वेदन कहाँ ? ध्रुव

तो त्रिकाल एकरूप, वज्र के बिंब की माफिक, पूरा चैतन्यबिंब वज्र की माफिक पड़ा है - वह पर्याय में किस प्रकार आये ? पर्याय विसद्दश है; वह (विसद्दश) पर्याय, (सद्दश) द्रव्य में किस तरह आये ?

आहाहा ! ऐसी बात है, बापू ! किसीने तो यह बात पहले सुनी भी नहीं होगी ! ऐसा वीतराग का मार्ग, बापू ! एक परमाणु दूसरे परमाणु का स्पर्श न करे। शरीर की पर्याय आत्मा का स्पर्श न करे। आत्मा ने तीन काल में कभी भी शरीर को छुआ नहीं। आत्मा शरीर में है, ऐसा कहना यह व्यवहार है। आत्मा आत्मा में है, शरीर में नहीं; शरीर को छुआ तक नहीं, स्पर्श तक नहीं किया। आत्मा ने तीन काल में कभी भी जड़-शरीर का स्पर्श ही नहीं किया। अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि : मैं ऐसे भोग भोगता हूँ और शरीर का ऐसे भोग करता हूँ। कुछ समझ में आया ?

यहाँ तो परमात्मा ने कहा, उसे संतलोग कहते हैं। जगत के सामने जाहिर करते हैं। संतलोग तो भगवान के माल की आढ़त करते हैं, आढ़तिया हैं। परमात्मा त्रिलोकीनाथ प्रभु महाविदेह में ऐसा कहते हैं। वह हम तुम्हें सुनाते हैं। (वहाँ) कुंदकुंदाचार्य गये थे। (विदेह से) लौटकर उन्होंने शास्त्र रचना की। परमात्मा का तो यह संदेश है। टीकाकार अमृतचंद्राचार्य, जयसेनाचार्य भी ऐसे मिल गये ! अमृतचंद्राचार्य की टीका बहुत गंभीर है।

वहाँ 'प्रवचनसार' की टीका में तो यह कह दिया कि : पर्याय का स्पर्श आत्मा करता नहीं। (पर्याय) कथंचित् नहीं (किन्तु) सर्वथा भिन्न (है)। यह बात किस अपेक्षा से चली है (यह लक्ष में रखना चाहिए)। द्रव्य का पर्याय स्पर्श नहीं करती। पर्याय स्वतंत्र होती है, द्रव्यमें से आती है, परंतु (जो) आती है वह स्वतंत्ररूप से आती है। बहुत सूक्ष्म बात !

द्रव्य जो है वह परिपूर्ण एकरूप है। पर्याय अगर वास्तव में उसमें से आये तो पर्याय एक-सी आनी चाहिए। (परंतु) एकसरीखी (पर्याय) तो आती नहीं है। तो इसका अर्थ यह (कि) पर्याय स्वतंत्र आती है। आहाहा ! आज का विषय ज़रा सूक्ष्म है।

(शिक्षण-शिबिर को) आज तो पंद्रह दिन हो गये। अभी चार दिन (बाकी) हैं। पाँचवाँ दिन तो बेन का (पूज्य चंपाबहिन का) जन्मदिन है।

जिज्ञासा : आप दोनों बात (-कथंचित् भिन्न और सर्वथा भिन्न) करते हो !

समाधान : दोनों बातें (अपनी-अपनी) अपेक्षा से सच्ची हैं। यह मोक्षमार्ग की पर्याय है। और सामान्य बात की, तो सामान्य पर्याय त्रिकाली समुच्चय है। एक ही बात है। कुछ समझ में आता है ? एक आचार्य ऐसा कहते हैं कि : '(द्रव्य) पर्याय को बिल्कुल

नहीं स्पर्शता।' और ये (जयसेनाचार्य) ऐसा कहते हैं कि : पर्याय कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है। अर्थात् पर से भिन्न और स्वयं से अभिन्न है, ऐसा (यहाँ) बताना है। पर से भिन्न है और राग से भी भिन्न है। राग से तो भिन्न है तो स्वयं से अभिन्न है, ऐसा कथंचित् बताना है। और 'कथंचित् भिन्न है' ऐसा जो कहा (है वह) यथार्थ है। जिस अपेक्षा से कहा, उस अपेक्षा से यथार्थ है। समझ में आया ?

'**चिद्‌विलास**' में ऐसा लिया है : अनेकबार बाहर आ चुका है। पर्याय(रूप से) गुण परिणमन करते हैं, तब गुणपरिणति (ऐसा) नाम पाते हैं। अतः गुण कारण है और पर्याय कार्य है। इतनी बात पहले ली। फिर (कहा :) 'पर्याय का कारण पर्याय ही है।' पर्याय, जो उत्पन्न होती है (उसमें) कारणकार्य - पर्याय कारण और पर्याय कार्य। द्रव्य कारण और पर्याय कार्य - ऐसा नहीं। कुछ समझ में आता है ?

इसमें (बाहर में) कुछ मिलनेवाला नहीं है। पैसे मिल जाये करोड़ों। (पर) वे मिले कहाँ हैं ? 'मेरे हैं' ऐसा मान लिया है। वह तो जगत की धूल है। जगत का पदार्थ है। वह तेरा कहाँ से हो गया ? लक्ष्मी का तो आत्मा कभी भी स्पर्श नहीं करता। शरीर को (आत्मा) स्पर्शता नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि : पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती क्योंकि, पर्याय का कारण पर्याय और पर्याय का कार्य पर्याय। 'पर्याय का कारण पर्याय ही है' - ऐसा शब्द है ('चिद्‌विलास') - दीपचंदजी कासलीवाल। आहाहा ! पर्याय का कारण पर तो नहीं, परंतु पर्याय का कारण स्वद्रव्य भी नहीं। आहाहा ! थोड़ा यह आया। (कि:) पर्याय का कारण पर्याय है, पर्याय ही है - ऐसा लिया है। - एकांत ? हाँ, मगर सम्यक् एकांत। (क्योंकि :) 'अनेकांतिक मार्ग भी सम्यक् एकांत निजपद की प्राप्ति कराने के सिवाय दूसरे किसी अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।' ('-श्रीमद् राजचंद्र' / पत्रांक-७०२) सम्यक् एकांत अंदर है ध्रुव, वह कथंचित् ध्रुव और कथंचित् अध्रुव है, ऐसा नहीं। ध्रुव सर्वथा ध्रुव है और अनित्य सर्वथा अनित्य है। दो हैं : पर्याय अनित्य है, द्रव्य ध्रुव है। अनित्य सर्वथा अनित्य है। वह कथंचित् नित्य है ? (- नहीं, ऐसा नहीं है !) वहाँ सर्वथा (नित्य) ले लिया। (फिर भी) पूरे (- प्रमाण के विषयभूत) द्रव्य की अपेक्षा से कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य (है)। परंतु एक नित्य को लो और एक अनित्य को लो; तो द्रव्यार्थिक (नय से) नित्य है और पर्यायर्थिक (नय से) पर्याय सर्वथा अनित्य है। आहाहा !

पुनश्च, एक (बात) याद आ गई... लो ! 'कारण पर्याय'। (यहाँ पर) यह पर्याय तो व्यक्त की - उत्पादव्यय पर्याय की बात चल रही है। उत्पाद-व्यय की पर्याय, पर्याय से उत्पन्न होगी। और जो कारणपर्याय है वह, जो त्रिकाली ध्रुव है उसमें ऊपर-ऊपर

(है), लेकिन है ध्रुव। सामान्य का विशेष। पर है ध्रुव। (इसका) उत्पाद-व्यय नहीं है। ऐसी कारणपर्याय ध्रुव है। यह आत्मा में अनादि-अनंत है। इस कारण पर्याय को तो द्रव्य स्पर्शता है। वह द्रव्य से अभिन्न है। वह `कारणपर्याय' है।

अरे...रे ! कभी सुना भी न हो। `क्रमबद्धपर्याय' और `कारणपर्याय' - (ये) दोनों यहाँ से, हिन्दुस्तान में (प्रचलित) नहीं थी - ऐसी बात, निकली थी। `क्रमबद्धपर्याय' - जिस समय पर जो होनेवाली (होगी वह) होगी, किसीकी आगे-पीछे नहीं होगी। और `कारणपर्याय' - जो आत्मा त्रिकाली ध्रुव है, उसकी पर्याय जो कारण (है वह) ध्रुव (है)। उसमें उत्पाद-व्यय नहीं है। (यहाँ) इस `मोक्षमार्ग की पर्याय' (की जो बात) चलती है, वह तो उत्पाद-व्ययवाली है। (उसे) कथंचित् भिन्न कही। ऐसा तो उत्पाद-व्ययवाली को कहा। पर वह जो `कारण पर्याय' है, वह कथंचित् भिन्न नहीं है, सर्वथा अभिन्न है। अरे...रे ! आज का विषय ज़रा सूक्ष्म आया है... लोग सुने तो सही !

जिज्ञासा : कार्य होने की त्रिकाल योग्यता (किस तरह से ?)

समाधान : कहा न...! स्वयं की पर्याय से पर्याय होती है। कार्य कहो या पर्याय। पर्याय अपने से ही होती है - द्रव्य से नहीं, गुण से नहीं और पर से नहीं। कुछ समझ में आता है ? `कारणपर्याय' (है) वह उत्पाद-व्ययवाली नहीं है। वह ध्रुव है, वह पर्याय ध्रुव है !

जिज्ञासा : पर्याय ध्रुव ?

समाधान : ध्रुव ! उत्पाद-व्यय बिना की (वह कारणपर्याय ध्रुव)। यहाँ तो (`नियमसार' में) कहते हैं कि : कारणपर्याय है, वह उत्पाद-व्यय बिना की है। किस प्रकार ? कि : धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, ये (जो) पदार्थ हैं, उनकी सब पर्याय एक-सी हैं। पारिणामिक की (माफिक) एक-सी । द्रव्य त्रिकाली - ध्रुव त्रिकाली; और पर्याय एकरूप - सदृश है; कम-विपरीत - ऐसा कुछ इसमें नहीं है। तो ऐसी पर्याय और गुण-द्रव्य मिलकर द्रव्य बना। आत्मद्रव्य की यह पर्याय जो संसार की है, वह विकारी है। और विकार का (आंशिक) नाश होकर मोक्षमार्ग की पर्याय अपूर्ण पवित्र है और मोक्ष में पूर्ण पवित्र है। (तो इस तरह इसमें) भेद हो गया। (परंतु) धर्मास्तिकाय में तो पर्याय एकरूप - त्रिकाली है। तो इसमें (आत्मद्रव्य में भी) एकरूप (पर्याय) त्रिकाली होनी चाहिए कि नहीं ? आहाहा ! ज़रा (सूक्ष्म विषय है)। समझ में न आये तो रात्रि में (चर्चा में) पूछना; संकोच मत करना। कोई भी पूछ सकता है, बापू ! यह तो भगवान (के घर की बात है)।

यहाँ कहते हैं कि : आत्मा में जो ध्रुवता त्रिकाल है, उसके साथ एक पर्याय भी त्रिकाली-ध्रुव है, उस पर्याय से द्रव्य अभिन्न है। परंतु यह जो उत्पाद-व्यय(रूप) मोक्षमार्ग

की पर्याय है, उससे द्रव्य कथंचित् भिन्न (है, ऐसा) यहाँ कहा। और `अलिंगग्रहण' में (कहा कि :) (पर्याय) सर्वथा भिन्न है, (द्रव्य को) स्पर्शती नहीं। आहाहा..हा ! कुछ समझ में आया ?

भाई ! प्रभु का मार्ग !! यह तो हीरे की खाने खोलनी हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग ने जो देखा और कहा वह अलौकिक चीज़ है। बेचारे साधारण लोगों को तो (यह बात) कान तक भी नहीं पहुँचती। जैन नाम धारण करके बैठे हो (फिर भी) कान में भी नहीं पड़ती। अर..र..र !

कहते हैं कि : `कारणपर्याय' त्रिकाली-ध्रुव है।' और `क्रमबद्धपर्याय' उत्पाद-व्ययवाली है,' (फिर भी) जिस समय उत्पन्न होनेवाली होगी, उस समय पर ही उत्पन्न होगी, आगे-पीछे नहीं। तीर्थंकर भी अपनी पर्याय को आगे-पीछे नहीं कर सकते। जो पर्याय उत्पाद-व्ययवाली है, वह पर्याय द्रव्य से कथंचित् भिन्न है, इतना यहाँ कहना है। और यहाँ (`चिद्विलास' में) ऐसा कहा कि : `पर्याय का कारण पर्याय ही है। गुण के बिना ही (अर्थात् गुण की अपेक्षा के बिना ही) पर्याय की सत्ता पर्याय का कारण है।' क्या कहा ? (कि:) पर्याय जो है, वह गुण के बिना पर्याय की सत्ता स्वतंत्र है। (यानी कि) पर्याय की सत्ता, गुण के बिना, पर्याय का कारण है। अर्थात् गुण कारण और पर्याय कार्य - ऐसा नहीं। गुण की सत्ता व पर्याय की सत्ता बिलकुल भिन्न है !

अर...र ! ऐसी बातें !! (शिक्षण शिबिर में आये हुए लोग) अब थोड़ा-थोड़ा नमूना तो ले जाएँ ! कि वीतराग मार्ग क्या है ? (ये लोग) कहाँ-कहाँ से आये हैं, अपने घर की सुविधा छोड़कर। एक भाई कहते थे न... कि यह (तत्त्व समझने की) सुविधा है ! (उसकी) बात सही है।

(यहाँ कहा :) बिना गुण के ही पर्याय का कारण पर्याय है। पर्याय का सूक्ष्मत्व, पर्याय का कारण है; द्रव्य-गुण नहीं। अर्थात् पर्याय का सूक्ष्मत्व, पर्याय का कारण (है); द्रव्य का सूक्ष्मत्व कारण नहीं है। पर्याय का वीर्य, पर्याय का कारण है। पर्याय में वीर्य है, शक्ति है, वह वीर्यशक्ति पर्याय का कारण है। पर्याय का वह वीर्य, पर्याय का कारण है। यह `चिद्विलास' दीपचंदजी कृत है। दीपचंदजी अनुभवी हैं !

`(अध्यात्म) पंचसंग्रह' में दीपचंदजी तो ऐसा कह गये कि : अरे...रे ! मैं दुनिया को देखता हूँ तो (लोगों में) आगम की श्रद्धा दिख नहीं रही। भले (बाहर से) साधु दिखें, परंतु आगम की श्रद्धा का ठिकाना नहीं है। मैं अगर मुँह से कहने जाता हूँ, तो सुनते नहीं हैं, (अतः) मैं लिख जाता हूँ। उस काल में भी आगम की यथार्थ श्रद्धावाले नहीं मिले।

आहाहा ! यहाँ कहते हैं : पर्याय का वीर्य, पर्याय का कारण है। पर्याय का प्रदेशत्व, पर्याय का कारण है। जीव के प्रदेश ध्रुव हैं, यह (बात यहाँ) नहीं है। पर्याय का जो प्रदेश है वह (पर्याय के) प्रदेश का कारण है। कुछ समझ में आता है ? बाद में तो लिया है कि : अथवा उत्पाद-व्यय कारण है और पर्याय कार्य है। अतः वह पर्याय का कारण है और पर्याय उसका कार्य है। परंतु वही का वही है।

यहाँ कहा कि : वह पर्याय शुद्धपारिणामिकलक्षण शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है। किस वज़ह से ? - भावनारूप होने से। वह कोई त्रिकाली द्रव्य नहीं है। (अतः) मोक्षमार्ग की पर्याय भावनारूप होने से (वह शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है)। विशेष कहेंगे....

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-८ ता. ५-८-१९७९

'समयसार' ३२० - गाथा में विषय सूक्ष्म है। यहाँ तो निश्चय-अधिकार चल रहा है। लेकिन निश्चय-अधिकार में व्यवहार चाहे जैसा हो, ऐसी बात नहीं है। निश्चय से तो भगवान का विनय करना, वह भी शुभभाव (है)। यह पुस्तक (शास्त्रजी) है; (उसे) नीचे नहीं रखते, उससे हवा न की जाए, उसका सहारा न लिया जाए, उसके ऊपर हाथ रखकर यों... न किया जाए। अकेला निश्चय करने जाए वहाँ व्यवहार भूल जाए, वह तो अज्ञान है।

स्थानकवासी में (तो) 'शास्त्र का विनय' ऐसा कोई व्यवहार नहीं है। राजकोट में एक स्थानकवासी साधु थे, वे तो शास्त्र को सिर के नीचे रखकर सो जाए ! भाई ! ऐसा नहीं चलता। यह तो भगवान की वाणी है। उनकी वाणी (के प्रति) विवेक चाहिए।

निश्चय एकदम चले इसलिये 'यह व्यवहार' भूल जाएँ, ऐसा नहीं। वास्तव में तो सभा में, व्याख्यान सुनने में, पैर के ऊपर पैर रखना नहीं, हवा खानी नहीं - ऐसा करने से तो सत् की अशातना होती है। तीन लोक के नाथ की वाणी सुनने के लिए (समोवसरण में) इन्द्र आए (वे)... ऐसे पिल्ले की भाँति बैठे... शांत... शांत। बापू ! यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी है। यहाँ निश्चय की बात चल रही है, तो व्यवहार को भूल जाना, ऐसा (विनय-विवेक रूप) व्यवहार करना ही नहीं, ऐसा नहीं है। भाई ! क्या कहें ? यह तो तीन लोक के नाथ की वाणी है ! ऐसा नहीं समझना कि यह (मात्र) पन्ना है।

उसका विनय चाहिए, बहुमान चाहिए। वह है शुभ विकल्प; मगर यह न हो और अशातना करे तो मिथ्यात्व लगे। यहाँ अपनी निश्चय से बात चलती (है) तो व्यवहार सारा भूल जाएँ, ऐसा न हो ! पन्ना (है वह) शास्त्र है। उसे घोड़ी पर रखें। घोड़ी न हो तो... इस तरह हाथ पर रखो। पर उस पर हाथ... यूँ नहीं रखना, सहारा न लें। अभी तो जहाँ व्यवहार का ठिकाना नहीं... भाई ! यहाँ तो ऐसा नहीं चलेगा ! यहाँ तो प्रभु ! निश्चय का अधिकार चल रहा है। उसके बिना कल्याण नहीं है। परंतु (ऐसा होते हुए भी) बीच में भगवान का विनय, शास्त्र का आदर-विनय(रूप) व्यवहार नहीं होता, ऐसा नहीं। बापू ! यह मार्ग कोई निराला है।

अपना यहाँ (तक) आया है। आहाहा ! यह जो आत्मा (है), वह शुद्धस्वरूप भगवान (पूर्ण प्रभु है)। वह तो कल कहा था न...! 'प्रभु मेरे ! तुम सब बातें पूरा... प्रभु मेरे तू सब बातें पूरा; पर की आश कहाँ करे प्रीतम !...' पर की आश कहाँ करे प्रीतम !...' ए किन बातें अधूरा।' आहाहा ! निश्चय वस्तु तो यह है। 'प्रभु मेरे ! तुम सब बातें पूरा।' - गुण से पूरा। द्रव्य से पूरा। वास्तव में तो पर्याय प्रगट करने में भी पूरी ताकतवाला है। आहाहा ! ऐसा भगवानआत्मा ! 'पर की आश कहाँ करे प्रीतम !' अपनी चीज़ को छोड़कर, परचीज़में से मुझे लाभ होगा - ऐसा, प्रीतम - प्रिय नाथ ! तुझे यह शोभा नहीं देता। 'पर की आश कहाँ करे प्रीतम ! ए किण बातें अधूरा !' प्रभु ! तुम किस बात में अधूरे हो ? ज्ञान में कुछ अधूरा है, दर्शन में अधूरा है, आनंद में अधूरा है ? आहाहा ! पूर्णानंद पूर्ण पड़ा है !

यहाँ बाहर की धूल (पैसे) की तो बात ही नहीं है। पैसा-धूल और शरीर व कुटुंब; ये तो सब परचीज़ हैं। (पर) तेरी पर्याय में यह (जो) राग होता है, वह भी तेरी चीज़ नहीं है। यहाँ तो फिर यह बात लेंगे कि जो शुद्ध चैतन्य प्रभु, पूर्ण परमात्मस्वरूप (ऐसे द्रव्य से निर्मल पर्याय भी कथंचित् भिन्न है)। आहाहा !

अरे ! सुनने का ऐसा अवसर मिला, प्रभु ! तो वह (तेरी) चीज़ अंदर क्या है ? (कि :) पूर्णानंद का नाथ (है)। उसके सन्मुख का अभिप्राय, उसके सन्मुख के परिणाम, इसे 'शुद्धोपयोग' कहते हैं। उसे मोक्ष का मार्ग कहते हैं। उसे निर्मल पर्याय आदि कहने में आता है।

आहाहा ! भाई ! यहाँ तो मोक्ष के मार्ग की बात है, नाथ ! यह कोई (शुभभाव से) लाभ होवे और... उससे स्वर्ग मिलेगा और फिर यह मिलेगा और... धूल मिलेगी (ऐसी बात नहीं है)।

आहाहा ! यहाँ तो कहते हैं कि : '**शुद्धात्माभिमुख परिणाम**' अर्थात् प्रभु पूर्ण शुद्ध

वस्तु, परमात्मस्वरूपअभिमुख परिणाम; अभि अर्थात् सन्मुख होकर होनेवाले परिणाम; उसे निर्मल पर्याय, अर्थात् मोक्ष का मार्ग कहने में आता है। दया, दान, व्रत आदि के परिणाम, भक्ति, पूजा, मंदिर बनाना - ये सारे शुभ भाव हैं; बंध का कारण है; ज़हर है। और ये तो अमृत के प्याले पीये हैं; अर्थात् जिसने शुद्धात्माभिमुख परिणाम किये यानी कि जिसने निर्विकल्प चैतन्यघन भगवान के सन्मुख परिणाम किये, उसने तो निर्विकल्प अमृत पी लिया। आहाहा ! उस निर्विकल्प अमृत को यहाँ `शुद्धोपयोग' कहते हैं। भगवान (आत्मा) पूर्णानंद से भरा हुआ है। उसके सामने किसी चीज़ की कीमत नहीं है। इसके (निजपरमात्मा के) सामने, (आश्रय अपेक्षा से), साक्षात् त्रिलोकीनाथ की भी कीमत नहीं है। उनकी कीमत उनके पास रही; क्योंकि वे तो व्यवहार - परद्रव्य हैं।

यहाँ कहते हैं कि : आत्मा महाप्रभु, चैतन्यचमत्कार की शक्ति से भरा पड़ा प्रभु (है)। उसके सन्मुख परिणाम करने और निमित्त व राग से विमुख होकर, पर्याय का झुकाव जो पर की ओर है उसे स्व की ओर करना; यह परिणाम मोक्ष का मार्ग है; यह धर्म है; यह पर्याय है। अर्थात् शुद्धद्रव्य जो त्रिकाली है; उसके सन्मुख के परिणाम वह पर्याय है; वह द्रव्य नहीं है; वह पर नहीं है; (वह) स्व की पर्याय है। `वह पर्याय' ऐसा कहा न...! कौन-सी `पर्याय' ? (कि:) भगवान पूर्णानंद के नाथ के सन्मुख की जो दशा `वह पर्याय'। इसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र। जब त्रिकाली ज्ञायकभाव के सन्मुख परिणाम (हुए, तो) उसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र, शुद्धोपयोग और शुद्धात्माभिमुख परिणाम (कहने में आते हैं)।

आहाहा ! भगवंत ! तेरी चीज़ की क्या महिमा !! आहाहा ! अलौकिक चैतन्य हीरा अंदर पड़ा है। जिसमें अनंत गुण के पासे - पहलू पड़े हैं। जिस प्रकार हीरे के पासे - पहलू होते हैं, उस प्रकार भगवानआत्मा में अनंत पहलू - अनंत ज्ञान आदि अनंत पहलू पड़े हुए हैं। ऐसा चैतन्य भगवान ! उसका आदर करना, श्रद्धा में स्वीकार करना, ज्ञान में ज्ञेयरूप जानना, फिर चारित्र में स्थिर करना।

आहाहा ! ऐसा (वस्तु-स्वरूप) है, प्रभु ! क्या करें ? अरे...रे ! यहाँ तो (लोग) जहाँ ज़रा पहिनाव में फर्क करे, एकाध - दो पाँच दस प्रतिमा धारण करे, वहाँ जैसे कि हम त्यागी हो गये ! अरे प्रभु ! तीन लोक का नाथ (भगवानआत्मा); उसके सामने देखकर जब तक सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया; तब तक (ये) सब झूठ हैं, सब संसार है।

यहाँ तो कहते हैं कि : `वह पर्याय' (शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है)। शुद्धपारिणामिक-भावलक्षण शुद्धात्मद्रव्य, अखंडानंद प्रभु, अंदर पूर्ण स्वरूप, परमात्मा जो (हैं; उस) शुद्धात्मद्रव्य

का लक्षण क्या ? शुद्धात्मद्रव्य `लक्ष्य' है, (तो उसका) `लक्षण' क्या ? कि : शुद्धपारिणामिकभावलक्षण। शुद्ध सहज भाव त्रिकाल; उसका लक्षण है।

आहाहा ! ऐसी बातें हैं !! भगवान अंदर बिराजमान हैं। अरे ! उसकी महिमा करे नहीं। और पुण्य-पाप के परिणाम, बाहर के फल-धूल (-पैसा, अनुकूलता) आदि की महिमा करे ! (- इसमें तो) प्रभु ! तेरी हत्या हो रही है। तुने अपने जीवन को तो मृत्युतुल्य कर डाला ! `कलश-टीका' श्लोक - २८ में है। अरे ! प्रभु ऐसा कहते हैं : तू पूर्णानंद का नाथ प्रभु अंदर है। परंतु कर्मसंयोग से आच्छादित होने से, यानि कि `राग मेरा है, विकल्प मेरा है, दया-दान का विकल्प मेरा है' ऐसे भावों से, `तू' ढक गया है। प्रभु ! ऐसे भावों से ढका होने के कारण मरण को प्राप्त हो रहा था। आहाहा ! `मरण को प्राप्त' अर्थात् जैसे कि वह चीज़ (आत्मा) जगत में है ही नहीं। राग को (अपनी) चीज़ मानकर, `यह ही मैं' ऐसा मानकर, भगवानआत्मा मरणतुल्य हो रहा था। आहाहा ! `राग और पुण्य के ये फल मेरे हैं, और पुण्य करते हुए मुझे लाभ होगा' ऐसी दृष्टिवश, तेरे चैतन्यचमत्कार ज्योति भगवान परमपारिणामिकस्वभावभाव शुद्धात्मद्रव्य का मरण हो गया, मरणतुल्य (हो गया)। वैसे तो वह (शुद्धात्मद्रव्य) तो (शाश्वत) वस्तु है; परंतु दृष्टि में उसका अनादर और पर का आदर आया तो, वह चीज़, उसकी दृष्टि में तो है ही नहीं; (अतः वह) मृत्यु को प्राप्त हो रही थी। यह भ्रांति, परम गुरु श्री तीर्थंकर का उपदेश सुनने पर मिटती है। आहाह ! तीन लोक के नाथ तीर्थंकर परमात्मा की यह वाणी है, इस वाणी से भ्रांति नष्ट होती है; अन्य कोई उपाय नहीं है।

(यहाँ कहते हैं :) `वह पर्याय' - मोक्षमार्ग की पर्याय - शुद्धपारिणामिक(भाव)लक्षण शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है। किस कारण से भिन्न है ? (कि :) भगवान चैतन्यधातु, परमानंदमूर्ति प्रभु ! शुद्धात्मद्रव्य - पदार्थ (है); उसकी पर्याय, जो मोक्ष के मार्ग की है `वह पर्याय' कथंचित् भिन्न है। `वह (पर्याय)' त्रिकाली में अभेद नहीं है। वह त्रिकाली चीज़ में अभिन्न नहीं है, भिन्न है। आहाहा ! शरीर भिन्न; कर्म भिन्न; राग भिन्न; - ये तो स्थूल (रूप से) भिन्न (है) परंतु अंदर जो मोक्ष का मार्ग - आत्मा के अवलंबन से प्रगट हुआ - `वह पर्याय' (भी) कथंचित् भिन्न है ! क्यों ? किस कारण से ? कारण क्या ? कि : **`भावनारूप होने से।'** क्या कहते हैं ? (कि:) वह पर्याय `भावना' है।

`भावना' अर्थात् विकल्प नहीं। भावना शब्द है वह चिंत्वन का विकल्प नहीं है। `भावना' अर्थात् जो त्रिकाली द्रव्य, त्रिकाली भाव है; उसके प्रति की `एकाग्रता'। इस निर्विकल्प - वीतरागी पर्याय को `भावना' कहने में आती है।

`तत्त्वार्थसूत्र' संवर अधिकार में अनित्य आदि बारह भावना आती हैं। ये (भावना)

भी अगर विकल्पपूर्वक करे, तो वह संवर नहीं है। संवर अधिकार में अनित्य आदि बारह भावनाओं को संवर के भेद गिने हैं।

(यहाँ तो) अंदर जो शुद्धस्वरूप द्रव्य (है) उस तरफ के झुकाव से, जो पर्याय उत्पन्न हुई, उस पर्याय को 'भावना' कहते हैं। 'भावना' अर्थात् चिंत्वन और विकल्प कि : 'मेरा द्रव्य मिले तो ठीक,' यह नहीं।

यहाँ पर तो, इस वस्तु पूर्णानंद के नाथ प्रति की अंदर में वीतरागभाव से एकाग्रता; उस वीतरागस्वरूप में एकाग्रता; वीतरागस्वरूप भगवानआत्मा, त्रिकाली वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा में, वीतरागभाव से एकाग्रता होना; - इस भावना को - नित्य से (त्रिकाल द्रव्य से) कथंचित् भिन्न कहने में आई है। बातें तो ऐसी हैं, बापू ! क्या करें ?

'(**कथंचित् भिन्न है। किस कारण से ?) भावनारूप होने से।**' त्रिकाली भाव जो ज्ञायकभाव (है), उसकी तो यह भावना है। उस (ज्ञायकभाव) तरफ़ के झुकाव के परिणाम हैं। यह कायमी चीज़ नहीं है। यह परिणाम अनित्य है। नित्य के अवलंबन से हुए किन्तु वे परिणाम अनित्य हैं।

(ये परिणाम) त्रिकाली से कथंचित् भिन्न किस कारण से ? कि : वे '**भावनारूप होने से।**' आहाहा ! 'शुद्धपारिणामिक (भाव तो) भावनारूप नहीं है।' आहाहा ! भगवंत ! तेरा स्वरूप जो पूर्ण स्वरूप, शुद्धपारिणामिक स्वभावभाव, त्रिकाल निरावरण, त्रिकाल अखंड, एकस्वरूप, ऐसा शुद्धपारिणामिकभाव, (वह) भावनारूप नहीं है। अर्थात् वह शुद्धपारिणामिकभाव 'भावनारूप' नहीं है। शुद्धपारिणामिकभाव उस 'पर्यायरूप' नहीं है। आहाहा ! भगवान शुद्धपारिणामिकभाव, जो सम्यग्दर्शन का विषय है; उसकी अंतर में एकाग्रता करके (जो) सम्यग्दर्शन आदि हुआ, वह 'पर्याय' है। आहाहा ! शुद्धपारिणामिकभाव 'भावनारूप' नहीं है। 'भावना' तो पर्यायरूप है। शुद्ध द्रव्य (है) वह पारिणामिक (भाव) है; वह 'भावनारूप' नहीं है।

आहाहा ! ऐसी बातें हैं, बापू ! अरे..रे ! चौरासी के अवतार से छूटने का पंथ... प्रभु ! 'यह' है। ऐसा पंथ है प्रभु !

भगवानआत्मा चैतन्यरत्नाकर - चैतन्य के रत्नों का आकर अर्थात् समंदर है, समुद्र है। भगवान चैतन्य के चैतन्यरत्न - चैतन्य, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, शांति, स्वच्छता, विभुता, प्रभुता इत्यादि ऐसे अनंत चैतन्यरत्नों का रत्नाकर - दरिया - समुद्र है ! आखिरी स्वयंभूरमण समुद्र असंख्यातवाँ है; जिसमें नीचे (तल में) वेणु (रेत) नहीं है। रेत की ज़गह अनादि से केवल रतन भरे हैं। वे तो असंख्य होते हैं, क्योंकि (समुद्र) असंख्य योजन का है। (पर) इस स्वयंभू भगवान में केवल चैतन्यरत्नाकर अनंत भरे हैं। इस प्रभु में तो अनंत

रत्न भरे हैं। आहाहा ! आनंद, ज्ञान, शांति, स्वच्छता आदि अनंत रत्नों से भरा भगवान; वह 'भावनारूप' नहीं है। मोक्षमार्ग की पर्याय हुई वह पर्यायरूप (है), वह शुद्धपारिणामिकभाव (रूप) नहीं है। आहाहा ! भेदज्ञान की यह पराकाष्ठा !

रात्रि में किसीने प्रश्न किया था : लब्ध अपर्याप्त के बारे में। वह विषय जानकारी का (है)। 'लब्ध अपर्याप्त' किसे कहते हैं ? कि : अपर्याप्त होकर, पर्याप्त नहीं होनेवाला और अपर्याप्त होकर अपर्याप्त मरनेवाला है, वह 'लब्धअपर्याप्त' कहने में आता है। और अपर्याप्त होकर पर्याप्त होता है, वह 'लब्धपर्याप्त', अपर्याप्त नहीं। क्योंकि, पहले तो अपर्याप्त होता है, अर्थात् जब कोई प्राणी माता के पेट में आता है, तब जन्म लेता है, इससे पूर्व तो अपर्याप्त ही होता है; पर वह अपर्याप्त, पर्याप्त होनेवाला है।

यहाँ कहते हैं कि : यह जो 'भावना' है, वह शुद्धपारिणामिकभाव नहीं है; परंतु वह 'भावना' पूर्ण होनेवाली है। यह तो 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में आया है न...! ज्ञान के क्षयोपशम का जो अंश है; वह बढ़कर केवलज्ञान को प्राप्त होगा। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

यहाँ कहते हैं कि : जो मोक्षमार्ग की पर्याय, त्रिकाली के अवलंबन से हुई, वह शुद्धपारिणामिकभाव में नहीं है। और वह शुद्धपारिणामिकभाव पर्याय में नहीं है। वह शुद्धपारिणामिक(भाव तो) भावनारूप नहीं है। प्रभु ! वह पर्याय, शुद्धपारिणामिकभावरूप नहीं है; वह तो एक समय की पर्यायरूप है। '**यदि वह पर्याय, एकांतरूप से शुद्ध पारिणामिकभाव से अभिन्न हो;**' अर्थात् वह मोक्षमार्ग की पर्याय - पारिणामिकभाव-त्रिकाली (की) एकाग्रता, उस-रूप 'भावना' - यदि पारिणामिकभाव के साथ अभिन्न हो; तो (मोक्ष होने पर) उस (मोक्षमार्ग की) पर्याय का नाश हो जायेगा, तो अविनाशी का भी नाश हो जायेगा। कुछ समझ में आता है ?

भाई ! यह सूक्ष्म विषय है, प्रभु ! कब सुनने को मिले, बापू ! 'यह', भगवान ! आहाहा ! आचार्य तो भगवान कहकर बुलाते हैं... प्रभु ! तू (तो) भगवान है। तेरा पूर्ण (स्वरूप) भगवतस्वरूप है; जिसकी तुझे ख़बर नहीं है ! तेरी दृष्टि-दशा-लोचन बाहर घूम रहे हैं। ये लोचन अंतर में गये नहीं - ज्ञान के लोचन अंतर में गये नहीं। जिसको देखना है उसे देखा नहीं। ये लोचन बाहर का देखने में रुक गये ! आहाहा !

'समयसार' १७-गाथा में आया न...! कि : अज्ञानी की पर्याय में भी द्रव्य जानने में आता है, आत्मा जानने में आता है। सूक्ष्म (बात) है, भगवान ! यह जो ज्ञान की पर्याय है, अज्ञानी की भी हं...! - अरे ! सभी जीवों की पर्याय - जो ज्ञान की है; (परमात्मा के सिवाय, (क्योंकि) वह (पर्याय) तो पूर्ण हो गई); इसमें आत्मा-द्रव्य ही जानने में आता

है; क्योंकि ज्ञान की एक समय की पर्याय का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है।

प्रभु ! ये तो अलौकिक बातें हैं, बापू ! क्या कहें ? कहाँ बात करें ? आहाहा ! श्रीमद्जी एक बार ऐसा कहते थे : 'अरे...रे ! यह हमारा नाद कौन सुनेगा ?' (उस समय में ऐसी बात सुननेवाले) नहीं थे। नहीं थे... यह बात सच है। अब लोग सुनते हैं। लाखों (लोग) सोच में पड़ गये हैं कि 'ये (जो) कहते हैं, वह कोई अनोखी चीज़ है।'

आहाहा ! प्रभु ! यहाँ कहते हैं कि : वह पर्याय अपने त्रिकाली भगवान से कथंचित् भिन्न क्यों ? (कि:) वह भावनारूप है। वह त्रिकाली वस्तु नहीं है। वर्तमान एकाग्रतारूप दशा भावनारूप है, वीतराग पर्यायरूप है। और त्रिकाली भगवान, वीतराग त्रिकाली स्वरूप है, उसकी दृष्टि व उसकी एकाग्रता, वह वीतराग पर्याय है। वीतरागपर्याय है वह त्रिकाली वीतरागस्वरूप से भिन्न है।

शुद्धपारिणामिकभाव तो भावनारूप नहीं है। यदि वह (पर्याय) एकांतरूप से शुद्धपारिणामिक से अभिन्न हो; अर्थात् भगवान पूर्णानंद के नाथ की भावना (अर्थात्) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (रूप) जो परिणाम, (यदि) त्रिकाली द्रव्य से अभिन्न हो; अर्थात् जिस प्रकार त्रिकाली अविनाशी है, उस प्रकार वह पर्याय (यदि) त्रिकाली से अभिन्न हो; '**तो मोक्ष का प्रसंग बननेपर**'- मोक्ष का प्रसंग आनेपर, ('**इस भावनारूप मोक्षकारणभूत (पर्याय) का विनाश (व्यय) होने पर,**' त्रिकाली-अविनाशी द्रव्य भी विनाश को प्राप्त होवे)।'

आहाहा ! मोक्ष का प्रसंग बननेपर... और मोक्ष का प्रसंग आयेगा ही। आहाहा ! जिसने भगवानआत्मा - पूर्णानंद के नाथ की एकाग्रतारूप भावना प्रगट करी, उसे अल्पकाल में मोक्ष-पर्याय प्राप्त होगी... होगी और होगी ही। आहाहा ! दूज उगी वह पूनम को पूर्ण होगी... होगी और होगी ही। वह गिरेगी नहीं। तीज, चौथ करते-करते पूनम को पूर्ण हो जायेगी।

यहाँ तो और ही कहना है। मोक्ष आने पर, उस (मोक्षमार्ग की) पर्याय का नाश (व्यय) होगा। इस मोक्ष का 'कारण' व्यवहार और निश्चयमोक्ष 'कार्य'। 'निश्चयकारण' तो द्रव्य है। मोक्ष का मार्ग 'कारण' और मोक्ष 'कार्य'। तो जब मोक्ष होगा; ऐसा 'कारण' प्रगट हुआ है, तो मोक्ष होगा ही। आहाहा..हा..हा ! अरे...रे ! उस समय - 'मोक्ष का प्रसंग बननेपर...' भाषा देखो ! 'मोक्ष का प्रसंग बनने पर' - मोक्ष का वह प्रसंग आयेगा ही ! आहाहा..हा !

त्रिकालीनाथ के वीतरागस्वरूप का जिसने अंदर वीतरागभाव से आदर किया (उसे मोक्ष का प्रसंग आयेगा ही)। त्रिकाली प्रभु वीतराग चैतन्यमूर्ति है ! आत्मा वीतरागी चैतन्यप्रतिमा

है ! आहाहा ! जिस प्रकार प्रतिमा हिलती-डुलती नहीं है, उस प्रकार अंदर द्रव्यस्वभाव हिलता-डुलता नहीं है। त्रिकाली द्रव्य चैतन्यप्रतिमा है ! इस भगवानआत्मा की जो प्रतीति, ज्ञान और अनुभवदशा हुई, वह 'भावना'। इसको (ऐसी 'भावना'वाले को) मोक्ष का प्रसंग तो आयेगा ही। तब यह (भावनारूप) पर्याय (तो) रहेगी नहीं। इस पर्याय का व्यय होगा और केवलज्ञान की पर्याय उत्पन्न होगी। आहाहा ! (क्या कहा ?) 'मोक्ष का प्रसंग आने पर... आहाहा..हा ! मोक्ष होगा कि नहीं, ऐसा नहीं।'

प्रभु तीन लोक के नाथ का जिसने अंदर में स्वीकार किया और जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट हुई, इसे 'भावना' कहने में आई है और इसे 'पर्याय' कहने में आई (है)। - वह (पर्याय), त्रिकाली द्रव्य से कथंचित् भिन्न (है) ! कि : (वह) भावनारूप है, एकाग्रतारूप है, अनित्य है। क्यों भिन्न है ? (कारण) कि : उसे (जब) मोक्ष का प्रसंग बनेगा तब वह पर्याय रहेगी नहीं।

आहाहा ! '**मोक्ष का प्रसंग बनने पर यह भावनारूप मोक्षकारणभूत**' - देखो ! खुलासा किया : भावनारूप मोक्षकारणभूत। भगवान पूर्णानंद के नाथ के अंदर एकाग्रता हुई वह भावनारूप मोक्षकारणभूत पर्याय का व्यय होने पर मोक्ष का प्रसंग आयेगा... मोक्ष होगा ही होगा। उसका तो मोक्ष होगा ही। उस समय मोक्ष के कारणभूत पर्याय का व्यय हो जायेगा, नाश हो जायेगा। (तो) यदि वह (पर्याय) त्रिकाली - अविनाशी के साथ अभिन्न हो तो (जब) उस (पर्याय का मोक्ष का प्रसंग होने पर) नाश होगा (तब) साथ में अविनाशी का भी नाश हो जायेगा।

आहाहा..हा ! ऐसा उपदेश !! वह (उपदेश) तो दया करो, व्रत करो, भक्ति करो, दान करो, मंदिर बनाओ।

श्रोता : इसमें नज़र नहीं पहुँचती है इसलिये वह करें !

उत्तर : वह करे तो... राग करके भटकता है ! वह (तो) राग का कर्तव्य है। (फिर भी), 'वह मेरा कर्तव्य है', ऐसा माने तो (वह) मिथ्यात्वभाव है। अरे...रे, प्रभु ! प्रभु परमात्मा (वहाँ) विदेहक्षेत्र में रह गये। यहाँ तो वीतराग का विरह हुआ; पीछे 'यह बात' रह गई। अनुभवी को जानने में आया। बात तो बात में रह जाती है। पन्ने-पन्ने में रह गये। वाणी वाणी में रह गई।

अपना स्वरूप भगवानआत्मा; उसका अनुसरण करके (जो) अनुभव हुआ, वह अनुभव चिंतामणि (है)। वह पर्याय है। कहा है न...! 'अनुभव चिंतामणि रतन, अनुभव है रसकूप; अनुभव मारग मोखकौ, अनुभव मोखसरूप।' आहाहा ! उस अनुभव को चिंतामणिरत्न की पर्याय कही ! वह पर्याय, त्रिकाली भाव से किसी अपेक्षा से भिन्न है। क्योंकि अपूर्ण है,

इस अपेक्षा से। (हालाँकि) अपूर्ण तो पूर्ण होगी ही। (किन्तु) पूर्ण होगी, तो अपूर्णता का नाश होगा; इस अपेक्षा से (उसे) कथंचित् भिन्न कही। अन्यथा - वास्तव में तो पर्याय सर्वथा भिन्न है !

वह तो कहा न...! `प्रवचनसार' अलिंगग्रहण में १९-२० वाँ बोल है : पर्यायविशेष भेदरूप है, उसको द्रव्य स्पर्शता नहीं है। अर्थात् मोक्ष के कारणरूप पर्याय को द्रव्य स्पर्शता नहीं है। और २० वाँ बोल : अंदर मोक्ष के मार्ग की पर्याय, आनंद की - वेदन की पर्याय, वह द्रव्य को स्पर्शती नहीं है। वह (पर्याय) द्रव्य को छूती ही नहीं। आहाहा..हा ! १८ वाँ बोल है : भगवानआत्मा गुणविशेष से आलिंगित नहीं है। भेद नहीं है अर्थात् गुणी और गुण का साथ में आलिंगन - एकत्व नहीं है; अभिन्न है। एकत्व माने गुण और गुणी ऐसा भेद है। ऐसा नहीं। (गुण-)गुणी के भेद के आलिंगन बिना का द्रव्य है। आहाहा ! त्रिकाली जो सम्यग्दर्शन का विषय - प्रभु भगवान - वह गुण के विशेष भेद से - आलिंगन से रहित है। और फिर कहा कि : पर्यायविशेष के आलिंगन से रहित है। (अर्थात्) अभेद भेद का स्पर्श नहीं करता। `अलिंगग्रहण' पर व्याख्यान हो चुके (हैं)। यहाँ है न... भगवान का आधार है न...! देखो : `प्रवचनसार' गाथा १७२ :-

(बोल - १८) `लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है (अर्थात् गुणभेद जिसे नहीं है) सो अलिंगग्रहण है।' अ लिं ग ग्र ह ण...` छह अक्षरमें से २० बोल निकाले हैं। अलौकिक बात है ! सारे व्याख्यान हो चुके हैं। टेप पर से वे बाहर (पुस्तकरूप में) आयेंगे। लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण, अर्थात् अर्थावबोध। अर्थावबोध तो ज्ञान लिया है। ज्ञान की मुख्यता से लिया है। बाकी पाठ तो अर्थावबोध है। (मात्र) ज्ञान का भेद (ऐसा) नहीं, परंतु अनंत गुण के भेद नहीं, ऐसा लेना। पाठ में अर्थावबोध है। पदार्थ का अर्थावबोध - ज्ञान, ऐसा भेद इसमें नहीं है। अथवा अनंत गुण का भेद (जिसे नहीं है), ऐसा लेना। वह तो शब्द ऐसा लिया है। अर्थावबोध तो ज्ञान है, परंतु अर्थ के साथ समाविष्ट जो अनंत गुण, उन गुणों का अभेद, भेद को स्पर्शता नहीं है। अरे...रे ! ऐसी बातें !! यह तो १८ वाँ (बोल) हैं। अब १९ वाँ कहते हैं न...! यह तो पहले गुण के साथ में अभेद है। बाद में पर्याय (ली)।

(बोल - १९) `लिंग अर्थात् पर्याय, ऐसा जो ग्रहण, अर्थात् अर्थावबोध विशेष (यह जिसे नहीं है सो अलिंगग्रहण है)।' `अर्थावबोध' - यह शब्द वहाँ (१८ वें बोल में) भी लिया है न...? वह `अर्थावबोध' माने ज्ञान की पर्याय ली। लेकिन सारी पर्याय लेना। पाठ ऐसा लिया है ! ज्ञानप्रधान कथन किया है। यह अर्थावबोध, पर्यायविशेष जिसमें नहीं है। आत्मा में वह ज्ञानविशेष नहीं है। ज्ञान की विशेष पर्याय द्रव्य में नहीं है। आहाहा !

अरे...रे ! ऐसी बातें !! वीतराग परमात्मा (के) आढ़तिया होकर संतों ने जगत के सामने वीतराग की बात की ! ऐसी दुर्लभ बात (जिसे) सुनने मिले वह भी भाग्यशाली है।

आहाहा ! पर्यायविशेष... अर्थावबोधविशेष। पाठ अर्थावबोध विशेष है। - अर्थ + अव + बोध + विशेष। लेकिन सभी पर्याय लेना। पहले (१८ वे में) अर्थावबोध में सारे गुण लेना और यहाँ सारी पर्याय लेना। - वह जिसे - आत्मा को नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इस प्रकार आत्मा पर्यायविशेष से आलिंगित नहीं अर्थात् पर्यायविशेष से अस्पृष्ट (- स्पर्शित नहीं) ऐसा शुद्ध द्रव्य है। १८ वें बोल में ऐसा कहा था : आत्मा गुण विशेष से नहीं (आलिंगित) - स्पर्शित ऐसा शुद्ध द्रव्य है। यहाँ पर्यायविशेष से नहीं (आलिंगित) - स्पर्शित ऐसा शुद्ध द्रव्य है।

जिज्ञासा : गुणवाला द्रव्य व पर्यायवाला द्रव्य दोनों एक ही है या फर्क है ?

समाधान : दोनों में फर्क है। गुण तो त्रिकाल रहनेवाले हैं और पर्याय एक क्षण की है। परंतु यह भेद नहीं है, ऐसा बताना है। गुण में और पर्याय में बड़ा भेद है। गुण तो त्रिकाली है और पर्याय तो क्षणिक है। परंतु `त्रिकाली' (है वह) गुणविशेष से आलिंगित नहीं, गुणविशेष के भेद से आलिंगित नहीं ऐसा शुद्ध द्रव्य है !

(फिर २० वाँ बोल) `लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण।' (प्रत्यभि अर्थात् यह है...है...है, ऐसा ध्रुव त्रिकाल) `ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधसामान्य' (वहाँ १८-१९ वें बोल में भी अर्थावबोध लिया है। बाकी (यहाँ तो) त्रिकाली द्रव्य है। अर्थावबोधसामान्य यानी पदार्थ का ज्ञानरूपी सामान्य नहीं परंतु पूरा पदार्थ सामान्य, ऐसा लेना है।) `वह जिसे नहीं है वह अलिंगग्रहण है। इस प्रकार आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित' अर्थात् आत्मा द्रव्य को आलिंगन नहीं करता। अपनी पर्याय का - आनंद का वेदन करता है।- वह `पर्याय' आत्मा है ! वेदन की अपेक्षा से आत्मा अपने को - त्रिकाली को - आलिंगन नहीं करता। आहाहा !

(यहाँ) क्या कहते हैं ? कि : मोक्ष का प्रसंग आने पर (- होने पर) यह भावनारूप मोक्षकारणभूत (पर्याय) का विनाश हो जाता है। अर्थात् जब मोक्ष होगा तब मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश होगा। यदि मोक्षमार्ग की यह पर्याय आत्मा से सर्वथा अभिन्न होवे तो (जब मोक्ष होगा तब इस (मोक्षमार्ग की) पर्याय का तो नाश होगा, तो अविनाशी आत्मद्रव्य का भी नाश हो जायेगा)। यहाँ तो प्रदेश की अपेक्षा लेकर (पर्याय को) `कथंचित् भिन्न' कही कि अपने प्रदेश में है न...! यह अपेक्षा रखी है। वरना वास्तव में तो प्रदेश भी भिन्न हैं। पर यहाँ असंख्य प्रदेश में पर्याय है, ऐसा लेकर कथंचित् भिन्न कही। अपने

प्रदेश में है, परंतु अपूर्ण है। तो (पूर्णता -) मोक्ष तो होगा ही। एक-दो भव में तो केवलज्ञान प्राप्त होगा ही। तब मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश होगा। (तो) अगर इस पर्याय के साथ द्रव्य अभिन्न होवे तो, इस (मोक्षमार्ग की) पर्याय का नाश होगा तब, अविनाशी (आत्मा) का भी नाश हो जायेगा, (किन्तु ऐसा नहीं होता) अतः भिन्न है !

आहाहा ! ऐसा व्याख्यान है !! आज कल तो बहुत फेरफार हो गया, प्रभु ! यहाँ तो सोनगढ़ (के लिये) लोग कहते हैं : एकांत है... एकांत है ! (किन्तु) सुन भाई ! सुन बापू !

(यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि :) एकांतरूप से (यदि मोक्षमार्ग की पर्याय) शुद्धपारिणामिक से अभिन्न होवे, तो मोक्ष का प्रसंग आने पर, उस भावनारूप - मोक्षकारणभूत पर्याय का विनाश होने पर शुद्धपारिणामिकभाव भी विनाश को प्राप्त हो। आहहा ! मोक्ष होने पर, मोक्ष के मार्ग की पर्याय (तो) नाश को प्राप्त होगी। (अब) यदि वह पर्याय द्रव्य से त्रिकाल अभिन्न होवे, तो उस पर्याय का नाश होगा तब अविनाशी का भी नाश होगा, अतः कथंचित् भिन्न है। वह (पर्याय) नाश को प्राप्त होवे, (परंतु) द्रव्य तो अविनाशी है। उससे वह (पर्याय) अभिन्न नहीं है, भिन्न है। अतः उस पर्याय का नाश होते हुए भी, द्रव्य तो त्रिकाल वैसा का वैसा रहा। अर्थात् उस (मोक्षमार्ग की) पर्याय का नाश हुआ, केवलज्ञान - मोक्षदशा प्राप्त हुई (फिर भी), द्रव्य तो ऐसा का ऐसा है। (मोक्षमार्ग की) पर्याय के समय भी (द्रव्य) ऐसा है; और उस (पर्याय) का नाश होकर (पूर्ण) वीतरागदशा हुई तब (भी) द्रव्य तो ऐसा का ऐसा है। आहाहा !

अब ऐसा उपदेश ! (किन्तु) सारे दिन तो दुनिया के पाप करता रहे...! इसमें (भी) स्त्री के लिये यह करूँ और बच्चों के लिये करूँ और इस धंधे-व्यापार के लिये करूँ और यह करूँ...! अरे...रे ! उसे पापों से कब (फुर्सत मिले) ? ये (काम) तो मात्र पाप की गठरी (है)। (उसमें) धर्म तो नहीं है; परंतु पुण्य (भी) नहीं है ! आहाहा ! अनंतकाल से यही किया है। ऐसा औंधापन कोई नया नहीं है !!

आहाहा ! (यहाँ) क्या कहा ? कि : मोक्षमार्ग की यह जो निर्मल पर्याय है, वह 'शुद्धात्माभिमुख' अर्थात् शुद्धस्वरूप भगवान(आत्मा) के अभिमुख-सन्मुख, वह 'शुद्धोपयोग', वह 'मोक्ष का मार्ग'; वह त्रिकाली शुद्धपारिणामिक से कथंचित् भिन्न है। प्रदेश में भिन्न है। इसमें अपने प्रदेश (भिन्न) है। लेकिन पर्याय का (जो) भाव है, वह (भी) भिन्न है। क्योंकि : (मोक्षमार्ग की) पर्याय का नाश होने पर मोक्ष का प्रसंग आयेगा। (अर्थात्) मोक्ष के मार्ग की पर्याय तो अमुक काल तक रहेगी... मोक्ष तो होगा, होगा और होगा ही। तो मोक्ष होने पर, वह जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (रूप) मोक्ष का मार्ग है, उस पर्याय का नाश

होगा। (अब) अगर वह पर्याय द्रव्य से अभिन्न हो, तो (उस) पर्याय का नाश होने पर, द्रव्य का भी नाश होगा। (किन्तु) द्रव्य तो अविनाशी है । अतः मोक्षमार्ग की पर्याय (कथंचित् भिन्न है)। कुछ समझ में आता है ? सूक्ष्म बात है, भाई ! यह तो ! सर्वज्ञवीतराग (के अलावा) ऐसी बातें कहाँ हैं, भाई !

एक 'क्रमबद्ध' (बैठनी) कठिन। एक 'कारणपर्याय' कठिन। यहाँ (कहते हैं :) मोक्ष के मार्ग की पर्याय आत्मा से कथंचित् भिन्न (है) ! इसका कारण तो कहा : किस कारण से ? कि : भावनारूप है - वह त्रिकालभावरूप, द्रव्यरूप नहीं है ! और वह (मोक्षमार्ग) भावनारूप है। मोक्ष तो होगा ही। तो मोक्ष होगा तब (जो यह) भावनारूप पर्याय है उसका तो नाश होगा। अगर (उसे) द्रव्य से अभिन्न कहो तो (उस) पर्याय का नाश होनेपर, द्रव्य का भी नाश हो जाये। अतः (वह पर्याय) द्रव्य से कथंचित् भिन्न है ! कुछ समझ में आता है ?

ऐसा उपदेश !! बापू ! पंथ, प्रभु ! (जगत से निराला)। आहाहा ! यह चैतन्य हीरा ! इस हीरे की क्या कीमत !! आहाहा ! जिसकी एक समय की केवलज्ञान-पर्याय भी अलौकिक ! तो ऐसे केवलज्ञान की अनंती पर्यायें, एक ज्ञानगुण में हैं ! श्रद्धागुण की क्षायिक समकित की एक पर्याय; ऐसी अनंती पर्यायें, एक श्रद्धागुण में हैं ! चारित्र की यथाख्यात आदि एक समय की पर्याय; ऐसी-ऐसी यथाख्यात चारित्र की अनंती पर्यायें, (एक) चारित्रगुण में हैं ! एक समय का पूर्ण आनंद... वह अनंत आनंद; (ऐसी) अनंती पर्यायें, (एक) आनंदगुण में भीतर पड़ी हैं ! आहाहा ! ऐसे अनंत...अनंत...अनंत...अनंत गुण का पिण्ड प्रभु ! वह द्रव्य तो अविनाशी, त्रिकाल अविनाशी है ! मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश होकर मोक्ष होगा। वह पर्याय तो नाशवान है। अतः वह आत्मा से तो भिन्न है। तो आत्मा अविनाशी (है इसलिये) रह गया। पर्याय भले नष्ट हुई (फिर भी) अविनाशी भगवान (आत्मा) तो ऐसा का ऐसा है। कुछ समझ में आया ?

आहाहा ! ऐसी बात है !! अरे ! यह कोई पक्ष की बात नहीं है, प्रभु ! यह किसी संप्रदाय की बात नहीं है। यह तो (जो) वस्तु-स्वरूप भगवानने देखा उसकी बात है, भाई !

(यहाँ कहते हैं कि :) ('**मोक्षकारणभूत पर्याय का विनाश होने पर शुद्धपारिणामिकभाव भी विनाश को प्राप्त हो जाये।) परंतु ऐसा तो नहीं बनता।**' - क्या ? कि : मोक्ष होने पर मोक्षमार्ग की पर्याय नाश को प्राप्त होगी, किन्तु अविनाशी तत्त्व तो नाश को प्राप्त नहीं होता। त्रिकाली ध्रुव भगवान, त्रिकाली ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव - प्रवाह - जैसे पानी का प्रवाह चलता है। वैसे यह ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव...ध्रुव-प्रवाह - अनादि से (चल रहा है)। उस प्रवाह

में कभी भी त्रुटि - न्यूनता नहीं होती। आहाहा ! पर्याय यदि ध्रुव से - परमपारिणामिकस्वभाव से अभिन्न हो तो, मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश (-व्यय) होने पर, उसका (ध्रुव का) भी नाश होगा; किन्तु ऐसा तो होता नहीं है। भगवान (आत्मा) तो अविनाशी, परम अनंतगुण और द्रव्य से भरा परमपारिणामिक ज्ञायकभाव, भाववान का ज्ञायकभाव, वह तो त्रिकाली - अविनाशी है। भाववान का भाव... भाववान ! आगे आयेगा : ५० वीं गाथा 'नियमसार'।

आहाहा ! यहाँ कहते हैं कि : '**शुद्धपारिणामिकभाव तो अविनाशी है। अतः यह सिद्ध हुआ : शुद्धपारिणामिकभावविषयक**' अर्थात् शुद्धस्वभाव को विषय करनेवाली जो पर्याय, '(**शुद्धपारिणामिकभाव का अवलंबन लेनेवाली**)' जो पर्याय, (वह मोक्ष का कारण है; किन्तु शुद्धपारिणामिक नहीं)। यहाँ '**विषय**' शब्द लिया है। द्रव्य तो त्रिकाल विषय है, वह शुद्धपारिणामिकभाव है, (उसको विषय करनेवाली) पर्याय भी उसका विषय नहीं है। सम्यग्दर्शन की पर्याय का विषय, यथाख्यातचारित्र भी नहीं और केवलज्ञान भी नहीं। विषय अर्थात् भेद। (यहाँ ऐसा कहा कि :) '**शुद्धपारिणामिकभाव का अवलंबन लेनेवाली जो भावना है उस-रूप**' (जो औपशमिकादि तीन भाव मोक्ष के कारण हैं परंतु शुद्धपारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है')। विशेष बात अब कहेंगे....

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-९ ता. ६-८-१९७९

'समयसार' ३२० - गाथा। जयसेनाचार्य की टीका। यहाँ तक आया : आत्मा तो त्रिकाली शुद्ध स्वभावभाव है। इसकी - त्रिकाली ज्ञायकभाव की, जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी 'भावना,' वह शुद्धभाव से कथंचित् भिन्न है। आहाहा ! परचीज़ तो कहाँ की कहाँ - भिन्न रह गई। (उसके साथ तो आत्मा का) कुछ संबंध ही नहीं। (यहाँ) तो अंदर शुद्ध चैतन्यघन, सहज शुद्धपारिणामिकस्वभावभाव, जो द्रव्य यानी वस्तु; उसकी 'भावना' अर्थात् उसके सन्मुख होकर (जो) चैतन्य का ज्ञान और चैतन्य की श्रद्धा और चैतन्य की रमणता(रूप) जो 'भावना' (हुई), वह 'पर्याय' है; वह पर्याय, त्रिकाली स्वभाव - चैतन्य परमानंद स्वभाव से भिन्न है ! क्योंकि : (उस) पर्याय का नाश होकर मोक्ष होगा तब तो (वह) पर्याय रहेगी नहीं। (अब) अगर (वह) पर्याय द्रव्य से अभिन्न हो तो मोक्ष होने पर (मोक्षमार्ग की उस) पर्याय का नाश होगा, तो द्रव्य का (भी) नाश हो जायेगा।

आहाहा ! ऐसी बातें ! कुछ समझ में आता है ? (आत्मा का) पर के साथ तो

कुछ संबंध ही नहीं है। यहाँ राग के भाव की बात भी नहीं की। (यहाँ तो कहा कि :) परम स्वभावभाव ध्रुव, नित्यानंद प्रभु, चैतन्यसागर, भगवान नित्यानंद ध्रुव, परमपारिणामिक - स्वभावभाव, ज्ञायकभाव, - इसकी भावना, सो धर्म (है)।

'भावना' क्या ? कि : स्वरूप की प्रतीति - अनुभव करके, ज्ञान की पर्याय में पूरे ज्ञेय आत्मा का ज्ञान करके प्रतीति करना। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वरूप-रमणता करना। अर्थात् अतीन्द्रिय आनंद में रमण करना वह चारित्र - यह 'भावना' है। आहाहा ! वह ('भावना') त्रिकाली वस्तु नहीं है। यदि यह 'भावना' त्रिकाली वस्तु के साथ अभिन्न हो तो उस 'भावना' का नाश (-व्यय) होकर मोक्ष तो अवश्य होगा; (तो त्रिकाली वस्तु का भी नाश हो जायेगा)। अर्थात्, जिसे यह 'भावना' प्रगट हुई, अर्थात् (जिसे) चैतन्यस्वभाव की दृष्टि, ज्ञान व रमणता प्रगट हुई, उसका तो अल्पकाल में मोक्ष होनेवाला ही है; तो वह (मोक्ष का) प्रसंग बनने पर, उस (भावनारूप) पर्याय का तो नाश होगा, यानी मोक्षमार्गरूप उस भावना का तो नाश होगा; तो अगर वह (भावना) शुद्धपारिणामिक के साथ अभिन्न हो तो, उसका नाश होने पर, द्रव्य का भी नाश हो जाये। (परंतु ऐसा तो होता नहीं है, अतः) यह जो निश्चय मोक्ष का मार्ग है, वह भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है ! आहाहा !

शरीर, कर्म, पैसा, स्त्री, कुटुंब - ये सब पर हैं, बिलकुल पर हैं; उनका आत्मा के साथ कोई संबंध नहीं; - इतना मानने में भी अभी पसीना छूटता है ! आहाहा ! यहाँ राग की भी बात नहीं है। (यहाँ) तो जो निर्मल पर्याय है - सच्चिदानंद प्रभु जीव का ज्ञान, उसकी श्रद्धा और उसकी रमणता (रूप) जो पवित्र पर्याय - वह भी पर्यायवान से कथंचित् भिन्न है। (ऐसा कहते हैं)।

आहाहा ! उस (मोक्षमार्गरूप) भावना का नाश (-व्यय) होकर मोक्ष तो होगा ही। (वह) नाश को प्राप्त होगी (फिर भी), पारिणामिकभाव का तो नाश होगा नहीं; क्योंकि वह तो अविनाशी तत्त्व है। भले ही अंदर राग हो या राग का अभाव हो या मोक्ष के मार्ग की पर्याय का अभाव हो; पर वह (पारिणामिकभाव) तो अविनाशी तत्त्व है।

यदि वह (मोक्षमार्गरूप) परिणाम, पारिणामिकस्वभाव से अभिन्न हो, तो उस परिणाम का (मोक्षप्रसंग के समय) नाश होने से, आत्मा का नाश हो जाये। (किन्तु ऐसा तो होगा नहीं)। अतः ऐसा सिद्ध हुआ अर्थात् ऐसा निश्चय हुआ कि : शुद्धपारिणामिकभाव विषयक अर्थात् शुद्धपारिणामिक (भाव) का अवलंबन लेनेवाली यह जो भावना यानी सम्यग्दर्शन - इसके बिना जितने जो बाह्य त्याग लेकर अभिमान करना, वह सब मिथ्यात्वभाव है। कुछ समझ में आया ?

'नियमसार' श्लोक - २१०, परम समाधि अधिकार में है : 'स्वधर्मत्याग' का अर्थ

`मिथ्यात्वभाव'। मिथ्यात्वभाव - मोहभाव (इसका नाम) `स्वधर्म' का त्याग है, जिसने पर का त्याग करके स्वयं ने अभिमान का सेवन किया कि `हम त्यागी हैं,' किन्तु मिथ्यात्व का त्याग तो हुआ नहीं, अतः वह तो `स्वधर्म' का त्यागी है। `पर' का त्यागी नहीं; (किन्तु) `स्वधर्म' का त्यागी है ! अंदर चीज़ (आत्मा) है; उसकी तो खबर नहीं है, प्रतीति नहीं है, आदर नहीं है; और पर का त्याग करके (माने कि) `हम त्यागी हैं... हम साधु हैं... प्रतिमाधारी हैं...' (तो वह तो `स्वधर्म' का त्यागी है)। आहाहा ! कठिन बात, भाई ! `नियमसार' में है : जिसे प्रगट हुआ है सहज तेजःपुंज (उसके) द्वारा जिसको आनंद का नाथ अनुभव में आया, उसने स्वधर्मत्यागरूप - मोहरूप अतिप्रबल तिमिरसमूह को दूर किया है। स्वधर्म का त्यागरूप मोह अर्थात् मिथ्यात्व। आहाहा ! सहज प्रगट हुए तेजःपुंज द्वारा, (अर्थात्) इस `भावना' (द्वारा)। अंदर में ज्ञानानंदस्वभाव की दृष्टि, ज्ञान व निर्विकल्प आनंद का स्वाद आया। इसके द्वारा स्वधर्मत्यागरूप जो मोह, उसका नाश किया। (परंतु) जिसने बाहर से त्याग किया (फिर भी) अगर उसे अंदर मिथ्यात्व का त्याग नहीं है, तो वह स्वधर्मत्यागरूपी मोह में पड़ा है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है, बापू ! इस भगवान पूर्णानंद का आनंद जिसे आया नहीं और इसके बिना (मात्र) बाहर के त्याग से (ऐसा माने कि) `हमने त्याग किया और हम त्यागी हैं,' तो वह तो स्वधर्मत्यागरूप मिथ्यात्वभाव है। गज़ब बात है, भाई !

यहाँ ऐसा कहते हैं कि : जो भावना है, वह शुद्धपारिणामिकभावविषयक अर्थात् शुद्ध (स्वरूप) का अवलंबन लेनेवाली दशा है, जिसमें मोह का त्याग है। मोह अर्थात् मिथ्यात्व का त्याग है। जिसने शुद्ध द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेकर, आदर करके, अवलंबन लेनेवाली दशा प्रगट की, उसने तो स्वधर्मत्यागरूप मिथ्यात्व का त्याग किया ! आहाह ! कुछ समझ में आया ?

अतः ऐसा सिद्ध हुआ कि : शुद्ध पारिणामिकभाव की `भावना' अर्थात् अवलंबन लेनेवाली `भावना' उस-रूप जो औपशमिकादि तीन भाव (मोक्ष का मार्ग है)। शुद्ध स्वभाव नित्यानंद प्रभु - उसका अवलंबन लेकर; (यानी कि) दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प उसके नहीं हैं, वे तो बंध का कारण (है। ज़हर है। उसका अवलंबन (छोड़कर) और अंदर त्रिकाली भगवान ज्ञायकस्वभाव का अवलंबन लेकर जो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव प्रगट हुआ - वह धर्म, वह समकित, वह ज्ञान, वह चारित्र, वह वीतरागता, वह मोक्ष का मार्ग (है)। शुद्धपारिणामिकभावविषयक अवलंबन लेनेवाली भावना, उस-रूप `भावना' कहो या `मोक्ष का मार्ग' कहो, एकार्थ है। भावना अर्थात् विकल्प और चिंतवन वह भावना नहीं है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

`नियमसार' में प्रायश्चित अधिकार में चिंतवन को भी भावना कही है। वह `चिंतवन'

विकल्प नहीं है। `चिंतवन' को भी (वहाँ) निर्विकल्प ध्यान कहा है। वह (बाह्य) चिंतवन - विकल्प, उसका नाम (`भावना') नहीं। (परंतु) अंदर आनंद का नाथ प्रभु; उसका जिसने पर्याय में साक्षात्कार किया और वर्तमान पर्याय में द्रव्य की ओर झुकना हुआ तो वह `भावना' है। वह उपशम-क्षयोपशम-क्षायिकरूपी भाव है। और त्रिकाली है, वह परमपारिणामिक भाव है !

आहाहा ! त्रिकाली, जो अवलंबन लेने की चीज़ है, जिसे ध्येय - ध्रुव के धाम का ध्येय बनाकर अर्थात् एकबार ध्रुवधाम को ध्येय बनाकर धीरज से ध्यान करना ! ये (`ध्रुवधाम के ध्येय के ध्यान की धधकती धुनी को धगश (जोश व लगनपूर्वक) व धीरज से धधकाना ऐसे धर्म का धारक धर्मी धन्य है।') - १३ बोल `आत्मधर्म' में आ चुके हैं। ये (बोल) भावनगर में बनाये थे। व्याख्यान में आ चुके हैं। आहाहा ! ध्रुवधाम - नित्यरूपी जिसका ध्रुवस्थान, उसे ध्येय बनाकर धधकती धुनी धीरज से धधका पर्याय में। उस धधकती धुनी धीरज से एकाग्र होकर धधका ! आहाहा ! ऐसा धर्म धुंरधर धर्मी है ! सारे `ध' से शुरु होनेवाले शब्द हैं। १३ `ध'वाले शब्द हैं। आहाहा ! ध्रुव यानी जो चिदानंद के धाम को ध्येय बनाकर, धीरज से जो अंदर धधकती यानी स्वरूप की एकाग्रतारूप शांति से धधकती पीढ़ी। धधकती-धधकती धुनी, परमविषयक परम पदार्थ का अवलंबन लेनेवाली पर्याय, उसे भावना और (मोक्षमार्ग की) पर्याय कहने में आता है। मोक्ष का मार्ग कहने में आता है। तो `वह पर्याय' कथंचित् भिन्न क्यों ? कि : `उस पर्याय' का नाश होता है। (क्योंकि) मोक्ष होता है तब वह (मोक्षमार्ग की) पर्याय रहती नहीं है। और अविनाशी भगवान(आत्मा) तो कायम रहता है ! आहाहा ! बहुत सूक्ष्म वस्तु ! गाथा ऐसी है यह !!

इस शुद्धपारिणामिकभाव की भावना उस-रूप जो औपशमिक आदि तीन भाव - इस `भावना' को तीन भाव कहा। जो परम स्वभाव, ध्रुव, नित्यानंद प्रभु का अवलंबन लेकर जो भाव यानी निर्मल पर्याय, निर्विकल्प आनंद की दशा प्रगट हुई, उस दशा को उपशम-क्षयोपशम-क्षायिकभाव कहने में आता है। उसे मोक्ष का मार्ग कहो या द्रव्य की भावना कहो। वह `भावना' औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीन भावस्वरूप है। (और) भगवान(आत्मा), त्रिकाली परम स्वभावभावरूप है।

अरे...रे ! ऐसी बातें हैं !! क्या करें, बापू ? अनंत काल से (समकित के बिना भटकता रहा) ! आहाहा ! `छह ढाला' में आता है न...! `मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो।' - (अनंतबार) मुनिव्रत धारण किये ! वैसी क्रिया तो आजकल (यहाँ) है ही नहीं। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी को अंतर के आनंद का स्वाद नहीं है। अंतर का भान नहीं है। अनुभव नहीं है। और इसके (अनुभव के) बिना, क्रियाकांड - पंचमहाव्रतादि इतने किये...

इतने किये कि चमड़ी उतारकर (यदि) नमक छिड़के तो (भी) क्रोध न करे... इतनी क्षमा ! फिर भी, दृष्टि मिथ्या है ! क्योंकि पंचमहाव्रत की क्रिया को अपना धर्म मानता है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं !!

(यहाँ कहते हैं :) (मोक्ष की कारणभूत) जो भावना उस-रूप जो औपशमिक आदि तीन भाव (हैं)। पहले कहा था न कि : चार भाव पर्यायरूप हैं। और त्रिकाल (शुद्धपारिणामिकभाव) द्रव्यरूप है। तो इन चार (औपशमिक, क्षायोपशमकि, क्षायिक और औदायिक) भावमें से किस भाव से `मोक्षमार्ग' है ? यह पहले आ गया है।

उदय (-औदायकि) भाव माने रागादि : दया, दान, विकल्प (इत्यादि)। और उपशम (-औपशमिक), क्षयोपशम (-क्षायोपशमिक), क्षायिक (भाव) - ये चार तो `पर्याय' हैं। और वस्तु (- शुद्धपारिणामिकभाव) `द्रव्य' है। उस द्रव्य व पर्याय का युगल होकर, प्रमाण(ज्ञान) का विषयरूप पदार्थ `आत्मा' है। तो `वह (मोक्षमार्ग -) पर्याय जो है' वह कौन-सा भाव है ? यह बताते हैं कि : वह जो पर्याय है वह औपशमिक आदि तीन भाव (रूप) है। आहाहा ! वीतरागस्वरूप भगवानआत्मा ! उसका अवलंबन लेकर जो पर्याय - दशा उत्पन्न हुई, वह तीन भाव स्वरूप है। उसे `भावना' कहो या `मोक्षमार्ग' कहो। वे तीन भाव : उपशमस्वरूप, क्षयोपशमस्वरूप, क्षायिकस्वरूप हैं।

जो चार पर्याय कही थी उसमें (जो) उदय (-औदायिक) है वह मोक्ष का कारण नहीं है, बंध का कारण है। भले ही वह दया, दान, व्रत, भक्ति कर-करके मर जाये ! वह सब क्लेश है। (`समयसार') निर्जरा अधिकार में आता है : (महाव्रत और तप के बोझ से लम्बे समय तक भग्न होता हुआ (-टूटकर मरता हुआ) `क्लेश पाओ तो पाओ; परंतु...' (वे आत्मा को प्राप्त कर ही नहीं सकते)। आहाहा ! ऐसी बातें हैं !!

यहाँ औपशमिक आदि तीन भाव (कहे) समझ में आया ? पहले कहा है : उपशम में राग का अनुदय हो गया। जैसे पानी में मैल नीचे बैठ जाता है, वैसे मिथ्यात्वरागादि दब जाता हैं, और उपशमभाव होता है, इसका नाम दब जाना है; नाश नहीं होता - यह उपशम भाव (हुआ)। क्षयोपशमभाव में कुछ नाश होता है और कुछ दब जाता है। - इसका नाम क्षयोपशम (भाव)। क्षायिक में समस्त विकारी भावों का नाश होता है। - इसका नाम क्षायिक (भाव)। जितनी मात्रा में विकारी भाव का नाश हो इतने का नाम क्षायिक।

ये उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक - ये तीन भाव, त्रिकाली द्रव्य की भावनारूप है। कुछ समझ में आया ? ये औपशमिकादि अर्थात् उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक - तीन भाव, ये समस्त रागादि से रहित होने के कारण इनमें - `भावना' अथवा इन `तीनभाव'

में - राग के विकल्प का बिल्कुल अभाव है। चाहे तो दया, दान, व्रत का विकल्प हो, वह तो राग है, ज़हर है; उससे रहित (ये) तीन भाव है।

विदेश में कुछ (तत्त्व समझने) मिले ऐसा नहीं है। वहाँ धूल (पैसे) मिले धूल !... अब वह धूल आये धूल में ही ! इसके (आत्मा के) पास कहाँ से आये ? मानता है कि 'मेरे पास (लक्ष्मी) आई, मेरी है।' भाई ! यह... लक्ष्मी ! बाहर की - मिट्टीवाली नहीं; अंतर में यह अनंत आनंद और अनंत ज्ञान की लक्ष्मी पड़ी है। अनंत गुण की लक्ष्मी का भंडार भगवान ! - उसके सन्मुख होकर उसकी दृष्टि, ज्ञान व रमणता करना, इसे द्रव्य की भावना कहने में आती है। वह 'भावना' तीन (भाव) स्वरूप कहने में आती है। ये तीन भाव समस्त रागादि से रहित (है)। चाहे तो भगवान का विनय और भगवान के स्मरण का विकल्प (हो) - उन समस्त रागादि से रहित तीन भाव (हैं)। आहाहा ! मोक्ष का मार्ग, द्रव्य की भावना अर्थात् तीन भाव, राग से बिल्कुल रहित है। आहाहा ! मीठालालजी ! यह मीठे की (- आनंद की) बात आई है ! ये सब करोड़पति (यहाँ सुनने के लिये) बैठे हैं, सब धूल के पति (हैं)।

श्रोता : धूल के पति को कोई सेठ कहा जाता है ?

उत्तर : दुनिया सेठ (माने)। यानी पागल (लोग) सेठ माने ! सेठ तो उसे कहें कि : जिसने इस आत्मा का, आनंद के नाथ भगवान का अनुभव किया और उसके आनंद का स्वाद आया; उसे जघन्य सेठ - प्राथमिक दर्जे का सेठ कहने में आता है।

(लोग) व्यापार के - धूल के काम के खातिर विदेश जाते हैं ! आहाह ! प्रभु ! तू कहाँ गया ? प्रभु ! तू विकल्पों में भटकने को जाता है। अनादि से तेरी चीज़ तो अंदर ध्रुवधाम में पड़ी है, नाथ ! वहाँ विश्राम करने की चीज़ है। वहाँ विश्राम न लेकर (तू) राग के अविश्राम - थकान के महल में चढ़ जाता है ! आहाहा ! विश्रामस्थान तो प्रभु पूर्णानंद का यह नाथ है ! बाकी राग आदि जितने विकल्प - दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा (के) - उत्पन्न होते हैं, वे सब अविश्राम हैं; वह ज़हर का विश्राम है; आत्मा का विश्राम (स्थान) नहीं !

आहाहा ! क्या हो, प्रभु ! तो भी इतने भाग्य है कि लोग सुनते हैं। श्रीमद् (राजचंद्र) के समय में तो 'मेरा यह नाद कौन सुनेगा ?' - ऐसा (श्रीमद्जी) कहते थे। क्योंकि, (वे) गृहस्थाश्रम में (थे) और अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ। तो यह बात कि : राग से धर्म नहीं (होता); दया-दान, भगवान की भक्ति, भगवान का विनय - ये राग (हैं); ये अधर्म है; अरे...रे ! यह कौन सुनेगा ? उस वक्त ऐसा (सुननेवाले नहीं थे)। किन्तु (वे तो) अपना काम करके, चले गये। आहाहा..हा ! (वे) गृहस्थाश्रम में थे। लाखों रुपयों का

जवाहारत का बड़ा व्यापार मुंबई में था। पर उससे (व्यापार से) कोई (अंतर में एकत्व नहीं था)। अंतर में तो 'आनंदस्वरूपी मैं हूँ ! इसके सिवा, कोई चीज़ मेरी नहीं है' (ऐसी पूर्ण श्रद्धा थी)। पर अभी थोड़ा (अस्थिरता का) राग बाकी है; राग छूटता नहीं है, यह मेरे पुरुषार्थ की कमी है। 'इसलिये देह एक धारण करके जायेंगे स्वरूप स्वदेश' - अंदर में राग (बाकी) दिखता है। इसी भव में राग का नाश होकर मुक्ति हो जायेगी - ऐसा नहीं दिख रहा। मेरे में राग की अस्थिरता इतनी दिखती है कि उससे मुझे एकाध भव करना पड़ेगा। यह राग (है), वह विदेश (है)। उसमें हम भटक रहे हैं ! स्वरूप का भान हुआ। अनुभव है, आनंद का स्वाद आया; तो भी राग की अस्थिरता रही (है); तो कहते हैं कि : अरे...रे ! यह (राग) हमारी चीज़ (आत्मा) में नहीं; राग में हमें आना पड़ता है ! - वह परदेश है। आहाहा ! (श्रीमद् राजचंद्र ने 'धन्य रे दिन यह अहो !' काव्य में) कहा न... 'इसलिये देह एक धारण करके जायेंगे स्वरूप स्वदेश।' यह राग है वह परदेश है। विभाव है वह परदेश है। जैसे तुम्हारे महाजन के गाँव की तुलना में नैरोबी परदेश है, वैसे भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद के सामने, ये सब राग परदेश हैं, परदेश है ! आहाहा !

बहिन में ('बहिनश्री के वचनामृत' में) ऐसा आता है, बोल - ४०१ है : अरे ! अपने स्वदेश को छोड़कर हम कहाँ राग में - परदेश में आ पहुँचे ! राग में आना तो परदेश में जाने के बराबर है। आहाहा ! दया, दान और भक्ति का भाव, पडिमा का भाव, महाव्रत का भाव - ये सब परदेश हैं; ये स्वदेश नहीं है ! प्रभु ! कठिन लगे, नाथ ! क्या करें ? चीज़ (वस्तुस्वरूप) तो यह है !

जिज्ञासा : 'स्वदेश' कैसा है ?

समाधान : राग-विकल्प, दया, दान, व्रत, भक्ति - ये परदेश है, ये स्वदेश नहीं। कुछ समझ में आया ? (स्वदेश तो) भगवान (आत्मा), अतीन्द्रिय आनंद का नाथ प्रभु है। ध्रुव-धाम जिसका नित्यस्थान है। जिसमें आनंद की फसल आये ऐसा वह क्षेत्र है। ध्रुवधाम भगवान, जिसमें अतीन्द्रिय आनंद की फसल उगे ऐसा यह क्षेत्र है। राग की फसल हो ऐसा आत्मा नहीं है। (जैसे) ज़मीन - खेत में फसल होती है न...! (वैसे) भगवान ध्रुवधाम है वह ऐसा खेत है कि जिसमें तो (सिर्फ) अतीन्द्रिय आनंद की फसल होवें ! अरे ! अतीन्द्रिय आनंद की फसल नहीं लेकर उससे विरुद्ध जो - राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम-क्रोध के - परिणाम (उगते हैं, तो कहते हैं कि :) अरे...रे ! इस परदेश में कहाँ आये ? यहाँ कहते हैं कि : इस 'भावना' में राग का तो बिल्कुल अभाव है। समस्त रागादि से रहित (है)।

'बहिनश्री के वचनामृत' में यह बोल - ४०१ है न...! ज्ञानी का परिणमन विभाव से विमुख होकर स्वरूप की ओर ढल रहा है।' - ज्ञानी-समकिती-धर्मी जीव का परिणमन - पर्याय विभाव से विमुख होकर, अर्थात् पुण्य - दया, दान, व्रत के विकल्प से विमुख होकर, स्वरूप की ओर जा रहा है। 'ज्ञानी निजस्वरूप में परिपूर्णरूप से स्थिर हो जाने को तरसता है।' - धर्मी तो अंदर में जम जाने को तरसता है, (राग आता है, फिर भी) उसमें रहना, वह उसका काम नहीं है। 'यह विभावभाव हमारा देश नहीं है।' - दया, दान, व्रत, भक्ति, देव-गुरु-शास्त्र का विनय, पठन इत्यादि विकल्प, हमारा देश नहीं है। अरे ! 'इस परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे ? हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता।' - राग आता है, पर हमें रुचता (जचता) नहीं। अरे...रे ! हम कहाँ जा पहुँचे ? आहाहा ! 'यहाँ हमारा कोई नहीं है।' - हमारा राग तथा (अन्य) कोई चीज़ हमारी नहीं है। आहाहा ! **यह चीज़ ('वचनामृत') तो अलौकिक है ! बहिन के अंतरमें से निकल रही भाषा... यह तो (पुस्तकरूप में) आ गई। अन्यथा तो कोई लिख ले और इसका पता लग जाये तो (बहिन कह देती हैं कि) प्रकाशित नहीं करना है ! यह तो बिटियाँलोगों (ब्रह्मचारी बहिनों) ने अंगतरूप से लिख लिया और यह (पुस्तक) बाहर आ गयी।** (कहते हैं कि :) 'यहाँ हमारा कोई नहीं है।' - अरे...रे ! दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम में हमारा कुछ नहीं। (ये) कोई चीज़ हमारी नहीं। उसमें हमारे स्वजन नहीं। हमारे सत् + जन = सत् भगवान आत्मा, उसकी जो निर्मल परिणति, वह सत्‌गन; राग में नहीं है। 'जहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, आनंद, वीर्यादि अनंतगुणरूप हमारा परिवार बसता है।' - जहाँ अंतर में ज्ञान, श्रद्धा, (श्रद्धा माने समकित। समकित माने त्रिकाली की श्रद्धा), चारित्र, आनंद, वीर्य आदि अनंतगुण (रूप) हमारा परिवार बसता है। हमारा परिवार वहाँ आनंद में है। दया, दान, व्रतादि विकल्प में हमारा परिवार नहीं है। राग हमारा परिवार नहीं, प्रभु ! अर..र ! जो क्रिया-कांड के विकल्प उठ रहे हैं वह तो ज़हर है; वह हमारा देश नहीं। यह वीर्यादि अनंतगुण हमारा परिवार है, वह हमारा स्वदेश है।

श्रीमद् ने ('धन्य रे दिवस आज का अहो' काव्य में) कहा न...! 'अवश्य कर्म का भोग है।' - राग अभी टलता नहीं है, प्रभु ! अस्थिरता दिख रही है, तो अभी राग को भुगतना है ऐसा दिखता है। आनंद के भोग के साथ में राग को (भी) भोगने का अभी दिख रहा है। केवल आनंद का भोग अभी दिखता नहीं है। अभी दुःख का वेदन (भी है)। राग कहो या दुःख कहो। ये व्रत, तप, भक्ति के विकल्प हैं वे दुःख हैं, राग हैं। आहाहा ! अब लोग उसे (राग को) धर्म मानकर (हम) 'धर्मी' हैं (ऐसा मानते / मनवाते हैं) ! अरे...रे ! कहाँ जायेंगे ? ऐसे मिथ्यात्वभाव के सेवन (द्वारा) तो निगोद में जायेंगे।

कठिन बात है, प्रभु ! क्या करें ? यहाँ तो सत्य की बात है ! (बेनश्री) कहती हैं कि `अनंतगुणरूप हमारा परिवार बसता है, वह हमारा स्वदेश है।' श्रीमद् ने कहा न... `अवश्य कर्म का भोग है, भोगना अवशेष रे; इसलिये देह एक ही धारण करके; जायेंगे स्वरूप स्वदेश रे...' उनके (श्रीमद्‌जी के) कुछेक भक्त ऐसा कहते हैं कि : वे तो महाविदेह में गये (हैं) - `एक देह' कहा है न...? (लेकिन) सीधे महाविदेह में गये (हैं), यह बात गलत है ! (क्योंकि) सम्यग्दृष्टि (यहाँ से सीधे) महाविदेह में जन्म नहीं लेते ! मनुष्य मरकर मनुष्य होवे ऐसा (तो) मिथ्यादृष्टि हो (तो ही बन सके)। (किन्तु) सम्यग्दृष्टि को (यदि) राग बाकी रहे, तो वे वैमानिक में देव होवे, देवी भी नहीं बनते। आहाहा ! (श्रीमद्‌जी) कहते हैं कि `अवश्य कर्म का भोग है, भोगना अवशेष रे; इसलिये देह एक ही धारण करके...' `यह देह' कौन ? साधक का जो देह है वह, बीच में (जो) देव का देह (होवे) उसकी गिनती नहीं है। तो इसका अर्थ (समझे बिना) लोग ऐसा कहते हैं कि : (श्रीमद्‌जी) महाविदेह में केवलज्ञान में विचरण करते हैं। यहाँ कहते हैं कि `एक देह धारण करना है।' - कैसा ? कि : मनुष्यपने का - साधक का - देह धारण करके `जायेंगे स्वरूप स्वदेश रे...' - अपने स्वरूप-स्वदेश में (जायेंगे)। यानी कि, हम पूर्णता को प्राप्त करेंगे, फिर स्वदेशमें से बाहर निकलेंगे नहीं ! यहाँ (बहिनश्री) ऐसा कहती हैं : `वह हमारा स्वदेश है। अब हम उस स्वरूप स्वदेश की ओर जा रहे हैं।' - उस (स्वरूप) की ओर झुक रहे हैं। `हमें झट से हमारे मूल वतन में' - हमारा मूल वतन भगवानआत्मा (है); राग मूल वतन नहीं है; भगवान नित्यानंद प्रभु (है) वह मूल वतन है। (वहाँ) हमें जल्दी से - शीघ्र पुरुषार्थ से `जाकर आराम से बसना है जहाँ सब हमारे हैं।' - आनंद व ज्ञान हमारे हैं वहाँ जाकर बसना है !

यहाँ कहते हैं कि : `**जो औपशमिकादि तीन भाव (हैं), वे समस्त रागादि से रहित**' (हैं)। अर्थात् उन तीन भावों में किंचित् भी राग नहीं है। अर्थात् आत्मा की भावना में किंचित् (मात्र) राग नहीं है। अर्थात् आत्मा की भावनारूप मोक्षमार्ग में किंचित् राग नहीं है। राग (है) वह मोक्षमार्ग नहीं है। राग बंध का कारण है। आत्मा के मोक्षमार्ग में वह नहीं है। आहाहा !

(फिर भी) यहाँ (संप्रदाय में) तो राग की क्रिया करे, और (ऐसा मानते हैं कि) `हम धर्मी हैं...' `हम धर्म करते हैं !' (किन्तु ऐसी मान्यता) तो मिथ्यात्व का पोषण करती है। और (ऐसा करके) अनंत संसार की बढ़ोत्तरी करता जाता है। परंतु (लोगों को) यह (सत्य की) खबर नहीं है, कि ऐसा बाह्य त्याग करके `हम त्यागी हैं...' `हमने त्याग किया है,' (तो ऐसा मानने में) किसका त्याग है ? कि : (वह तो) `स्वधर्म' का त्याग है।

यहाँ कहते हैं कि : समस्त रागादि से (रहित) ये (जो) तीन भाव हैं वे द्रव्य की भावना है। अर्थात् जो वस्तु की भावनारूप मोक्षमार्ग है, वह तीन भावरूप है। वह समस्त रागादि, यानी समस्त राग-द्वेष, विषय-वासना, दया-दान-व्रतादि के विकल्पों से रहित है। कुछ समझ में आया ?

ऐसा (सूक्ष्म तत्त्व) है, भाई ! दुनिया को रुचे या न रुचे । (पर यह बात तो वीतराग के घर की है; लेकिन) पक्ष में पड़े हो ऐसे कुछ लोगों को जचे नहीं, भाई ! साधुपना तो कोई अलौकि चीज़ है ! उनको क्षण-क्षण में सातवाँ और छठा गुणस्थान आता है। क्षण में सातवें में निर्विकल्प आनंद और क्षण में छठवाँ। समकित तो पहले (चौथे में) होता ही है। इसके हुए बिना, छठा कहाँ से आया ? यहाँ (संप्रदाय में) तो समकित का (कोई) ठिकाना नहीं (फिर भी) मुनि हो गये ! आहाहा ! सूक्ष्म बात है, प्रभु !

यहाँ कहते हैं : '**ये**' (औपशमिकादि तीन भाव), '**समस्त रागादि से**' (अर्थात् सर्व प्रकार के द्वेष और विषयवासनादि अशुभ और शुभराग से) '**रहित होने के कारण, शुद्ध उपादानकारणभूत (होने से वे मोक्षकारण हैं)।**'

उपादान दो प्रकार के हैं : एक ध्रुव उपादान और एक क्षणिक उपादान। (यहाँ) यह बात क्षणिक उपादान की चल रही है। ध्रुव उपादान तो त्रिकाली नित्यानंद प्रभु (द्रव्य है)। और यह जो शुद्ध उपादान (कारणभूत कहा) है, वह पर्याय है। अर्थात् निर्मल वीतरागीपर्याय, वह शुद्ध उपादान (कारण)भूत (क्षणिक उपादान) है।

आहाहा ! यह तो दिगंबर संत जयसेन आचार्यदेव की संस्कृत टीका है ! उन्होंने बनाई, जगत को (यह) पसंद आये या पसंद न आये... क्या करें ? मार्ग तो यह है, भाई ! आहाहा ! प्रभु ! तेरे लाभ का कारण तो यह मार्ग है। बाकी नुकसान के कारणों का (सेवन) तो तू अनादि से कर रहा है।

ये (तीन भाव), समस्त रागादि से रहित होने के कारण, शुद्ध उपादानकारणभूत होनेसे (मोक्ष का कारण है)।

एक शुद्ध उपादान 'ध्रुव' है। और एक रागादि अशुद्ध उपादान मलिन है। - क्या कहा ? (कि :) एक, त्रिकाली ध्रुव शुद्ध उपादान है। और एक, राग-दया-दानादि अशुद्ध उपादान मलिन (पर्याय) है। और (एक), यह (जो उपशमादि तीनों भाव हैं वे) शुद्ध उपादान निर्मल पर्याय हैं। अरे...रे ! ऐसा है ! तीन प्रकार के उपादान ! दो प्रकार के उपादान स्वयं की पर्याय में होते हैं। और एक उपादान, ध्रुव (द्रव्य है)। उस कायमी चीज़ को भी उपादान कहते हैं। ऐसा 'चिद्‌विलास' में आता है।

आहाहा ! (ये उपशमादि तीन भाव को) शुद्ध उपादान कहा न...! क्योंकि - दया, दान, व्रत, भक्ति के (जो) भाव हैं, वे अशुद्ध उपादान हैं; मलिन हैं, मैल हैं; वे मोक्ष का मार्ग नहीं है। अरे...रे ! ऐसी बात (अन्य) कहाँ ?

(ये तीन भाव) शुद्ध उपादानकारणभूत (होनेसे वे) मोक्ष का कारण है। आहाहा ! वस्तुस्वभाव जो नित्यानंद - सच्चिदानंद प्रभु; उसकी `भावना' (अर्थात् अंतरसन्मुख होकर एकाग्रता, यह एकाग्रता है वह `भावना') औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीन भावरूप है। वे तीन भाव समस्त रागादि से रहित हैं। वे ही मोक्ष के कारण हैं। वे शुद्ध उपादानभूत मोक्ष के कारण हैं।

आहाहा ! `शुद्ध उपादानकारणभूत' पर्याय होने से मोक्ष का कारण है; यह `भावना'। राग रहित ये `तीनभाव' मोक्ष का कारण है। त्रिकाली द्रव्य की एकाग्रता, शुद्ध परिणमन, वीतरागी आनंद का वेदन, - ये तीन भावरूप हैं; वे समस्त राग से रहित हैं; वे मोक्ष का कारण हैं; वे `शुद्ध उपादानकारणभूत' हैं। कुछ समझ में आता है ?

`**परंतु शुद्ध पारिणामिक नहीं।**' आहाहा ! त्रिकाली है वह मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का `कारण' मोक्ष-पर्याय है। तो उसका - मोक्ष का कारण भी निर्मल पर्याय - शुद्ध पर्याय है; त्रिकाली शुद्ध पारिणामिक भाव (मोक्ष का कारण नहीं है)। यहाँ तो अभी यह बताना है। वरना तो त्रिकाली - कारण परमात्मा वही मोक्ष का कारण है।

यहाँ तो बताना क्या है ? कि : जो (औपशमिकादि) तीन भाव हैं, वे शुद्ध उपादान (कारण)भूत हैं, इस कारण से, वे मोक्ष का कारण है; परंतु शुद्धपारिणामिक (भाव) नहीं। (क्योंकि) त्रिकाली (है वह) पर्यायरूप में आता नहीं है। (अतः) त्रिकाली शुद्धपारिणामिक (भाव) मोक्ष का कारण नहीं है। वह (`मोक्षमार्ग की) पर्याय' मोक्ष का कारण है। `द्रव्य' मोक्ष का कारण नहीं है। - ऐसा बताना है।

बाकी तो, त्रिकाली वस्तु-कारण परमात्मा वह मोक्ष का कारण है। मोक्ष के मार्ग को (`मोक्ष') का कारण कहना, वह अभी व्यवहार है। - यह क्या कहा ? (कि :) मोक्ष के मार्ग का - पूर्व पर्याय का - व्यय होकर मोक्ष की पर्याय उत्पन्न होती है, तो यह तो व्यवहार हुआ। परंतु वास्तव में (तो) मोक्ष की पर्याय का कारण द्रव्यस्वभाव है। द्रव्य के अवलंबन से मोक्ष की पर्याय उत्पन्न होती है। मोक्ष के मार्ग द्वारा मोक्ष की पर्याय उत्पन्न नहीं होती।

आहाहा ! ऐसी बातें !! एक तरफ कहना : कार्यपरमात्मा - केवलज्ञान; उसका कारण कारणपरमात्मा - त्रिकाली ! (और) यहाँ कहते हैं कि : कारणपरमात्मा - त्रिकाली; उसकी भावना, यह तो वर्तमान पर्याय है, वह त्रिकाली नहीं है; वह `वर्तमान पर्याय' है।

वह मोक्ष का कारण है। पर वह (त्रिकाली) द्रव्य, मोक्ष का कारण नहीं है ! कुछ समझ में आया ?

जिज्ञासा : यहाँ त्रिकाली को अकर्ता सिद्ध किया ?

समाधान : `त्रिकाली' पर्याय में आया नहीं। यहाँ तो पर्याय को मोक्ष का कारण बताया है न ! तीन भावों को मोक्ष का कारण बताना है। वे तीन भाव (हैं), वे कोई द्रव्य नहीं हैं, यह बताना है। अन्यथा तो त्रिकाली कारणपरमात्मा, वह केवलज्ञानकार्य का कारण है। `नियमसार' गाथा - १० में आता है : `कार्य परमात्मा' अर्थात् केवलज्ञान - उसका कारण `कारणपरमात्मा'। `त्रिकाली द्रव्य' कारणपरमात्मा और `केवलज्ञान' कार्यपरमात्मा। यह बात दूसरी अपेक्षा से है।

यहाँ तो शुद्धपारिणामिकभाव - त्रिकाली, वह पर्याय में नहीं आता। पर्याय है वह वर्तमान - पलटती हुई दशा (है)। त्रिकाली द्रव्य के अवलंबन से तो वह पलटनेवाली दशा शुद्ध हुई। अर्थात् त्रिकाली भगवान के अवलंबन से जो शुद्ध परिणति हुई, वह समस्त रागादि से रहित, तीन भावस्वरूप मोक्ष का कारण है। तीन भावस्वरूप शुद्ध उपादानभूत मोक्ष का कारण है।

आहाहा ! एकबार ऐसा कहे कि : यह `कारणपरमात्मा', कार्यपरमात्मा का `कारण' (है)। केवलज्ञान - परमात्मदशा कार्य है। कार्य अर्थात् पर्याय है। तो उस कार्यपरमात्मा का `कारण', द्रव्य है ! यहाँ तो पूर्ण (-मोक्ष) पर्याय का `कारण', (मोक्षमार्ग-) पर्याय है - ऐसा बताना है ! वह `पर्याय' द्रव्य के अवलंबन से, त्रिकाली भगवान परमात्मा के ध्येय से उत्पन्न हुई है। किन्तु उत्पन्न हुई, वह पर्याय है; और (वह) पर्याय तीन भावस्वरूप है। कुछ समझ में आता है ?

आहाहा ! ऐसा उपदेश ! घंटाभर ऐसा आये ! कितनी बातें याद रहें ? (लोग) रुपयों में - धूल में रुक गये ! ऐसे में (तत्त्व-) निर्णय करने का समय भी न मिले।

एक तरफ (`नियमसार' में) कहे कि : कार्यपरमात्मा (- मोक्ष-केवलज्ञान); उसका `कारण' कारणपरमात्मा द्रव्य है। और यहाँ मोक्ष का मार्ग - पर्याय है; वह `पर्याय', मोक्ष का कारण है। अर्थात् केवलज्ञान - मोक्ष का कारण `पर्याय' है; मोक्ष का कारण `परमात्मा' (-द्रव्य) नहीं। क्योंकि, (यहाँ) पर्याय को द्रव्य से भिन्न बताना है। आहाहा ! मोक्ष का कारण शुद्धपारिणामिक (भाव) नहीं है ! (औपशमिकादि) पर्याय को मोक्ष का कारण बताना है। (इसलिये ऐसा कहा कि :) शुद्धपारिणामिक (मोक्ष का कारण) नहीं। और उस पर्याय को शुद्धपारिणामिकभाव से कथंचित् भिन्न बताना है। त्रिकाली शुद्धपारिणामिकभाव `ध्रुव' है। वास्तव में तो केवलज्ञान-कार्यपरमात्मा; उसका `कारण' कारणपरमात्मा है। पर यहाँ (तो)

पर्याय को, द्रव्य से कथंचित् भिन्न और मोक्ष का मार्ग - वह मोक्ष का `कारण' है, ऐसा बताने के लिये (कहा कि:) यह शुद्धपारिणामिकभाव मोक्ष का `कारण' नहीं है ! कुछ समझ में आता है ? आहाहा ! यहाँ घंटेभर में बात कैसी आती हैं ! यह (बात) कोई बहीखाते में दिखे (ऐसी नहीं है)। और संप्रदाय में जाये तो (यह बात) सुनने मिलती नहीं।

जिज्ञासा : पर्याय पर्याय का `कारण' हुआ ?

समाधान : यहाँ पर्याय को मोक्ष का कारण बताना है। द्रव्य है वह तो कूटस्थ - ध्रुव है। संवर-निर्जरा को `मोक्ष का कारण' बताना है। संवर-निर्जरा, वह उपशम-क्षयोपशम-क्षायिकभाव (रूप) है। ये तीन पर्याय मोक्ष का कारण है, ऐसा बताना है।

आहाहा ! `नियमसार' गाथा - ३८ में तो आया न...! त्रिकाली आत्मा ही उपादेय है। पर्याय उपादेय नहीं है। संवर, निर्जरा और केवलज्ञान, यह पर्यायतत्त्व है, नाशवान है; क्योंकि : एक समय की अवस्था है, बदलती - नाशवान है। और कारणपरमात्मा अविनाशी है, अतः वह तत्त्व है, वह (ही) वास्तव में आत्मा है। कुछ समझ में आता है ?

यहाँ दूसरी चीज़ बतानी है। यहाँ तो बताना है कि : मोक्ष का कारण जो (है, वह) पर्याय है, वह `पर्याय' द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। अतः वीतरागी पर्याय को मोक्ष का कारण कहा। वह वीतरागी पर्याय, वीतरागी द्रव्य के अवलंबन से उत्पन्न हुई है; अर्थात् त्रिकाली वीतरागबिंब - चैतन्यप्रतिमा के अवलंबन से मोक्ष का मार्ग - तीन भावरूप वीतरागी पर्याय उत्पन्न हुई है; वह `पर्याय' मोक्ष का कारण है। परंतु यह रागादि कारण नहीं है। और यह (वीतरागी पर्याय) मोक्ष का कारण है, यह बताना है। और वह `पर्याय' (मोक्ष का) कारण है और `वह पर्याय' द्रव्य से कथंचित् भिन्न है, यह सिद्ध करना है। क्योंकि, उस (मोक्षमार्ग की) पर्याय का तो मोक्ष होने पर नाश होगा; (अब) अगर वह पर्याय और द्रव्य एक हो, तो पर्याय का नाश होने पर द्रव्य का भी नाश हो जाये; (लेकिन) द्रव्य तो अविनाशी - त्रिकाल है ! आहाहा ! भगवान(आत्मा) तो त्रिकाली आनंद का नाथ, पूर्णानंद (प्रभु), अनंत गुण का पिण्ड प्रभु (है), वह त्रिकाल अविनाशी है। अर...र..र ! उसमें पलटा-पलटी नहीं। (वह) नाशवान नहीं !

आहाहा ! `शुद्धपारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है।' यहाँ यह कहना है...हं ! और अन्यत्र (`नियमसार' में ऐसा) बताना है कि : `मोक्ष' कार्यपरमात्मा; उसका कारण, `कारणपरमात्मा'। (किन्तु) यहाँ (इस बात की) ना देते हैं - किस अपेक्षा से ? (कि :) पर्याय को सिद्ध करनी है और पर्याय को नाशवान सिद्ध करनी है, और पर्याय को द्रव्य से कथंचित् भिन्न सिद्ध करनी है। आहाहा ! कुछ समझ में आया ? समझ में न आये तो रात्रि को (चर्चा में) प्रश्न पूछना। निःसंकोच (होकर) पूछना।

आहाहा ! क्या कहते हैं ? कि : भगवानआत्मा, पूर्णानंदमूर्ति, ध्रुव प्रभु - उसे ध्येय बनाकर, (उसका) अवलंबन लेकर, (उसका लक्ष करके, आश्रय करके) जो पर्याय उत्पन्न हुई, उसे 'भावना' कहा। उसे उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक - तीन भावस्वरूप कही। वह (शुद्ध पारिणामिकभाव से भिन्न है। क्योंकि : तीन भाव पर्यायरूप है और (शुद्ध-) पारिणामिक द्रव्यरूप है !

आहाहा ! ऐसी बातें कहाँ ? (लोग) कुछ समझे नहीं ! और ऐसा कोई प्रचलन आजकल (दिगंबर संप्रदाय में) चला है न... बस ! पडिमा (प्रतिमा) ले लो, दो पडिमा... चार पडिमा... छह पडिमा... ग्यारह पडिमा ! पर अभी तेरा सम्यग्दर्शन का या व्यवहार का भी (कोई) ठिकाना नहीं है ! (तो) वह पडिमा आई कहाँ से ? आहाहा ! सेठलोग (स्वयं) त्याग नहीं करते इसलिये त्यागी को देखा तो अहो...हो ! उसने यह त्याग किया... यह त्याग किया !

(अब, यहाँ कहते हैं कि :) '**जो शक्तिरूप मोक्ष है**' व्यक्तरूप मोक्ष की बात तो (पहले) चली। - क्या कहा ? लो, समय हो गया। विशेष कहेंगे....

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-१० ता. ७-८-१९७९

यह आत्मा, परमानंद और परम वीतरागस्वरूप - मुक्तस्वरूप है ! द्रव्य तो नित्य है। उस मुक्त (स्वरूप) का अंतर्मुख होकर, प्रतीति-अनुभव-वेदन करना, सो धर्म की - मोक्षमार्ग की दशा है। आहाहा ! भगवान परिपूर्ण प्रभु के (सन्मुख के), ये जो मोक्षमार्ग के परिणाम हैं, उनका तो पूर्ण परमात्मदशा प्राप्त होवे, तब तो नाश हो जाता है; इस कारण से, मोक्षमार्ग के ये परिणाम, शक्तिरूप-मोक्षस्वरूप भगवानआत्मा से भिन्न हैं ! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! यह आत्मा - द्रव्य मुक्तस्वरूप ही है ! सो कहेंगे :

'**जो शक्तिरूप मोक्ष है वह तो शुद्धपारिणामिक है।**' आहाहा ! मोक्षस्वरूप - मुक्तस्वरूप द्रव्य तो मुक्तस्वरूप ही है ! उसकी शक्ति, उसका सामर्थ्य, उसका स्वभाव, उसका भावपना, - तो परिपूर्ण ही है। शुद्ध है, अखंड है, एक है, अविनाशी है !

यह द्रव्यस्वभाव जो मुक्त है, ऐसे आत्मा के स्वसन्मुख होने से जो सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र (के) परिणाम हो (वह मोक्ष का मार्ग है)।

('समयसार') १४, १५ वीं गाथा में तो ऐसा कहा : प्रभु आत्मा 'अबद्ध' है ! 'बद्ध नहीं' कहो या 'मुक्त' कहो (एकार्थ है)। 'यह आत्मा अबद्ध है' - उसे जो कोई अनुभवपूर्वक जानता है, उसने समस्त जिनशासन जाना। आहाहा !

(इस गाथा में) पाँच बोल हैं : अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त। किन्तु अभी यह एक बोल ('अबद्ध') लिया। (क्योंकि यहाँ) शक्तिरूप मोक्ष की बात चल रही है न...! यह जो वस्तु है, वह 'अबद्धस्वरूप' ही है। 'राग' भावबंध है, वह पर्याय में है; वस्तु में वह नहीं। आहाहा ! ऐसी बात !!

यह वस्तु परमात्मस्वरूप ! उसका अनुभव - आनंद का वेदन, सो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है; वह पर्याय, त्रिकाली ज्ञायकभाव जो शक्तिरूप मोक्ष है, उससे कथंचित् भिन्न है !

अरे...रे ! शरीर, वाणी, लक्ष्मी, ये तो बहुत दूर रह गये ! शरीर और कर्म - ये तो (बिल्कुल भिन्न ही हैं)। आहाहा ! एक बार कहा था न (कि :) जो परमाणु, बिच्छू के डंक और सर्प की दाढ़ में विषरूप में परिणमित हुए थे, वही परमाणु इस (शरीररूप में अभी) हैं। आहाहा ! जो परमाणु ज़हररूप में परिणमित हुए थे वे परमाणु, अभी इस शरीररूप में परिणमित हुए हैं। आहाहा ! उस चीज़ (-शरीर) से तो 'प्रभु' निराला - अभावस्वरूप ही है। शरीर से, कर्म से, लक्ष्मी से, स्त्री से, कुटुंब से अरे ! देव, गुरु और शास्त्र से तो भगवान(आत्मा) अभावस्वरूप है। 'कर्म का अभाव होनेपर मुक्ति होती है' यह तो व्यवहार का कथन है। क्योंकि इसमें (आत्मा में) तो (कर्म का) अभाव है; (अतः) 'अभाव का अभाव करना' यह कोई चीज़ नहीं है।

अपने में (आत्म में) 'अभाव' नाम का एक गुण है। प्रभु ! आत्मा में शक्तियाँ अनंत हैं, गुण अनंत हैं, उसमें एक गुण 'अभाव' नाम का है। वह 'अभाव गुण' पर की अपेक्षा रखे बिना (परिणमन करता है)। पर के अभावस्वभावरूप के कारण परिणमन नहीं करता। स्वयं का स्वभाव ही पर से अभावस्वरूप परिणमन करने का है। पर का अभाव हुआ, तो यहाँ (आत्मा) अभावस्वरूप परिणमित हुआ; ऐसा नहीं। भगवानआत्मा में अभाव नाम का एक गुण है; जिसके कारण, पर के अभावस्वभावरूप परिणमन करना ऐसा स्वयं का स्वभाव है। पर का अभाव होता है, तो अपना परिणमन अभावस्वरूप हुआ, ऐसा नहीं। आहाहा ! स्वयं का स्वभाव ही पर के अभावस्वभावरूप है। (उस-रूप) परिणमन करना ऐसा स्वयं का अभावस्वभावगुण है। आहाहा ! ऐसी बात !!

यह यहाँ कहते हैं कि : जो अभावस्वभावगुण ऐसा जो भगवानआत्मा ! - इसके अनुभव में, (यह) अनुभव हुआ (कि) 'यह आत्मा ! शुद्ध चैतन्य है।' उसके सन्मुख होकर

(जो) सम्यग्दर्शन, ज्ञान व आनंद का अनुभव हुआ - `वह पर्याय,' त्रिकाली-ज्ञायकभाव-ध्रुव-अबद्धस्वरूप से कथंचित् भिन्न है। क्योंकि, `उस पर्याय' का नाश होता है, और फिर मोक्ष होता है। यदि `वह पर्याय' आत्मा के साथ अभिन्न हो, तो `उस पर्याय' का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जावे। अरे...रे ! ऐसी बात कहाँ (सुनने को मिले) ? कहते हैं कि : पारिणामिकभाव से, (पर्याय) कथंचित् भिन्न (है। यह सिद्ध किया।

कहते हैं कि : यह बात तो व्यक्त की - मोक्ष की अपेक्षा से है। अर्थात् व्यक्त मोक्ष की अपेक्षा से बात है; (किन्तु शक्तिरूप मोक्ष की बात नहीं है)। (अर्थात्) जिस मोक्षमार्ग - परिणाम का नाश होकर मोक्ष की पर्याय प्रगट होती है, उस व्यक्त मोक्ष-पर्याय की अपेक्षा से बात है। (अहो !) ऐसी भाषा !!

- क्या कहते हैं ? कि : अपने शुद्ध अखंडानंद प्रभु का अनुभव - आनंद का वेदन आया तथापि आनंद की वह पर्याय, त्रिकाल (आत्मा) से कथंचित् भिन्न है ! क्योंकि : उस पर्याय का नाश (व्यय) होकर, जब पूर्ण पर्याय प्रगट होती है, तब `उस पर्याय' का तो नाश होता है; (अब) अगर `वह पर्याय' आत्मा के साथ अभिन्न होवे, तो `उस पर्याय' का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाये; (किन्तु ऐसा बनता नहीं; अतः `वह पर्याय' कथंचित् भिन्न है)। आहाहा ! ऐसी बात है, प्रभु !

अब, बात चल रही है : जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो त्रिकाल मोक्षस्वरूप ही है। यदि शक्तिरूप मोक्ष न होवे, तो व्यक्तरूप मोक्ष की पर्याय आयेगी कहाँ से ? कुछ समझ में आया ? आहाहा ! **`जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो शुद्धपारिणामिक है।'** वह तो सहज स्वभाव त्रिकाल है। इसमें (मोक्ष) प्रगट होना और (मोक्षमार्ग की पर्याय का) अभाव होना - ऐसी (स्थिति) चीज़ (आत्मा) में नहीं है ! आहाहा ! `जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो शुद्धपारिणामिक है।' शुद्धपारिणामिक कहो या परमपारिणामिक कहो (एक ही है)। यहाँ `मुक्तस्वरूप' कहना है न...! वस्तु...हं ! वस्तु जो शुद्धपारिणामिकभाव; वह तो त्रिकाल शुद्धपारिणामिक शक्तिरूप मोक्ष है।

अरे...रे ! ऐसी बातें !! संसार का जंजाल - मात्र बंधन... बंधन... बंधन ! - इसमें से - पर्याय के बंधन से - छूटने पर, त्रिकाल अबंध की दृष्टि होवे ! कुछ समझ में आया ? पर्याय में, राग के बंधन से छुटकारा (हो) तब, त्रिकाली अबंध अर्थात् शक्ति(रूप) मोक्ष का अनुभव होता है। आहाहा ! प्रभु के घर का उपदेश ऐसा है, प्रभु !

आहाहा ! **`(जो) शक्तिरूप मोक्ष (है) वह तो शुद्धपारिणामिक है।'** त्रिकाल है। यह तो **`पहले से ही विद्यमान है।'** - शक्तिरूप मोक्ष तो प्रथम से ही विद्यमान है। यह तो व्यक्तिरूप मोक्ष की बात की; अर्थात् मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश होकर व्यक्तिरूप

मोक्ष होता है, उसकी बात की है। बाकी जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो त्रिकाल विद्यमान है। आहाहा !

`शक्तिरूप मोक्ष' और `व्यक्तिरूप मोक्ष' - यह क्या ? कुछ समझ में आया ? भगवान आत्मा द्रव्यस्वरूप है; आखिर में यहाँ तक आयेगा (कि:) वह सकल निरावरण है ! अर्थात् वस्तु तो सकल निरावरण है, अखंड है, एक है, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है, अविनश्वर है ! आहाहा ! शुद्धपारिणामिक परमभावलक्षण, निज परमात्म द्रव्य, वह तो त्रिकाल शक्तिरूप मोक्ष है। वह शक्तिरूप - मोक्षस्वरूप जो द्रव्य है, उसका अनुभव होना, वह `जैनधर्म' और `जैनशासन' है ! आहाहा ! `समस्त जैनशासन' इसमें (- अनुभव में) समा जाता है।

कोई क्रिया-कांड, दया और व्रत और भक्ति और पूजा; यह कोई `जैनधर्म' नहीं है। वह तो `रागधर्म' है। राग का स्व-भाव है ! `जैनधर्म' पूर्णानंद का नाथ; वह तो `जिनस्वरूप' ही है। `समयसार नाटक'में से कई बार कहते हैं (हम) : `घट घट अंतर जिन बसै।' आहाहा ! शक्तिरूप मोक्ष कहा न...! वह `जिनस्वरूप' है। अर्थात् जो शक्तिरूप मोक्ष कहा वह जिनस्वरूप है, वीतरागस्वरूपी है; अकषायस्वरूप है, पूर्णानंद स्वरूपी है !

आहाहा ! `घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन।' - इसका अर्थ क्या किया ? कि : बाहर में छह खंड का राज्य हो, फिर भी अंतर में जिनस्वरूप का अनुभव हुआ, तो (वह) अंतर में जैनपना है ! `जैनपना' कोई बाह्य क्रिया-कांड में नहीं ! बाहर में (भले) छह खंड का राज्य, शांतिनाथ - कुंथुनाथ - अरनाथ (जैसे) क्षायिक समकिती - चक्रवर्ती को हो, ९६ हज़ार स्त्री, ९६ करोड़ थलसेना हो; (तथापि ऐसा अनुभव निरंतर वर्तता है कि :) `मैं वह नहीं। वह मैं नहीं।' `वे मेरे में नहीं।' `वे (छह खंड आदि) तो मेरे में नहीं हैं, किन्तु जो (अस्थिरता का) राग है वह भी मेरे में नहीं है। वह राग तो मेरे में नहीं, किन्तु राग को जाननेवाली पर्याय भी मेरे में नहीं।' आहाहा ! ऐसी बात है, भाई ! सूक्ष्म लगे पर क्या करें, भाई ?

प्रश्न : त्याग करना... व्रतपालन करना... (ऐसे) साधन तो आप कुछ बताते नहीं हो !

उत्तर : साधन `यह' है ! अपनी प्रज्ञाछैनी के द्वारा राग से भिन्न होकर, स्वभाव और विभाव के बीच, प्रज्ञाछैनी मारना और भेद करना - यह साधन है ! जो दया - दान - व्रतादि विकल्प राग है और जो भगवान आत्मा है, (इन दोनों के) बीच संधि है, दरार है, जोड़ है; एक नहीं हुए; अनादि से एक नहीं हैं। (अज्ञानी ने) सिर्फ मान्यता की है कि `यह राग मैं हूँ' अथवा `पर्याय जितना मैं हूँ' ऐसी उसकी मान्यता मिथ्या है। वरना (वास्तव में) तो राग चाहे तो (वह) व्रत और तप का विकल्प हो; वह राग,

और भगवानआत्मा दोनों के बीच संधि है। (उसमें प्रज्ञाछैनी द्वारा भेदज्ञान करना यही साधन है)।

(जैसे) बड़ी चट्टान हो उसमें बीच में संधि - दरार होती है। उस दरार में सुरंग (बारुद) भर के फोड़े तो वहाँ लाखों मन पथ्थर उड़ जाये। यानी नीचे के भिन्न रह जाये और ऊपर के भिन्न। राजकोट में देखा था। उन (पथ्थरों) के बीच दरार है। और वे दोनों पथ्थर भी एक नहीं हुए। आहाहा..हा ! कुदरत का स्वभाव तो देखो ! उन पथ्थरों का नीचे का तल (पाट) और ऊपर का पाट सपाट होता है। भीतरी (तल) तो दोनों ही सपाट है। नीचे भी सपाट है; ऊपर भी सपाट है। बाहर की तरफ के पथ्थर, फिर उबड़खाबड़ हो जाते हैं। अंदर तो नैसर्गिकरूप से सपाट है। यह जो (पथ्थर की) लादी है, ऐसी लादी तो अंदर से निकलती है; उसे घिसना नहीं पड़ता। घिसना तो जो ऊपर की (बाहर की) होवे, उसे घिसना पड़ता है। अंदर की चीज़ को तो घिसना नहीं पड़ता। वह तो अंदर से ही ऐसी (सपाट) निकलती है। ऐसी तो दो पाट के बीच संधि है। कुदरत का यह नियम है। आहाहा..हा ! (वैसे) यह भगवान(आत्मा), तीन लोक का नाथ - अतीन्द्रिय आनंद का कंद और राग के बीच संधि है। (आत्मा में) केवल अखंडानंद के (पाट) सपाट भरे हैं। वह `कारणपर्याय'। कहा था न...! `कारणपर्याय' से पूरी सतह त्रिकाल भरी पड़ी है। आहाहा..हा ! राग भिन्न है। `राग सर्वथा भिन्न है। और यह `(कारण)पर्याय' भिन्न है !

आहाहा ! ऐसे द्रव्य की स्थिति, वह तो शक्तिरूप मोक्ष है। यहाँ पर यह (कारणपर्याय की) बात नहीं चल रही। (यहाँ तो जो) शक्तिरूप मोक्ष है वह तो शुद्धपारिणामिक है; (उसकी बात चल रही है)। वह तो पहले से ही विद्यमान है। वह तो अनादि से (ही) विद्यमान है ! आहाहा ! (जैसे) उन पथ्थरों के अंदर के स्तर को चिकना करना नहीं पड़ता, वह तो जब से पथ्थर उत्पन्न हुआ, तब से (चिकने) स्तर सहित ही अंदर है। वैसे भगवानआत्मा तो पूर्ण शुद्ध शक्तिरूप, स्वभावरूप, गुणरूप, भावरूप, पूर्ण (शक्ति)रूप मोक्षस्वरूप ही है। अर्थात् : शुद्ध पारिणामिक स्वभावभाव तो अनादि से विद्यमान ही है; उसे (स्वभाव को) प्रगट करना है, और (मलिन) दशा का नाश करना है और इस (पवित्र दशा) को प्रगट करना है - ऐसा नहीं ! आहाहा !

`**यह तो व्यक्तिरूप मोक्ष का विचार चल रहा है।**' (अर्थात्) जो एक समय की पर्याय में अनंत केवलज्ञान, अनंत आनंद, जो प्रगटरूप - व्यक्त(रूप) मोक्ष है; उसकी बात चल रही है।

`**इसी प्रकार सिद्धांत में कहा है।**' भगवान त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर, वर्तमान

में (महाविदेह में) बिराजमान हैं। (उनकी) दिव्यध्वनि - `मुख ॐकार धुनि सुनि, अर्थ गणधर विचारे, रुचि आगम उपदेश' - गणधर उसमें से आगम की रचना करते हैं। `भविक जीव संशय निवारे।' (अर्थात्) `यह राग मेरा है' ऐसा जो संशय है, उसे पात्र जीव - योग्य जीव - भव्य प्राणी दूर करता है। `राग' और `मैं' सर्वथा भिन्न हूँ (- ऐसी प्रतीति व अनुभव करते हैं)।

जिज्ञासा : विकारी द्रव्य में राग नहीं है तो राग कहाँ रहा ?

समाधान : द्रव्य विकारी है ही नहीं। पर्याय विकारी है। द्रव्य, तीन काल में - कभी भी विकारी हुआ ही नहीं।

श्रोता : तीन काल में अंदर (विकार) नहीं है, तो चिंता किस बात की ?

उत्तर : द्रव्य में (नहीं है); चिंता तो पर्याय में है; उसे टालना है, इसकी बात है, यह भी कहते हैं : `प्रवचनसार' में आता है न...! कि : शुभपरिणाम के समय (द्रव्य) शुभ होता है, अशुभ के समय अशुभ और शुद्ध के समय शुद्ध। तो इसमें से (कोई विद्वान ऐसा अर्थ) निकालते हैं कि : अशुभ के समय `द्रव्य' अशुभ हो जाता है; शुभ के वक्त `द्रव्य' शुभ हो जाता है। किन्तु ऐसा नहीं है ! द्रव्य तो त्रिकाली शुद्ध ही है। शुभ, अशुभ व शुद्ध पर्याय में तन्मय है, द्रव्य में तन्मयता नहीं है।

आहाहा ! ऐसा उपदेश !! अरे...रे ! ऐसी (दुर्लभ) मनुष्यदेह मिली ! वास्तव में तो यह भव, अनंत भव के अभाव के लिये हैं, प्रभु ! अरे...रे ! आहार करने जा रहे थे वहाँ, अभी श्रावण महीने में, नीचे नीम के फूल देखें। आहाहा ! एक-एक फूल में, इतनेसे में, तो असंख्य शरीर और एक-एक शरीर में (निगोद के) अनंत जीव ! एक शरीर में (है, उनसे) अनंत वें भाग में (जीव आज तक) मुक्ति में गये हैं। आहाहा ! ऐसे असंख्य शरीर निगोद के भरे हैं, प्रभु ! अनंत माता-पिता किये, अनंत पत्नियाँ की; जो मरकर (अभी) निगोद में हैं ! अरे प्रभु ! वे निगोद में पड़े हैं। अनंते माता-पिता के जीव, भटकते-भटकते वहाँ (निगोद में) आये हैं। अरे..रे ! अरे..रे ! उसमें से फिर मनुष्यपना होना बहुत दुर्लभ है, भाई ! इसमें (अगर) वीतराग सर्वज्ञ की वास्तविक वाणी सुनने मिले, यह तो कोई अलौकिक बात है ! और उसमें से पुरुषार्थ करके, राग से भिन्न होकर अपने स्वरूप का अनुभव करना, यह तो अलौकिक बातें हैं ! आहाहा ! करना हो तो, यही करने लायक है। बाकी तो सब धूलधानी (व्यर्थ) हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि : सिद्धांत में - वीतरागी आगम में (ऐसा कहा है कि :) `**निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः**' - यह जो शुद्धपारिणामिक त्रिकाली भाव है, वह तो पारिणमन की क्रिया बिना का है। आहाहा..हा ! राग की या वीतरागता की जो पर्याय होती है,

उस पर्याय को 'सक्रिय' कहते हैं। चाहे राग की क्रिया हो, चाहे मोक्षमार्ग की वीतरागी क्रिया हो - उसे 'क्रिया' कहते हैं। प्रभु आत्मा तो उस क्रिया से 'निष्क्रिय' है। आहाहा..हा ! ऐसी बातें !!

'**निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः**' '**(अर्थात्) शुद्धपारिणामिक(भाव) निष्क्रिय है।**' यह वस्तु तो परिणाम की क्रिया-वीतरागी क्रिया से भी रहित है। वह तो निष्क्रिय है ! आहाहा !

शरीर, वाणी, मन की जो क्रिया है, उसे तो आत्मा तीन काल में कर ही नहीं सकता। और कर्म की पर्याय को भी आत्मा कर नहीं सकता। अब, राग आया... उसका अज्ञानभाव से - अपने स्वरूप की ख़बर न हो तो - कर्ता होता है व भोक्ता होता है। और रागरहित वीतरागी दशा हुई, यह वेदन के योग्य (तो) है, किन्तु वह क्रिया - वीतरागी परिणति - द्रव्य में नहीं है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

सूक्ष्म बात है, भाई ! यहाँ तो कहाँ-कहाँ से लोग आये हैं ! तो यह 'सत्य' क्या है - इसे ख़याल में तो लेना चाहिए न ! भाई !

'**निष्क्रिय का क्या अर्थ है ?**' प्रभु आप तो कहते हो कि : द्रव्य जो पारिणामिकस्वभावभाव त्रिकाल है, वह तो निष्क्रिय है। (तो) निष्क्रिय का अर्थ आप क्या करते हो ? - '**(शुद्धपारिणामिकभाव) बंध की कारणभूत जो क्रिया - रागादि परिणति, (उस-रूप नहीं है)।**' अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध आदि जो परिणति है, वह तो द्रव्य में नहीं है। - उससे तो भगवान रहित है। रागादिपरिणति, (अर्थात्) दोनों राग शुभ या अशुभ। चाहे तो व्रत का राग हो और उपवास करता हो; ऐसा विकल्प-राग हो तो वह शुभ। और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना यह अशुभ। इन (दोनों) रागादि क्रिया से भगवान(आत्मा) तो रहित है ! आहाहा ! उसमें तो अनंती ईश्वरता भरी है ! (आत्मा में) एक प्रभुत्व नाम का गुण है। उसका - ईश्वरता का रूप अनंतगुण में है। (इसलिये) ये अनंत ईश्वर अंदर पड़े (विद्यमान) हैं। आहाहा..हा ! अनंतगुण, अनंत-अनंत ईश्वर हैं। ये अनंत ईश्वर, अनंत प्रभुता से भरे पड़े हैं ! ऐसी निष्क्रिय चीज़ (भगवानआत्मा) में रागादि परिणति का अभाव है। आहाहा !

'बंध के कारणभूत जो क्रिया, उस-रूप, (शुद्धपारिणामिकभाव) नहीं है।' भाषा देखो ! राग की ये शुभ व अशुभ क्रिया, यह बंध की कारणभूत है। यह भी साथ में सिद्ध करते हैं : जो शुभ-अशुभभाव हैं वे बंध का कारण (हैं)। दया, दान, व्रत, भक्ति, प्रतिमा आदि के भाव, सब बंध के कारण हैं। आहाहा ! कठिन पड़े (लोगों को)। 'बंध की कारणभूत जो क्रिया' (अर्थात्:) राग-द्वेष, विषयवासना, दया, दान, व्रतादि की (क्रिया) - 'रागादि परिणति,' उस-रूप शुद्धपारिणामिकभाव नहीं है।

आहाहा ! यहाँ तो यह बाहर की - शरीर की, इन्द्रियों की - चेष्टा, और उसकी विशेषता भासित हो, वहाँ तो वह मिथ्यात्वभाव है। स्वयं की विशेषता भासित न हो; और पर की ज़रा भी, किसी चीज की विशेषता भासित हो कि, यह मेरे पास हो तो) ठीक...! (अथवा) स्वयं की चीज़ की विस्मयता के सामने वह (परचीज़) भी विस्मय (कारी) है ! - ऐसा जानना, यह मिथ्यात्व है। (परंतु) मिथ्यात्व की वह क्रिया, द्रव्यस्वभाव में नहीं है। बंध के कारण (जो) मिथ्यात्व - रागादि; ये द्रव्यस्वभाव में नहीं हैं। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

`**तथा मोक्ष की कारणभूत जो क्रिया - शुद्धभावनापरिणति,**' अर्थात् मोक्ष की कारणरूप क्रिया यानी वीतरागी परिणति, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र(रूप) जो वीतरागी दशा, - यह शुद्धभावनापरिणति (है)। (वह) शुद्धभाव नहीं है। शुद्धभाव (तो) जो त्रिकाली (द्रव्य); वह तो `निष्क्रिय' है। (और) शुद्धभाव की यह परिणति - पर्याय; (वह) मोक्ष की कारणभूत `क्रिया' (है)। आहाहा..हा !

अरे ! रागादि क्रिया की तो क्या बात करें ? ये (जो) दया, दान, व्रत और प्रतिमा के विकल्प हैं, वे तो बंध के कारण हैं। राग की इन क्रियाओं का तो, प्रभु ! आत्मा में अभाव है। क्योंकि वे तो (बंधकारणभूत) पर्याय हैं। और वस्तु तो अबद्ध है, मुक्तस्वरूप है ! आहाहा..हा !

`तथा मोक्ष की कारणभूत जो क्रिया' - सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः- यह जो `तत्त्वार्थसूत्र' का सूत्र, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र(रूप) वीतरागी परिणति, (जो अपूर्व माने पूर्व में कभी की नहीं वह) मोक्ष का कारण है। उस-रूप भी (भगवान आत्मा) नहीं है। मोक्ष के कारणभूत जो क्रिया, उस-रूप, यह द्रव्य नहीं है ! आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

यह गाथा तो बहुत उत्कृष्ट है। अंतर्मुखदृष्टि का (जो) विषय, (वह) ध्रुव - शुद्धपारिणामिक(भाव) है, उसमें दृष्टि की पर्याय का अभाव है। आहाहा ! जो सम्यग्दर्शन है, `उसका विषय' द्रव्य-ध्रुव है। पर उस `मोक्ष के कारणरूप' सम्यग्दर्शन की पर्याय, द्रव्य में नहीं है। आहाहा ! ऐसी बात है !! महाप्रभु ध्रुव का धाम; यह तो मोक्ष के कारण की क्रिया से (भी) रहित है। - सो दृष्टि का विषय नहीं ! मोक्ष का कारण जो (मोक्षमार्ग की) पर्याय; वह भी दृष्टि का विषय नहीं ! आहाहा ! ऐसा है मार्ग !!

अरे...रे ! लोग कहाँ भटक रहे हैं ! और क्या-क्या मानते हैं ! दिगंबर साधु हुआ, २८ मूलगुण और महाव्रत सच्चे (पालन करे); उसके लिये चौका (लगाने की बात) तो क्या... मगर पानी की बूँद भी (उसके लिये तैयार) करे तो भी ले नहीं; - ऐसी

(निर्दोष) क्रिया अनंत बार की। किन्तु वह क्रिया (तो) राग की क्रिया (है) प्रभु ! उसमें (अगर) लाभ मान लिया तो मिथ्यात्व में रहा।

यहाँ तो आत्मा का स्वरूप, जो परिपूर्ण है; उस परिपूर्ण की प्रतीति, ज्ञान और रमणता, यह मोक्ष की कारणभूत क्रिया, 'उस-रूप' द्रव्य नहीं है। 'उस-रूप' तो पर्याय है; द्रव्य नहीं है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं !!

'मोक्ष की कारणभूत जो क्रिया' - (उसे) कारणभूत क्यों कहा ? कि : उससे मोक्ष तो होगा ही होगा। अर्थात् मोक्ष के कारण की यह जो क्रिया है, उससे मोक्ष होगा ही।

फिर भी, 'उस-रूप भी नहीं है।' (अर्थात्) वह शुद्ध पारिणामिकभाव, जो 'दृष्टि का विषय,' ध्रुव - द्रव्य...द्रव्य...द्रव्य...द्रव्य...द्रव्य - पदार्थ जो त्रिकाल शुद्ध (है) - इसमें, उस मोक्ष के कारण की क्रिया का (अभाव है)। और 'उस-रूप' आत्मा नहीं है। वह (मोक्षकारणभूत क्रिया) तो पर्याय में है। ऐसा मार्ग है !!

आहाहा ! यह अंदर की लक्ष्मी की बात चल रही है। बाहर की लक्ष्मी तो आत्मा में नहीं है। उस विषय की तो यहाँ बात ही नहीं है। (आत्मा) तो लक्ष्मी को छूता ही नहीं। प्रभु ! इस शरीर को भी आत्मा ने कभी भी छुआ नहीं है। राग को भी द्रव्य ने छुआ नहीं है। अरे ! मोक्षमार्ग की पर्याय को भी (द्रव्य) छुआ नहीं। आहाहा ! यह तो 'अलिंगग्रहण' में आया न...! 'द्रव्य पर्याय का स्पर्श ही नहीं करता।'

आहाहा ! (द्रव्य) मोक्षमार्ग की पर्याय का (स्पर्श ही नहीं करता) ! आहाहा ! प्रभु ! तेरी प्रभुता की तो कोई (गज़ब की) बलिहारी है ! जिसकी महिमा व बड़प्पन का कोई पार नहीं है ऐसा प्रभु, अंदर में चैतन्यभगवान, साक्षात् परमात्मा (है; वह) 'पर्यायरूप' नहीं है। आहाहा ! शक्तिरूप शाश्वत परमात्मा, भगवानस्वरूप आत्मा - यह चीज़, यह द्रव्य; 'मोक्ष की कारणरूप जो क्रिया' उस-रूप नहीं। 'उस-रूप' तो पर्याय है। आहाहा !

(फिर भी, एक विद्वान) यों कहते हैं कि : शुभभाव के समय द्रव्य शुभ हो जाता है, और अशुभ (भाव के) समय (अशुभ हो जाता है)। 'प्रवचनसार' में तन्मय कहा है न...! 'शुभ के समय शुभ में तन्मय है।' पर वह तो पर्याय तन्मय है। द्रव्य तन्मय है ही नहीं। कुछ समझ में आया ? (गाथा) है न...! 'जीवो परिणमदि जदा सुहेम असुहेण वा सुहो असुहो। सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो'।।९।। इस प्रकार परिणाम राग में तन्मय है, द्रव्य में तन्मय नहीं है। यहाँ तो शुभ, अशुभ और शुद्ध तीनों बोल लिये (हैं)। शुद्ध अर्थात् मोक्ष का मार्ग !! शुभ-अशुभ माने बंध का मार्ग... है ? 'जीव परिणामस्वभावी होनेसे शुभ या अशुभ में परिणमित होते समय, शुभ या अशुभ आत्मा होता है। शुद्ध में

परिणमित होते समय शुद्ध होता है'।।९।। - यह तो पर्याय की बात करते हैं। ऐसे कि : शुभ होता है किसी (अन्य) में, और परिणाम कोई भिन्न है, ऐसा नहीं है। उस शुभ परिणाम में परिणाम तन्मय है। अशुभ में भी (परिणाम) तन्मय है। और शुद्धपरिणति में पर्याय तन्मय है। द्रव्य तो भिन्न है। यह आत्मा की पर्याय की बात की।

जिज्ञासा : आप कहते हो `पर्याय की बात है' ?

समाधान : वह बात यहाँ (पाठ में) है ! यह क्या कहते हैं ? कि : शुभरूप परिणमित होता है तब... अशुभरूप परिणमित होता है तब... शुद्धरूप परिणमित होता है...तब पाठ है न...! `सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो।' परिणमन करते हुए - वह पर्याय तन्मय है। वह पर्याय आत्मा में तन्मय अर्थात् पर्याय में (आत्मा) तन्मय, ऐसा ! इसमें से (ऐसा) निकालते हैं (कि:) `आत्मा शुभ (परिणाम) के समय पूरा शुभ हो जाता है।' (किन्तु ऐसा अर्थ नहीं है)। अरे प्रभु ! वह द्रव्य तो मुक्तस्वरूप, त्रिकाल शुद्धकंद आत्मा है ! आहाहा ! सूक्ष्म बात, भाई !

लोगों को बाहर की प्रवृत्ति में ऐसे लपेट दिये कि बेचारे ऐसा मान बैठे कि : दो प्रतिमा ली और चार प्रतिमा ली... (तो हो गया धर्म) ! समकित का तो कोई ठिकाना नहीं... व्यवहार श्रद्धा का भी कोई ठिकाना नहीं ! अरे..रे ! ऐसे (बाह्य त्याग में) चढ़ा दिये और वे चढ़ गये (कि :) हम प्रतिमाधारी हैं ! हम ग्यारह प्रतिमाधारी हैं ! (किन्तु समकित के बिना, वह प्रतिमा कहाँ की ?)

आहाहा ! यहाँ तो कहते हैं कि : यह पडिमा का भाव है वह तो विकल्प है। मुनि के पंचमहाव्रत के भाव, वे भी विकल्प-राग हैं। उस रागरूप तो भगवानआत्मा त्रिकाल नहीं है। परंतु राग रहित (जो) वीतरागी मोक्षमार्ग की पर्याय; उस-रूप (भी) द्रव्य नहीं है। `उस-रूप' तो पर्याय है। आहाहा !

फुर्सत पाकर ऐसा (कब सोचे) ? धंधे के मारे सारे दिन (इस काम के लिये फुर्सत नहीं लेता)। (एक विदेशी) इतिहासकार ने कहा न कि : `अनुभूति का नाम जैनधर्म है।' किन्तु बनिये - व्यापारियों को यह जैनधर्म मिला ! (परंतु उसे) व्यापार - धंधे के मारे - पाप (क्रियाओं) के मारे फुर्सत नहीं है। (जैनधर्म) बनियों के हाथ लग गया ! ऐसा लिखा है। (वह) बड़ा इतिहासज्ञ है। ६७ वर्ष की उम्र है। काफी (साहित्य) पढ़ा - देखा है। बाद में उसने ऐसा कहा कि : `जैनधर्म माने अनुभूति।' आनंद का नाथ आत्मा; उसका अनुभव करना, शांति का वेदन करना, अतीन्द्रिय आनंद का वेदन (करना) - यह अनुभूति; यह `जैनधर्म' है ! उसने शास्त्र बहुत देखे। इसमें से यह (निचोड़) निकाला ! सारे (शास्त्रों) को, वह नहीं जानता। वह तो साधारण... पर कहता है कि, ऐसी (महान)

चीज़ आजकल व्यापारियों को मिल गई ! और उन्हें व्यापार के आगे फुर्सत न मिले। सारे दिन व्यापार की क्रिया - यह लेना और यह देना और यह करना और वह करना...! अरे...रे ! केवल पाप। (उससे) धर्म तो नहीं किन्तु पुण्य भी नहीं। अर..र..र ! अरे ! उसे स्वर्ग व मनुष्यपना भी न मिले।

यहाँ तो कहते हैं कि : प्रभु ! तेरी प्रभुता से भरा पड़ा प्रभु - वह मोक्ष के कारण की क्रिया को स्पर्शता नहीं। मोक्ष के कारण की पर्याय, 'उस-रूप' द्रव्य नहीं है ! आहाहा ! ऐसी बात है !! अरे प्रभु ! (तुम तो मोक्षस्वरूप हो)। तेरे घर में तो वीतरागी क्रिया - मोक्षमार्ग - नहीं है। आहाहा !

भाई ! रुपये तो कहाँ के कहाँ रह गये। ये सब करोड़पति...! धूल के भी नहीं हैं। 'करोड़पति' किस बात के ? राग का पति हो जाये, तो मिथ्यादृष्टि है। दया, दान और व्रत के विकल्प उठे और उसका पति - स्वामी हो जाये, तो मिथ्यादृष्टि है।

आहाहा ! मोक्ष के मार्ग का 'पति' व्यवहार से है। क्योंकि आत्मा में स्व-स्वामी संबंध नाम का एक गुण है। इस गुण के कारण, अपना द्रव्य शुद्ध, अपने गुण शुद्ध और अपनी परिणति शुद्ध। (यह) वीतरागपरिणति है। उसका वह स्वामी है; (राग का) स्वामी नहीं।

यह चीज़ (अन्यत्र) कहीं भी, बापू (नहीं है)। अरे...रे ! अभी तो बाहरी (चीज़ों के) राग की मंदता का भी ठिकाना नहीं ! अरे...रे ! उसे यह बात (कैसे बैठे) ? कि - भगवान ! वीतरागी क्रिया, द्रव्य में नहीं है। वह (क्रिया) द्रव्यरूप नहीं है; वह तो पर्यायरूप है। अरे...रे ! वह मोक्ष के मार्ग की पर्यायरूप जो चीज़ (है), वह द्रव्यरूप नहीं है ! तो फिर, यह शरीर मेरा और पैसा मेरा और ये सब (मेरे) ! अरे प्रभु ! कहाँ गया भूत की भाँति ? विद्यमान चीज़ को छोड़कर, अविद्यमान चीज़ को अपनी मानना... प्रभु ! भारी भ्रमणा में पड़ा है नाथ !

गोवा में एक बनिया। उसके पास दो अरब चालीस करोड़ रुपये। वह मुम्बई में आया। उसकी पत्नी को तो 'हेमरेज' हुआ था। वह तो वहाँ पड़ी थी। एक बजे उठा तब कहा कि 'मुझे दर्द हो रहा है। डॉक्टर को बुलाओ।' डॉक्टर अभी आये, उतने में तो पाँच मिनट में देह छूट गयी। उसके सारे मकान और दो अरब और धूल और... सब कुछ पड़ा रह गया !

श्रोता : डॉक्टर जल्दी आ गये होते तो बच जाते न ?

उत्तर : डॉक्टर तो मिट्टी में क्या (करे) ? यह बड़ा डॉक्टर नहीं था, भावनगर का, बड़े अस्पताल में सर्जन ! किसीका ऑपरेशन कर रहा था वहाँ 'मुझे कुछ होता

है,' बस...! इतना कहकर कुर्सी पर बैठा, सो ही देह छूट गयी !

श्रोता : दूसरा डॉक्टर वहाँ देर से पहुँचा ?

उत्तर : कुछ नहीं कर सकता, बापू ! भावनगर के बाप-बेटा दोनों डॉक्टर नहीं थे ? बाप कहता था कि मुझे जब बिमारी (कोई) होती है, तो मैं अपने बेटे से पूछता हूँ। क्योंकि, उस समय मैं तो रोग से घिरा हुआ होता हूँ, इसलिये उससे पूछता हूँ कि, भाई ! इसमें मुझे क्या लेना ? फिर भी वह मर गया। पूछनेवाला चला गया। बहुत होशियार ! आहाहा ! घबड़ा जाये... उस समय कोई (सख्त) दबाव पड़ता है.. हार्ट - अटैक में क्या होता है ? खून टुकड़े की भाँति जम जाता है, साँस रुक जाती है... देह छूट जाती है !

आहाहा ! वह देह तो आत्मा नहीं है, राग आत्मा का नहीं, वीतरागी परिणति भी आत्मारूप नहीं है ! अरे...रे !

यहाँ कहते हैं कि : '**इसलिये ऐसा जानने में आता है कि शुद्ध पारिणामिकभाव ध्येयरूप है, (ध्यानरूप नहीं)।**' - त्रिकाली भगवान अबद्ध - मुक्तरूप, शक्तिरूप से मुक्तरूप, वह सम्यग्दृष्टि का ध्येय है, ध्यान का ध्येय है; पर वह ध्यानमय नहीं है। आहाहा ! अंदर में जब ध्यान लगता है, समकित जब होता है, (तो) प्रथम उस (ध्येयरूप का) ध्यान होता है। कुछ समझ में आया ?

'द्रव्यसंग्रह' गाथा - ४७ में तो (ऐसा) कहा है : 'दुविहं वि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा' - अंदर निर्विकल्पध्यान आ जाता है, तब विकल्प भी रहता नहीं। उस निर्विकल्पध्यान में अंदर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। आहाहा ! वह निश्चय मोक्षमार्ग, निर्विकल्पध्यान में (प्राप्त होता है)।

यहाँ कहते हैं कि : 'शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं।' जिसका ध्यान करता है, 'उस-रूप' ध्यान नहीं (होता)। आहाहा !

दीये के लिये तो तेल और बत्ती चाहिए; पर यह चैतन्य हीरा भगवान अंदर है, इसे चमक के लिये - प्रकाश के लिये - तेल और बत्ती की ज़रुरत नहीं है, ऐसा यह चेतन-प्रकाश के नूर का पूर (बाढ़) है ! इसके प्रकाश को - झलझलाती ज्योति को - किसी बत्ती और तेल की और उपदेश की ज़रुरत नहीं है। आहाहा ! ऐसा जो भगवान चेतन-प्रकाश के नूर का पूर, यह ध्रुव; यह शुद्धभावनापरिणतिरूप नहीं है। 'इसलिये ऐसा जानने में आता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप है।' - सम्यग्दृष्टि का ध्येय वहाँ है !

अरे ! करने का 'यह' है, बापू ! शुरू में कठिन लगे। किन्तु यह (किये) बिना, तेरा छुटकारा हो सके ऐसा नहीं है, भाई !

आजकल श्रावण मास में नीम के फूल (कोंपल) नीचे पड़े हुए हैं। एक इतना-सा (नीम का) कोंपल, उसमें असंख्य शरीर (हैं)। अभी तक जितने अनंत सिद्ध हुए, (छह महीने व आठ समय में छहसौ आठ, इस प्रकार अनंतकाल की संख्या है), उससे अनंतगुणे जीव, एक शरीर में हैं। दुनिया को तो (इन बातों की) कुछ ख़बर तक नहीं है। उस पर पैर देकर कुचले ! अरे... रे ! उसमें तेरे किसी पूर्व भव के माता-पिता अंदर बैठे हैं, उन पर पैर दे देवें !!

फिर भी, ये (जो) पैर हैं, वे उसे (कोंपल को) छूते नहीं है। अरे...रे..रे ! कड़क बात ! फिर भी उस पैर के निमित्त से उसकी पर्याय कुचलने की होनी है, तो वह अपने से हुई है। आहाहा ! यह बात !! जगत संयोग से देखता है कि 'यह (आदमी) था, इसलिये यह पर्याय हुई।' (लेकिन) उसके स्व-भाव से द्रव्य को नहीं देखता; संयोग से देखता है ! 'अग्नि आयी, तो पानी गरम हुआ...' यूँ संयोग को देखा; किन्तु पानी का स्व-भाव, वह उष्णतारूप परिणमित हुआ है, इस प्रकार पानी को नहीं देखा ! आहाहा ! कुछ समझ में आया ? 'किसी ने एकाध तमाचा मार दिया तो यहाँ लाल हो जाता है,' तो इस तमाचे से (यहाँ) लाल हुआ है ? संयोग को देखता है; मगर यह पर्याय इस समय अपने से लाल हुई है, यह नहीं देखता ! विशेष कहेंगे.....

❁ ❁ ❁

प्रवचन क्रमांक-११ ता. ८-८-१९७९

'समयसार' ३२० - गाथा। जयसेनाचार्य की टीका। यहाँ (तक) आया है कि : भगवान आत्मा जो शुद्धस्वभावी त्रिकाल है, वह तो निष्क्रिय है। सम्यग्दर्शन का विषय जो अंतर्मुख परमात्मा है, वह तो निष्क्रिय है। निष्क्रिय का क्या अर्थ है ? कि : उसमें बंध के कारण की पर्याय का अभाव है और मोक्ष के कारण की पर्याय का भी अभाव है। पर्याय सक्रिय है। मोक्ष का मार्ग, (जो) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह क्रिया है; वह सक्रिय है, परिणमन है। ध्रुव भगवानआत्मा, जो सम्यग्दर्शन का विषय; वह तो निष्क्रिय है। उसमें तो बंध के कारण व मोक्ष के कारण की पर्याय का अभाव (है) तथा बंध व मोक्ष के परिणाम का भी अभाव (है) आहाहा ! ऐसे भगवान को अंतर्दृष्टि में लेना, यह धर्म की प्रथम में प्रथम - पहली सीढ़ी है।

कहा (कि:) (भगवानआत्मा) निष्क्रिय (है) वह मोक्ष के - बंध के परिणाम से रहित

है। '**इसलिये ऐसा जानने में आता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप है।**' आहाहा ! ध्रुव जो ध्येय; जिसमें पर्याय की सक्रियता का अभाव (है)। ऐसा निष्क्रियस्वरूप भगवानआत्मा एकरूप (है)। जिसमें पलटाव नहीं है, बदलाव नहीं है, जन्म नहीं, ज़रा नहीं, मरण नहीं। अरे ! जिसमें मोक्ष के मार्ग की पर्याय (भी) नहीं। - ऐसा निष्क्रिय प्रभु; वह सम्यग्दर्शन का विषय है। 'इसलिये ऐसा जानने में आता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप है।' आहाहा ! सूक्ष्म विषय है, भगवान !

जिसे पर्याय में सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, उसे तो पर्याय का लक्ष छोड़कर, दया-दया-व्रत के विकल्प का भी लक्ष छोड़कर, निमित्त व संयोग का लक्ष छोड़कर, जो निष्क्रिय त्रिकाली ध्येय है उसकी दृष्टि करना !

आहाहा ! बात सूक्ष्म है, प्रभु ! यह (वस्तुस्वरूप) तो वीतराग, सर्वज्ञ, त्रिलोकीनाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि में आया कि : प्रभु ! तू 'ध्येय' है। तेरी दृष्टि में 'तू' ध्येय है। 'तू' दृष्टि में नहीं आता। (क्योंकि) दृष्टि तो सक्रिय परिणति है। सम्यग्दर्शन सक्रिय परिणति है। उसमें वह चीज़ (-निष्क्रियस्वरूप) नहीं है। और उस चीज़ में (-निष्क्रियस्वरूप में) वह (-सक्रियपरिणति) नहीं है। आहाहा ! ऐसी बातें !!

यह शुद्धपारिणामिक - त्रिकालभाव - ध्येय है। मोक्ष साध्य है; सम्यग्दर्शनादि साधक है; किन्तु सम्यग्दर्शन का - साधक का ध्येय 'द्रव्य' है ! आहाहा ! कुछ समझ में आया ? 'साधक' है मोक्ष का मार्ग; उसका 'साध्य' मोक्ष। किन्तु मोक्ष के मार्ग का - साधक का 'ध्येय' द्रव्य; यह द्रव्य 'निष्क्रिय' है। क्योंकि (यह द्रव्य) ध्यानरूप नहीं, वह ध्येयरूप है !

'**वह (द्रव्य) ध्यानरूप नहीं। किसलिये ? क्योंकि 'ध्यान तो विनश्वर है।**' आहाहा..हा..हा ! शरीर, वाणी, मन - नाशवान; उसकी बात तो बहुत दूर रह गई। दया-दान का राग - नाशवान; यह बात तो बहुत दूर चली गई। किन्तु भगवानआत्मा पूर्ण परमात्मस्वरूप, उसे (जिस) ध्यान ने ध्येय बनाया, वह 'ध्यान' विनश्वर है। विनश्वर का अर्थ, (कि) वह (ध्यान)दशा पलट जाती है। किन्तु उसका (जो) 'विषय' ध्येयरूप है, वह तो पलटता नहीं है, (वह तो) एकरूप त्रिकाली है। '**(इसलिये) ध्यान विनश्वर है और शुद्धपारिणामिकभाव तो अविनाशी है।**' कुछ समझ में आया ? (अब कहते हैं कि :)

'**श्री योगीन्द्रदेव ने भी**' 'परमात्मप्रकाश' की गाथा - ६८ में (ऐसा) '**कहा है।**' (वे) योगीन्द्रदेव दिगंबर संत-मुनि, अतीन्द्रिय आनंद के रसिक, स्वसंवेदन का अनुभव करनेवाले ! जिन्हें अतीन्द्रिय आनंद का रस चढ़ा है। अतीन्द्रिय आनंद के रसिये - विलासी हैं। - ऐसे मुनि 'परमात्मप्रकाश' में कहते हैं कि : '**ण वि उपज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ। जिउ परमत्थे जोइया जिणवर एउ भणेइ।।**' आहाहा ! योगीन्द्रदेव कहते हैं कि -

यह तो जिनवर ऐसा कहते हैं, प्रभु ! मैं कहता हूँ, ऐसा नहीं। तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर, अनंत तीर्थंकर - जिनेश्वर ऐसा फरमाते हैं ! क्या ? कि - '**हे योगी** !' आहाहा ! संबोधन तो (देखो) !' '**जोइया**' शब्द है न (पाठ में) ! - 'जोगी'। 'जोगी' माने ये 'बाबा' - ये 'जोगी' (नहीं)। (किन्तु जिसने) अंतर आनंद (स्वरूप) को ध्येय बनाकर, (उसमें) योग का जुड़ान कर दिया है, अर्थात् निर्मल वीतरागी पर्याय का ध्रुव के साथ जुड़ान कर दिया - वह 'योगी'। आहाहा ! भगवानआत्मा पूर्णानंद का नाथ प्रभु; उसे (जिसने) वर्तमानपर्याय (में) वीतरागपर्याय के साथ जोड़ दिया - वह 'योगी'। समकिती को भी जघन्य योगी कहने में आता है। संत (-मुनि) उत्कृष्ट योगी हैं।

अंदर पूर्णानंद का नाथ आत्मा, आनंद का रसकंद प्रभु, परमात्मस्वरूप ही है। निश्चय से आत्मा व परमात्मस्वरूप एक ही है। जो समकित का ध्येय है उस वस्त (के साथ जिसने योग का जुड़ान किया, उससे कहते हैं) - 'हे योगी !' योगी से कहते हैं; अज्ञानी को नहीं। समकिती इत्यादि योगी कहने में आते हैं कि जिन्होंने अपनी वीतरागी सम्यग्दर्शन की पर्याय को द्रव्य के साथ जोड़ दी है। (उनसे कहते हैं :) '**हे योगी ! परमार्थ से जीव उत्पन्न भी नहीं होता।**' (अर्थात्) भगवानआत्मा परमार्थ से जन्म लेता ही नहीं। त्रिकाली भगवान तो जन्मता ही नहीं है। और भगवान ध्रुव चिदानंद प्रभु, परमात्मस्वरूप, जो सम्यग्दर्शन का ध्येय है, वह कभी '**मरता भी नहीं,...**' आहाहा ! ऐसी बात !!

गृहस्थाश्रम में भी सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे मोक्षमार्गी हैं ! 'गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो' - 'रत्नकरंडश्रावकाचार।' भले ही गृहस्थाश्रम में हो; किन्तु जिसने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण की पर्याय को द्रव्य के साथ जोड़दी है, वह योगी है, भले (ही) जघन्य योगी है।

यहाँ तो उत्कृष्ट योगी की बात विशेषरूप से कहते हैं - 'हे संत !' कुंदकुंदाचार्य तो 'भावपाहुड़' में ऐसा कहते हैं कि : 'हे मित्र !' 'हे महाशय !' आहाहा ! कुंदकुंदाचार्य (कहते हैं -) 'हे मित्र ! तेरी चीज़ तो परमात्मस्वरूप है न... भगवान !' उस चीज़ से तू जुड़ान कर दे ! तुने (जो) राग और पुण्य और दया-दान में जुड़ान कर रखा है वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं !!

प्रभु ! उसे (भगवानआत्मा को) एकबार ध्येय बना कि जिसमें जन्म नहीं है, जिसमें मरण नहीं है और (जो) '**बंध-मोक्ष करता नहीं है।**' आहाहा ! वह भगवान पूर्णानंद का नाथ, जो सम्यग्दर्शन का विषय; वह तो बंध-मोक्ष को भी करता नहीं है। क्योंकि, 'बंध-मोक्ष' तो परिणाम हैं। (इन) परिणामों को परिणामी - त्रिकाली नहीं करता। आहाहा ! विषय ऐसा आया है, प्रभु ! अब यह आख़री (प्रवचन) है।

`परमात्मप्रकाश' - गाथा - ६८ :

`ण वि उपज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थे जोइया जिणवर एउ भणेइ।।'

(गाथार्थ :) `**हे योगी ! परमार्थ से जीव उत्पन्न भी नहीं होता,**' जन्मता नहीं है। जन्मे कौन, प्रभु ? आहाहा ! `**मरता भी नहीं तथा बंध और मोक्ष भी करता नहीं।**' आहाहा ! मोक्ष को करता नहीं। बंध का - रागादि का तो कर्ता नहीं, किन्तु मोक्ष का कर्ता नहीं ! मोक्ष को करना, यह तो पर्याय में है। मोक्ष का कर्ता `द्रव्य' नहीं। आहाहा ! `**- ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।**'

(भावार्थ :) `(यद्यपि यह आत्मा, शुद्धात्मानुभूति का अभाव होने पर शुभ-अशुभ उपयोगरूप परिणमित होकर जन्म, मरण, शुभ, अशुभ बंध को करता है और शुद्ध आत्मानुभूति के सद्भाव में शुद्धोपयोगरूप परिणमित होकर मोक्ष भी करता है, तो भी शुद्धपारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से न बंध का कर्ता है, और न मोक्ष का कर्ता है।)'

(- क्या कहते हैं ? कि :) आत्मा को शुद्धात्मानुभूति का अभाव होनेसे, (यानी कि) इसे जब तक अपने प्रभु की अनुभूति नहीं है, (अर्थात्) आनंद के नाथ की - आनंद के वेदन की - अनुभूति नहीं है, (यानी कि) सम्यग्दर्शन में आनंद का अनुभव होता है, ऐसी अनुभूति जब तक नहीं है, (तब तक) शुभाशुभ उपयोगरूप परिणमित होकर (जन्म-मरण, शुभाशुभ कर्मों को बाँधता है)। वह जीव शुभ व अशुभ परिणाम से परिणमित होने से, (वह) वर्तमान में शुद्ध अनुभूति से रहित जीव है। (तो भी) वह (शुद्ध अनुभूति) भी जीव में - द्रव्य में नहीं है। किन्तु यह अनुभूति जिसे नहीं (वह शुभाशुभ उपयोगरूप परिणमित होता है)।

आता है न... `समयसार नाटक' में : `वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम। रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम।।' आहाहा ! `रस स्वादत सुख ऊपजै' - अतीन्द्रिय रस से भरे हुए भगवान को जब अनुभव में चाटता है, अनुभव करता है; जैसे दूधपाक (खीर) को चाटता है वैसे; शुरू से ही (सम्यग्दर्शन हुआ तभी से ही) धर्मी, अतीन्द्रिय आनंद के नाथ को चाटता है, अनुभवता है। आहाहा ! ऐसी बात है, बापू !

इस अनुभूति का अभाव होने पर, शुभाशुभ उपयोगरूप परिणमित होकर जन्म, मरण और शुभ-अशुभ बंध को करता है, और शुद्ध आत्मा की अनुभूति के सद्भाव में, (अर्थात्) भगवानआत्मा, पूर्ण आनंद की अनुभूति की दशा प्रगट की तो (उस) अनुभूति के सद्भाव में, अनुभूति की विद्यमानता में, भगवान द्रव्य के अनुभव (की दशा के सद्भाव में); [(हालाँकि) अनुभव तो पर्याय का है, किन्तु उसके (द्रव्य के) सन्मुख हुआ तो उसका (द्रव्य का)

अनुभव, ऐसा कहने में (आता है)]; - इस प्रकार अनुभूति के सद्भाव में, शुद्ध उपयोगरूप परिणमित होकर; [जिस अनुभूति के अभाव में शुभाशुभरूप परिणमित होता था (वह अब,) अनुभूति के सद्भाव में शुद्धत्वरूप परिणमित होता है, (इसप्रकार) शुद्ध उपयोगरूप परिणमित होकर]; मोक्ष को भी करता है। फिर भी शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जन्म-मरण और बंध-मोक्ष को करता नहीं है। - पर्यायदृष्टि से वह इसका 'कर्ता' है, ऐसा जानना। किन्तु द्रव्य दृष्टि से - द्रव्य को देखने से - वह द्रव्य, मोक्ष की पर्याय को भी नहीं करता; वह (तो) पर्याय करती है। आहाहा ! - 'परमात्मप्रकाश' है, ६८ गाथा ! बाद में दो-तीन गाथा ऐसी ली है कि :

प्रभु ! तेरी मृत्यु हो जाये तो डरना मत। तेरी मृत्यु होती ही नहीं न...! 'देह छूटे और मरण हो' वह मरण, प्रभु ! तेरा होता ही नहीं है। तो तू किससे डरता (है) ? और रोग आये तो डरना मत ! रोग किसे होता है ? वह तो जड़ को होता है। रोग होता है वह तो जड़ में (होता है), प्रभु ! तेरे में रोग नहीं है। तू क्यों डरता है ? 'देह छूटना' वह तो मरण देह का - जड़ का व्यय होता है। तेरा तो मरण ही नहीं है, प्रभु ! तू क्यों डरता है ? आहाहा ! आनंद में जा !

अतीन्द्रिय आनंद का नाथ (अंदर) बिराजता है, प्रभु ! उसकी अनुभूति के सद्भाव में शुद्ध उपयोगरूप परिणमन करता है। परंतु (जो) द्रव्य है वह तो शुद्ध उपयोगरूप भी परिणमन नहीं करता और बंध के कारणरूप (जो) शुभाशुभ (भाव), उसरूप भी परिणमन नहीं करता।

यह यहाँ कहा : '**परमार्थ से जीव उत्पन्न भी नहीं होता, मरता भी नहीं।**' आहाहा ! 'उत्पन्न... भी नहीं होता' क्यों कहा ? (कि :) 'मरण भी नहीं है' ऐसा कहना है न ! प्रथम के शब्द में 'उत्पन्न...भी' क्यों कह दिया ? कि : बाद में 'मरण भी नहीं है' ऐसा कहना है न ! मरण भी नहीं है, '**तथा बंध-मोक्ष भी नहीं करता।**' आहाहा ! भगवानआत्मा, जो सम्यग्दर्शन का ध्येय, जो ध्रुवस्वरूप भगवानआत्मा परमात्मस्वरूप (है); वह तो बंध-मोक्ष को भी नहीं करता - '**ऐसा श्री जिनवर कहते हैं।**'

तीन लोक के नाथ जिनेश्वर-परमात्मा तो महाविदेह में समवसरण में बिराजमान हैं। वे भगवान-जिनवर ऐसा फरमाते हैं, कहते हैं। आहाहा ! योगीन्द्रमुनि कहें तो भी सत्य है। किन्तु यहाँ तो (वे) कहते हैं कि, भाई ! 'ऐसा श्री जिनवर कहते हैं।' वरना संत कहें तो भी वह बात तो यथार्थ ही है। किन्तु संत तो जिनवर का आश्रय लेकर कहते हैं कि, 'ऐसा श्री जिनवर कहते हैं...' और प्रभु ! तो तू जिनवर को मानता है कि नहीं ? कुछ समझ में आया ? 'बंधु ण मोक्खु करेइ' - 'ऐसा श्री जिनवर कहते

हैं।' 'गुरु' कहते हैं वह '(जिन)वाणी' कहती हैं और (वही) 'जिनवर' कहते हैं। तीनों बात : 'जिनवाणी' ऐसा कहती हैं, 'जिनगुरु' ऐसा कहते हैं और 'जिनवर' ऐसा कहते हैं। आहाहा ! देव-शास्त्र-गुरु - तीनों ऐसा कहते हैं, प्रभु ! आहाहा ! 'कहते हैं' यह (जिन) वाणी हुई। 'जिनवर कहते हैं' तो जिनवर आ गये। 'गुरु स्वयं कहते हैं कि, जिनवर ऐसा कहते हैं' तो गुरु भी आ गये। आहाहा ! देव, गुरु व शास्त्र का कहना है :

परमार्थ से भगवान पूर्णानंद का नाथ (जहाँ है,) वहाँ दृष्टि दे ! 'तू परमात्मस्वरूप है' ऐसा अनुभव कर ! बाकी सब निरर्थक हैं। ये दया-दान और व्रत और भक्ति और पूजा - ये सारे शुभ राग; बंध व संसार है। इस संसार परिभ्रमण से (यदि) रहित होना है तो, भगवान(आत्मा) (जो कि) जन्म-मरण से रहित है, बंध-मोक्ष की पर्याय से रहित है; उसका शरण ले ! उसका आश्रय ले ! उसका आधार ले ! वह बड़ा भगवान परमात्मा (अंदर) बिराजमान है - वहाँ जा ! तेरी पर्याय को परमात्मा की ओर झुका दे; तो भगवान ! तेरा कल्याण होगा ! आहाहा ! (तू) कल्याणस्वरूप तो है; किन्तु (उसकी ओर) पर्याय के झुकने से पर्याय में तेरा कल्याण होगा ! आहाहा ! भगवान(आत्मा) तो त्रिकाल कल्याणस्वरूप ही है; किन्तु 'कल्याणस्वरूप' का अनुभव करना, दृष्टि करनी, वेदन करना - इससे तेरी पर्याय में भी मोक्ष होगा अर्थात् कल्याण होगा ! मोक्ष अर्थात् पूर्ण कल्याण।

(यहाँ पर) '**पुनश्च, इसे स्पष्ट करने में आता है: - विवक्षित**' (अर्थात् कहने में आया ऐसा) - **एकदेशशुद्धनयाश्रित यह भावना**' (यानी कि) एकदेशशुद्धनयाश्रित जो 'मोक्ष का मार्ग' - जो भगवान पूर्णानंद के नाथ पर झुक करके, एकदेश 'शुद्धनय' प्रगट हुआ है; (किन्तु) अभी पूर्ण प्रगट नहीं हुआ। 'शुद्धनय' तो ध्रुव है, किन्तु ऐसा वह पर्याय में पूर्ण आया (- प्रगट हुआ) नहीं है; तब तक 'शुद्धनय' का एकदेश आया है। (अर्थात्) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में 'शुद्धनय' का अंश आया है। आहाहा !

- '**यह भावना**' (**अर्थात् अभिप्रेत आंशिक शुद्धिरूप यह परिणति**) **निर्विकार - स्वसंवेदन लक्षण**' - इसे मोह के अभाव की अपेक्षा से उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक (पर्याय) कही (है)। (अर्थात्) मोह के अभाव की अपेक्षा से 'मोक्षमार्ग' को उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक (भावरूप) कहा। परंतु इसे 'ज्ञान' (की अपेक्षा) से क्या कहना ? भगवान आत्मा पूर्णानंद के नाथ पर दृष्टि लगाने से जब अनुभव हुआ (तो) इसी अनुभव को दृष्टि की (अपेक्षा से) तथा मोह के अभाव की अपेक्षा से उपशमभाव, क्षयोपशमभाव, क्षायिकभाव कहने में आता है। किन्तु वे तीनों 'ज्ञान की अपेक्षा से' क्या हैं ? कुछ समझ में आया ?

ऐसी बात है, बापू ! वीतराग का मार्ग (अलौकिक है) ! जब कि आजकल तो लोगों ने यह बाहर की धूम-धाम (करने में ही मार्ग मान रखा है !) आजकल तो बिना

भावना की धूम-धाम चली, उसमें ज्ञानमार्ग दूर रहा। लोग बाहर में दब-दबा करते हैं। यह किया और वह किया और उपवास किया और दान किया और मंदिर बनाया ! (किन्तु) यहाँ कहते हैं कि, ये सारी बाहर की क्रिया तो होने के समय पर होगी ! इसमें तुझे क्या लाभ हुआ ? आहाहा ! यह धमाधम... उसके कदाचित् शुभराग हो, तो भी वह पुण्यबंध का कारण है; मोक्ष का कारण नहीं। कुछ समझ में आया ?

(यहाँ) निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण जो मोक्षमार्ग; उसे उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकभाव(रूप) कहा। पहले यह आया न ? कि : उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक (भाव) - ये चार पर्याय हैं। इसमें सिर्फ तीन पर्याय - उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक - मोक्ष का कारण है। उदय पर्याय मोक्ष का कारण नहीं है। तो वह जो उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक (भाव को मोक्ष का कारण) कहा, वह तो मोह के अभाव की अपेक्षा से कहा। वह है पर्याय में। किन्तु (उस समय पर) 'ज्ञान' क्या ? 'ज्ञान' क्षायिक है, क्षयोपशम है कि क्या है ?

- (यह) बात साधक की है... हं ! (जिसे) क्षायिकज्ञान-केवलज्ञान है उनकी बात यहाँ नहीं है, यहाँ तो साधक की बात है ! भगवान को तो क्षायिक समकित के साथ क्षायिक ज्ञान भी होता है; अर्थात् केवलज्ञानी परमात्मा को क्षायिकसमकित होता है, साथ में क्षायिक-केवलज्ञान भी होता है, वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो साधक के भाव की बात है। साधक चौथे से, पाँचवें, छठे-सातवें इत्यादि (गुणस्थानक में) होते हैं, (इनकी बात है)।

जिसे अनंतकाल में कभी भी उपशमभाव हुआ नहीं है, (उसे) जैसे जल में मैल (कीचड़) होवे वह नीचे बैठ जावें, तो ऊपर (जल) निर्मल हो जाता है; वैसे राग दब जाता है और वीतरागीपर्याय उत्पन्न होती है। राग दब जाता है, इस अपेक्षा से (उस) पर्याय को उपशम कहने में आता है। और उस राग का सर्वथा यथासंभव जिस प्रकार से नाश हुआ तो उसकी अपेक्षा से उसे वहाँ क्षायिक कहा है। और क्षयोपशम में राग का कुछ क्षय है व कुछ दब गया है। दब गया = उपशम (होकर) सत्ता में (रहा) इस प्रकार उपशम कहते हैं, तो इन तीनों भाव को 'ज्ञान की अपेक्षा से' क्या कहा ? कुछ समझ में आया ?

कहते हैं कि : वह (ज्ञान) निर्विकल्प '(**निर्विकार**) **स्वसंवेदन लक्षण**' (है)। निर्विकल्प स्वसंवेदन लक्षण, राग की अपेक्षा से रहित, स्व अर्थात् स्वयं का + सम अर्थात् प्रत्यक्ष + वेदन लक्षण = स्वसंवेदनलक्षण - प्रत्यक्ष वेदन लक्षण '**क्षायोपशमिक ज्ञानरूप होने से**' इन तीनों भावों में ज्ञान का क्षयोपशम है ! कुछ समझ में आया ?

उपशमभाव है, यह तो मोह के अभाव की अपेक्षा से कहा। क्षयोपशमभाव है यह

भी मोह का कुछ नाश व कुछ दब गया - इस अपेक्षा से (है)। और क्षायिकभाव है वह (तो) मोह का नाश होकर हुआ (है)। किन्तु इन तीनों भावों में ज्ञान की दिशा क्या है : ज्ञान क्षायिक ज्ञान है, उपशम ज्ञान है - क्या है ? ज्ञान में उपशम तो है नहीं। उपशम तो दर्शनमोह आदि में है। ज्ञान में उपशम नहीं है। ज्ञान में तो क्षयोपशम और क्षायिक (होता है); उपशम नहीं। तो कहते हैं कि : क्षयोपशम व क्षायिक ज्ञान की पर्याय है। (लेकिन) यहाँ तो साधक की बात है न ! (इसलिये) उदय की (एवं क्षायिक की) बात नहीं है। और वह जो उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक पर्याय है, वह तो समकित की है; (तो) 'ज्ञान' को क्या कहना ? - 'वह ज्ञान' निर्विकल्पस्वसंवेदनलक्षण क्षयोपशमज्ञान है !

आहाहा ! ऐसी बातें हैं !! अरे भगवान तेरी बातें (अलौकिक हैं), बापू ! अरे...रे ! आजकल तो (मूल बात ही) ढक गई। (संप्रदाय में) बाहर की करा-करी में मर गये ! जहाँ भगवान (आत्मा) बिराजमान है, वहाँ जाना छोड़ दिया और राग - पुण्य और पाप के परिणाम, जो स्वभाव से विरुद्ध हैं, वहाँ रम गया ! परंतु आतमराम निजपद में रमण करे उसे 'राम' कहें, नाथ ! परंतु वह राग में रमण करे, उसे तो 'हराम' कहें; वह 'राम' नहीं है।

आहाहा ! स्वभाव की पूर्णता में जिसकी केलि जमी हुई है, उपशम - क्षयोपशम - क्षायिक भाव की केलि में निमग्न है - उसे, 'ज्ञान की अपेक्षा से' क्या कहना ? ऐसा कहते हैं।

ज्ञान तो क्षयोपशम व क्षायिक दो हैं। और आपने मोक्षमार्ग के भाव तो उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक तीन कहें ! मोक्षमार्ग की बात है... हं ! अभी क्षायिक - केवलज्ञान की बात नहीं है। समकिती को जो क्षायिक आदि समकित होता है, वह यहाँ लेना। कहते हैं कि : आपने (मोक्षमार्ग में) तो 'भाव' के तीन प्रकार लिये। (किन्तु) ज्ञान में तो उपशमभाव है नहीं। ज्ञान का उपशम होता नहीं है। ज्ञान का या तो उदय, या क्षयोपशम या क्षायिक, इस प्रकार तीन (होते) हैं। तथा मोह की अपेक्षा से उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक, (ऐसे) चार भाव हैं। लेकिन यहाँ तो निर्मल लेना है न ? अतः यहाँ उदय को तो निकाल दिया। वह साधक को नहीं है। साधक को तो (उदय के अलावा) तीन भाव हैं। यहाँ जब ज्ञान की अपेक्षा से लो तो ज्ञान में उपशम नहीं है। और यहाँ तो उदय की बात है नहीं। यहाँ तो (जिसे) वीतराग श्रद्धा - ज्ञान प्रगट हुआ है (उसकी बात है)। प्रभु ! तेरी दशा में जो साधकभाव प्रगट होता है, उस भाव की अपेक्षा से, उसे उपशम-क्षयोपशम-क्षायिक कहा। यहाँ तो आचार्य महाराज कहते हैं कि : इसके (साधक के) ज्ञान की दशा कौन-सी कहनी ? कि : ज्ञान की दशा को क्षयोपशम कहना।

परंतु `यह ज्ञान' कैसा क्षयोपशम ? कि : निर्विकल्पस्वसंवदेनलक्षण (क्षयोपशमज्ञान) ! अकेला क्षयोपशमज्ञान तो अनादि से अज्ञानी को (भी) है ! निगोद में भी क्षयोपशम भाव से आंशिकरूप में (ज्ञान) है। (यदि) अंशरूप में न हो तो वह जड़ हो जाए। (परंतु) यहाँ वह (क्षयोपशमज्ञान) नहीं लेना। यहाँ तो `निर्विकल्पस्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिक ज्ञान' (लेना है)। - क्या कहा ? कुछ समझ में आया ? क्षयोपशमज्ञान तो निगोद (के जीव को) भी अनादि से है। जैनसाधु नववीं ग्रैवेयक में गया, उसे ग्यारह अंग का ज्ञान भी था। परंतु वह ज्ञान, कोई (स्वलक्षी) क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं है। लेकिन वह क्षयोपशम तो परलक्षी क्षयोपशम (ज्ञान) है। कुछ समझ में आता है ?

इन (उपशमादि) तीन भावों को, किस प्रकार का क्षयोपशम कहना है ? कि : `निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण।' देखो न...! आचार्यदेव की बात ग़ज़ब है ! आहाहा ! साधक (दशा) में ज्ञान के दो भेद हैं : क्षयोपशम व क्षायिक। किन्तु (परलक्षी) क्षयोपशम तो (सर्व संसारी जीवों को) अनादिकाल से है; उस क्षयोपशम में आनंद का वेदन नहीं है; दुःख का वेदन है। क्षयोपशम में अज्ञान है तो (वहाँ) तो दुःख का वेदन है। परंतु यहाँ तो क्षयोपशमज्ञान उसे कहते हैं कि (जो) निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण `प्रत्यक्ष' (है)। यह जो प्रत्यक्ष स्वसंवेदन ज्ञान है, उसे ही हम क्षयोपशमज्ञान, तीन भावों को क्षयोपशमज्ञान, निर्विकल्प आनंद के वेदन को क्षयोपशमज्ञान कहते हैं !

पकड़ में आये इतना पकड़ना ! रात्रि(चर्चा) में प्रश्न पूछने की सर्वथा छूट है। सूक्ष्म बात है, बापू ! यहाँ तो मोक्षमार्ग की बात है। आहाहा ! संतजन कह रहे हैं वह परमात्मा ही कह रहे हैं, प्रभु !

क्षयोपशमज्ञान तो अभवी को भी है। तो उस क्षयोपशम को, इस (उपशमादि) तीन भावों में गिनना क्या ? अथवा मिथ्यादृष्टि को भी ग्यारह अंग का क्षयोपशम होता है, अरे ! (इससे आगे) नौ पूर्व तक का (भी) हो जाता है; तो उस (ज्ञान) को, इन तीन भावों में जो क्षयोपशमज्ञान है, उसे ज्ञान कहना ? कि : नहीं। उन तीन - उपशम, क्षयोपशम व क्षायिक भाव में जो क्षयोपशमज्ञान है वह (तो) निर्विकार स्वसंवेदन(लक्षण) क्षयोपशमज्ञान है !

आहाहा ! कुछ समझ में आया ? भाषा तो सादी प्रभु ! भाव तो, नाथ ! तेरी चीज़ (में) अंदर कोई अलौकिक है ! जिसमें पर्याय का प्रवेश नहीं है। उसमें राग व संसार का तो प्रवेश ही नहीं है। आहाहा ! उसमें जन्म, ज़रा, मरण, बंध-मोक्ष के परिणाम का भी प्रवेश नहीं है। - ऐसा त्रिलोकीनाथ परमात्मा ! उसकी अनुभूति करके जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र हुआ, उन तीनों को उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भाव कहते हैं। तो (वह)

`ज्ञान की अपेक्षा से' क्या (समझना) ? क्षयोपशमज्ञान तो अनादि का है तो उसे मात्र को क्षयोपशम कहना ? कि : नहीं। वह `निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिक ज्ञान' (है) ! आहाहा ! क्षयोपशम तो कहना है, किन्तु कौन सा क्षयोपशम ? (कि :) जो अनादि का क्षयोपशम है वह नहीं।

अभी कोई लोगों को (तो) भाषा भी नहीं आती (कि) क्षयोपशम (इत्यादि) क्या ? देवदर्शन करने जाये... और ऊपर (गद्दी पर) बैठा हो वह (जो) कहे, वह सुन लेना एक घंटा। (परंतु, स्वयं कौन ? इसकी कोई अंतर जिज्ञासा नहीं है !) अरे..रे ! प्रभु ! तेरे बड़प्पन, तेरी महिमा की तुझे ख़बर नहीं है। तेरे बड़प्पन की महिमा, भगवान वाणी में कह नहीं सकते, नाथ ! ऐसा प्रभु तू भगवानस्वरूप में अंदर बिराजमान है।

उस भगवानस्वरूप का जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ - शांत वीतरागी पर्याय भले अल्प हुई (किन्तु फिर भी उसे निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण क्षयोपशमज्ञान वर्त रहा है)। यहाँ साधक की बात है न ! साध्य की तो बात नहीं है। क्योंकि, साध्य तो क्षायिक ज्ञान है। केवली को क्षायिक - समकित के साथ में तो क्षायिक - केवलज्ञान है। यह तो साधकजीव की बात चल रही है। तो इस (साधक) भाव के साथ निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिक ज्ञान है। ग़ज़ब भाषा है !! वह ज्ञान, क्षयोपशम (ज्ञान) है, पर वह निर्विकल्प स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिक ज्ञान है। आहाहा ! कुछ समझ में आता है ?

वैसे तो अभव्य-भव्य को अनादि से क्षयोपशम ज्ञान है। क्षयोपशम (ज्ञान) के बिना तो जीव रहता नहीं है। (यदि ऐसा हो तो) वह जड़ हो जाये। पर इसे यह (स्वसंवेदनलक्षण) क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं है। यह तो उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, जो मोक्ष का मार्ग है; इन तीनों को क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं। परंतु कैसा `क्षायोपशमिक ज्ञान' ? (कि :) निर्विकारी स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिक ज्ञान !

आहाहा ! यहाँ कहते हैं कि : नाथ ! तेरा प्रभु अलौकिक (है); उसमें जो उपशम, क्षयोपशम, (क्षायिक) भाव - मोक्ष का मार्ग - हुआ; उसे हम `ज्ञान की अपेक्षा' से क्या कहते हैं ? कि : क्षयोपशमज्ञान ! क्षायिक समकित होवे, तो भी वहाँ ज्ञान तो क्षयोपशम(ज्ञान) है। उपशम समकित होवे, तो भी ज्ञान तो क्षयोपशम है। और क्षयोपशम समकित हो, वहाँ भी ज्ञान तो क्षयोपशम है।

आहाहा ! ग़ज़ब बात समाविष्ट की है न ! इस थोड़े में कितना समाविष्ट कर दिया है !! ऐसी (बात अन्यत्र) कहाँ ? कहीं भी सुनने तक न मिले ऐसी है, त्रिलोक के नाथ के आँगन में जाना और आँगन में जाकर अंदर में प्रवेश करना ! (जैसे) जवाहरात लेने के लिये जौहरी की दुकान के भीतर (जाना हो तो पहले) नीचे खड़े रहना, फिर

अंदर जाना। (वैसे) प्रथम चीज़ (तत्त्व) क्या है, उसका विकल्पसहित विचार करना और विकल्पसहित ज्ञान करना, श्रद्धा करना; यह आँगन है। (फिर) उस विकल्प को छोड़कर अंदर में प्रवेश करना ! यह तो प्रभु का मार्ग है, बापू ! अनंत तीर्थंकरों ने कहा है।

जिज्ञासा : ऐसा क्षयोपशम ज्ञान कार्यकारी है ?

समाधान : यह (निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण) क्षयोपशम (ज्ञान कार्यकारी है)। वह (परलक्षी) क्षयोपशम नहीं। तुम्हारे धंधे का क्षयोपशम और वकालत का क्षयोपशम और जवाहरात का क्षयोपशम और व्यापारी को व्यापार का क्षयोपशम अपनी-अपनी तरह का होता है न...? वह तो बापू ! अज्ञान है। आहाहा ! वह तो सविकारी दुःखलक्षणवाला क्षयोपशम है, प्रभु !

यहाँ कहते हैं : '**यह भावना**' (अर्थात् आंशिक शुद्धिरूप यह परिणति) '**निर्विकार - स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिक ज्ञानरूप होनेसे, यद्यपि एकदेश व्यक्तिरूप है।**' - क्या कहते हैं ? - निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिक ज्ञान एकदेश व्यक्तरूप-प्रगटरूप है; तो भी वह ध्यान करने योग्य नहीं है। आहाहा ! वीतरागता एकदेश व्यक्तरूप है; एक अंश प्रगटरूप है; निर्विकार स्वसंवेदन(लक्षण) क्षायोपशमिकज्ञान एकदेश प्रगट है। (और) वीतराग को सर्वदेश - पूर्ण प्रगट है। साधक को एकदेश व्यक्तिरूप - प्रगट है। (साधक को) क्षायोपशमिक ज्ञान व्यक्त हुआ। परंतु वह खंडखंड ज्ञान है; वह अखंड त्रिकाली नहीं है। पुनश्च, (वे) ध्याता खंडखंड ज्ञान का ध्यान नहीं करते। आहाहा ! जो उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकरूप भाव और ज्ञान में निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिक ज्ञान (साधक को) एकदेश प्रगट है, (अर्थात्) वस्तु का एक अंश यानी शुद्धनय का एक अंश पर्याय में (प्रगट हुआ, अर्थात्) वीतरागी मोक्षमार्ग प्रगट हुआ (है) - ध्याता उसका ध्यावन नहीं करते, उसे ध्यान में नहीं लेते। (परंतु) ध्याता पुरुष (ध्येय की भावना) भाते हैं। उसका (ध्येय का) ध्यान, ध्यान करनेवाले समकिती - ध्याता करते हैं। (परंतु) जो एकदेश वीतरागदशा, निर्विकार स्वसंवेदन पर्याय प्रगट हुई; उसका ध्यान नहीं करते; क्योंकि वह 'खंडरूप' है।

आहाहा ! तो फिर भगवान का ध्यान करना - यह तो सब विकल्प है। ऐसा मार्ग है ! सुनने में भी मुश्किल पड़े, ऐसी चीज़ है, बापू ! प्रभु का मार्ग तो 'यह' है, भाई !

प्रभु तो (ऐसा कहते हैं कि :) 'तू प्रभु हो न, प्रभु ! तुझे तेरी महानता की ख़बर नहीं है। प्रभु ! तेरे में महाभगवंतस्वरूप अंदर में पड़ा है। जो भगवत्स्वरूप, सिद्धपर्याय से भी (बढ़कर) कोई अलौकिक (चीज़) है। तेरे स्वरूप के सामने (सिद्ध) पर्याय की कीमत नहीं है !' ('बहिनश्री के वचनामृत') बोल - २१७ में आया है न...! 'द्रव्य और पर्याय दोनों समान कोटि के नहीं हैं; द्रव्य की कोटि उच्च ही है, पर्याय की कोटि निम्न ही

है।'

यहाँ ऐसा कहते हैं कि : (यद्यपि) एकदेश मोक्ष का मार्ग - आनंद - स्वसंवेदन प्रगट हुआ '**तो भी ध्याता पुरुष ऐसी भावना भाता है**' - ऐसा ध्यान करता है कि : '**जो सकल निरावरण**' - 'मैं तो सकल निरावरण हूँ' - इसका मैं ध्यान करता हूँ। प्रगट हुई दशा का मुझे ध्यान नहीं है।

कहते हैं कि : जो सकल निरावरण है - भगवान ! द्रव्यस्वभाव सकल निरावरण है। अखण्ड है। आहाहा ! अंदर जो बिना पर्याय की वस्तु है, वह तो अखण्ड है। (और) जो निर्विकार स्वसंवेदनज्ञान हुआ, वह तो खण्ड है। आहाहा ! ग़ज़ब बात है !! मोक्ष के मार्ग की पर्याय को निर्विकल्प स्वसंवेदनलक्षण कहा, परंतु उसे खण्डज्ञान कहा। भगवान (आत्मा) तो त्रिकाली अखण्ड है; ध्याता उसका ध्यान करता है।

धर्मी जीव-समकिती-ध्याता (पुरुष) किसका ध्यान करते हैं ? कि : वह जो सकल निरावरण द्रव्यस्वभाव, पूर्ण अखण्ड है; जिसमें वह खण्डज्ञान नहीं है अर्थात् जो एकदेश व्यक्तरूप खण्डज्ञान और आनंद का वेदन प्रगट हुआ है, वह जिसमें नहीं है, ऐसी वह अखण्डज्ञान वस्तु है; (उसका ध्यान करते हैं) ! खण्डज्ञान तो अनेक प्रकार की पर्याय (-रूप) है; और 'यह वस्तु' (जिसका ध्यान करने में आता है, वह) तो एकरूप त्रिकाल है। एक कहो, शुद्ध कहो, अखण्ड कहो (एकार्थ है)।

'**अखण्ड - एक - प्रत्यक्षप्रतिभासमय**' - इस चीज़ का ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रतिभास आता है। ज्ञान की पर्याय में पूरा द्रव्य जानने में आता है। द्रव्य जानने में आता है... हं ! द्रव्य आता नहीं है ! (उसका) प्रतिभास कहा न ? 'प्रत्यक्ष प्रतिभास' - पर्याय में प्रत्यक्ष प्रतिभास, अर्थात् जैसा है वैसा ख़याल में आना। अर्थात् इस समूचे आत्मा का क्षयोपशमज्ञान में भी प्रत्यक्ष प्रतिभास आना।

'**अविनश्वर**' - जो त्रिकाली अविनाशी भगवान (आत्मा है), उसका ध्यान समकिती करते हैं, उसे ध्येय बनाकर उसका ध्यान करते हैं। जो खण्डखण्ड ज्ञान प्रगट हुआ, उसे ध्येय बनाकर (उसका) ध्यान नहीं करते। तो (अन्य) भगवान और भगवान का ध्यान तो कहाँ का कहाँ रह गया ! (यहाँ तो) स्वयं की खण्डखण्ड निर्मल वीतरागी प्रगट पर्याय का भी ध्यान नहीं करते। भगवान(आत्मा) अखण्ड वस्तु है, (उसके आश्रय से) एकदेश खण्डज्ञान व्यक्त हुआ है, मोक्ष का मार्ग एकदेश प्रगट हुआ है। परमात्मा को तो पूर्ण प्रगट हुआ है।

'समयसार' आस्त्रव अधिकार की टीका में दो जगह यह (बात) आती है कि : शुद्धनय की परिपूर्णता केवलज्ञान में होती है। अर्थात् शुद्धनय का आश्रय लेने से पूर्ण

दशा प्रगट हो गई वहाँ अब शुद्धनय का आश्रय रहा नहीं, अतः वहाँ शुद्धनय की परिपूर्णता हो गई और प्रमाणज्ञान हो गया। आहाहा ! एक तरफ ऐसा कहना कि : द्रव्य सो शुद्धनय, (और) दूसरी तरफ ऐसा कहना कि : द्रव्य का आश्रय लेकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ वह एकदेश शुद्धनय। (और तीसरे तरीके से यूँ कहना कि :) शुद्धनय की परिपूर्णता केवलज्ञान में होती है। आहाहा ! बात थोड़ी सूक्ष्म आ गई है, भाई !

यहाँ कहते हैं कि : (ध्याता पुरुष ऐसी भावना भाते हैं कि :) '**शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षण निजपरमात्मद्रव्य वही मैं हूँ। अपितु ऐसी भावना नहीं भाता कि' 'खण्डज्ञानरूप मैं हूँ' (- ऐसा भावार्थ है)।'**

यह क्षायोपशमिक ज्ञान प्रगट हुआ, वह खण्डज्ञान है। वह (खण्डज्ञान) अखण्ड का ध्यान करता है !

'**यह व्याख्यान परस्पर सापेक्ष ऐसे आगम-अध्यात्म के**' (अर्थात्) इसमें अध्यात्म व आगम दोनों की सापेक्षता है। '**एवं दो नय के** (**द्रव्यार्थिक - पर्यायार्थिक नय के**) (**जो अभिप्राय हैं उसके**) **अविरोधपूर्वक ही कहने में आया होने से**' (अर्थात्) दोनों नयों के अविरोधपूर्वक तथा आगम-अध्यात्म के अविरोधपूर्वक कहने में आया होने से '**सिद्ध है (- निर्बाध है) ऐसा विवेकीजनों को जानना चाहिए।**' यह अधिकार पूरा हुआ।